...या का आधुनिक इतिहास

[द्वितीय खण्ड]

हेरल्ड एम्० विनाके

भारत सरकार की मानकग्रंथ-योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास
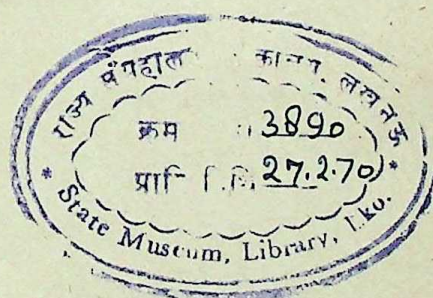
[द्वितीय खण्ड]

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—१०७

पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[द्वितीय खंण्ड]

लेखक

हेराल्ड एम्० विनाके, पी० एच० डी०

प्राध्यापक, सिन्नसिनाटी विश्वविद्यालय

अनुवादक

पद्माकर चौबे

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६४

[Translated from *A History Of The Far East In Modern Times* by Harold M. Vinacke, PH. D. Professor of International Law and Politics, University of Cincinnati, Published by Appleton-Century-Crofts, Inc. New York, 1950.]

मूल्य
पाँच रुपये, पचास पैसे
५.५०

मुद्रक—नरेन्द्र भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक-से-अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। शिक्षा मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मन्त्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके अंग्रेजी संस्करण के लेखक सिनसिनाटी-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हेराल्ड एम्० विनाके पी-एच. डी. हैं और इसका हिन्दी अनुवाद श्री पद्माकर चौबे ने किया है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा।

मुहम्मद अली करीम चागला
शिक्षा मन्त्री
भारत सरकार

प्रकाशकीय

पूर्वी एशिया के देशों का आधुनिक इतिहास प्रायः उस समय से आरम्भ होता है जब से वे पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आये। चीनी शक्ति को कमजोर पाकर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि ने किस तरह विविध कूटनीतिक दाँवपेंच अपनाकर उससे आर्थिक और व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं और किस तरह पहले पूँजी लगाने का अवसर तलाश कर बाद में उसकी रक्षा के बहाने सैनिक बलप्रयोग द्वारा उसे घुटने टेकने के लिए विवश किया, प्रतिक्रियास्वरूप किस तरह वहाँ विद्रोह हुए, क्रान्ति हुई और क्रमशः एक शक्तिसम्पन्न पूर्ण सत्ताप्राप्त राज्य की स्थापना हुई, इसका वर्णन विद्वान् लेखक ने अपने ढंग से किया है।

चीन की अपेक्षा जापान ने पश्चिमी सम्पर्क में आकर अधिक तेजी से उन्नति की और १८९५ में उसने चीन को तथा १९०५ के युद्ध में रूस-जैसे विशाल देश को परास्त कर दिया। लगभग एक शती के इन देशों के इतिहास से, जिसमें मंचूरिया तथा कोरिया पर प्रभाव स्थापित करने के लिए चीन, जापान और रूस की पारस्परिक होड़ एवं जापान के प्रशान्त सागरिक उत्कर्ष की कहानी भी शामिल है, हमें यथेष्ट शिक्षा मिल सकती है।

इसमें राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ पूर्वी एशिया की उन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी विवेचन किया गया है जिन्होंने चीन और जापान को उन्नति-सोपान के ऊँचे स्थान तक पहुँचाने में सहायता की है। अंग्रेजी में इस पुस्तक की अच्छी ख्याति है। हिन्दी के पाठक भी इससे लाभ उठा सकें, इसी उद्देश्य से यह अनुवाद दो खण्डों में हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित करने का निश्चय किया गया था और प्रथम खण्ड हिन्दी समिति ग्रन्थमाला के ९४ वें पुष्प के रूप में गत वर्ष प्रकाशित किया जा चुका है। इस पुस्तक का दूसरा खण्ड आपके समक्ष उपस्थित है। इसमें चीन-जापान के द्वितीय युद्ध, प्रशान्त-सागरीय महायुद्ध तथा हिन्द-चीन, थाईलैण्ड, हिन्देशिया, फिलिपाइन्स आदि का वर्णन है।

आशा है पाठकों को दोनों खण्डों के संयुक्त अध्ययन से एशिया की उथल-पुथल का सिंहावलोकन करने में सहायता मिलेगी तथा इसमें समाविष्ट तथ्यों तथा निष्कर्षों से देश में राष्ट्रीय एकता की जड़ें मज़बूत करने, अपनी कमजोरियों को समझने और कृषि के आनुषंगिक उद्योग के रूप में कुटीर-शिल्पों की ओर ध्यान देने की प्रेरणा मिलेगी।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

वाईसवाँ अध्याय

मंचूरिया पर जापान का प्रभाव

तेईसवाँ अध्याय

युद्ध का पूर्व रंग

चौबीसवाँ अध्याय

द्वितीय चीन-जापान युद्ध

उन्तीसवाँ अध्याय

फिलीपाइन और इंडोनेशिया

तीसवाँ अध्याय

आत्म-समर्पण के बाद जापान

(पादटिप्पणी के लिए परिशिष्ट देखें)

बाईसवाँ अध्याय

मंचूरिया पर जापान का प्रभाव

सुदूर पूर्व के देशों में १९३१ तक जो परिवर्तन हुए उनका वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। उस वर्ष कई आन्दोलन आरम्भ हुए, जिनका मंचूरिया, चीन और जापान के लिए बड़ा महत्त्व था। पश्चिमी देशों के लिए, जिनके सुदूर पूर्व में अपने हित थे, वे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थे। यहाँ पर उन आन्दोलनों के तात्कालिक कारणों तथा परिणामों पर विचार करना आवश्यक है। इस संदर्भ में मुख्यतया मंचूरिया और जापान की स्थिति पर बल दिया जायगा। १९३१ में मंचूरिया के संकट के फल-स्वरूप चीन के तीन पूर्वी प्रान्तों में चीनी राष्ट्रीयता का उदय हुआ। इसलिए मंचूरिया में जापान की स्थिति पर राष्ट्रीयता के प्रभाव की समीक्षा और उसका मूल्यांकन कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे १९३१ में तथा उसके पश्चात् जापान द्वारा प्रवर्तित अभियानों को समझना आसान होगा। इन अभियानों का जापान की आन्तरिक शक्तियों के साथ क्या संबंध था, यह जान लेना भी आवश्यक है। १९३१ में जापान में कुछ ऐसी शक्तियाँ सक्रिय हुईं जिनका उक्त अभियानों से निकट संबंध था। उनके परिणाम केवल मंचूरिया के लिए ही नहीं, स्वयं जापान और उसके द्वारा चीन तथा पश्चिमी संसार के लिए भी बड़े महत्त्व के थे। मंचूरिया के संबंध में जापान की नीति की प्रतिक्रिया स्वयं जापान में ही हुई, और वह आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से प्रभावित हुआ। इस प्रकार १९३१ में तथा उसके बाद जो घटनाएँ घटीं, उनके कारण तथा प्रभाव जानने के लिए पहले जापान की स्थिति पर विचार करना होगा।

(१) जापान: १९३१ में आन्तरिक दशा

जापान ने १९३१ तथा उसके पश्चात् सुदूर पूर्व में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए परिवर्तन करने प्रारम्भ किये। उस समय खास जापान की जनसंख्या लगभग ७ करोड़ थी। यह संख्या उसकी राष्ट्रीय शक्ति की द्योतक है। इसका महत्त्व अच्छी तरह समझने के लिए १८५४ के जापान पर भी एक नजर डालनी होगी, जब कि कामाडोर पेरी ने उसकी खोज की थी। तब जापान तीन करोड़ से कम तंगहाल में

रहने वाले लोगों का राष्ट्र था, जिसकी आर्थिक स्थिति मध्ययुग-जैसी थी। जब १८९४ में जापान ने आधुनिक युग का अपना पहला युद्ध चीन के विरुद्ध छेड़ा, तब भी उसकी लगभग यही स्थिति थी। शेष संसार उसे एक नवोदित दुर्बल राष्ट्र के रूप में ही देखता था। अपने को आधुनिक संसार के अनुकूल बनाने तथा साथ ही बढ़ी हुई जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करने के निमित्त जापान ने कृषि-आधार को न छोड़ते हुए भी अपना उद्योगीकरण कर लिया था। उसने अपने राज्य-क्षेत्र का विस्तार भी किया। लेकिन इससे उसे अपनी प्रति वर्ष बढ़ती हुई जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करने में कोई वास्तविक सहायता नहीं मिली। यह इस बात से स्पष्ट है कि एक ओर तो मुख्य द्वीपों की जनसंख्या में वृद्धि हुई और दूसरी ओर चोसेन में पाँच लाख से कम, तैवान और कराफुतो में से प्रत्येक में ढाई लाख से भी कम और प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में उसके शासन के अन्तर्गत आये हुए द्वीपों में २०,००० से कम जापानी बसे। गैर-एशियाई संसार से उसका संपर्क था; लेकिन वह अपने साम्राज्य के बाहर लोगों को बसने के लिए प्रोत्साहित करके अपनी जनसंख्या का हल करने में असमर्थ रहा। इसका कारण यह भी था कि पश्चिमी देशों ने साधारणतया अपने यहाँ जापानियों को न बसने देने की नीति अपना रखी थी। एशियाई देशों में भी, जिनमें चीन और मंचूरिया, फिलिपाइन्स और "स्ट्रेट्ससेटलमेन्ट्स" सम्मिलित हैं, जापानी बड़ी संख्या में नहीं बसे। यह इस तथ्य से प्रकट है कि १९३५ तक दस लाख से कम जापानी साम्राज्य के बाहर बसे थे। जापान के नियन्त्रणाधीन नये राज्य मंचूकुओ की स्थापना होने पर भी कुछ ही जापानी बाहर जाकर बसे। बस्तियों के रूप में उपनिवेशन के प्रयत्न भी लगभग असफल ही रहे।

इस प्रकार जनसंख्या की समस्या का जितना भी हल निकल पाया, वह उद्योगीकरण के कारण ही संभव हुआ। परन्तु एक औद्योगिक राज्य के रूप में जापान में साधनों की कमी थी। उद्योगीकरण की सफलता के लिए यह भी आवश्यक था कि जापानी वस्तुओं के लिए निरंतर अधिकाधिक मंडियाँ उपलब्ध होती रहें। जब मंडियाँ और साधन दोनों राज्य के बाहर हों तो यह स्थिति संकटपूर्ण होती है। इसका अर्थ यह होता है कि उद्योगों पर निर्भर लोगों की जीविका खतरे में बनी रहती है। परिणाम यह हुआ कि जापान के उद्योगीकरण के फलस्वरूप उसकी विदेश-नीति आर्थिक दृष्टि से फिर से निर्धारित की गयी। इस नीति के अनुसार जापान ने अपने पहले की उत्कृष्ट आकांक्षा पर दृढ़ रहते हुए भी नयी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया।

फलतः जापान के १९३१–४१ के विस्तारवादी कार्यों को अच्छी तरह समझने के लिए यह जरूरी है कि उसके उद्योगीकरण पर एक तो उपर्युक्त दृष्टि से विचार किया जाय

और दूसरे यह देखा जाय कि इस उद्योगीकरण का स्वयं उसके आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। चूँकि आधुनिक उद्योग और उसके कतिपय सामाजिक परिणामों पर विचार किया जा चुका है, इसलिए यहाँ पर इस विषय पर हाल की कुछ घटनाओं की पृष्ठभूमि में भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा, किन्तु इसके लिए कुछ पिछली बातों को दुहराना आवश्यक है।

यह स्मरणीय है कि उन्नीसवीं शताब्दी का जापान पर्याप्त रूप से एकीकृत और सामाजिक दृष्टि से समांग देश था। शासक और शासित वर्गों के बीच विभाजन की रेखाएँ विदरण की रेखाएँ नहीं थीं। किन्तु शासक वर्गों के भीतर फूट पड़ गयी थी जो अंशतः विभिन्न कुलों के बीच और अंशतः दो विशेष वर्गों के बीच पड़ गयी थी। इनमें एक वर्ग वह था जिसके हित सैनिक-सेवाओं में केन्द्रित थे और दूसरा वर्ग वह था जिसने असैनिक अधिष्ठान का पुनस्संगठन तथा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया था। इस प्रकार १९३१ में तथा उसके पश्चात् प्रकट हुई आन्तरिक फूट काफी पहले ही स्पष्ट हो गयी थी। कुछ समय बाद, लेकिन १९३० के काफी पहले, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की नीतियों की दिशा निर्धारित करने के संबंध में सेना तथा नौ-सेना के सेनापतियों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये, किन्तु अन्य परिवर्तनों के कारण शासक वर्गों में पड़ी हुई इस फूट ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया।

जैसे-जैसे जापान में आर्थिक दृष्टि से परिवर्तन हुए वैसे-वैसे राज्य के भीतर एक नये प्रकार के महत्त्वपूर्ण हित का उदय हुआ। यह पूँजीवादी हित था जो इसके पूर्व वर्णित उद्योगीकरण से उत्पन्न हुआ था, और भू हित के बिलकुल विरुद्ध था। नये उद्योग का विकास सरकार अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना चाहती थी। अतः यह विकास सरकार तथा पूँजीपतियों के घनिष्ठ सहयोग से हुआ। इन परिस्थितियों में और संभवतः कुछ हद तक विकास की गति तेज होने के कारण भी जापान में औद्योगिक शक्ति तथा नियंत्रण कुछ ही लोगों के हाथों में अपेक्षाकृत काफी पहले ही केन्द्रित हो गया। पश्चिम के औद्योगिक देशों में इस प्रकार का केन्द्रीकरण विकास के परवर्ती चरण में हुआ था। सेना तथा नौ-सेना और सिविल नौकरशाही की शक्ति पहले से ही अपेक्षाकृत थोड़े-से प्रभावशाली नेताओं के हाथ में चली आ रही थी। अब उनकी बराबरी करनेवाली एक और ताकत उत्पन्न होने लगी। वह ताकत थी थोड़े-से शक्तिशाली उद्योग एवं पूँजीपतियों की।

कुछ आँकड़े देने से इस स्थिति को समझने में सहायता मिलेगी। चीन-जापान युद्ध के समय "कम्पनियों की कुल नाममात्र पूँजी ३०८० लाख येन थी। १८९५ से जापान की औद्योगिक पूँजी सौ गुनी से अधिक बढ़ गयी है, और उसकी कारोबारी

पूंजी पचास गुनी से अधिक बढ़ी है। १९२९ में कुल पूंजी का अनुमान १३,७९०,७५८,००० येन था। अब अधिकतर पूंजी, अर्थात् ४४.७ प्रतिशत, विनिर्माण उद्योगों तथा खनन-उद्योग में लगी है। वाणिज्य तथा बैंकों में केवल ४२.७ प्रतिशत पूंजी लगी है।[1] यद्यपि छोटे-मोटे उद्योग काफी बड़ी संख्या में थे, तथापि यह महत्त्व की बात है कि ६५ प्रतिशत से अधिक जापानी पूंजी कम्पनियों की कुल संख्या के १.५ प्रतिशत पर लगी थी। ये १९२९ के आँकड़े हैं, किन्तु इनसे जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है वह उसके बाद कुछ बढ़ी ही, घटी नहीं। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि इन बड़ी-बड़ी कम्पनियों का स्वामित्व शेयरों के जरिये बड़े पैमाने पर बँटा हुआ नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि औद्योगिक स्वामित्व और इस प्रकार आर्थिक शक्ति कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रित थी और फलस्वरूप उसका प्रभावकारी उपयोग विशेष प्रयोजनों के लिए किया जाना संभव था।

जापान के विकास के इस पहलू को और अच्छी तरह समझने के लिए केवल सुमिटोमो कम्पनी का दृष्टान्त ले लेना काफी होगा। इसकी पूंजी १५०० लाख येन थी और वह सम्बद्ध कम्पनियों के द्वारा जिनकी कुल पूंजी १८०० लाख येन थी, बैंक तथा न्यास-व्यवसाय, बिजली के तार तथा उर्वरक के निर्माण-कार्य, ताँबे और कोयले के खनन-कार्य, भाण्डागार-जीवन-बीमा, भवन-निर्माण जैसे विभिन्न कार्यों पर भी नियंत्रण रखती थी। समपार्श्वी कम्पनियों पर भी, जिनमें ४९५ लाख येन की अतिरिक्त पूंजी लगी थी, उसका नियंत्रण था। मित्सुई कम्पनी का भी ऐसा ही दूसरा दृष्टान्त है। इसकी पूंजी ३००० लाख येन थी तथा संबद्ध और समपार्श्वी कम्पनियों के साथ मिलाकर इसकी सम्मिलित पूंजी ८००० लाख येन से अधिक थी। यह कम्पनी भी सुमिटोमो कम्पनी की तरह विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करती थी। उपर्युक्त दो कम्पनियों की तरह जिस तीसरी कम्पनी ने राज्य के भीतर ही औद्योगिक साम्राज्य स्थापित कर रखा था, वह मित्सूबिशी कम्पनी थी। राज्य के माध्यम से अपने हितों का संरक्षण करना इन पूंजीपतियों के लिए लाभदायक था। कुछ सीमाओं के भीतर इतनी शक्ति उनके हाथ में थी कि वे अपने हितों पर विचार करने के लिए राज्य को बाध्य कर सकते थे।

इस पूंजीवादी हित के एक निश्चित महत्त्वपूर्ण आकार ग्रहण करने तक राजनीतिक दलों ने भी जापान के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। जैसा कि कहा जा चुका है, संवैधानिक प्रणाली के प्रवर्त्तन के पहले दशक में, विभिन्न दलों ने डाइएट में बाधा डाल सकने के अपने अधिकारों का प्रयोग करके असैनिक तथा सैनिक नौकरशाही के हाथ से शासन की बागडोर छीन लेने का प्रयत्न किया। इस सिद्धान्त को मनवाने में असमर्थ होने पर कि मंत्रिमंडल प्रतिनिधि-सभा में बहुसंख्यक दल से बनाया

जाय, यह तरीका अपनाया गया कि बहुसंख्यक दल कुछ पद प्राप्त होने के बदले में सरकार का समर्थन करे। यह व्यवस्था १९०० से १९१२ तक चली। इस अवधि में सीपूकाई ने, जो कि बहुसंख्यक दल था, बारी-बारी से सैआंजी और कतसूरा सरकारों का समर्थन किया। बाद में मंत्रिमंडलों में बहुसंख्यक दल को अधिक स्थान मिलने के साथ-साथ उन पर उसका नियंत्रण भी बढ़ गया। किन्तु १९१८ में हारा-सरकार के बनने तक वस्तुतः किसी एक दल की सरकार नहीं बनी थी। एक मतान्ध राष्ट्रवादी द्वारा श्री हारा की हत्या कर दी जाने के बाद कुछ समय तक किसी एक दल का मंत्रिमंडल न बनाने का सिद्धान्त मान्य रहा, किन्तु १९२४ के चुनाव के बाद एक दल की सरकार बनने की दिशा में प्रगति हुई। १९२५ में पहली बार बालिग पुरुष मताधिकार की व्यवस्था करने के लिए कानून बना। तब से १९३२ तक सरकारें प्रतिनिधि-सभा में बहुसंख्यक दल के समर्थन के आधार पर नियमित रूप से बनायी गयीं। ऐसा प्रतीत होता था कि पाश्चात्य देशों की तरह जापान में भी एक दलीय सरकार बनाने की प्रणाली स्थापित हो गयी है।

शासन-तंत्र के एक-दलीय सरकार की ओर अग्रसर होने की इस अवधि में विभिन्न दल पूँजीपतियों के उपकरण मात्र बन गये थे। सीपूकाई प्रारम्भ में भूस्वामी वर्ग के हितों का संरक्षण तथा प्रोन्नति करता था। पर बाद में वह मित्सुई हितों का समर्थक हो गया, और अंशतः उनका प्रवक्ता ही बन गया। मिनसीटो पहले के कई ऐसे दलों के मिल जाने से बना था, जिनका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक हितों की प्रोन्नति करना था और वह स्पष्टतः बड़े व्यवसाइयों का दल था। इस प्रकार १९२५ के बाद जापान की एकदलीय सरकार बड़े-बड़े उद्योगों के हितों को पूरा करती थी जिन पर संकेन्द्रित पूँजी अथवा वित्तीय हितों का नियंत्रण था। बीच-बीच में, विशेषकर सीपूकाई के शासन में, भू-स्वामी वर्ग और खासकर भूस्वामियों के हितों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया।

सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की पुरानी नौकरशाही, जो सामंत अभिजात वर्ग के जमाने से चली आ रही थी, विभिन्न दलों के साथ मिलकर या उनके आदेशानुसार कार्य करने लगी। इन दलों के प्रभावशाली पूँजीपतियों से मिल जाने से जो भौतिक लाभ हुए, उनमें नौकरशाही ने भी अपना हिस्सा बँटा लिया। यह तथ्य समय-समय पर नौ-सेनापतियों, थल-सेनापतियों और विशिष्ट दलों तथा व्यवसायों के नेताओं के भ्रष्टाचार कांडों से प्रकट होता रहता था। इनमें से सबसे पहला भ्रष्टाचार कांड १८८१ में होक्केडो के उपनिवेशन का था। इसमें ओकूमा पर दोषारोपण किया गया था कि उसने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह कांड किया था। एक दूसरा दृष्टांत १९१३ के नौ-सेना "भ्रष्टाचार कांडों" का है जिनके कारण एडमिरल यामामोटो की सरकार

का पतन हुआ। हाल में ही एक ऐसा कांड और हुआ जिसमें कुछ रेयन तथा इस्पात निर्माण-कार्यों के शेयरों की कपटपूर्ण बिक्री में वित्त-मंत्री का हाथ पाया गया।

जापान में जिस प्रकार की शासन-प्रणाली थी, उसमें दलों के द्वारा मंत्रिमंडल तथा डाइएट पर इस प्रकार के नियंत्रण का इतना अधिक महत्त्व न होता यदि इसके साथ ही अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि प्रिवी कौंसिल, चैम्बर्स आफ पीयर्स और यहाँ तक कि इम्पीरियल हाउसहोल्ड मिनिस्ट्री में भी प्रविष्ट न हो गये होते। इन स्थानों में भी नये धनी अभिजात वर्ग ने अपने प्रतिनिधि पहुँचा दिये या खानदानी अभिजात-वर्ग के सदस्यों को अपने साथ मिला लिया। अन्तिम ऐल्डर स्टेट्सम्यन, प्रिन्स सैआंजी का, जो प्रधानमंत्री का चयन करने में सम्राट को सलाह देते थे, सुमिटोमो हितों से संबंध था।[२]

वाशिंगटन सम्मेलन के बाद पदारूढ़ सरकारों द्वारा अनुसरित सामान्य नीति मुख्य-तया पूँजीवादी हितों से प्रभावित थी। प्रारम्भ में औद्योगिक संकेन्द्रीकरण की अनुमति दी गयी और १९२९ के बाद तत्कालीन सरकार ने सक्रिय रूप से उसकी अभिवृद्धि की। आर्थिक नीति उद्योगपतियों के हित की दृष्टि से निश्चित की जाती थी इसी प्रकार टैरिफ तथा कोटा कायम किये गये। १९२७ के वित्तीय संकट के बाद उद्योगों का जो अभिनवी-करण आरम्भ किया गया था उससे श्रमिक-वर्ग के हितों का बलिदान करके उद्योग-पतियों की स्थिति मजबूत की गयी। उद्योगों के लिए स्थापित उपदान-प्रणाली का प्रसार किया गया। इसके फलस्वरूप सरकार द्वारा समर्पित एकाधिकार व्यवसाय युद्धोत्तरकालीन अवधि में आर्थिक संकटों का सफलतापूर्वक सामना कर सका।

किन्तु राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की स्थिति कमजोर हो गयी। दुकानदार और छोटे-मोटे व्यवसायी मन्दी तथा उद्योग के बढ़ते हुए संकेन्द्रीकरण के धक्कों को एक साथ बरदाश्त न कर सके। वे न केवल ऋण में डूबते जा रहे थे—१९३२ में वह ऋण कुल २५ खरब येन था—बल्कि बैंकिंग एजेन्सियाँ जिन पर वे वित्त-पोषण के लिए निर्भर रहते थे, खुद संकट में पड़ी थीं; और वे पर्याप्त मात्रा में ऋण देने में असमर्थ थीं। इस प्रकार जापानी समाज के इस वर्ग में उस स्थिति के प्रति, जो अंशतः वाह्य कारणों से और अंशतः आंतरिक घटनाओं से उत्पन्न हुई थी, असंतोष पैदा होने लगा।

औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अन्य परिस्थितियों में वे संभवतः प्रभावकारी यूनियनें बनाने या अपने राजनीतिक दलों के द्वारा अलग से कार्यवाही करने का मार्ग अपनाते। १९२५ में तथा उसके पश्चात् राजनीतिक संगठन बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा, परन्तु इसे तत्काल कोई विशेष सफलता नहीं मिली, जिसका आंशिक कारण यह था कि श्रमिकों में आन्तरिक फूट थी और अंशतः यह कारण भी था कि औद्योगिक तथा कृषि-श्रमिक समान आधार ढूँढ़ने में असमर्थ रहे। लेकिन

मुख्य कारण यह था कि राजनीतिक प्रयोजन के लिए श्रम-संगठन बनाने के प्रस्तावकों को खतरनाक विचारधारा के प्रवर्तक माना जाता था और उनके प्रति राज्य के शत्रु के रूप में व्यवहार किया जाता था। श्रमिकों की यूनियनें बनाने में भी इसी प्रकार की कठिनाई सामने आयी। इस कार्य में निश्चित् रूप से सबसे बड़ी बाधा देश में प्रचलित पैतृक परम्पराएँ थीं। दूसरी समस्या उद्योगों में स्त्रियों की बहुत बड़ी संख्या में उपस्थिति थी जो कि अपने को अस्थायी रूप से सेवायोजित समझती थीं। किन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद १९३० तक यूनियनों की संख्या बढ़कर ७७ हो गयी थी और उनके सदस्यों की कुल संख्या ३,५०,००० थी। किन्तु ये यूनियनें दक्षिण केन्द्र तथा वाम तत्त्वों में विभाजित होने के कारण, राजनीतिक शक्ति के रूप में कमजोर थीं। फिर भी उन्होंने आर्थिक दृष्टि से अपने सदस्यों के हितों को कुछ हद तक आगे बढ़ाया। लेकिन देश की प्रचलित दशा के प्रति असंतोष का आभास हड़तालों की बढ़ती हुई संख्या तथा तीव्रता से मिलता था।

जापान की तत्कालीन दशा के प्रति बेचैनी और असंतोष सबसे अधिक गाँवों में था। यद्यपि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का आधार कृषि ही बना रहा, तथापि राज्य की नीति उद्योग को संरक्षण देने की थी। काश्तकारी में वृद्धि होने तथा युद्धोत्तरकालीन वर्षों में भूस्वामियों और काश्तकारों के संघों के बीच संघर्ष छिड़ने का उल्लेख किया जा चुका है। इससे कृषकों के असंतोष तथा उसके कारण का अन्दाज लगाया जा सकता है। इस असंतोष का एक कारण यह भी था कि १९२६ के बाद कृषि-पदार्थों के मूल्य लगातार गिरते रहने के फलस्वरूप काश्तकारों तथा भू-स्वामियों दोनों पर ऋण का बोझ बढ़ता गया। बैंक आफ जापान द्वारा संकलित आँकड़ों के अनुसार जापान के तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृषि-पदार्थों, अर्थात् चावल, गेहूँ और कच्चा सिल्क, का सूचकांक १९२६ में १०० से कम होते-होते १९३१ में ४५.५ रह गया।[3] इस अवधि में जापान के किसानों की कुल आय लगभग आधी रह गयी और उनके ऋण में भी इतनी ही बढ़ती हुई। कर बढ़ गये और कृष्येतर पदार्थों के मूल्य अगर कहीं वास्तव में बढ़े नहीं तो कृषि-पदार्थों के मूल्यों के समान गिरे भी नहीं।

इस स्थिति के परिणामस्वरूप कृषि-क्षेत्र में भू-स्वामियों के विरुद्ध कार्यवाही करने के निमित्त काश्तकार-संघों से अधिक शक्तिशाली संगठन बनाने के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सहकारी समितियों ने जापान के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। १९३५ में इनके सदस्यों की संख्या ५५ लाख हो गयी थी। लेकिन इतने अधिक सदस्यों के होते हुए भी इनका राजनीतिक प्रभाव बहुत कम था। इसका कारण एक तो यह था कि ये समितियाँ पुरानी सामंती विचारधारा से प्रभावित थीं और दूसरा यह

था कि शासन-तंत्र के प्रति सम्मान का भाव पूर्ववत् बने रहने से वे असंतोष व्यक्त नहीं कर पाती थीं। किन्तु इन समितियों तथा श्रम संगठनों के माध्यम से जितना असंतोष व्यक्त होने लगा था, उससे आने वाले सामाजिक संकट के संकेत स्पष्टतया मिलने लगे थे। जापान में नयी शक्तियाँ उत्पन्न हो रही थीं।

(२) नेतृत्व सेना के हाथ में

इस असंतोष का लाभ एक पुरानी शक्ति ने उठाया। वह पुरानी शक्ति थल-सेना और कुछ अंश तक नौसेना थीं। इन दोनों सेनाओं में एक लम्बे अर्से से क्रमशः चोशू तथा सत्सूमा कुलों का प्रभाव था। विशेष कर, चोशू कुल का अत्यधिक प्रभाव था। उन कुलों का नियंत्रण उच्च निदेशात्मक पदों पर एकाधिकार कर लेने के कारण था। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् एक नया तत्त्व उभर कर शासन-तंत्र में अपने लिए प्रभावशाली स्थान बनाने लगा। जैसे-जैसे मृत्यु या त्यागपत्र के कारण पुराने नेताओं के स्थान रिक्त होने लगे, वैसे-वैसे उनका स्थान तब तक दबे हुए तत्त्वों ने लेना शुरू किया। ये तत्त्व मूलतः कम प्रभावशाली कुलों के थे। उनका सम्बन्ध जापानी समाज में अपेक्षाकृत छोटे भू-स्वामियों और निम्न मध्यवर्ग से था। १९२० और १९२७ के बीच ३० प्रतिशत नये अधिकारी छोटे भू-स्वामियों, धनी किसानों तथा शहरी क्षेत्रों के मध्यवर्ग के परिवारों से आये थे और यह प्रतिशत लगातार बढ़ता गया। ये जवान अधिकारी अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण पूँजीवादी एकाधिकार का विरोध करने लगे। इसके साथ ही अपने व्यक्तिगत हितों के कारण से वे सेना में पुराने रूढ़िवादी कुलों के जनरलों को चुनौती देने लगे।[४] इन जनरलों के स्थान पर पहले से ही वे लोग रखे जा रहे थे जो नये दृष्टिकोण से सहानुभूति रखते थे। १९३० तक मध्यसमहू के ये अधिकारी जिनमें जनरल म्यूटो, अराकी, मज़ाकी तथा हयासी सम्मिलित थे, सर्वोच्च युद्ध-परिषद् का नियंत्रण प्राप्त करने लगे।"[५]

सामाजिक पृष्ठभूमि का प्रभाव इस कारण भी पुष्ट तथा दृढ़ होता गया कि अनिवार्य भर्ती की प्रणाली प्रचलित होने से उन वर्गों के युवक भी थल-सेना तथा नौ-सेना में भर्ती होने लगे जो आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पीड़ित थे। अतः प्रचार के लिए अनुकूल अवसर देख कर उनके समक्ष सरकार और व्यापारियों के गठबंधन की कड़ी आलोचना की जाने लगी तथा इस संबंध के कारण राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार पर बल दिया जाने लगा। इस प्रकार विभिन्न दलों तथा उनसे सम्बद्ध लोगों के प्रति जो थोड़ा-बहुत सम्मान शेष था वह भी कम होने लगा।

यह सत्य है कि इस प्रचार के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ था। आतंकवादी प्रवृत्ति की

देशभक्त समितियों के, जिनकी संख्या बढ़ती जा रही थी, उपायों के प्रति सहिष्णुता की भावना प्रकट करने के पीछे भी व्यक्तिगत स्वार्थ था। लेकिन इस प्रचार तथा आतंकवादी प्रवृत्ति के लोगों के उद्देश्य को दृष्टि से ओझल कर देना ठीक न होगा। उन्हें वास्तव में राज्य के कल्याण की चिन्ता थी। भ्रष्टाचार-कांडों में ऊँचे-ऊँचे पदों पर आसीन अधिकारियों को ग्रस्त देखकर हर देशभक्त यह अनुभव करता था कि शासन-व्यवस्था में कहीं-न-कहीं गड़बड़ी है। भ्रष्टाचार के कई कांड तो प्रकाश में आने ही नहीं पाते थे। इन उच्च-पदस्थ अधिकारियों का इस प्रकार के कांडों में प्रकट हाथ होने से युवक अधिकारियों को सेना का नियंत्रण पाने में सुविधा प्राप्त हुई। दूसरी सुविधा उन्हें यह थी कि वे अपने लाभ के लिए उद्योगपतियों से एका करने को तत्पर थे। इस प्रकार देश भक्तिपूर्ण और हृदयस्पर्शी प्रचार करने के लिए आधार बन गया था।

अभी ऊपर जिस व्यक्तिगत हित का उल्लेख किया गया है उसका पता इस बात से लगता है कि १९२२ के बाद के वर्षों के बजटों में थल-सेना तथा नौ-सेना को कम महत्त्व दिया जाता रहा। नौ-सेना के मामले में वाशिंगटन सम्मेलन के समझौतों के आधार पर उसका व्यय न बढ़ाने का एक उचित बहाना था। अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के जरिये नौ-सेना का प्रसार इस प्रकार सीमित रखने की अवधि १९३० के लंदन समझौते के आधार पर बढ़ायी गयी। लेकिन जब इस समझौते को अनुसमर्थन के लिए डाइएट के समक्ष प्रस्तुत किया गया, तो नौ-सेना के युवक वर्ग ने इसका जबर्दस्त विरोध किया। ये दोनों समझौते दलीय सरकारों द्वारा किये गये थे, जो इसके फलस्वरूप विनियोगों में कमी के लिए भी उत्तरदायी थे।

यही बात सेना के विनियोगों में भी होने की संभावना उत्पन्न हो गयी। मिनसीटो सरकार का कार्यक्रम यह भी था कि और कोई ऋण लिये बिना ही बजट का संतुलन किया जाय। नौ-सेना का व्यय अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के आधार पर स्थिर कर लिया गया था। आन्तरिक दशा को देखते हुए सहायता तथा अन्य नागरिक प्रयोजन के लिए किये जाने वाले व्यय को कम करना सम्भव नहीं था। कर पहले से ही बढ़े हुए थे। व्यय कम करने का सबसे अच्छा अवसर सैनिक बजट में मिला। इसका औचित्य उन वार्त्ताओं के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता था जो शस्त्रास्त्रों में सामान्य रूप से कमी किये जाने के लिए हो रही थीं। दूसरे शब्दों में, इन सब बातों के फलस्वरूप प्रतिरक्षा सेवाओं का कुछ हद तक सिमटना अनिवार्य था। इसका अर्थ यही था कि जो अधिकारी पहले से ही थल-सेना और नौ-सेना में थे उनके आगे बढ़ने के अवसर सीमित हो जायँ और इस प्रकार उनके आगे बढ़ने की उच्चाकांक्षाओं में बाधा पड़े।

व्यक्तिगत हित और देश भक्ति के इन उद्देश्यों का बड़ी सरलता से विदेश नीति से

समन्वय किया जा सकता था। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह अभियोग संतोषप्रद रूप से लगाया जा सकता था कि वाशिंगटन सम्मेलन के बाद से विभिन्न दलों द्वारा कमजोर विदेश नीति का अनुसरण किया जा रहा था। १९२९–३१ से सरकार पर इस बात के लिए बड़ा दबाव डाला गया कि वह मंचूरिया में, जिसे चीनी राष्ट्रवादियों की नीतियों से बड़ा खतरा था, जापानी हितों की रक्षा के लिए दृढ़तापूर्वक कोई कार्यवाही करे। ये सब बातें सरकार-विरोधी प्रचार का आधार बन गयीं और सेना के नेताओं की प्रेरणा पर उन्हें देशभक्त समितियों के माध्यम से चारो ओर फैलाया गया। आगे क्या होने वाला है, इसका आभास एक "देशभक्त" द्वारा १९३० में प्रधान मन्त्री ह्यामागूची की हत्या कर दिये जाने पर मिला। यह तर्क दिया जाने लगा कि मंचूरिया के संबंध में एक दृढ़ नीति अपनाकर जापान का आर्थिक संकट हल किया जा सकता है। लेकिन साथ ही यह मत भी व्यक्त किया गया कि ऐसा तभी हो सकता है जब शासन की बागडोर सेना अपने हाथ में ले ले क्योंकि जापान के जीवन में वही एक निस्पृह तथा भ्रष्टाचार से मुक्त शक्ति है। उसके तत्त्वावधान में मंचूरिया का कुछ पूँजीपतियों के हित के बजाय राष्ट्र के हित के लिए शोषण किया जाय। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि यदि सेना शासनतंत्र अपने हाथ में ले ले और राजनीतिज्ञों तथा उनके पूँजीपति मित्रों के बदले जनता के हित में राज्य का शासन चलाये तो जापान की स्थिति सुधर जायगी।

इस प्रकार १९३१ में तथा उसके पश्चात् सेना द्वारा अधिकार सत्ता-ग्रहण का मार्ग प्रशस्त हो गया। निस्संदेह एक अर्थ में यह सत्ताग्रहण अनधिकार नहीं था। निर्णय करने का अधिकार अन्तिम रूप से केवल सम्राट को था। युद्ध तथा नौ-सेना के मंत्री, परामर्शदाता के रूप में, उनके पास सीधे पहुँच सकते थे, लेकिन दूसरे मंत्रियों को यह सविधा प्राप्त नहीं थी। अतः जब सम्राट मंत्रिमंडल के परामर्श के बजाय युद्ध तथा नौ-सेना मंत्री की सम्मति मान लेते तो जो कार्य अन्य परिस्थितियों में क्रान्तिकारी माना जाता वह इस प्रकार विधिक रूप से मान्य हो जाता। जहाँ तक महाद्वीप में की गयी कार्यवाहियों का संबंध था, उन्हें इसलिए मान लिया जाता था कि वे युद्ध तथा नौ-सेना मंत्रियों द्वारा की जा चुकी थीं। इसी प्रकार चूँकि सरकार सेना पर प्रभावकारी ढंग से नियंत्रण रखने, उसके द्वारा किये गये कार्य निर्धारित करने तथा उसे उन्हीं कार्यों के करने तक सीमित रखने की स्थिति में नहीं थी, इसलिए सरकार तथा राष्ट्र दोनों उस कार्य के समर्थन में, जो किया जा चुका होता, एक हो जाते और प्रयत्न यही करते कि आगे अनधिकृत कार्यवाही न की जाय। इसके अतिरिक्त जापान में सेना ने अपना प्रचार तत्काल तेज कर दिया और आतंकवादी देशभक्त समितियों ने उच्च पदों पर आसीन सरकारी अधिकारियों के लिए भी अपना मतभेद व्यक्त करना खतरनाक बना दिया, मौखिक तथा

शारीरिक दोनों प्रकार के लगातार प्रहारों के फलस्वरूप मिनसीटो सरकार कमजोर हो गयी, और अन्त में उसका पतन हो गया। उसका पतन सेना की मंचूरिया में प्रसार करने की नीति की विजय का द्योतक था। साथ ही इससे मंचूरिया संबंधी नीति की जापान के आन्तरिक राजनीति में हुई प्रारम्भिक प्रतिक्रिया भी व्यक्त हुई।

(३) मंचूरिया के प्रश्न का फिर से उठाया जाना

ऐसा प्रतीत होता था कि १९०५ के पश्चात् जापान द्वारा चीन के प्रति अनुसरित आक्रामक नीति वाशिंगटन सम्मेलन के कारण बदल जायगी। इस नीति का सर्वाधिक आक्रामक रूप १९१५–१९१८ के बीच प्रकट हुआ था। वाशिंगटन में जापान ने न केवल खुले द्वार की नीति की परिवर्द्धित परिभाषा स्वीकार की थी और उसे कार्यान्वित करने के लिए सहमति दी, वरन् अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ चीन की स्वतंत्रता और प्रादेशिक तथा प्रशासनिक अखंडता का सम्मान करने का दायित्व भी स्पष्टतः स्वीकार किया। इसके पहले जापान ने लीग प्रतिज्ञापत्र के हस्ताक्षरकर्ता के रूप में यह दायित्व स्वीकार कर लिया था कि वह सदस्य राज्यों की स्वतंत्रता और अखंडता का सम्मान करेगा तथा बाह्य आक्रमणों से उनकी रक्षा करेगा और विवादों के संबन्ध में युद्ध प्रारम्भ करने के पूर्व मध्यस्थता, समझौता या न्यायालय के निर्णय के जरिये उनका निबटारा करने का प्रयत्न करेगा। इस दृष्टिकोण से नौ-शक्तियों की संधि का प्रभाव यह पड़ा कि उक्त प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १० के सिद्धान्त चीन पर स्पष्ट रूप से लागू किये गये और इस प्रकार चीन के प्रति प्रतिज्ञापत्र के दायित्व को पक्का कर दिया गया। नौशक्तियों में से एक जापान भी था, उसने इस बात के लिए सहमति दे दी कि वह चीन की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का लाभ अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए नहीं करेगा। यह भी समझौता हुआ कि चीन को अपने राजनीतिक हल स्वयं ढूंढ़ने का पूरा और निर्बाध अवसर दिया जाय। इसके अतिरिक्त शान्तुंग शक्ति से शान्तुंग प्रश्न समाप्त हो गया। भविष्य में किसी प्रकार का विवाद न पैदा होने की संभावना जैसे ही प्रकट होने लगी वैसे ही वाशिंगटन में जापानी प्रतिनिधि मंडल ने १९१५ की मांगों के पाँचवें समूह को भविष्य में वार्ता किये जाने के निमित्त वापस ले लिया।

इन सब बातों के साथ-साथ आंग्ल-जापानी संधि तथा लानासिंग-इशी समझौता समाप्त हो जाने से यह प्रतीत हुआ कि सुदूर पूर्व में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नये युग का सूत्रपात होगा। १९२४ में जापान को अपवर्जित करने का अधिनियम बनने तक जापान और अमेरिका के संबंध सुधरते रहे, चीन और जापान के बीच की शत्रुता भी मित्रता में परिणत न हो सके, ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता था।

उपर्युक्त अंतिम वक्तव्य में यथार्थता की दृष्टि से किंचित् संशोधन करना अपेक्षित है। वाशिंगटन में यह स्पष्ट हो गया था कि चाहे जापान आगे विस्तार करने का प्रयत्न न भी करे, पर वह मंचूरिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रखना चाहता है। उसने १९१५ की संधियों का निराकरण करना स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया, जिनके आधार पर रेल और साज-सामान संबंधी रियायतों तथा क्वान्तुंग राज्य–क्षेत्र के पट्टे की अवधि ९९ वर्ष बढ़ा दी गयी थी और जापानियों को मंचूरिया में कृषि के प्रयोजन के लिए भूमि पट्टे पर प्राप्त करने का अधिकार मिल गया था। जापान इस बात पर बराबर जोर दे रहा था कि १९१५ की संधियाँ वैध हैं। चीनी सरकारें उन्हें प्रचलित मानने से इन्कार कर रही थीं। इस मतभेद के कारण भविष्य में उनके बीच विवाद की संभावना थी।

सब बातों को देखते हुए १९२७–२९ के वर्षों को छोड़कर, जब जापान में तनाका सरकार सत्तारूढ़ थी, वाशिंगटन सम्मेलन के बाद जापान सरकार की चीन संबंधी नीति समझौते की थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि सुदूर पूर्व की शांति को जापान शीघ्र भंग नहीं करेगा और यह कि चीन तथा जापान में मैत्री बढ़ती जायगी।

इस मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को बढ़ाने की इच्छा के जो ठोस प्रमाण उपलब्ध थे उनके अतिरिक्त भी अन्य ऐसे प्रमाण थे जिनसे उक्त निष्कर्ष का समर्थन होता था। यह उचित ही कहा गया है कि जापान के साम्राज्यवाद का सीधा संबंध वहाँ की सरकार पर सेना और नौ-सेना के नियंत्रण से था और वह कुछ सीमा तक इस नियंत्रण की ही उपज था। परन्तु जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, १९२२ के बाद जापान की राजनीति की प्रवृत्ति यह रही कि शासन पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण स्थापित हो और सेना तथा नौ-सेना का प्रभावकारी नियंत्रण मंत्रिमंडल के हाथ में रहे।

इसके अतिरिक्त जापान की आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं थी। युद्धोत्तरकालीन मन्दी और १९२३ के जबर्दस्त भूकंप के कारण वह और भी जटिल हो गयी। इस कारण उसके द्वारा विदेश में कोई साहसिक कार्यवाही किये जाने का प्रश्न ही नहीं था। उस देश की आर्थिक आवश्यकताओं का सही-सही मूल्यांकन करके यही निष्कर्ष निकलता था कि जापान का मुख्य हित मंडियाँ प्राप्त करने में है। जापान की वस्तुओं के लिए विदेशों में दो महत्त्वपूर्ण मंडियाँ थीं––चीन और अमेरिका। ये मंडियाँ जापान के लिए तभी तक सुरक्षित रह सकती थीं जब तक वह चीन के प्रति समझौतामूलक नीति अपनाये रहता। जापान के विदेश-मंत्री बैरन शिदेहारा के १९२७ में कहे गये शब्दों में : "हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम किसी राष्ट्र के हितों में अनुचित हस्तक्षेप किये बिना ही विदेश से व्यापार बढ़ाने पर अपना ध्यान और शक्ति केन्द्रित करें। हमारी दृष्टि राज्य-क्षेत्रों पर नहीं, मंडियों पर है। हम विदेशों से अपने संबंधों

में सश्रय नहीं, आर्थिक समेक्य चाहते हैं।"[६] चीन के कच्चे माल और खनिज साधनों पर नियंत्रण प्राप्त करने के बदले उसकी मंडी पर अभिरुचि रखने वाला जापान उसके प्रति समझौतापूर्ण नीति अपनाने के लिए बाध्य था।

शिदेहारा-नीति चीन पर कोई जोर-जबर्दस्ती किये बिना उसके साथ संधियों के संशोधन के विषय में वार्ता चलाने की थी। यह नीति नानकिंग और त्सिनान मामले में भी उचित समझौता कर लेने की थी। त्सिनान का मामला तनाका की नियंत्रणवादी में पुरानी 'दृढ़' नीति को फिर से अपनाये जाने के फलस्वरूप हुआ था।

पुरानी नीति के एक बार फिर से अपनाये जाने से यह स्पष्ट था कि पुराने दृष्टिकोण में अभी काफी बल है। इसके अतिरिक्त इस समूची अवधि में जापान की प्रवृत्ति मंचूरिया और चीन के प्रति अपनायी गयी नीतियों में भेद करने की रही। मंचूरिया में जापान का हित उसके साधनों पर आधारित था, न कि उसकी मंडियों पर। प्रश्न यह था कि जापान ने काफी हानि सहकर मंचूरिया में रूस से जो अधिकार प्राप्त किये थे और जिन्हें उसने १९०५ के बाद सावधानीपूर्वक समेकित करके बढ़ाया था, उन्हें बनाये रखने के लिए यदि आवश्यक हुआ तो क्या वह वहाँ की मंडियों का त्याग करने को तैयार हो जायगा।

१९२८ में खास चीन में ग्राहकों को नाराज करने का खतरा मोल लेकर भी जापान ने राष्ट्रीय सेनाओं को चांगा-त्सो-लिन का पीछा करते हुए मंचूरिया में प्रवेश करने से रोक दिया और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी चांग-ह्यूए-लियांग को चेतावनी दे दी कि वह नानकिंग का अधिकार न माने। इससे काफी पहले १९२३ में इसी प्रकार का खतरा मोल लेकर जापान सरकार ने पेकिंग सरकार के एक और सुझाव को स्वीकार नहीं किया था। सुझाव इतना ही था कि चूँकि क्वान्तुंग राज्य-क्षेत्र के पट्टे की मूल अवधि समाप्त हो गयी थी, इसलिए उसके संबंध में वार्ताएँ आरम्भ की जायँ, जिससे कि वह चीन को पुनः वापस मिल सके। मुकटेन—आन्तुंग रेलवे के संबंध में पन्द्रह वर्ष की रियायत की अवधि १९२३ में पूरी हो जाने पर उसे चीन को लौटा देने की प्रार्थना पर भी जापान ने नकारात्मक रुख अपनाया। दोनों मामलों में जापान ने १९१५ की संधियों के वैध होने का तर्क देकर अपने पक्ष का समर्थन किया।

दूसरे शब्दों में, यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जापान की सरकार मंचूरिया में प्राप्त अधिकारों को ९९ वर्ष की अवधि तक बनाये रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है, चाहे इसका चीन-जापान के संबंधों पर कुछ भी प्रभाव क्यों न पड़े। इस दृढ़ रुख का कारण जापानियों की यह प्रबल धारणा थी कि मंचूरिया का जापान के अधिकार में रहना केवल जापान के कल्याण के लिए ही नहीं, उसके अस्तित्व के लिए भी अत्यावश्यक था।

इस दृष्टिकोण का आधार प्रत्यक्षतः यही था कि उद्योगीकृत जापान के लिए मंचूरिया के कोयले, लोहे तथा अन्य साधनों पर नियंत्रण रखना आवश्यक था।

चीन ने जिन नीतियों का अनुसरण किया उनसे जापान की स्थिति के संकटापन्न होने की संभावना थी। चीन की खोये हुए अधिकार प्राप्त करने की इच्छा बड़ी दीवार के दक्षिण के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। चांग-त्सो-लिन के नियंत्रणकाल में मंचूरिया के प्रशासन से जापान के जो सम्बन्ध थे वे उसके लिए संतोषप्रद थे। लेकिन इस अवधि में भी ऐसी घटनाएँ घट ही जाती थीं जिनसे इन दो देशों के संबंध बिगड़ जाते थे। इनसे यह पता चलता था कि जापान की अधिक शक्ति के कारण ही इन घटनाओं के बाद जापान के प्रभाव को समाप्त कर देने के प्रयत्न नहीं हो पाते थे। चाँग-त्सो-लिन जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने के बजाय उत्तरी मंचूरिया में रूसी प्रभाव को समाप्त करने में लगा था। उसने १९२६ में रूसियों की स्थिति को अस्त-व्यस्त कर देने के लिए जो प्रयत्न किये थे, उन्हें चाँग-ह्यूए-लियांग ने नानकिंग के उत्साहित करने तथा समर्थन प्रदान करने पर १९२८ में दोहराया। जापानियों का यह अनुभव करना अनुचित नहीं था कि जैसे ही चीनी अपने को शक्तिशाली अनुभव करेंगे वे उसी नीति का अनुसरण दक्षिणी मंचूरिया म भी करेंगे और यह कि मास्को के विरुद्ध सफलता मिलने पर वे वही व्यवहार उनके साथ भी करेंगे। इससे १९२९ में जब रूस चीनी पूर्वी रेल पर पुनः प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए बल प्रयोग के अतिरिक्त अन्य उपाय भी काम में ला रहा था, तो जापान की उसका कोई विरोध न करने की नीति स्पष्ट हो जाती है।

इसके अतिरिक्त यह भी मानना होगा कि समय के साथ-साथ चीन की स्थिति सुदृढ़ होती जा रही थी और इसके फलस्वरूप जापान की स्थिति कमजोर हो रही थी। यह प्रक्रिया तभी रुक सकती थी जब चीन को इस बात के लिए राजी कर लिया जाता कि वह १९१५ की मंचूरिया की संधियों को नेकनीयती से स्वीकार करके व्यवहार में लाये। पहली बात यह थी कि मंचूरिया में जापानी और चीनियों की संख्या में अन्तर बराबर बढ़ता जा रहा था। १९२१ से १९३१ के बीच में खास चीन के उत्तरी प्रान्तों, विशेषतः शान्तुंग प्रान्त से, चीनियों के प्रवसन के कारण उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही थी। उत्तर चीन में गृह-युद्धों तथा बार-बार पड़ने वाले दुर्भिक्षों के कारण लोग बड़ी संख्या में मंचूरिया में आते जा रहे थे। यदि ये कारण न होते तो भी निस्संदेह चीनी मंचूरिया में जाकर बसते। संभव है उस दशा में यह संख्या कुछ कम होती। इस क्षेत्र के नियंत्रण के लिए चले हुए संघर्ष के संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चीनी किसान वहाँ की भूमि पर कब्जा करते जा रहे थे, और जापानी उतनी ही संख्या में वहाँ आकर बस नहीं रहे थे। इस प्रकार १९३० तक वहाँ की जनसंख्या लगभग २९० लाख हो गयी थी जिसमें से कुल दो लाख

पचास हजार जापानी, लगभग आठ लाख कोरियाई और एक लाख रूसी थे। थोड़ी-सी संख्या में मंचूरियों, मंगोलों और अन्य 'देशी' लोगों को छोड़कर शेष सब चीनी थे। इस प्रकार नियंत्रण के लिए निर्णायक संघर्ष होने के पूर्व जितना ही अधिक समय बीतता गया, उतना ही जापानियों के लिए निरन्तर बढ़ती हुई चीनी जनसंख्या के सामने टिके रहना कठिन हो गया।

जापानियों की जनसंख्या न बढ़ सकने का एक कारण यह भी था कि वे कृषि-प्रयोजन के लिए भूमि प्राप्त करने में असमर्थ रहे। अपनी इस कमजोर स्थिति को ठीक करने के लिए जपानियों ने १९१५ में भूमि खरीदने के अधिकार की माँग की। इसे स्वीकार करने के बजाय चीनियों ने पट्टे पर भूमि प्राप्त करने का अधिकार दे दिया। परन्तु १९१५ के इस समझौते को लागू करने के लिए जो प्रयत्न किये गये वे असफल रहे, क्योंकि चीनी अधिकारियों ने पट्टे के समझौतों को पूरा करने में बाधाएँ डालनी शुरू कर दीं। इन समझौतों को लागू करने के संबंध में चीनियों की अनिच्छा के कारण चीन का जापान के साथ लगातार संघर्ष होता रहता था। जापानी किसान में पहल करने के गुण का अभाव होने तथा उसके चीनी और कोरियाई किसानों से सफलतापूर्वक मुकाबला करने में असमर्थ रहने के कारण भी जापानियों के बजाय चीनी उस क्षेत्र पर कब्जा करते जा रहे थे जिस पर जापान अपना नियंत्रण रखना चाहता था।

इस स्थिति का विचित्र पहलू यह था कि जापानी रेल से चीनियों को मंचूरिया आने में सुविधा हुई और दक्षिण मंचूरिया की रेल की सहायता से इस क्षेत्र में फसलों का उत्पादन बढ़ाने के लिए जो प्रयत्न किये गये उनसे मंचूरिया के संपन्न हो जाने के कारण चीनी वहाँ आने के लिए आकृष्ट हुए।

समय बीतने के साथ-साथ चीनियों की स्थिति सुदृढ़ होने का एक दूसरा कारण यह भी था कि उन्हें रेल-निर्माण का कार्यक्रम पूरा करने का अवसर मिल गया। इसके पूरा हो जाने के बाद दक्षिण मंचूरिया की रेलवे लाइन का वाणिज्यिक महत्त्व घट जाता और आर्थिक दृष्टि से उसका प्रभाव कम हो जाता। कुछ समय तक जापान दक्षिणी मंचूरिया में रेल के निर्माण के लिए गैर-जापानी विदेशी पूंजी का प्रयोग निषिद्ध करके उसका निर्माण रुकवा देने में सफल रहा। जापान सरकार का कहना था कि चीन ने दक्षिण मंचूरिया की रेल के समानान्तर या उससे प्रतियोगिता करने वाली रेलवे लाइनें विदेशी पूंजी से न बनने के लिए सहमति दी थी। किन्तु पेकिंग पर अन्फू नियन्त्रण-काल में जापानियों ने कुछ रेलवे लाइनें बनाने के लिए धन दिया। दक्षिण मंचूरिया की रेलवे के लिए इन लाइनों का बन जाना लाभदायक था क्योंकि इसके द्वारा उत्तरी मंचूरिया की उपज को ब्लाडीवोस्टक के बजाय दैरें के जरिए बाहर ले जाने में आसानी होती थी।

बाद में चीनियों ने इन ऋणों का भुगतान इस आधार पर नहीं किया कि वे राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिये गये थे। इन ऋणों के साथ-साथ १९१७ के तथाकथित निशिहारा ऋणों का भी भुगतान नहीं किया गया था। इन्हें वापस पाने का जापान के पास केवल यही उपाय था कि किसी प्रकार चीनी सरकार के रुख में परिवर्तन हो जाय।

इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चीनियों ने उस क्षेत्र में भी अलग से रेलवे लाइनें बना ली थीं जिसमें पहले केवल दक्षिण मंचूरिया की रेल चलती थी। उन्होंने यह भी प्रयास किया कि यातायात की दृष्टि से चीन-जापान की रेलों का संबंध जापानी रेलों के बजाय चीनी रेलों से जुड़ जाय। रेलों के निर्माण के संबंध में चीनियों के प्रयत्न असफल नहीं रहे, यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि सितम्बर १९३१ तक चीनियों ने बिना किसी की सहायता के लगभग एक हजार किलोमीटर लम्बी रेलवे लाइनें बना ली थीं और वे उन्हें चला रहे थे।......वर्तमान संघर्ष छिड़ने के पहले के दो वर्षों में चीनियों ने इन विभिन्न रेल-लाइनों को महान् चीनी रेल-प्रणाली का रूप देकर चलाने का प्रयत्न किया और यह भी प्रयास किया कि यदि संभव हो तो समस्त माल को केवल चीनियों द्वारा चलायी जाने वाली रेलों से भेजा जाय। माल के समुद्र द्वारा बाहर ले जाये जाने के निमित्त ये चीनी रेल-लाइनें पींगकाऊ (न्यूचवांग)—संभाव्य रूप से हुलुटाव—के चीनी बन्दरगाह तक बिछायी गयी थीं। इसके फलस्वरूप चीनियों ने अपनी रेलवे-प्रणाली के सभी भागों के लिए सीधे यातायात का प्रबन्ध किया और महत्त्वपूर्ण सेक्शनों में अपनी रेल-लाइनों तथा दक्षिण मंचूरिया की रेल-लाइनों के बीच इसी प्रकार के समझौते करना अस्वीकार कर दिया। जापानियों ने दावा किया कि इस भेदभाव से दक्षिण मंचूरिया की रेल को उत्तर मंचूरिया के बहुत-से माल-भाड़े से वंचित किया गया है क्योंकि सामान्यतया यह माल उसकी कम-से-कम कुछ रेलों से होकर दैरें तक जाता।"[८] इस प्रकार चीनियों की रेल संबंधी नीति यह थी कि अन्ततः मंचूरिया में जापान की स्थिति कम महत्त्वपूर्ण, और हो सके तो, संकटापन्न बना दी जाय। इन्हीं बातों के कारण जापान और चीन में काफी संघर्ष होने लगा।

एक प्रश्न दक्षिण मंचूरिया के रेलवे के क्षेत्र में रेलवे गार्ड रखने का था। दक्षिण मंचूरिया की रेल को दी गयी रियायत के अनुसार उक्त क्षेत्र के प्रशासन का पूर्ण तथा अनन्य अधिकार उसे दिये जाने की जापानियों ने यह व्याख्या की कि इस सन्धि से उन्हें रेलवे-गार्ड रखने का अधिकार मिल जाता है, लेकिन चीनियों ने उनकी यह व्याख्या नहीं मानी। यह जो भी हो, दक्षिण मंचूरिया की चीनी जनसंख्या के बीच जापानी सैनिक टुकड़ियों की उपस्थिति ही निरन्तर संघर्ष का कारण बन गयी।

कोमिंगतांग के तत्त्वावधान में चीन के सैद्धान्तिक एकीकरण से भी मंचूरिया में तनाव

में कोई कमी नहीं आयी। जापान ने शान्तुंग में अपनी सेनाएँ तैनात कर दी थीं जिन्होंने च्यांग-काई-शेक की सेनाओं को उत्तर की ओर बढ़ने से रोका। इसके फलस्वरूप त्सिनानफू में १९२८ में उनके बीच मुठभेड़ हो गयी जिससे चीनियों की जापान विरोधी भावनाएँ उमड़ गयीं। इसके बाद जब चांग-त्सो-लिन की पराजय का खतरा पैदा हो गया तो जापान ने यह घोषणा कर दी कि मंचूरिया में उसके विशेष हित होने के कारण उसके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह तीन पूर्वी प्रान्तों में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखे। इससे चीनियों की विरोध-भावना और भी उग्र हो गयी। और जब इस नीति का अनुसरण करते हुए जापान की सरकार ने प्रमुख चीनी सेनापति को यह सूचित किया कि चांग-त्सो-लिन के अपनी पराजित सेनाओं के साथ बड़ी दीवार के उत्तर की ओर जाते समय राष्ट्रवादियों को उसके विरुद्ध मंचूरिया तक युद्ध करके देश की एकता को पूरा नहीं करना चाहिए,[१] तो राष्ट्रीय सरकार और साथ ही तब तक मौजूद पेकिंग सरकार ने यही उत्तर दिया कि उक्त नीति का लागू किया जाना "चीन के आन्तरिक मामलों में दखल देना ही नहीं होगा, बल्कि क्षेत्रीय प्रभुसत्ता का परस्पर सम्मान करने के सिद्धान्त का घोर उल्लंघन भी होगा।" जापान द्वारा अपने हित-क्षेत्र की धारणा का इतना स्पष्ट उल्लेख किये जाने से राष्ट्रीयता के समर्थकों में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाना निश्चित था कि मंचूरिया में जापान की विशेष स्थिति को समाप्त करके ही पूर्ण राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है।

जब चांग-ह्यू एलियांग को अपने पिता से उत्तराधिकार में तीन पूर्वी प्रान्तों का नियंत्रण मिला, तो उस युवक मार्शल ने स्वेच्छा से उक्त क्षेत्र को नानकिंग के अधिकार में दे दिया। जापान सरकार ने इस प्रकार का एका न करने की उसको सलाह दी थी। प्रशासनिक स्वायत्तता बनी रही, लेकिन विदेशी मामलों का निदेशन और राष्ट्रीय हित के विषय नानकिंग को हस्तान्तरित कर दिये गये। इसके पहले जापानियों ने मंचूरिया के प्रश्नों पर सीधे मुकदेन सरकार से वार्ताएँ की थीं, लेकिन अब मुकदेन में राष्ट्रीय झंडा फहराने के बाद वहाँ की सरकार ने आग्रह किया कि विदेश संबंधी सभी प्रश्नों पर राष्ट्रीय सरकार के विदेश कार्यालय के द्वारा बातचीत की जाय। मुकदेन सरकार की तुलना में राष्ट्रवादी सरकार पर सीधे दबाव डालना आसान न था। चांग-त्सोलिन की सरकार की तरह राष्ट्रवादी सरकार विवाद-ग्रस्त मामलों का हल जल्दी निकाल लेने को तैयार न होती थी। अपनी शर्तों पर ही वह कोई हल स्वीकार करती थी।

यह अत्यंत कठिन समय था। चीन में साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रीयता पर बल दिया जा रहा था और बाहरी शक्तियाँ अपने बचाव में उसके प्रति अपेक्षाकृत अधिक समझौतामूलक रुख अपनाने के लिए बाध्य हो रही थीं। उधर जापान सरकार का नेतृत्व

बैरन तनाका के हाथों में था। उसकी सरकार ने युद्ध पूर्व की दृढ़ नीति को अपनाया, लेकिन इस नीति से चीन की राष्ट्रीय भावना तीव्र और कटु ही हो सकती थी। निस्संदेह तनाका की नीति के अनुसार मंचूरिया में जापान की विशेष स्थिति पर बल दिये जाने से ही चीनी राष्ट्रवादियों का यह दृढ़ निश्चय और भी पक्का हो गया कि वे शीघ्रातिशीघ्र मंचूरिया में अपने 'खोये अधिकार' वापस लेंगे।

१९२९ में चीन का ध्यान अस्थायी रूप से रूस की ओर मुड़ा और संधि के संशोधन पर मुख्य रूप से जोर दिया गया। परन्तु जब राष्ट्रीय टैरिफ् लागू कर दिया गया और क्षेत्राधिकार संबंधी अधिकार वापस पाने में कुछ सफलता मिल गयी, तो १९२९ के बाद दक्षिणी मंचूरिया में जापान की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इसके बाद विरोध बराबर बढ़ता गया और घटनाएँ अधिक घटित होने लगीं। कोमितांग संगठनकर्त्ताओं को मंचूरिया में राष्ट्रवादी सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए भेजा गया। 'इस प्रकार के प्रचार का मंचूरिया पर जबर्दस्त प्रभाव निश्चित था क्योंकि वहाँ चीनी भूमि पर विदेशी हितों, न्यायालयों, पुलिस, गार्डों या सैनिकों का वास्तविक अस्तित्व प्रत्यक्ष था। राष्ट्रीय स्कूलों के पुस्तकों के माध्यम से राष्ट्रीय दल का प्रचार स्कूलों में भी होने लगा। लपोनिंग पीपुल्स फारेन पालिसी एसोशियेशन-जैसे संघ बनने लगे। वे राष्ट्रीय भावना को उभारते तथा तीव्र करते थे और जापान विरोधी आन्दोलन चलाते थे।[१०]

जैसे-जैसे जापान-विरोधी भावना और व्यक्तिगत रूप से जापानियों के विरुद्ध की गयी कार्यवाही में वृद्धि होने लगी, वैसे-वैसे जापानियों का अपनी स्थिति को बनाये रखने का निश्चय भी दृढ़ होता गया क्योंकि वे इसे अपने आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक समझते थे। १९३१ की गर्मियों में वानपाओशान तथा नाकामूरा कांडों के कारण आग में घी की आहुति पड़ गयी। ये कांड सितम्बर के उपद्रव के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थे। पहले वाले मामले में कोरियाइयों[११] ने किसी चीनी कम्पनी से भूमि पट्टे पर ली थी। कम्पनी ने वह भूमि वास्तविक चीनी स्वामियों से पट्टे पर ली थी। मूल पट्टे में यह शर्त थी कि इसकी वैधता, जिला मजिस्ट्रेट द्वारा इसकी शर्तों का अनुमोदन किये जाने पर निर्भर करेगी। दूसरी बार पट्टे के लिए करार पर हस्ताक्षर करने के पूर्व जिला मैजिस्ट्रेट का अनुमोदन प्राप्त नहीं किया गया क्योंकि उसमें यह शर्त नहीं रखी गयी थी कि उसकी वैधता उसमें जिला मैजिस्ट्रेट के अनुमोदन पर निर्भर होगी। कोरियाइयों की सफलता भूमि की सिंचाई पर निर्भर थी। कोरियाइयों ने तत्काल आवश्यक गड्ढों को खोदना और बाँध का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। इससे पड़ोसी चीनी भू-स्वामियों में, जिन्होंने किसी भी पट्टे के समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये थे, शत्रुता की भावना जाग्रत हुई। कुछ समय तक वार्ता चलाने के पश्चात् चीनी किसानों ने कोरियाइयों को भगा

दिया। जापान की कॉन्सली पुलिस कोरियाइयों की सहायता के लिए आयी। उसने उक्त क्षेत्र का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया और कोरियाइयों ने अपना काम समाप्त किया। बहुत-सी मुठभेड़ें हुईं। यद्यपि किसी ओर भी कोई हताहत नहीं हुआ, तथापि कोरिया तथा जापान दोनों में सनसनीखेज समाचार प्रकाशित हुए। इसके फलस्वरूप कोरिया और जापान में चीन-विरोधी दंगे हुए। इनसे चीनी उसी प्रकार उत्तेजित हो उठे, जिस प्रकार पहले की घटनाओं से कोरिया तथा जापान का जनमत क्षुब्ध हो उठा था। विवादग्रस्त प्रश्नों पर वार्ताएँ आरम्भ की गयीं, लेकिन सितम्बर १९३१ तक अन्तिम रूप से कोई समझौता नहीं हो पाया था।

१९३० तथा १९३१ में जिन 'घटनाओं' ने चीन और जापान के बीच कटु भावनाएँ उत्पन्न कर दी थीं, उनकी पूर्णाहुति नाकामूरा कांड से हुई। इस कांड का विशेष महत्त्व यह था कि इसका जापानी जनमत पर भी प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसमें जापान की सेना का एक अधिकारी भी अन्तर्ग्रस्त था। कैप्टन नाकामूरा की जून १९३१ में चीनी सैनिकों ने "मंचूरिया के एक निर्जन क्षेत्र में" हत्या कर दी। यद्यपि वह एक जापानी सैनिक अधिकारी था, जो सक्रिय ड्यूटी पर आया था और जापान की सेना के आदेशानुसार किसी मिशन पर था, तथापि जब हारबिन में चीनी प्राधिकारियों ने उसका पासपोर्ट जाँचा था तो उसने अपने को कृषि-विशेषज्ञ बताया था। उसके वास्तविक स्वरूप और स्थिति का पता चीनियों को बाद में चला। फिर भी जापानी यह हठ करते रहे कि कैप्टेन नाकामूरा तथा उसके साथियों की हत्या अनुचित थी और उससे जापानी सेना तथा राष्ट्र के प्रति दर्पपूर्ण अनादर की भावना प्रकट होती थी; उनका दृढ़तापूर्वक कहना था कि जिन परिस्थितियों में हत्या हुई उनकी सरकारी तौर पर जाँच प्रारम्भ करने में मंचूरिया के चीनी प्राधिकारियों ने देर की। वे उक्त घटना का दायित्व नहीं लेना चाहते थे और उनका यह दावा सच्चा नहीं था कि वे उक्त कांड के तथ्यों का पता लगाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे।[१३] चीनियों का जोर देकर यह कहना था कि कैप्टेन नाकामूरा को उसके पासपोर्ट की जाँच करने के लिए रोका गया जिसे देश के भीतर के भागों की यात्रा करते समय अपने पास रखना उसके तथा दूसरे विदेशियों के लिए आवश्यक था। भाग निकलने की कोशिश करते समय उसे एक सन्तरी ने गोली मार दी; और उसके पास से जो दस्तावेज प्राप्त हुए उनसे सिद्ध होता था कि वह या तो सैनिक जासूस था या किसी विशिष्ट सैनिक मिशन पर आया हुआ कोई अधिकारी था। लेकिन इन तथ्यों के बावजूद उसकी मृत्यु के कारण जापानी जनमत बहुत ही क्षुब्ध हो उठा। इससे यह भावना, जो सेना में बहुत पहले से ही विद्यमान थी, बलवती हो गयी कि यदि जापान अपनी स्थिति बनाये रखना चाहता है तो चीन के प्रति एक दृढ़नीति अपनायी जानी

चाहिए। इस प्रकार १८ सितम्बर की घटना की सैनिक प्रतिक्रिया के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

अतः इस अध्याय[१३] में वर्णित बहुत-से विवादों तथा घटनाओं के परिणामस्वरूप अगस्त १९३१ के अन्त तक मंचूरिया को लेकर चीन और जापान के संबंध अत्यन्त कटु हो गये। यह दावा प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि इन दो देशों के बीच ३०० मामलों का निबटारा होना शेष था। और उनमें से प्रत्येक को हल करने के लिए एक पक्ष ने सभी शान्तिपूर्ण उपायों का सहारा लिया था। ये तथा-कथित मामले बड़े विवादास्पद प्रश्नों से उत्पन्न हुए थे, जिनका आधार मूल रूप से दुराराध्य नीतियाँ थीं। एक पक्ष दूसरे पर यही अभियोग लगाता था कि उसने चीन और जापान के समझौतों की शर्तों का उल्लंघन किया है, उनकी एक-तरफा व्याख्या की है या उनकी उपेक्षा की है। प्रत्येक पक्ष के पास दूसरे के विरुद्ध उचित शिकायतें थीं।

"सितम्बर में चीनी प्रश्नों, विशेषतः नाकामूरा कांड के संबंध में जनमत बहुत प्रबल हो गया। बार-बार यह मत व्यक्त किया जा रहा था कि मंचूरिया में इतने विवादों को बिना निबटारे के पड़े रहने देने की नीति से चीनी प्राधिकारी जापान की अवहेलना करने लगे हैं। यह एक लोकप्रिय नारा बन गया कि सभी शेष विवादों का यदि आवश्यक हो तो बलप्रयोग से निबटारा किया जाय। समाचार-पत्रों में इस बात का स्वतंत्रतापूर्वक उल्लेख किया जाने लगा कि सशस्त्र बलप्रयोग का निर्णय किया गया है और इस उद्देश्य के लिए एक योजना पर विचार-विमर्श करने के निमित्त युद्ध मंत्रालय, जनरल स्टाफ तथा अंन्य प्राधिकारियों के बीच सम्मेलन हुआ है।[१४]

यदि जापान तथा चीन और विशेषतः मंचूरिया में बढ़ती हुई कटुता के संदर्भ में १८ सितम्बर की घटना को देखा जाय तो बाद की घटनाएँ समझ में आ सकती हैं। वह घटना इतनी ही थी कि दक्षिण मंचूरिया की रेलवे लाइन के एक भाग की पटरियाँ बम-विस्फोट से नष्ट हो गयी थीं। यद्यपि क्षति गंभीर नहीं थी, तथापि इसके दूरगामी परिणाम हुए। जापानियों ने दावा किया कि बम चीनी सैनिकों ने रखा था। चीनियों ने इससे इन्कार किया। इस विस्फोट के संबंध में तथ्य जो भी हों और उत्तरदायित्व जिसका भी हो, इसका परिणाम यह हुआ कि जापानी सैनिकों ने पहले मुकदेन और उसके आसपास के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया और फिर मंचूरिया में चीनी सैनिक तथा असैनिक अधिकार धीरे-धीरे समाप्त कर दिया गया। यह कार्य १९३१ के अन्त तक लगभग पूरा हो गया था।

(४) मंचूरिया संकट

इस बीच चीनी सरकार ने तुरन्त लीग आफ नेशन्स से प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद ११ के अनुसार अपील की। कौंसिल का सत्र चल रहा था। इसलिए उसने अविलम्ब इस समस्या

पर विचार करना आरम्भ कर दिया। ३० सितम्बर तक उसने एक संकल्प की शर्तें तयार कर लीं। विवादियों सहित सब सदस्यों ने संकल्प के पक्ष में मत दिये जिसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि परिस्थितियों के अनुसार जितनी जल्दी संभव हो जापान उस सीमित क्षेत्र को, जिस पर उसका कब्जा था, खाली कर दे। परिस्थितियों के अनुसार खाली करने की शर्त स्वीकार करने के प्रत्यक्षतः दो कारण थे। एक तो सदस्य नहीं चाहते थ कि जापान को यह प्रतीत हो कि उस पर अनुचित दबाव डाला जा रहा है। दूसरे जापानी यह हठ कर रहे थे कि वे अपनी सेनाएँ तभी हटा सकेंगे, जब डाकुओं-लुटेरों से उनकी सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन उन्हें दिया जायगा। चीनियों का नियंत्रण कमजोर पड़ जाने के बाद से ये डाकू-लुटेरे अधिक सक्रिय हो गये थे। किन्तु जब अक्टूबर में कौंसिल की फिर बैठक हुई तो यह पता चला कि सितम्बर समझौते के अनुसार अपना कब्जा हटाने के बजाय जापानियों ने उसका विस्तार कर लिया था। इस बार जो संकल्प स्वीकार किया गया वह एकमत से स्वीकार्य नहीं हुआ, क्योंकि जापान ने आपत्ति की थी। इस संकल्प में इस बात की पुष्टि की गयी थी कि रेलवे क्षेत्र से जापानी सेनाएँ वापस बुला ली जायँ और एक समय-सीमा निर्धारित कर दी गयी थी, जिसके भीतर सेनाएँ पूरी तौर से वापस बुला ली जानी थीं। जब नवम्बर में पेरिस में कौंसिल की फिर बैठक हुई तो उसके सामने यह स्थिति थी कि जापान ने ३० सितम्बर के संकल्प[१५] और इससे भी अधिक अनुल्लंघनीय अक्टूबर-संकल्प की शर्तों का पालन करने के बजाय अपने अधिकार के क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। कौंसिल के अगले सत्र में १० दिसम्बर को यह निर्णय किया गया कि एक जाँच-कमीशन स्थापित किया जाय, जो मंचूरिया में जाकर वहाँ की स्थिति की जाँच करे और साथ ही चीन की दशा की उस सीमा तक जाँच करे जहाँ तक उनका संबंध मंचूरिया के विवाद से था। इस बार जापानियों ने इस बात से सहमति प्रकट की कि वे कमीशन की रिपोर्ट आने तक चिनचाऊ से, जो उनके नियन्त्रण-क्षेत्र से बाहर था, चीनी प्राधिकार मिटाने के लिए आगे न बढ़ेंगे और इस प्रकार स्थिति को और न बिगाड़ेंगे। किन्तु ३ जनवरी १९३२ तक चिनचाऊ पर सशस्त्र आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया गया।

जेनेवा में इस अवधि में जब वार्ताएँ चल रही थीं तो जापान सरकार न केवल कब्जा किये हुए क्षेत्र को ही बढ़ा रही थी, बल्कि अपनी कूटनीतिक स्थिति में भी परिवर्तन करने में लगी थी। जापान पहले सहमत हो गया था कि वह मंचूरिया की अशान्त स्थिति को देखते हुए जितनी भी तेजी से होगा अपनी सेनाएँ वापस बुला लेगा। लेकिन बाद में वह यह हठ करने लगा कि वह तभी अपनी सेनाएँ वापस बुलायेगा, जब चीनी सरकार के साथ उन सिद्धान्तों के बारे में समझौता हो जायगा जो उन दो देशों के बीच

विभिन्न विवादग्रस्त प्रश्नों के निबटारे पर लागू किये जायँगे। किन्तु चीनी इसी बात पर जोर दे रहे थे कि वार्ताएँ आरम्भ करने के पूर्व जापानी सेनाएँ वापस बुला ली जायँ।

इस स्थिति में चीन की प्रतिक्रिया यह हुई कि जेनेवा से अपील करने के अतिरिक्त उसने वानपाओशान कांड के बाद जापानी वस्तुओं का बहिष्कार आरम्भ कर दिया। यह बहिष्कार कितना प्रभावकारी था, इसी बात का पता इस तथ्य से लगता है कि चीन को जापान का निर्यात सितम्बर १९३१ के १२,७०६,००० येन से घटकर दिसम्बर १९३१ में ४,२९९,००० येन रह गया[१६]! इस मुख्य मंडी के हाथ से निकल जाने के तत्काल गंभीर परिणाम हुए। इसके फलस्वरूप जनवरी १९३२ में चीनी-प्रतिरोध समाप्त करने के लिए जापानी युद्धपोत शंघाई भेजे गये जो सही तौर पर बहिष्कार संगठन का केन्द्र समझा जाता था। उस समय तथा बाद में भी बहिष्कार को चीन द्वारा जापान के विरुद्ध आक्रामक कार्य घोषित किया गया। इस घोषणा का इन दो देशों के बीच शान्ति बनाये रखने के दृष्टिकोण से गंभीर परिणाम ही हो सकता था।

बलपूर्वक बहिष्कार को समाप्त करने के इस प्रयत्न से सबका ध्यान अस्थायी रूप से मंचूरिया से हटकर शंघाई पर केन्द्रित हो गया। जापान ने जितना सोचा था चीन का प्रतिरोध उससे प्रबल था। इसका फल यह हुआ कि जापानी और भी अधिक उलझ गये। अन्ततः उन्होंने वार्ता द्वारा शंघाई के मामले को निबटाना ही ठीक समझा। ये वार्ताएँ अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण तथा तत्त्वावधान में चलायी गयीं। ५ मई १९३२ को युद्धबन्दी समझौता हो गया और जापानी सेनाएँ शंघाई से वापस बुला ली गयीं।

इस बीच मंचूरिया के संबंध में कुछ और भी घटनाएँ घटीं। ७ जनवरी १९३२ को अमेरिकन सेक्रेटरी आफ स्टेट मि० स्टिम्सन ने अपने सरकार की इस नीति की घोषणा की कि वह राष्ट्रीय नीति की पूर्त्ति के लिए युद्ध का परित्याग किये जाने के दृष्टिकोण से उन लोगों या परिवर्तनों को मान्यता नहीं देगी जो कैलाग ब्रायन्ड संधि जैसे अन्तर्राष्ट्रीय लिखतों के अन्तर्गत अभिनिषिद्ध उपायों को काम में लाकर प्राप्त हुए हों या किये गये हों। इस प्रकार अमेरिका ने अपनी नीति में परिवर्तन करके स्पष्टतः पहल की। इसके पहले वह चीन-जापान विवाद का निबटारा करने के लिए जेनेवा में किये जाने वाले प्रयत्नों को केवल अपना समर्थन प्रदान करता रहता था।

मार्च में सम्पूर्ण विवाद लीग की कौंसिल से उसकी असेम्बली को संक्रमित कर दिया गया। असेम्बली ने घटनाओं पर नजर रखने के लिए उन्नीस सदस्यों का एक कमीशन गठित किया[१७]। उसने प्रतिज्ञापत्र के सिद्धान्तों तथा कौंसिल के संकल्पों की वैधता की पुनः पुष्टि की और जाँच कमीशन की, जिसे नियमानुसार गठित किया गया था और जो उस समय सदुर पूर्व में जाँच कर रहा था, रिपोर्ट पर विचार करना आरम्भ किया।

इस कमीशन ने प्रतिज्ञापत्र के उल्लंघन के संबंध में लीग के सदस्य-राज्यों द्वारा लागू किये जाने के निमित्त स्टिम्सन का मान्यता न देने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया।[१८]

(५) नया राज्य—मंचूकुओ

१९३१ के बसंत में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना हुई, उसकी पृष्ठभूमि जापानी आधिपत्य की सम्पूर्ण अवधि में तैयार हो रही थी। यह घटना चीन से स्वतंत्र एक नये राज्य की स्थापना थी। इसकी स्थापना की घोषणा १८ फरवरी १९३२ को की गयी। च्यांग-ह्यूए–लियांग का शासन समाप्त करने के साथ-साथ, जो कि जापानियों का एक बड़ा लक्ष्य बताया जाता था, जापानी नियंत्रणाधीन क्षेत्रों में स्थानीय सरकारों का संगठन भी हो रहा था। अन्त में इन सबको मिलाकर नया राज्य बनाया गया, जिसका नाम मंचूकुओ रखा गया। इसके राज्य-क्षेत्र में चीन के तीन पूर्वी प्रान्त तथा जेहोल का प्रान्त सम्मिलित था। किन्तु जेहोल के प्रान्त का नियंत्रण १९३३ के बसंत तक प्राप्त नहीं किया गया। इस बसंत को वहाँ सैनिक कार्यवाहियाँ प्रारम्भ की गयीं और जापानी सेनाओं ने चीनी सेनाओं तथा अधिकारियों के निर्बल प्रतिरोध को समाप्त करके उन्हें वहाँ से निकाल बाहर किया।

४ मार्च १९३२ को चीन के सिंहासन-च्युत सम्राट् ने, जिसे १९३२ में गद्दी त्यागने के बाद मि० हेनरी पू यी कहा जाता था, नये राज्य का नेतृत्व ग्रहण किया और रीजेन्ट की उपाधि धारण की। ९ मार्च को एक संघटनात्मक विधि प्रख्यापित की गयी। यह विधि सिविल अधिकारों की प्रत्याभूमि विधि के साथ मंचूकुओं का पहला संविधान बनी। इस संघटनात्मक विधि द्वारा सर्वोच्च कार्यकारी प्राधिकार रीजेन्ट में विहित किया गया और यह व्यवस्था की गयी कि कार्यकारी, विधान, न्याय और पर्यवेक्षण विभाग उसके निदेशानुसार कार्य करेंगे। इस प्रकार बनी सरकार को वे सभी अधिकार मिल गये जिनका प्रयोग पहले चीन की प्रान्तीय सरकारें और केन्द्रीय सरकार करती थीं। इसके साथ ही उसे समुद्री सीमाशुल्क तथा नमक-कर की वसूली करने का भी अधिकार मिल गया। नमक कर के मामले में इस प्रकार का अधिकार-ग्रहण विदेशी प्रशासनिक अधिकारों का उल्लंघन था।

जापान ने नये राज्य को १५ सितम्बर १९३२ को मान्यता प्रदान की। इस प्रकार मान्यता देकर जापान ने संसार को एक प्रकार से इस आशय का नोटिस दे दिया कि वह मंचूरिया के प्रश्न का कोई ऐसा हल स्वीकार नहीं करेगा जिससे यथापूर्व स्थिति आंशिक रूप से भी वापस लाये जाने की संभावना हो। एक बार यह असफल प्रयास भी किया गया कि (लीटन) जाँच कमीशन द्वारा लीग असेम्बली में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत किये

जाने तक जापान सरकार नये राज्य के संरक्षण के लिए अपने को निर्णायक रूप से वचनबद्ध न करे। रिपोर्ट पर पैकिंग में ४ सितम्बर १९३२ को हस्ताक्षर किये गये। सभी प्रश्नों पर रिपोर्ट जापान के विरुद्ध थी, लेकिन उसमें विवादों के निबटारे के लिए जो सिफारिशें की गयी थीं, उन्हें यदि स्वीकार कर लिया जाता तो उससे मंचूरिया में जापान की स्थिति कमजोर होने के बजाय मजबूत ही होती, क्योंकि ऐसी ही स्थिति १९३० में थी। किन्तु रिपोर्ट और सिफारिशें जापान सरकार को स्वीकार न थीं। असेम्बली द्वारा १७ फरवरी १९३२ को उनके स्वीकार किये जाने के कुछ ही समय बाद जापान ने औपचारिक रूप से लीग आफ नेशन्स से हट जाने का नोटिस दे दिया।

१९३१–१९३३ के वर्षों की घटनाओं के प्रभाव को यहाँ पर संक्षिप्त रूप में दे देना अप्रासंगिक न होगा। मंचूरिया से चीन का प्राधिकार निश्चित रूप से समाप्त कर दिया गया था। किन्तु चीनी सरकार ने किसी संधि या अन्य संशोधन द्वारा इस परिवर्तन को स्थायी रूप में मान्यता नहीं दी थी। मंचूकुओ को न केवल नानकिंग सरकार ने मान्यता नहीं दी थी, वरन् अमेरिका और लीग आफ नेशन्स के सदस्य राज्यों ने भी अमेरिकन सेक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा परिभाषित मान्यता न देने के सिद्धान्त का अनुसरण करना जारी रखा। इस प्रकार उक्त परिवर्तन को स्थायी स्थिति के रूप में मान्यता नहीं मिली।

जापान के अतिरिक्त चीन ही ऐसा राज्य नहीं था, जिसके मंचूरिया में निहित स्वार्थ तथा महत्त्वपूर्ण स्थिति थीं। मंचूकुओ की स्थापना से उत्तरी मंचूरिया में रूसी स्थिति पर कुछ उसी प्रकार का प्रभाव पड़ा था जिस प्रकार का चीनी स्थिति पर। नये राज्य ने अपनी सीमाओं में उस राज्य-क्षेत्र को भी सम्मिलित कर लिया जिसे इसके पूर्व जापान ने स्पष्टतः रूस का हित-क्षेत्र माना था और उसने चीनी पूर्वी रेलवे में चीनी अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया। नयी सरकार ने जिस अवधि में रूसी क्षेत्र में अपने प्राधिकार का विस्तार किया, उसमें रूस और जापान के बीच लगातार संघर्ष होते रहे। किन्तु चूंकि सोवियत सरकार जापान के साथ अघोषित युद्ध में न फँसने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थी, इसलिए युद्ध न होने पाया। लेकिन रूस का रेलवे में हित होने के कारण उनके बीच संघर्ष का एक कारण बना रहा। इस संघर्ष को चीनी पूर्वी रेलवे को बेचकर ही समाप्त किया जा सकता था और तभी जापान और रूस के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हो सकते थे। इसके अतिरिक्त जापान का उत्तरी तथा दक्षिणी मंचूरिया पर नियंत्रण होने से इन दोनों देशों के बीच एक ही सीमान्त रेखा भी थी। इससे भी संघर्ष की स्थिति तब तक बनी रहने की आशंका थी, जब तक कि दोनों पक्षों के सन्तोषानुसार सीमान्त रेखा के संबंध में कोई समझौता न हो जाता।

(६.) मंचूरिया में साहसिक कार्यवाही की जापान के भीतर प्रतिक्रिया

मंचूरिया में की गयी कार्यवाही की स्वयं जापान के भीतर भी महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया हुई, यह कार्यवाही स्वान्तुंग सेनानायकों ने प्रारंभ की थी, जिन्हें जापान के आर्मी हाई कमान्ड का समर्थन मिला था। चूँकि मंचूरिया में सैनिक कार्यवाही की ही जा चुकी थी, इसलिए सरकार को बाध्य होकर उन लोगों के कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ा, जिन पर जापानी शासन-प्रणाली की विचित्र विशेषताओं के कारण वह प्रभावकारी नियंत्रण नहीं रख सकती थी। इसी समय मिनसीये सरकार ने उन कार्यवाहियों में, जो की जा चुकी थीं, कुछ इस प्रकार के संशोधन-परिवर्तन चाहे जिनसे वे लीग के प्रतिज्ञा-पत्र तथा संधि की शर्तों के अनुरूप हो जायँ। इसका नतीजा यह हुआ कि उस पर दोनों ओर से प्रहार होने लगे और उसका, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दिसम्बर १९३१ में पतन हो गया। किन्तु इसके फलस्वरूप, जैसी कि सेना के उग्रवादियों ने प्रत्याशा की थी, ऐसी सरकार नहीं बन पायी जो भ्रष्ट राजनीतिक दलों के लोगों से मुक्त हो। अन्तिम 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञ' प्रिन्स सैआंजी के परामर्श पर वयोवृद्ध सीयूकाई नेता त्सूयोशी इनूकाई ने नयी सरकार बनायी। इस प्रकार एक दल के स्थान पर दूसरे दल की ही सरकार बनी और तटस्थ सेनानायकों के हाथ में आन्तरिक राजनीतिक शक्ति नहीं आने पायी। इसका अर्थ यही हुआ कि आपत्तिजनक दलीय प्रणाली बनी रही। किन्तु सीयूकाई, मिन-सीटो की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ विदेश-नीति का समर्थक था और उससे यह आशा की जा सकती थी कि वह सेनानायकों की मंचूरिया संबंधी नीति का जोरदार समर्थन करेगा। इसलिए इस सरकार की स्थापना के प्रति उनकी जो प्रतिक्रिया हुई उसका कारण जापान की आन्तरिक दशा थी, न कि विदेशों से उसके संबंध।

डाइएट के चुनाव फरवरी १९३२ में हुए और चूँकि चुनाव-संगठन पर सीयूकाई का नियन्त्रण था, इसलिए वह बहुमत से मिनसीटो का स्थान ग्रहण करने के लिए चुना गया। अतः शासन की दलीय-प्रणाली को समाप्त करने का संघर्ष फिर से आरम्भ किया गया। चुनाव के पहले ही ९ फरवरी को भूतपूर्व वित्तमंत्री इनौए की हत्या कर दी गयी। एक महीने बाद मित्सुई हितों के प्रधान वैरन डान को गोली मार दी गयी। "ये हत्याएँ ब्लड ब्रदरहुड लीग द्वारा की गयी थीं जिसकी स्थापना १९३० में लेफ्टिनेन्ट फूजिमा तथा निचिरेन पन्थ के बौद्ध पुजारी मित्सो इनौएने की थी।"[१९] पुलिस की सूचना के अनुसार राजनीतिज्ञों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों की हत्याएँ करने का भी आयोजन किया गया था। अन्ततः १५ मई को स्वयं प्रधान मंत्री इनूकाई को मार डाला गया और अन्य आतंक-वादी कार्य किये गये। यद्यपि सेना के प्रधानों ने इन कांडों के सम्बन्ध में अपनी अनभि-

ज्ञता प्रकट की तथापि ये हत्याए और आतंकवादी काय सेना तथा नौ-सेना के युवक अधिकारियों, विद्यार्थियों और किसानों के संगठनों द्वारा आयोजित तथा निष्पादित किये गये थे, जो दलीय सरकार और पूंजीपतियों के विरुद्ध किये जा रहे तीव्र प्रकार से अत्यधिक उत्तेजित हो उठे थे। इसके अतिरिक्त हत्यारों पर जिस प्रकार मुकद्दमे चलाये गये और उन्हें जो दंड दिये गये उनसे सेना के वास्तविक रुख का पता चलता है। उनके साथ ऐसा व्यवहार किया गया मानो वे हत्यारे न होकर अभागे देशभक्त थे। वास्तव में उनके मुकदमों के जरिये पश्चिमी शक्तियों पर, जो जापान के प्रसार का विरोध कर रही थीं, दोषारोपण किया गया था। जिन लोगों को हत्याओं के लिए दोषी पाया गया उन्हें बहुत ही हल्के दंड दिये गये। अपराध करने के बाद और मुकदमा समाप्त होने के बीच की अवधि में उन्होंने जितना समय जल में व्यतीत किया उसे ही उनकी दंडावधि मान ली गयी।

इस बार समझौते के रूप में एडमिरल सैंटो के नेतृत्व में एक गैर-दलीय मंत्रिमंडल बनाया गया। यद्यपि यह मंत्रिमंडल गैर-दलीय था, तथापि उसमें सीयूकाई के तीन प्रतिनिधि और मिनसीटों के दो प्रतिनिधि सम्मिलित होने से उनके दलों को यह आंशिक रूप से स्वीकार्य था। समझौते के आधार पर बनायी गयी इस सरकार में दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। एक थे युद्धशील सेना नायक जनरल अराकी, जो युद्ध मंत्री थे। दूसरे थे वित्त मंत्री कोरे कियो ताकाहाशी। यह सरकार केवल १९३४ तक रही। इसका पतन एक वित्त संबंधी भ्रष्टाचार कांड के कारण हुआ जिसमें उपवित्त-मंत्री का हाथ था। इन परिस्थितियों में ऐसा प्रतीत होता था कि लोग पिछले दशक की अपेक्षाकृत कम शुद्ध राजनीतिक वातावरण की ओर लौटना चाहते हैं। किन्तु इससे १९३०–३२ की अवधि के तीव्र संघर्ष की स्थिति तत्काल नहीं लौटने पायी, क्योंकि संभवतः नये सेनानायक पुराने प्रकार के संबंधों के कतिपय लाभों को समझने लगे थे। इस कारण एडमिरल ओकाडा के नेतृत्व में एक नया मंत्रिमंडल तुरन्त बनाया गया। इसकी नीति के बारे में यह घोषणा की गयी कि वह उदार होगी, किन्तु यह सुविदित तथ्य था कि नये प्रधान मंत्री मजबूत नौ-सेना के प्रबल समर्थक थे। इसी नौसैन्यवादी सरकार ने वाशिंगटन नौ-परिसीमन (नेवल लिमिटेशन) संधियों को समाप्त कर दिया।

इस प्रकार १९३६ के प्रारम्भ तक जापान की आन्तरिक राजनीति में अपेक्षाकृत शान्ति रही। नये सेना तथा नौ-सेना नायकों ने प्रत्यक्षतः पूंजीपतियों तथा राजनीतिक दलों से उसी प्रकार मित्रता कर ली थी जैसी कि १९०० के बाद दो दशाब्दियों तक रही थी और जिसकी वे कड़ी आलोचना कर रहे थे। किन्तु २० फरवरी १९३६ को

जो चुनाव हुए और जिनसे यह प्रतीत होता था कि पुरानी स्थिति फिर वापस आ जायेगी वे तूफान के पहले की अन्तिम शान्ति के द्योतक थे। चुनाव के फलस्वरूप मिनसीटो डाइएट में पुनः प्रमुख दल बन गया। उसके सदस्यों की संख्या २०५ थी। सीमूकाई के सदस्यों की संख्या घटकर कुल १७४ रह गयी; शोवाकाई के, जो एक फासिस्ट पार्टी थी, २० सदस्य थे; कोकुमिन्डोम के १५ सदस्य चुने गये; श्रमिक दल के १८ चुने गये; स्वतंत्र सदस्य २५ थे और अन्य सदस्यों की संख्या ९ थी।

मिनसीटो के डाइएट के बहुसंख्यक दल के रूप में चुने जाने का कुछ सम्बन्ध संभवतः राजनीतिक प्रयोजन के लिए की गयी हत्याओं से था। पूर्ववर्ती वर्षों में भी इस प्रकार के प्रत्यक्ष आक्रमण का भय बना रहता था। लोकमत पहले के हत्यारों के विरुद्ध नहीं था। सेना नायकों ने अनिच्छापूर्वक उन पर मुकदमे चलाये थे और जो दंड दिये थे उन्हें बहुत हल्का माना जा सकता था। बहुत-से मामलों में तो ये दंड भी तुरन्त रद्द कर दिये गये थे। जिन संगठनों के सदस्य हत्याओं के लिए उत्तरदायी थे, उन्हें तोड़ा नहीं गया था और न उसी प्रकार के अन्य संगठनों को हतोत्साहित किया गया था। मुख्य रूप से आतंकवादी उपायों पर जोर देने वाले सैनिक-फासिस्ट संगठनों के सदस्यों की संख्या बड़ी थी और वे बड़े प्रभावशाली थे।

यद्यपि १९३४ और १९३५ में प्रमुख राजनीतिज्ञों की हत्याएँ नहीं हुई जैसा कि पूर्ववर्ती दो वर्षों में हुआ था, तथापि इस बात का पर्याप्त प्रमाण था कि यदि सरकार बाहर के अनुत्तरदायी तत्त्वों की सहायक नहीं थी तो कम-से-कम नाजायज-राजनीतिक कार्यवाहियों को रोकने में असमर्थ थी।"[२०] इस प्रकार सत्ताधारी सैनिक प्राधिकारियों को, जो प्रचार तथा आतंकवाद के सहारे सत्तारूढ़ हुए थे, अब चुनाव के केवल ६ दिनों बाद हत्याओं का नये सिरे से सामना करना पड़ा। एडमिरल वाइकाउन्ट मकाडो सैटो, लार्ड कीथर आफ दि प्रिवी सील, वाइकाउन्ट ताकाहाशी जो कुछ ही समय पहले मंत्रिमंडल के वित्तमंत्री बने थे, और जनरल जो तारों वातानावे सेना के युवक अधिकारियों द्वारा मार डाले गये। प्रधानमन्त्री एडमिरल ओकाडा के छिप जाने और ठीक से न पहचाने जाने से उनके प्राण बच गये।

इस बार सम्राट और आर्मी हाई कमाण्ड ने गंभीर रुख अपनाया। सम्राट् ने डाइएट को सम्बोधित करते समय उक्त घटना का प्रत्यक्ष उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में करने का अभूतपूर्व कदम उठाया, "हमें उस घटना के लिए खेद है जो टोकियो में फरवरी में हुई। हम अपनी स्वामिभक्त प्रजा, सरकार और असैनिक तथा सैनिक जनता से आशा करते हैं कि वे सब एक होकर राष्ट्र का कल्याण करेंगे।"[२१] सेनानायकों ने जिस तेजी से एक उच्च सैनिक न्यायालय गठित किया और उसने जितनी शीघ्रता से हत्या

में भाग लेने वालों के विरुद्ध मुकदमों की कार्यवाही शुरू कर दी उससे उनके रुख में परिवर्तन दिखाई दिया। मुकदमों को लम्बा खींचने या स्थगित करने के बजाय, जिससे कि लोकमत शान्त होने पर सदा की तरह हल्के दंड दिये जा सकें, न्यायालय ने ७ जुलाई के विद्रोह के सत्रह नेताओं को मृत्यु-दंड दे दिया और इसके विरुद्ध अपील की अनुमति नहीं दी। सभी सेना के अधिकारी थे। इसके अतिरिक्त सम्राट के निदेशानुसार सैनिक परिषदें और हाइ कमान्ड पुनस्संगठित किये गये। चूँकि सेना ने राजनीति पर नियंत्रण पुनः प्राप्त कर लिया था, इसलिए वह अब ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकना चाहती थी।

निस्संदेह सरकार को पुनस्संगठित करना आवश्यक था। सेना और नौ सेना तथा राजनीतिक दलों के पसंद होने पर निर्दलीय विदेश मंत्री कोकीहिरोता को ९ मार्च १९३६ को प्रधान मंत्री बना दिया गया। उनकी नियुक्ति की देश के भीतर और बाहर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि जापान में शक्ति संतुलन में कोई परिवर्तन हुआ था। हो सकता है सेना और नौसेना के बीच शक्ति-संतुलन में कोई परिवर्तन हुआ हो। इसके अतिरिक्त सरकार बनते समय सेना ने अपनी ओर से युद्ध मंत्री देने से इन्कार करके शक्ति का परिचय दिया। उसका कहना था कि उसकी शर्तें मान लिये जाने पर ही वह युद्ध मंत्री दे सकती है। इस प्रकार नयी सरकार बनने से नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

(७) सैनिक शासन का आन्तरिक प्रभाव—१९३३-३६

क्या नये शासकों ने चार वर्ष तक आन्तरिक तथा विदेश नीति का नियंत्रण अपने हाथ में रहने पर भी उस दशा में कोई सारवान् सुधार किया जिसके वे कड़े आलोचक थे ?

आर्थिक दृष्टिकोण से यह मानना पड़ेगा कि संतुलन पहले की ही तरह बना रहा। कृषि की दशा में कोई सारवान् सुधार नहीं हुआ। यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि १९३२ में ४०० करोड़ येन का कुल अनुमानित कृषि-ऋण बढ़कर ४८० करोड़ येन हो गया। १९३६ में यह ऋण बढ़कर लगभग ६०० करोड़ हो गया। इसकी तुलना में कुल कृषि आय २,१८ करोड़ ८० लाख येन हुई। कृषि के लिए कुछ सरकारी सहायता दी गयी थी। यह तीन प्रकार से दी गयी— (१) सहायता के निमित्त कुछ धनराशि निर्धारित करके, जो बिलकुल अपर्याप्त थी; (२) आयात किये जाने वाले खाद्यान्नों पर टैरिफ लगाकर और (३) घरेलू कृषि-मूल्यों को विनियमित करने का प्रयास करके कृषि-क्षेत्र में एक सफल कार्य भी हुआ। पंचवर्षीय गेहूँ आयोजना सफल रही जिससे १९३२ के बाद गेहूँ के उत्पादन में ६० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी और जापान को बाहर से गेहूँ मँगाने की

आवश्यकता नहीं रही। अन्य खाद्यपदार्थों में वह पहले से ही आत्मनिर्भर था। गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि का मूल्य किसान की दृष्टि में यह नहीं था कि उससे राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता उत्पन्न हो गयी, बल्कि यह था कि गेहूँ को चावल के साथ एक पूरक फसल के रूप में बोने के कारण उसकी आय में उसी प्रकार की बढ़ती हो गयी जैसी कि रेशम के कीड़े को पालने से होती है। १९३० के बाद कृषि आय में कमी का कारण अंशतः १९३३ में अधिक उत्पादन था। इसके बाद ही १९३४ में बहुत ही कम फसल हुई। १९३३ में फसल बड़ी अच्छी हुई थी और इसके बाद के वर्ष में उत्पादन में कमी होने के कारण उस फसल के अनाज के भाव बढ़ गये थे, लेकिन सरकार की स्थिरीकरण प्रणाली के प्रवर्तन के कारण किसान इन बढ़े हुए भावों का लाभ नहीं उठा पाया। मंदी के फलस्वरूप अमेरिका में कच्चे सिल्क की माँग कम हो जाने से आय में भी कमी हो गयी। देश में और उसके बाहर रेयन उद्योग के विकास से भी सिल्क की माँग पर प्रभाव पड़ा। चूँकि रेशम-उत्पादन गाँवों में एक महत्त्वपूर्ण-अनुपूरक व्यवसाय था, इसलिए सिल्क की माँग तथा मूल्य में कमी होने का जापानी किसानों पर अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पड़ा।

मंचूरिया में जापान के प्रसार से जापान की कृषि की दशा सुधरने की जो भविष्यवाणी की गयी थी वह फलीभूत नहीं हुई। उदाहरणार्थ, विस्तृत उपनिवेशन के संबंध में सेना-नायकों ने जिन आयोजनाओं के कार्यान्वित किये जाने की घोषणा की थी, उनमें एक भी सफल नहीं हुई। लेकिन मंचूरिया में प्रसार करने से कोई प्रत्यक्ष लाभ न मिलने पर भी उस पर हुए व्यय का एक बड़ा भाग किसानों को वहन करना पड़ रहा था। सेना, नौसेना का व्यय १९३०–३१ के ४४ करोड़ २८ लाख येन से बढ़कर १९३४–३५ में ९३ करोड़ ७३ लाख येन हो गया। १९३५–३६ के बजट में और वृद्धि की गयी तथा १९३६–३७ में और अधिक वृद्धि की माँग की गयी। ये सभी वृद्धियाँ मंचूरिया पर अधिकार जमाने का प्रत्यक्ष परिणाम नहीं थीं। जैसे, नौ-सेना के व्यय की वृद्धि की माँग नौसेना परिसीमन समझौता समाप्त कर देने के कारण हुई थी। फिर भी चाहे प्रत्यक्ष रूप से हो या अप्रत्यक्ष रूप से, व्यय में ये सब वृद्धियाँ उस नयी नीति के परिणामस्वरूप हुई थीं जिसका हठपूर्वक अनुसरण जापान सुदूरपूर्व में करना चाह रहा था।

करों का कितना प्रतिशत किसानों को देना पड़ रहा था, यह निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट होगा। "३०० येन के वार्षिक आय-वर्ग के किसान-मालिक ३५ प्रतिशत करों के रूप में देते थे, जब कि विनिर्माता १.५ और व्यापारी १२.५ प्रतिशत देते थे। ५०० येन के वर्ग में भू-स्वामी लगभग ५१, किसान-मालिक ३१.५, विनिर्माता १८ और व्यापारी १४ देते थे।"[२२] इस प्रकार पिछले कई वर्षों की दृढ़ विदेश नीति के कारण बढ़ते हुए करों का सबसे अधिक भार किसानों पर पड़ा, जब कि उन्हें उससे बहुत ही कम लाभ हुआ था।

दूसरी ओर १९३१ के बाद उद्योगों में काफी वृद्धि हुई। किन्तु यह कहना कि यह वृद्धि निश्चयात्मक विदेश नीति का अनुसरण किये जाने के कारण हुई, पूर्णतया अथवा संभवतः बड़ी सीमा तक भी सही नहीं है। उस समय कई बातें ऐसी हुई जिनसे व्यापार का चरम उत्कर्ष हुआ। यह स्थिति १९३५ में भी रही, लेकिन १९३६ में व्यापार की गति मंद होने लगी। व्यापार के उत्कर्ष का एक कारण निस्संदेह महाद्वीप में सैनिक कार्यवाहियाँ थीं। इनसे सैनिक साज-सज्जा पर व्यय बढ़ गया और देश में भारी उद्योग को प्रोत्साहन मिला। मंचूकुओ की नीतियों पर नियंत्रण होने से जापान वहाँ ३ करोड़ लोगों के बाजार पर अपना आधिपत्य बनाये रखने में सफल रहा। १९३४ में मंचकुओं में किये जाने वाले आयात का ६५ प्रतिशत माल जापान से जाता था जब कि इसकी तुलना में १९२९ में यह प्रतिशत ४२ था। मंचूरिया में कृषि, उद्योग और संचार के विकास के लिए जापान अपनी पूँजी लगा रहा था। जापान के व्यापार की वृद्धि करने में इसका महत्त्व राजनीतिक नियन्त्रण से भी अधिक था, यद्यपि ये दोनों बातें कारण और प्रभाव के रूप में परस्पर संबद्ध थीं। बहरहाल इस तथ्य को अस्वीकार या दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि मंचूरिया में नयी स्थिति के फलस्वरूप जापानी उद्योग को प्रोत्साहन मिला।

दूसरी ओर १९३२ के बाद अन्यत्र भी जापान के व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, जिसका कारण बाहर पूँजी लगाना नहीं था। यह पहले भी कहा जा चुका है कि यह वृद्धि पूर्व और पश्चिम के व्यापार संबंधों में पूरी तौर पर हेर-फेर हो जाने और पहले की प्रवृत्ति के जारी रहने का संकेत मात्र थी। यहाँ इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि व्यापार के इस चरम उत्कर्ष से जापान उन बाजारों में भी प्रविष्ट हो गया जहाँ पहले केवल पश्चिमी देशों का एकाधिपत्य था। उसका निर्यात मुद्रा-उपार्जन की दृष्टि से १९३५ के अंत तक १९२९ के स्तर से कुछ ऊपर था, तथा परिमाण की दृष्टि से उससे काफी अधिक था, लेकिन डालर की दृष्टि से १९२९ के स्वर्ण-मूल्य से काफी कम था। आयात भी मूल्य तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से बढ़ा था। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद १९३५ में पहली बार उसका व्यापार लाभप्रद रहा। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से यह थी कि आयात का रूप काफी बदल गया था। जापान मुख्यतया कच्चे माल या आधी तैयार वस्तुएँ मँगाता था और निर्यात निर्मित वस्तुओं का करता था। इस प्रकार नया जापान सिल्क के बजाय सूती वस्त्रों का सबसे बड़ी मात्रा में निर्यात करता था। १९३५ में ग्रेट-ब्रिटेन की तुलना में जापान ४० प्रतिशत अधिक सूती कपड़े का निर्यात करता था। ब्रिटिश भारत और चीन को सूती वस्त्रों का निर्यात करने वाले देशों में प्रथम स्थान जापान का था। नीदरलैण्ड्स इन्डीज का लगभग पूरा बाजार उसके हाथ में था। वह फिलिपाइन्स को कुल सूती वस्त्रों

का ६४ प्रतिशत निर्यात करता था। १९३१ और १९३३ के बीच केन्द्रीय अमेरिका को उसके निर्यात में ५०० प्रतिशत और दक्षिण अमेरिका को ३०० प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई। यह बढ़ा हुआ व्यापार १९३६ तक चलता रहा। उस समय तक लैटिन अमेरिकी देशों ने अपने देशों की व्यापार की दशा खराब होते देख जापान की वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। १९३६ में पूर्वी एशिया में भी जापान और ग्रेट ब्रिटेन दोनों से किये जाने वाले आयात में कमी हुई। इस कारण पुरानी स्थिति फिर वापस लाये जाने के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ क्योंकि जापान के व्यापार में ब्रिटेन की तुलना में बहुत काफी कमी हुई थी।

व्यापार का अचानक चरम उत्कर्ष होने के कई कारण थे। पहला कारण यह था कि जापानी श्रमिकों को कम मजदूरी दी जाती थी, लेकिन कम-से-कम वस्त्रों के उद्योग में, इससे जापानी श्रमिक की उत्पादन क्षमता में कोई कमी नहीं हुई थी। दूसरा यह था कि १९२७ के बाद जापानी उद्योग के अभिनवीकरण से उसकी प्रतियोगी क्षमता बहुत बढ़ गयी थी। तीसरा कारण यह था कि सरकार के तत्त्वावधान में विदेशों में व्यापार के प्रयोजन के लिए उद्योग का संगठन किया गया। सरकार सदा नये बाजार ढूँढ़ने या पुराने बाजार का प्रसार करने का प्रयत्न करती रहती थी। इससे भी व्यापार का प्रसार हुआ। चौथा कारण था येन का अवमूल्यन। मिनसीटो सरकार ने स्वर्ण-अधिरोध लगाया था, लेकिन उसका पतन होते ही यह अधिरोध हटा लिया गया जिसके फलस्वरूप येन का अवमूल्यन कर दिया गया। इससे जापान को अस्थायी रूप से विदेशी बाजार ढूँढ़ने में बड़ी सुविधा हुई। पहले, दूसरे और चौथे कारणों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि जापान अपेक्षाकृत कम मूल्य पर अपना माल बेचने में समर्थ हो गया। इसके फलस्वरूप उसने उन बाजारों में भी प्रवेश करके उन्हें हथिया लिया जिनका शोषण पहले यूरोपीय राज्य या अमेरिका करते थे। यह सफलता जापान ने उस समय प्राप्त की जब विश्व मंदी से ग्रस्त था और प्रत्येक राज्य ने अपने बाजारों को संरक्षण देने के लिए बहुत-से प्रतिबन्ध लगा रखे थे।

इस व्यापार-उत्कर्ष से जापान के भीतर ऐसा प्रतीत होता था मानो, समृद्धि तो नहीं, बड़ी सक्रियता वहाँ आ गयी है। लेकिन वास्तविकता यह थी कि कृषि पर आधारित लगभग आधी जनसंख्या को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा था और औद्योगिक श्रमिकों की आय में भी कोई वृद्धि नहीं हुई थी। इस औद्योगिक प्रसार में मुख्यतया बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने भाग लिया था और उन्हें ही इससे लाभ पहुँचा।

जापान के बाहर इस व्यापार-उत्कर्ष का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जिन देशों के बाजारों में जापान घुस गया था उनमें उसके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न हो गया। १९३२ के बाद के वर्षों में व्यापारिक हितों के कारण आंग्ल-जापानी संबंधों

में काफी तनाव आ गया और कनाडा तथा जापान में व्यापारिक विवाद आरम्भ हो गया। वे एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाही भी करने लगे, १९३६ के आरम्भ में इस विवाद के संबंध में उनमें समझौता हुआ, इसका अंतिम रूप से निबटारा तब भी न हो पाया। अपने लिए बाजार सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जापान ने आस्ट्रेलिया से, जिससे वह बड़े परिमाण में खरीदारी करता था, यह हठ करना आरम्भ किया कि वह भी बड़े परिमाण में जापानी वस्तुएँ खरीदे। १९३६ में जापान और आस्ट्रेलिया में भी वार्ताएँ आरम्भ हो गयीं। इनके परिणाम पर ग्रेट ब्रिटेन की भी अभिरुचि थी, क्योंकि आस्ट्रेलिया द्वारा जापान से अधिक खरीदारी करने से ब्रिटेन के माल की खपत कम हो जाती। अमेरिका भी उन देशों में सम्मिलित हो गया जिन पर १९३५ में जापान के व्यापार के प्रसार का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। अमरीकी व्यापारी इस बात से क्षुब्ध थे कि उन्हें स्वयं अपने देश में तथा फिलिपाइन्स और अन्य राज्य-क्षेत्रों में भी, जहाँ अमेरिका के हित अन्तर्ग्रस्त थे, जापानी माल की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है, इस प्रकार एशिया महाद्वीप में जापान की सैनिक नीतियों के कारण उसके प्रति पश्चिम के देशों में जो शत्रुता के भाव जाग्रत हुए थे उनमें आलोच्य अवधि में व्यापार के इस उत्कर्ष के कारण और भी वृद्धि हुई। किन्तु शत्रुता की इस भावना का अनुमान लगाते समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि जापान का उद्योगीकरण हो जाय तथा उस माध्यम से अपनी जनसंख्या की समस्या का हल करने के उसके प्रयासों की तार्किक निष्पत्ति यही हो सकती थी कि वह बाजारों की खोज करे।

(८) मंचूकुओ में जापान की स्थिति

मंचूरिया का संकट वास्तव में पहले की प्रवृत्तियों का ही एक उभरा हुआ रूप था। उसके फलस्वरूप सबसे अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन जापान की महाद्वीपीय स्थिति में हुए। यह पहले कहा जा चुका है कि एक स्वतंत्र, किन्तु जापान के अत्यधिक संरक्षित आधीन-क्षेत्र के रूप में मंचूकुओ की स्थापना, सेना के सत्तारूढ़ होने का पहला फल था। उसके बाद इस स्थिति को सुदृढ़ करना भी आवश्यक था। मार्च १९३२ को संघटनात्मक विधि के अधीन सरकार के संगठित किये जाने का जिक्र पहले किया जा चुका है। दो वर्ष बाद अन्तरिम प्रणाली के रूप में रीजेन्सी का परित्याग कर दिया गया और एक साम्राज्यिक प्रणाली की स्थापना करके रीजेंट को मंचूकुओ का सम्राट् बना दिया गया। इस परिवर्तन को समाविष्ट करने के निमित्त संशोधन कर देने के बाद १ मार्च १९३४ को एक अध्यादेश जारी किया गया, जिसमें संघटनात्मक विधि की पुष्टि की गयी और इस प्रकार साम्राज्यिक सरकार का संगठन तैयार हो गया। सम्राट् को राज्य का

सर्वोच्च शासक बनाया गया, किन्तु वह अपने अधिकारों का प्रयोग प्रिवीकौन्सिल तथा स्टेट कौन्सिल (राज्य परिषद) के परामर्श से करता था। एक लेजिस्लेटिव कौन्सिल (विधान परिषद्) की भी व्यवस्था की गयी थी, किन्तु उस समय तक उसकी व्यवस्था नहीं की गयी थी। उसके परामर्श विषयक कार्य स्टेट कौंसिल या प्रिवीकौन्सिल करती थी। इसका गठन सदस्यों की नियुक्ति करके किया गया। सुपरवाइजरी पर्यवेक्षण कौन्सिल का गठन भी इसी प्रकार किया गया। उसका मुख्य कार्य राज्य के हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करना था। दस प्रशासनिक विभागों और सामान्य कार्य बोर्ड (जनरल अफेयर्स बोर्ड) की भी व्यवस्था की गयी थी यद्यपि यह व्यवस्था सीधे संघटनात्मक विधि में नहीं की गयी थी। इस परिषद् के पास बजट का कार्य था और वह राष्ट्रीय नीतियों का पर्यवेक्षण भी करती थी।

मंचूकुओ पर जापान का नियंत्रण भिन्न-भिन्न रूप में परिलक्षित होता था और विभिन्न उपायों द्वारा रखा जाता था। सामान्य कार्य बोर्ड में, जो राज्य-परिषद् के भीतर नीति-निर्धारण करने वाली एजेन्सी थी, अधिक संख्या जापानी अधिकारियों की थी। विभागाध्यक्ष गैर-जापनी होता था, लेकिन उसके अधीन मुख्य-मुख्य प्रशासनिक पदों पर जापानी होते थे। अधीनस्थ सिविल सेवा के पदों को भरते समय भी मंचूरियों की तुलना में जापानियों का अनुपात अधिक रखने की प्रवृत्ति थी। १९३६ के अन्त में समग्र रूप से सरकार को सभी प्रशासनिक शाखाओं की, जिनमें प्रान्तीय कार्यालय भी सम्मिलित थे, सिविल सेवा के तीन उच्च वर्गों में लगभग ४० प्रतिशत मंचूरिया निवासी और ६० प्रतिशत जापानी रखने की प्रवृत्ति थी।'[२३] निम्नतम वर्ग में १९३६ में मंचूरियों तथा जापानियों की संख्या लगभग बराबर थी, जब कि १९३३ में ७४० जापानियों की तुलना में १५४७ मंचूरी थे। प्रत्यक्षतः ये जापानी प्रशासक मंचूकुओ सरकार के अधिकारी थे, न कि जापानी सरकार के। फिर भी वे अपने लिए निदेश जापानी सरकार से लेते थे और उसी के हितों की रक्षा करने की उनसे आशा की जाती थी।

जापान के प्राधिकार का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व निम्नलिखित करते थे — (१) क्वान्तुंग में पट्टे पर लिये गये राज्य क्षेत्र (क्वान्तुंग लीज्ड टेरीटरी) का गवर्नर, जिसका राज्य-क्षेत्र में सिविल क्षेत्राधिकार तथा राज्य-क्षेत्र और रेलवे प्रक्षेत्र में पुलिस पर नियन्त्रण और दक्षिणी मंचूरिया की रेलवे के प्रशासन के निदेशन का कुछ सीमा तक अधिकार था, (२) क्वान्तुंग सेना का कमाण्डर-इन-चीफ (प्रधान सेनापति), (३) दक्षिण मंचूरिया की रेलवे, जो रेलवे प्रक्षेत्र के भीतर असैनिक प्रकार के कई उद्यम चलाती थी; और (४) देश में बिखरे हुए प्रदूतिक अधिकारी, जो राज्यक्षेत्रातीतता के कारण जापानी प्रजा पर प्राधिकार का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त १ अक्टूबर १९३२ को

नये मंचूकुओ की राजधानी सिनकिंग में एक राजदूत नियुक्त किया गया। १९३२ में तथा उसके पश्चात् इन सभी विभिन्न प्राधिकारियों को, जिनमें कभी-कभी संघर्ष हो जाता था, एक प्रधान के अंतर्गत रखा गया। क्वान्तुंग सेना के प्रधान सेनापति को पट्टे पर लिये गये राज्य-क्षेत्र का गवर्नर और मंचूकुओ का राजदूत भी बनाया गया। इससे जापानी सेना के प्राधिकार के अंतर्गत असैनिक परामर्शदाता तथा प्रशासक और इस प्रकार मंचूकुओ सरकार भी आ गयी। फलस्वरूप सेना ने जापान में जो एकछत्र राज्य स्थापित करना चाहा था, लेकिन आंशिक रूप में ही कर पायी थी, उसे मंचूकुओ में स्थापित करने में वह सफल हो गयी।[२४] इसका परिणाम उक्त क्षेत्र के विकास के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

जापान तथा जापानी हितों के प्रति नये राज्य की नीति की घोषणा एक संलेख में १५ सितम्बर १९३२ को की गयी। चीन के साथ की गयी संधियों, जिनमें १९१५ की संधियाँ सम्मिलित थीं, के आधार पर जापान ने मंचूरिया में जिन अधिकारों और हितों का दावा किया था, उन सबको उक्त संलेख द्वारा मान्यता दी गयी। इसके साथ ही सभी निजी और राजकीय संविदों तथा रियायतों को भी स्वीकार किया गया। इसके बदले में जापान ने मंचूकुओ की रक्षा करने तथा नये राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इसका फल हुआ कि मंचूकुओ के असैनिक प्रशासन पर नियंत्रण होने से जापान को उसके गृह तथा विदेश नीति में सामान्य निदेशन का अधिकार तो था ही, अब उक्त संलेख द्वारा उसे राज्य के भीतर सैनिक कार्यवाही करने का भी संदिग्ध अधिकार मिल गया। वस्तुतः इससे मंचूकुओ जापानी साम्राज्यिक प्रणाली में एक संरक्षित राज्य बन गया।

मंचूकुओ में जहाँ तक गैरजापानियों के अधिकारों तथा हितों का संबंध था, नयी सरकार ने १४ मार्च १९३२ को सत्रह विदेशी राज्यों को भेजे गये अपने पत्र में अपनी नीति का निर्धारण इस प्रकार किया था—(१) विश्वास, एकता, न्याय, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों के अनुसार अपने विदेशी संबंधों को बनाये रखना; (२) "चीनी गणतन्त्र द्वारा विदेशों से की गयी संधियों की शर्तों पर आधारित दायित्वों को अन्तर्राष्ट्रीय विधियों तथा परिपाटी के अनुसार ग्रहण करना और उन दायित्वों का निर्वहन निष्ठापूर्वक करना; (३) मंचूरिया राज्य की सीमाओं के भीतर विदेशों के लोगों द्वारा प्राप्त अधिकारों का न केवल सम्मान करना, बल्कि उन्हें तथा उनकी संपत्तियों को पूरा संरक्षण भी देना; (४) विदेशों के लोगों को मंचूरिया में आने तथा वहाँ बसने के लिए आमंत्रित करना और समस्त जातियों के प्रति समान तथा यथोचित व्यवहार करना; (५) विश्व अर्थ-व्यवस्था में अपना योगदान देने के निमित्त विदेशों से व्यापार तथा

वाणिज्य की सुविधा देना; (६) मंचूरिया के राज्य के भीतर विदेशों के लोगों की आर्थिक कार्यवाहियों के संबंध में खुले दरवाजे के सिद्धान्त का पालन करना।"[२६]

मंचूकुओ सरकार की घोषित नीति के संबंध में कोई शिकायत करने का किसी भी तीसरे पक्ष के पास कोई कारण नहीं था। फिर भी विदेशियों ने, जिनके मंचूकुओ में अपने हित थे, नयी स्थिति में अपने भविष्य के संबंध में इस आधार पर काफी भय तथा चिन्ता प्रकट की कि व्यवहार में वह नहीं किया जायगा, जिसकी घोषणा की गयी है। उनके अधिकांश भय अंशतः सही निकले, क्योंकि व्यवहार में घोषित सिद्धान्तों के प्रतिकूल कार्य किया गया। मंचूकुओ का विकास जापान ने अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए किया और इसमें जापानी पूँजी लगायी गयी थी। इसका फल यह अवश्य हुआ कि मंचूकुओ के विदेशों से होने वाले व्यापार में, विशेषतः आयात में, जापान का अनुपात बढ़ गया। किन्तु व्यापार के रुख पर नियंत्रण रखने के लिए जापान जो उपाय काम में लाया, वे स्पष्टतः उस सिद्धान्त के प्रतिकूल थे, जिसके अनुसार उसने विदेशों से संबंध रखने की घोषणा की थी।

इसका एक दृष्टान्त उस समय सामने आया, जब २१ फरवरी १९३५ को एक विधि के अधीन, जो १० अप्रैल को प्रभावी हुई, तेल का एकाधिकार स्थापित किया गया। विधि में यह व्यवस्था थी कि अशुद्ध तेल का आयात तथा उसे शुद्ध करने के लिए मंचूरिया पेट्रोलियम कम्पनी स्थापित की जाय। इस कम्पनी की पूँजी ५० लाख येन थी जिसमें से ३० लाख येन सरकार तथा साउथ मंचूरिया रेलवे कम्पनी को लगानी थी और शेष २० लाख येन का विभाजन ४ जापानी तेल-कम्पनियों में किया गया। विदेशी कम्पनियों को भाग नहीं लेने दिया गया। किन्तु उन्हें यह अधिकार दिया गया कि वे लाइसेन्स लेकर तेल का आयात कर सकती हैं और लाइसेंस प्राप्त करके ही उसे साफ भी कर सकती हैं। उसी विधि के अधीन एक आयल मानोपली (तेल एकाधिकार) ब्यूरो गठित किया गया और पेट्रोलियम के पदार्थों के विक्रय तथा वितरण का पूर्ण नियंत्रण उसके हाथ में दे दिया गया। इस विधि के लागू होने का परिणाम यही होता कि विदेशी कम्पनियाँ इस कार्य से अलग हो जायँ। ये कम्पनियाँ मंचूरिया में तेल का बड़े पैमाने पर व्यापार कर रही थीं और उनमें से कुछ के बड़े-बड़े विक्रय-संगठन भी थे।

तेल का एकाधिकार तुरन्त ही राजनयिक विवाद का विषय बन गया। इसके विरुद्ध जापान से विरोध प्रकट किया गया कि उसके इस कार्य से व्यापार के समान अवसर देने के वचन का उल्लंघन हुआ है। पहले तो जापानियों ने यह कहकर उत्तरदायित्व से मुकरने का प्रयत्न किया कि यह कार्यवाही एक स्वतंत्र राज्य ने की है। किन्तु फिर उन्होंने सार्वजनिक नीति का आधार लेकर यह सिद्ध करना चाहा कि इससे खुले द्वार

रखने के वचन का उल्लंघन नहीं होता। उनका कहना था कि यह वचनबद्धता अन्य राज्यों की तरह संधि द्वारा लिया गया दायित्व न होकर, मंचूरिया की ओर से स्वेच्छापूर्वक एकतरफा की गयी नीति की घोषणा थी। राजनयिक विचार-विमर्श के समय यह संकेत दिया गया कि जो राज्य मंचूकुओ को मान्यता नहीं देते उनके संबंध में उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्हें वह वही सुविधाएँ देता रहे जो मान्यता देने वाले राज्यों को दी गयी थीं। कुछ बातों से यह प्रतीत होता था कि एकाधिकार का सर्जन जापान का एक साहसिक कार्य था जिसका आयोजन उसने अंशतः एक विशेष उद्देश्य से किया था। वह इस प्रकार पश्चिमी राज्यों पर इस बात के लिए दवाव डालना चाहता था कि वे मंचूकुओ के मान्यता न देने की नीति का परित्याग कर दें।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि अमेरिका के सेक्रेटरी स्टिम्सन ने जनवरी १९३२ में जो नीति निर्धारित की थी और जिसे लीग के सदस्य राज्यों ने स्वीकार करके लागू किया था उसे लीटन कमीशन की सिफारिशों के आधार पर चीन-जापान विवाद के हल न होने पर जारी रखा गया था। जेनेवा में एक विशेष समिति इसलिए गठित की गयी थी कि वह विभिन्न राज्यों द्वारा उक्त नीति के लागू किये जाने के संबंध में व्योरे तैयार करे और उसका पर्यावेक्षण भी करे। मान्यता देने के विरुद्ध बनाये गये इस संयुक्त मोर्चे से १९३६ तक एक ही सदस्य राज्य हटा। एल सलवा डोर गणराज्य ने मई १९३४ में मंचूकुओं को मान्यता दे दी। इसका कारण उसने वाणिज्यिक आवश्यकताएँ बतायीं। अपनी स्थिति के कारण रूस, मान्यता न देने के लीग के निर्णय से बँधे न होने पर भी, स्वतन्त्र रूप से इसी पर चल रहा था। बाद में वह मंचूकुओं को तथ्येन मान्यता देने की दिशा में और राज्यों से आगे बढ़ गया। उसने साइबेरिया में शीनकिंग के वाणिज्य-दूत रखे जाने का स्वागत किया और मंचूकुओं में अपने वाणिज्य-दूत-अधिकारियों की स्थिति को नियमानुकूल बना दिया। चीनी, पूर्वी रेलवे के मंचूकुओं को वेचे जाने के पूर्व रूस ने उसके तथा जापान के प्रतिनिधियों से वार्ताएँ की थीं। किन्तु रूस ने यह स्पष्ट कर दिया कि इन कार्यवाहियों में किसी का अभिप्राय विधि-मान्यता देना नहीं था। मंचूकुओं में वद्धहित वाला दूसरा प्रमुख राज्य चीन था। लेकिन वह तथ्येन मान्यता देने की ओर इतना आगे नहीं बढ़ा था। किन्तु वह १९३४ में उसके साथ कुछ विशेष प्रवन्ध करने के लिए राजी हो गया। एक प्रवन्ध यह किया गया कि पैकिंग-मुकदेन रेलवे पर सीधा यातायात पुनः चालू कर दिया गया और उसने मंचूकुओं से आनेवाली या वहाँ जाने वाली डाक को लेना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु दोनों मामलों में जो समझौते हुए थे उनमें सावधानी-पूर्वक मान्यता न देने के सिद्धान्त की रक्षा की गयी थी। इस प्रकार मंचूकुओं का संबंध जापान से यही था कि वह उस पर आश्रित था। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के अन्य सदस्यों ने उसे मान्यता न देकर इसी तथ्य पर बल दिया था।

तेल-जैसे पदार्थों पर एकाधिकार स्थापित करने का वस्तुतः यही प्रभाव पड़ा कि विदेशी कम्पनियों को बलात् विक्रय की शर्तों के कारण मंचूरिया छोड़ कर जाना पड़ा। किन्तु जहाँ तक विदेशी कम्पनियों की संपत्तियों का सम्बन्ध था उत्तरी मंचूरिया में चीनी पूर्वी रेलवे में रूसी हित की समाप्ति मंचूकुओं में १९३३ के बाद की सबसे उल्लेखनीय घटना थी जिसका विदेशी हितों पर प्रभाव पड़ा। तथ्य तो यह है कि १९३१-३२ में मंचूरिया पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो जाने के बाद ही चीनी पूर्वी रेलवे का भविष्य तय हो गया था। इसके बाद प्रश्न इतना ही रह गया था कि रूसी अधिकार तथा हित किन शर्तों पर समाप्त किये जायँगे और उसमें कितना समय लगेगा। इसमें बाधा तभी पड़ सकती थी, जब सोवियत सरकार जापान-नियंत्रित राज्य की सीमाओं को आमूर तक बढ़ाने का प्रभावकारी प्रतिरोध करने को तैयार हो जाती। उस समय या उसके बाद भी रूस ऐसा करने को तैयार नहीं था। इसलिए उसके लिए एक ही विकल्प था कि सड़कों के लिए वह जितनी अधिक धनराशि वसूल कर सके, करे।

चीनी पूर्वी रेलवे का प्रश्न रूस-जापान के संघर्ष का केवल एक अंग था। इसलिए मूल्य के अतिरिक्त अन्य बातों के कारण भी इस संबंध में जटिलता आ जाती थी। १९३३ में सोवियत रेलवे अधिकारियों की गिरफ्तारी के कारण वार्ताएँ कुछ समय को स्थगित रहीं। किन्तु अन्य बातों में रूस और जापान के संबंध जटिल बने रहने पर भी १९३४ में उनमें वार्ताएँ फिर आरम्भ हुईं और सफल होने तक जारी रहीं। समझौता यह हुआ कि मंचूकुओं कुल १४ करोड़ येन का भुगतान रूस को करेगा, और बरखास्त किये गये अधिकारियों को प्रतिकार के रूप में ३ करोड़ ५० लाख येन देगा। रेल का वास्तविक क्रय-मूल्य १४ करोड़ येन था। इसका भुगतान मंचूकुओं को अंशतः नगद रूप में और अंशतः वस्तुओं के रूप में करना था। इस भुगतान के संबंध में जापान अन्ततः गारंटी देने के लिए सहमत हो गया और इस प्रकार उसने रूस की यह माँग मान ली कि वह समझौते में प्रत्यक्ष रूप में भाग ले। समझौते के अन्तर्गत वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए मंचूकुओं ने एक जापानी सिन्डीकेट से ऋण लेने का प्रबन्ध किया। इस संबंध में स्वत्व का हस्तान्तरण २३ मार्च १९३५ को किया गया, और ऋणों के लिए रेलवे की सम्पत्ति को गिरवी रखा गया। चीन ने, जिसका उक्त सम्पत्ति में हित था, इस लेन-देन का विरोध किया। लेकिन उसने अपने विरोध को केवल लिपिबद्ध करने के लिए ही ऐसा किया। उसकी आवाज सुनी जायेगी ऐसी उसको कोई आशा नहीं थी।

चीनी पूर्वी रेलवे के हस्तान्तरण से रूस मंचूरिया से अलग हो गया इससे जापानी अधिकारों तथा हितों को सुरक्षित करने का आन्दोलन, जो १९३१ में आरम्भ किया गया था, पूरा हो गया। जापान ने जितनी आशा की थी उससे अधिक प्रसार उसका हो गया।

१९३१ के पूर्व उसने उत्तरी मंचूरिया को अपने हित-क्षेत्र के बाहर मान लिया था। इस प्रकार जो आन्दोलन चीनी विरोध के बावजूद जापान का आधिपत्य दक्षिणी मंचूरिया में स्थापित करने के लिए आरम्भ किया गया था वह अपने मूल लक्ष्यों से तेजी से आगे बढ़ गया था। सम्पूर्ण मंचूरिया से विदेशी हित, अर्थात् गैर-जापानी हित १९३४ तक समाप्त हो गये थे। यदि इन हितों का अन्त ही जापान का लक्ष्य होता तो उसके बाद सुदूर पूर्व में शान्ति उत्पन्न होने की आशा की जा सकती थी। किन्तु हुआ बिलकुल इसके विपरीत। यहाँ तक कि रूस और जापान के संबंध तक नहीं सुधरे। रेल के स्वामित्व के अतिरिक्त अन्य विवादास्पद प्रश्नों के कारण भी संघर्ष पैदा होता रहता था। जापान के अन्तिम उद्देश्यों के संबंध में अनिश्चितता की भावना होने से भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं।

सौहार्द्रपूर्ण संबंध स्थापित करने के लिए रूसियों ने १९३२ के बाद बार-बार अनाक्रमण सन्धि करने का प्रस्ताव किया। इसी प्रकार की सन्धियों के लिए वे अपनी पश्चिमी सीमा पर स्थित राज्यों से भी वार्ताएँ कर रहे थे। इस आधार पर किये गये पहले प्रस्ताव की दूसरी ओर कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। किन्तु बाद में जापानियों ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी सम्मति में इस प्रकार की सन्धि पर विचार करने के पूर्व सभी विवादास्पद प्रश्नों का हल कर लिया जाना आवश्यक है। इस रुख से दूसरे देशों में यह मत दृढ़ हो गया कि जापान का पूरा लक्ष्य अभी पूरा नहीं हुआ था।

१९३३ और कुछ हद तक १९३४ में जिन प्रश्नों के कारण रूस और जापान के संबंध बिगड़ जाते थे उनमें एक सीमा का प्रश्न भी था, क्योंकि मंचूकुओं की स्थापना से सैद्धान्तिक रूप से न भी सही, व्यवहार में दोनों के बीच एक ही सीमा रेखा बन गयी थी। विशेषत: १९३३ में दोनों ओर से एक दूसरे पर सशस्त्र आक्रमण करने के आरोप लगाये गये। सीमा पर स्थित नदियों में नौचालन-अधिकार के प्रश्न उठ खड़े हुए, जिससे उनके संबंध और भी बिगड़ गये। किन्तु अगस्त १९३४ में उन दोनों में जलमार्गों के उपयोग के लिए नियम बनाने के निमित्त एक संयुक्त प्राविधिक कमीशन गठित करने का समझौता हुआ। नये नियमों को दोनों ने स्वीकार कर लिया और उन्हें जनवरी १९३५ के बाद लागू किया गया। इस प्रकार यदि संघर्ष का एक दूसरा कारण पूरी तौर से दूर न भी हुआ, तो कम-से-कम उसकी तीव्रता में कमी आ गयी। दूसरी घटनाएँ अन्य क्षेत्रों में नीति तथा संबंधों में परिवर्तन होने के साथ-साथ बढ़ती या घटती रहीं।

आरम्भ के वर्षों में इन घटनाओं का बड़ा कारण सुदूर पूर्व में रूस का सैनिक दृष्टि से कमजोर होना प्रतीत होता है। इसके साथ ही उस समय यह धारणा भी विद्यमान थी कि रूस पूर्णतया शान्ति चाहता था। यह निष्कर्ष निस्संदेह इस तथ्य के आधार पर निकाला

गया कि मास्को ने उत्तरी मंचूरिया में प्रारम्भिक अधिकार की अवधि में अपने हितों के संरक्षण के लिए कोई सख्त कदम नहीं उठाये। परिणाम यह हुआ कि जापानी सेनाओं का सीमा पर रूसी स्थिति का पता लगाने के लिए आगे बढ़ने का हौसला बढ़ता गया।

जापान ने प्रारम्भिक सफलताएँ प्राप्त करने के बाद अपना प्रसार जारी रखा तो इसकी रूस पर यह प्रतिक्रिया हुई कि उसने अपने ही राज्य-क्षेत्रों के भीतर अपनी सैनिक तथा आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए तीव्र प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये। इन प्रयत्नों के दो रूप थे। रूसियों ने द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना में सुदूर पूर्व के लिए की गयी व्यवस्था को तेजी से लागू करना आरम्भ किया। इस आयोजना के उन पहलुओं पर विशेष बल दिया गया जिनसे युद्ध प्रारम्भ होने पर सुदूर पूर्व का क्षेत्र आत्म-निर्भर रह सके। राज्य उपनिवेशन प्रणाली द्वारा जनसंख्या की वृद्धि की गयी, जिससे कि युद्ध के समय सैनिक शक्ति कम न होने पाये। सुदूर पूर्व के राज्य-क्षेत्र का कृषि-उत्पादन इतना बढ़ा दिया गया कि वह खाने के मामले में आत्म-निर्भर हो गया। १९३३ के बाद कोयले का उत्पादन २४०,००० से बढ़ाकर ३,०००, ००० टन कर दिया गया। उत्तरी संघलीन में तेल का उत्पादन भी इसी प्रकार बढ़ाया गया और उद्योगों का विकास भी शुरू कर दिया गया। इनमें से अधिकांश योजनाएँ १९२८ की पहली आयोजना में सम्मिलित थीं, लेकिन वास्तविक प्रगति १९३३ से हुई और इसका बड़ा कारण सुदूर पूर्व में रूसी राज्य-क्षेत्र को जापानी प्रसार से उत्पन्न खतरा था।

रूस द्वारा अपनाया गया दूसरा रक्षात्मक उपाय रेल का निर्माण था। १९०५ से ट्रान्स-साइबेरिया रेलवे को दुहरी पटरीवाली बनाये जाने का विचार किया जा रहा था। अन्ततः १९३३ के बाद यह कार्य आरम्भ किया गया और मंचूरिया की सीमा तक रेल की दुहरी लाइन बिछा दी गयी। इस प्रकार युद्ध होने पर रूस को सेनाओं को लाने-ले जाने और सामान पहुँचाने में पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो गयी। जापान से युद्ध होने की स्थिति में आमूर रेलवे को बड़ा खतरा था, क्योंकि यह सीमा से लग कर ही जाती है। इसलिए १९३४ में बैकाल झील से ओखोत्सक सागर तक एक नयी रेल बनाने की योजना बनायी गयी जिसे दो वर्ष के भीतर बनकर तैयार हो जाना था।

सीमा पर 'खुफिया तहखानों' जैसी रक्षात्मक प्रणाली पूरी करके और पाग्रानिचनाया, व्लागोवेसचेंस्क और खबारोवस्क में मजबूत सैनिक अड्डे स्थापित कर लेने से रूस ने अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ कर ली, वायु सेना का विस्तार इस सीमा तक किया गया कि वह आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक दोनों प्रकार की कार्यवाहियों के लिए बहुत ही शक्तिशाली हो गयी। अन्ततः सुदूर पूर्व में रूस की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ा दी गयी। वहाँ उसके दो लाख पचास हजार सर्वोत्कृष्ट सैनिक तैनात होने का अनुमान था।

सैनिक दृष्टि से रूसियों की शक्ति बढ़ने का महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि उत्तरी सीमा पर जापान का अत्यधिक हठ दिखाने का रुख ढीला पड़ गया और इससे निस्संदेह सीमा घटनाएँ कम हो गयीं जिनके कारण उन दो देशों के मैत्रीपूर्ण संबंधों में व्याघात पड़ता रहता था। किन्तु इससे जापान के मन में एक बड़े अर्से से रूस के प्रति बना हुआ भय का भाव तीव्र हो गया। उस के लिए जो चीज स्पष्टतः रक्षात्मक उपाय थी, उसकी कल्पना जापानियों ने अन्ततः मंचूरिया में अपनी स्थिति के प्रति और मंचूरिया के द्वारा स्वयं जापान के प्रति खतरे के रूप में की। इसलिए रूसियों ने जब अनाक्रमण सन्धि करने की इच्छा फिर प्रकट की, तो जापानियों ने उत्तर में समान सीमा रेखा पर असैनीकृत क्षेत्र बनाने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव को मानने से सोवियत अधिकारियों ने इन्कार कर दिया क्योंकि उनका विचार था कि उन्होंने उपयुक्त ढंग से किलाबन्दी की है और वह उनके राज्य-क्षेत्रों की रक्षा के लिए आवश्यक है। किलाबन्दी के पीछे उनकी स्थिति निश्चित और मजबूत थी, परन्तु उसे आक्रमण का आधार नहीं बनाया जा सकता था।

दूसरी ओर १९३३ के बाद मंचूकुओं में जो कार्यवाहियाँ की गयीं उनके संबंध में रूस को यह शिकायत थी कि वे रूसी राज्य-क्षेत्र पर आक्रमण करने के लिए की जा रही हैं। इस प्रकार वर्तमान तथा आयोजित दोनों प्रकार की रूसी रेलें रूस के पूर्व और पश्चिम के बीच में थीं। किन्तु केवल उन रेलों को छोड़कर जो मंगोलिया में प्रवेश करने और जेहाल[२६] से रेल द्वारा संबंध स्थापित करने के लिए बनायी गयी थीं, बाकी जितनी भी नयी रेल लाइनें जापानियों ने मंचूकुओ में बनायी या बनाने का आयोजन किया वे साइबेरिया की सीमा तक जाती थीं। इस प्रकार यह प्रतीत होता था कि जापानी संचार प्रणाली का प्रयोजन रूसी राज्य-क्षेत्र में आक्रमण करना था। इससे उत्तर में जापानी सेनाएँ अपेक्षाकृत अधिक तेजी से कार्यवाही कर सकती थीं, जब कि रूसी सेनाएँ दक्षिण में उतनी गतिशील न हो पातीं। रूस की आयोजनाओं का आधार रक्षा था और जापान का आधार गतिशीलता तथा प्रसार-विस्तार प्रतीत होता था।

रूस और जापान में संभाव्य युद्ध के दो और कारण थे। एक पुराना था और दूसरा, जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण था, नये प्रसारवादी आन्दोलन से सीधे संबंधित था। पुराना विवाद रूसी मत्स्य क्षेत्र में जापानियों के प्रवेश करने के प्रश्न पर था। जापान के लिए इसका विशेष महत्त्व था क्योंकि मछली उसके राष्ट्रीय आहार का मुख्य अंश है। कोई समझौता न होने से जापानी मछुए दीर्घ-काल से उत्तरी समुद्र-तटीय-जल में मछली पकड़ने जाया करते थे। उनका वास्तव में यह विचार था कि उन्हें रूसी समुद्री सीमा में मछली पकड़ने का अधिकार है। जैसे ही रूस अपने सुदूर पूर्वी राज्य क्षेत्र में निश्चित रूप से अधिक रुचि लेने लगा, वैसे ही मत्स्य-क्षेत्रों से जापानियों को निकाल

बाहर करने के प्रयत्न आरम्भ हो गये। अंत में दीर्घ-वार्ताओं के पश्चात् पोर्टसमाउथ संधि के अनुलग्नक के रूप में एक मत्स्य उपसंधि पर हस्ताक्षर किये गये। "इसमें सुदूरपूर्वीय तट पर उन क्षेत्रों को निर्धारित किया गया जहाँ जापानी मछली पकड़ सकते थे और वे क्षेत्र भी निर्धारित किये गये जहाँ वे नहीं जा सकते थे। वे शर्तें भी तय कर दी गयी थीं जिन पर वे मत्स्य-उद्योग का विकास कर सकते थे, अर्थात्, रूसी राज्य-क्षेत्र में डिब्बाबन्दी स्टेशन, डिपो आदि बना सकते थे। व्लाडिवॉस्टक में वार्षिक नीलामों की प्रणाली चालू की गयी जहाँ इन मत्स्य-क्षेत्रों के पट्टों के लिए जापानी भी रूसियों की तरह बोलियाँ बोल सकते थे। यह उपसंधि १९१९ तक प्रचलित रही और उस वर्ष उसका नवीकरण न होने से वह व्यपगत हो गयी। व्यवहार में यह उपसंधि अब भी सुदूरपूर्वीय मत्स्य-क्षेत्रों में जापानी अधिकारों का चार्टर है क्योंकि १९२८ में जिस नयी मत्स्य क्षेत्र उपसंधि में जापान ने सोवियत सरकार के साथ हस्ताक्षर किये उसमें पुरानी उपसंधि के कुछ ब्योरे में ही परिवर्तन किया गया।[२७] इन समझौतों के आधीन जापानी हितों को न केवल संरक्षण ही दिया गया, वरन् उसका प्रसार भी हुआ। इसका अंशतः कारण यह था कि रूस की अपने सुरक्षित क्षेत्रों का उपयोग करने में कोई रुचि नहीं थी। किन्तु १९२८ के बाद सोवियत सरकार इस स्थिति के प्रति अधिकाधिक चिन्ता व्यक्त करने लगी। १९३० तक १९२८ के ४२ मत्स्य क्षेत्रों की तुलना में ३१३ मत्स्य-क्षेत्र थे, यह पहली बार था कि रूसियों के मत्स्य क्षेत्रों की संख्या जापानियों से अधिक थी। १९३० से रूसी प्रतियोगिता के कारण सावधानीपूर्वक स्थापित किये हुए जापानियों के संपूर्ण मत्स्य-उद्योग को खतरा पैदा हो गया। मत्स्य क्षेत्रों के लिए सोवियत प्राधिकारी रूबल में अधिक मूल्य की माँग करने लगे, और इस अवस्था में रूबल के मूल्य के घटने-बढ़ने की संभावना के कारण रूबल-येन की समता दर सरकारी तौर पर बनाये रखना जापान के लिए असम्भव था। इस कारण परिमाण तथा मूल्य दोनों की दृष्टि से जापान के मत्स्य-हितों का १९३० से १९३३ तक तेजी से ह्रास हुआ और पिछड़े हुए सोवियत उद्योग ने तेजी से प्रगति की।[२८] जापानियों ने अपनी प्रतियोगी स्थिति बनाये रखने का प्रयत्न किया और नये समझौते के लिए दबाव डाला। बाद में फिर से सोच-विचार करने के फलस्वरूप १९३२ में एक ऐसा समझौता हुआ। किन्तु इससे वास्तव में जापान की स्थिति नहीं सुधरी, यद्यपि इसमें जापानियों के कतिपय ऐसे अधिकारों की पुष्टि की गयी जिनके लिए वे दृढ़तापूर्वक दावे करते रहे थे। वार्षिक नीलामों में सोवियत सरकार के उद्यम अधिकाधिक भाग लेने लगे थे जिससे जापान की कठिनाइयाँ बढ़ गयी थीं। लेकिन सबसे बड़ी समस्या यह पैदा हुई कि रूबल का येन से क्या संबंध हो। १९३२ में प्रति रूबल पर ३२.५ येन की दर निश्चित की गयी। १९३४ में यह दर बढ़ाकर ७५ येन कर दी गयी। ये दरें नीलामों के बाद उस समय लागू की

गयीं जब जापानियों ने पुरानी दरों पर भुगतान करना चाहा। उनकी बोलियाँ रूसियों द्वारा अमान्य घोषित कर दी गयीं। किन्तु वार्ताओं के पश्चात् नये सिरे से नीलाम करने और फिलहाल पुरानी दरें लागू करने का निश्चय किया गया। यह समझौता १९३६ तथा उसके बाद के लिए किया गया, किन्तु शर्त यह रखी गयी कि यदि कोई पक्ष इसे अस्वीकार कर दे तो यह निष्प्रभावी हो जायगा। जैसे ही इस समझौते की अवधि बढ़ाने या उसे निरस्त करने कर समय निकट आया, जापान सरकार ने सम्पूर्ण उपसन्धि को संशोधित करने के बजाय एक और अनुपूरक समझौता करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु रूसियों ने प्रस्ताव किया कि १९३२ के अनुपूरक समझौते की अवधि बढ़ायी जाय और इसके बाद संभाव्य संशोधनों के संबंध में विचार-विमर्श आरम्भ किया जाय। एक राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न उठ खड़ा हुआ जिसका संबंध केवल मत्स्य-क्षेत्रों में काम करने वालों से ही नहीं, बहुत-से दूसरे सोपार्श्विक व्यवसायों से भी था। इस बार जापानियों का रुख अपने हितों को किसी तरह बचाने का था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जापान ने मंचूकुओ में प्रशासन तथा पर्यवेक्षण के लिए जो व्यवस्था स्थापित की थी उससे आन्तरिक विकासक्रम का नियंत्रण क्वान्तुंग सेनानायकों के हाथ में आ गया था। उन्होंने इस नियंत्रण का प्रयोग दो प्रकार से किया। संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाकर सैनिक तथा सामरिक प्रयोजनों की सिद्धि की गयी और स्थूल रूप से पूँजीपतियों को अपने हित में मंचूरिया का विकास तथा शोषण करने दिया गया। इसलिए सेना ने एक आर्थिक नियंत्रण नीति निर्धारित की, जिसके द्वारा सामान्य आर्थिक नियोजन की व्यवस्था की गयी तथा उन उद्यमों पर निर्बन्धन लगाये गये जिनका संबन्ध राष्ट्रीय रक्षा तथा विशिष्ट कम्पनियों के राष्ट्रीय या सार्वजनिक प्रबन्ध की सार्वजनिक उपयोगिता या सार्वजनिक लाभ से था। और अन्य ऐसे उद्यमों के पर्यवेक्षण की भी व्यवस्था की गयी थी जिनका प्रबन्ध गैर-सरकारी व्यक्ति निर्बाध रूप से कर सकते थे। इस नीति में लोगों के कल्याण तथा हित और उनकी जीविका के अनुरक्षण के विचार से आवश्यक समायोजन किया जा सकता था।[२९] इस प्रकार प्रत्यक्षतः इस नीति का अभिप्राय यही था कि एक ऐसी प्रणाली स्थापित करके, जिसे राज्य-पूँजीवाद भी कहा जा सकता था राज्य-समाजवाद भी, मंचूरिया का शोषण समग्र रूप से जापानियों के हित में किया जाय। कुछ अवधि तक प्रयोग करने के पश्चात् जिसमें मुख्यतया साउथ मंचूरियन रेलवे कम्पनी के माध्यम से जापानी पूँजी लगाये जाने से काफी विकास हुआ था, १ मई १९३७ को एक औद्योगिक नियंत्रण विधि (इंन्डस्ट्रियल कन्ट्रोल ला) अधिनियमित की गयी थी। इस विधि में उन्नीस मुख्य उद्योगों को, जो सरकार के पर्यवेक्षण में रहेंगे, राष्ट्रीय रक्षा और सुदृढ़ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के निमित्त आवश्यक निर्धारित किया गया था। निजी उद्योग

को सान्त्वना देने के लिए कहा गया कि अन्य सभी औद्योगिक गतिविधियों पर बन्धन या नियंत्रण नहीं रहेंगे।......इस विधि में बड़े सीधे-सादे ढंग से सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों को मुख्य उद्योग बताया गया था। और कुछ थोड़े से छोटे-मोटे उद्योग ही स्वतंत्र व्यवसायियों[३०] के लिए छोड़े गये थे। इस प्रकार उक्त विधि द्वारा सेना की प्रारंभिक नीति पूरी हो गयी। इस विधि के अधिनियमित होने के पहले जापान में इस बात का दबाव डाला जा रहा था कि मंचूकुओ में निजी पूँजी लगाये जाने के पहले के निर्बन्धन हटा लिए जायँ या कम कर दिये जायँ। उक्त विधि के अधिनियमित होने से सेना की नीति की निर्णायक विजय हुई और ऐसी परिस्थितियाँ तैयार हो गयीं, जिनमें क्वान्तुंग सेना का यह उद्देश्य पूरा हो गया कि 'मंचूकुओ में एक ऐसा आर्थिक तथा सैनिक अड्डा बनाया जाय जो अधिक-से-अधिक आत्म-निर्भर हो।' यह उल्लेखनीय है कि इस दिशा में क्वान्तुंग सेना जितना आगे बढ़ी उतना ही उसे टोकियो के नियंत्रण तथा निदेशन से मुक्त होकर मंचूकुओ में नीति-निर्धारण करने का अधिकार मिलता गया।

(९) मंचूकुओ का विकास

मंचूकुओ की स्थापना के पश्चात् जापान द्वारा वहाँ लगायी गयी पूँजी प्रतिवर्ष बढ़ती रही। १९३२ में यह पूँजी ९ करोड़ ७२ लाख येन थी और १९३८ में वह बढ़कर ४३ करोड़ १० लाख येन हो गयी।[३१] इन विधियों का उपयोग इन कामों में किया गया—रेलों का निर्माण करना, संचार-प्रणाली का प्रसार करना, वर्तमान लोहे तथा कोयले के उद्योगों की सुविधाएँ बढ़ाना, संसाधनों का नया उपयोग आरम्भ करना, शहरों का आधुनिकीकरण करना, जिसमें शीनकिंग में राजधानी बनाने के प्रयोजनार्थ एक बिलकुल नये शहर का निर्माण सम्मिलित था, और सार्वजनिक उपयोगिता का विकास करना। इस प्रकार एक कृषि-प्रधान देश का उद्योगीकरण करने के लिए जापानी पूँजी लगायी गयी। इतनी बड़ी धनराशि के लगाये जाने का प्रभाव यह हुआ कि जापान के समुद्रपारीय विनियोजन का मुख्य केन्द्र मंचूकुओ बन गया; लेकिन इसका बहुत बड़ा भार स्वयं जापान पर पड़ा क्योंकि विनियोजन के लिए उपलब्ध उसकी पूँजी का अधिकांश भाग बाहर लग गया और जिन उद्योगों पर वह लगा उनसे तत्काल कोई लाभ होने की संभावना नहीं थी।

मंचूरिया में मुद्रा-प्रणाली का सुधार करके जापान ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मंचूकुओ के युआन को इकाई बनाया गया और विभिन्न स्थानीय मुद्राओं के स्थान पर उस इकाई को प्रचलित करने तथा मंचूकुओ से जापानी बैंक नोटों को वापस ले लेने के लिए कार्यवाही की गयी। इस प्रकार मुद्रा-प्रणाली में समानता आ गयी। युआन मूलतः रजत-मुद्रा के रूप में चीनी डालर से संबद्ध था, यद्यपि प्रारम्भ से ही यह एक नियंत्रित मुद्रा थी क्योंकि चाँदी के निर्यात पर रोक लगा दी गयी थी। १९३५ में इसका मूल्य

जापानी येन के बराबर कर दिया गया और तथा-कथित येन-ब्लाक बनाने की शुरुआत की गयी। इन दोनों मुद्राओं को जापान सरकार का समर्थन प्राप्त था।

जापान ने दूसरा बड़ा सुधार यह किया कि मंचूरियन रेलवे प्रणाली और उसके विस्तार को एक में मिला दिया। भूतपूर्व चीनी सरकार की रेल लाइनों और रूस से खरीदे जाने के बाद चीनी पूर्वी रेलवे का प्रबन्ध १९३५ में साउथ मंचूरियन रेलवे कम्पनी को सौंप दिया गया और इस प्रकार उन्हें जापानी रेलों से मिला दिया गया। इससे निःसन्देह साउथ मंचूरियन रेलवे कम्पनी का महत्त्व बढ़ गया। इसका महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया क्योंकि मंचूरिया में विकास के प्रयोजन के लिए जापानी पूँजी लगाने का यह मुख्य माध्यम थी। यह पूँजी रेलों का जाल बिछाने में लगायी गयी जिसके फलस्वरूप चार वर्ष की अवधि (१९३२–३६) में रेल पथ की लम्बाई में ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई। नयी रेलें बिछाने का उद्देश्य मुख्यतया सामरिक था, किन्तु जिन लाइनों का निर्माण किया गया था वे डाकुओं-लुटेरों के विरुद्ध दीर्घ अभियान चलाने में उपयोगी थीं और इसके अतिरिक्त नयी बस्तियाँ बसाने के लिए आर्थिक दृष्टि से लाभदायक थीं। नये राजमार्गों का निर्माण करके, जिन पर बसें चलती थीं, और नदी नौ-परिवहन में वृद्धि करके संचार-साधनों में और वृद्धि की गयी। इसके अतिरिक्त मंचूरियन एविएशन कम्पनी द्वारा संचालित वायु-मार्गों से मंचूकुओ के मुख्य नगरों का संबंध एक दूसरे से जुड़ गया। मंचूरिया टेलीफोन तथा टेलीग्राफ कम्पनी ने टेलीफोन तथा टेलीग्राफ प्रणाली का प्रसार कर दिया। यही कम्पनी रेडियो प्रसारणों को भी नियंत्रित करती थी। और उसका शीन-किंग में एक शक्तिशाली नया स्टेशन बना।"[३२]

(१०) जापान की आर्थिक जीवन-रेखा—मंचूरिया

मंचूरिया को १९३१ तथा उसके पहले जापान की आर्थिक जीवन-रेखा घोषित किया गया था। इसका मुख्य आशय यही था कि उसके साधनों का उपयोग जापान के उद्योग के लिए अत्यावश्यक था, और उसके आधार पर और अधिक उद्योगीकरण करके जापान अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का भरण-पोषण कर सकेगा। इसी संबंध में इसे ऐसा क्षेत्र भी समझा गया था जिसमें समुचित परिस्थितियों में जापान की अतिरिक्त जनसंख्या जाकर बस सकती थी। इन दोनों दृष्टियों से मंचूरिया से जापान को निराशा हुई। यह सही है कि आयात की हुई जापानी पूँजी की सहायता से मंचूकुओं में उद्योगों का प्रसार किया गया। किन्तु अंशतः इस कारण कि क्वान्तुंग आर्मी कमान्ड मंचूकुओ को युद्ध की स्थिति में आत्मनिर्भर बनाना चाहता था, उसका विकास जापान के उद्योगों के पूरक के रूप में न होकर उसके प्रतियोगी के रूप में हुआ। कच्चे लोहे का

उत्पादन बढ़ाया गया। फुसुन में शेल से अधिक मात्रा में तेल निकाला जाने लगा और औद्योगिक नमक तथा बीनकेक के उत्पादन में भी वृद्धि की गयी। इन सब उद्योगों में जापान के लिए कच्चे माल की सप्लाई मंचूरिया का शोषण करके बढ़ायी गयी। किन्तु कोयले, एमोनियम सल्फेट और सोडा ऐश के उत्पादन की सीधी प्रतियोगिता जापानी उद्योग से थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यदि मंचूरिया का विकास, विशेषतः सेनानायकों द्वारा आयोजित रीति से जारी रखा गया तो जापानी उद्योग को देश के भीतर ही प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा या मंचूरिया में जापानी वस्तुओं की खपत कम हो जायगी। इस वस्तु स्थिति के कारण जापान का हित मंचूरिया से उत्तरी चीन को स्थानान्तरित हो गया।

इन सब बातों के होते हुए भी मंचूरिया पर जापान के राजनीतिक नियन्त्रण का तत्काल फल यह हुआ कि नये राज्य को उसका निर्यात बढ़ गया। १९३२ में मंचूरिया को जापान ने जितने माल का निर्यात किया था उससे २ करोड़ ६० लाख युआन के मूल्य का अधिक माल का आयात अपने यहाँ किया था। १९३६ में उसने मंचूकुओं से जितना माल खरीदा उसकी तुलना में उसके हाथ २७ करोड़ युआन के मूल्य का अधिक माल बेचा। इस परिवर्तन का कारण अंशतः जापान को मंचूकुओ के निर्यात में कुछ कमी थी, परन्तु बड़ा कारण जापान द्वारा उस राज्य के विकास के प्रयोजन के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी लगाया जाना था। फलस्वरूप इस प्रसार से जापान के सुस्थापित निर्यात-उद्योगों, जैसे, वस्त्रोद्योग, की स्थिति नहीं सुधरी। इसका प्रभाव यह हुआ कि जापान के आर्थिक जीवन में हल्के उद्योगों के बजाय भारी उद्योगों पर बल दिया जाने लगा, और इस प्रक्रिया में औद्योगिक महत्त्व के कच्चे माल के लिए बाह्य देशों पर उसकी निर्भरता घटने के स्थान पर बढ़ती गयी। जापान में शस्त्रास्त्रों के उत्पादन में वृद्धि के कारण भी भारी उद्योगों पर बल दिया जाने लगा, और शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता महाद्वीप में सैनिक शक्ति के विस्तृत प्रयोग के कारण हुई।

जहाँ तक मंचूरिया में उपनिवेशन का संबंध था १९३१ और १९३७ के बीच बहुत ही कम जापानी वहाँ जाकर बसे। १९३१ में मुकदेन घटना घटित हुई थी और १९३७ में जापान और चीन के बीच खुला संघर्ष आरम्भ हुआ जिसे जापानियों ने चीनी घटना की संज्ञा दी। इस अवधि में मंचूकुओ की जापानी जनसंख्या दुगुनी से अधिक हो गयी जैसा कि १९३५ की जनगणना के अनुसार जापानियों की कुल ५०१,२५१ की संख्या से विदित होता है। इस संख्या में ८३४, ५३९ कोरियाई तथा फारमोसा के आप्रवासियों को भी जोड़ दिया जाय तो कुल योग १,३३५,७९० होता है। लेकिन अधिकांश जापानी कर्मचारी, प्राविधिक रेलवे तथा औद्योगिक विशेषज्ञ और व्यवसायी थे। कृषक बहुत

कम थे। इस प्रकार के आप्रवास से जापान के कृषि-प्रधान गाँवों में जनसंख्या का भार कम नहीं हुआ। इसके लिए राज-सहायित उपनिवेशन प्रायोजनाएँ आरम्भ करने का प्रयत्न किया गया। ऐसा करना तभी संभव हुआ जब जापानियों के कृषकों के रूप में बसने के संबंध में जो राजनीतिक बाधाएँ थीं उन्हें १९३३ में चीनियों ने हटा दिया। जापानियों को बसाने के लिए किये गये प्रारम्भिक प्रयत्नों का स्वरूप सैनिक था। सशस्त्र प्रारक्षित सैनिकों ने यह कार्य जापान के समुद्रपारीय मंत्रालय के पर्यवेक्षण में आरम्भ किया था। १९३६ के अंत तक पाँच ऐसी बस्तियाँ बसायी जा चुकी थीं जिनकी कुल जनसंख्या मई १९३७ में ४,२४५ थी। यह संख्या बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त साउथ मंचूरियन रेलवे कंपनी ने "रेलवे लाइनों के दोनों ओर संरक्षित गाँवों में भूतपूर्व सैनिकों को बसाया", और कुछ लोग निजी प्रयास में से या "स्वतंत्र" रूप से बसे। १९३७ के अंत में "इन विभिन्न असरकारी बस्तियों की कुल जनसंख्या २१५० थी और परिवारों की संख्या ११३८ थी। इस प्रकार कृषक आप्रवासियों के आधे उक्त पाँच सरकारी बस्तियों में बसे थे।"

इन बस्तियों को बसाकर जापान ने एक प्रकार का प्रयोग किया था जिसके द्वारा उसने यह पता लगाना चाहा था कि चीन में कृषकों के रूप में जापानियों को बसाना कहाँ तक संभव है। यह निष्कर्ष निकलने पर कि यह संभव है, उपनिवेशन का एक बीस-वर्षीय कार्यक्रम १९३७ में आरम्भ किया गया। इसके अनुसार उस अवधि में मंचूरिया की भूमि पर १० लाख परिवार बसाये जाने थे। नयी योजना के अनुसार मुख्यतया सरकारी पर्यवेक्षण तथा सरकार की प्रत्यक्ष सहायता से सामूहिक रूप में उपनिवेशन किया जाना था। स्वतंत्र रूप से बसने वालों के लिए भी व्यवस्था की गयी थी। १९४० तक अंशतः युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण आयोजना में प्रतिवर्ष परिकल्पित संख्या में जापानी नहीं बसे। उदाहरणार्थ, १९३७ में छः हजार परिवार बसाये जाने थे, लेकिन इनमें से केवल १५०० परिवार बसाये जा सके। फिर भी इस दिशा में जितनी प्रगति हुई उससे यह स्पष्ट था कि जापान सरकार उपनिवेशन की योजना को यथासंभव शीघ्रता से आगे बढ़ाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं।

अनुभव से यह पता चल गया था कि यदि मंचूरिया को जापान का उपनिवेशन-क्षेत्र बनाना है, तो कोरियाई तथा चीनी आप्रवास को नियंत्रित करना होगा क्योंकि स्वेच्छा से मंचूरिया में आकर बसने वालों में मुख्य स्थान जापानियों का न होकर चीनियों का था और द्वितीय स्थान कोरियाइयों का था। चीन-जापान के खुले संघर्ष के पूर्व राजनीतिक कारणों से भी जापानियों के चीन में बसने में बाधा पड़ती थी। लेकिन इसके साथ ही यह भी तथ्य था कि स्वतंत्र कृषि-प्रतियोगिता में जापान से आकर बसने

वाले लोग चीन और कोरिया से आकर बसनेवालों की बराबरी नहीं कर पाते थे। दूसरे शब्दों में जापानियों के लिए भूमि सुरक्षित रखना आवश्यक था क्योंकि तभी राज-सहायित उपनिवेशन के सफल होने की आशा की जा सकती थी। इसके फलस्वरूप स्थायी रूप से बसने के लिए इच्छुक कोरियाइयों को पूर्वी मंचूरिया के कुछ ही क्षेत्रों में बसने की अनुमति दी गयी। इसके आगे उनसे जापानी बस्तियों के लिए भूमि तैयार करने का प्रारंभिक कार्य लिया जाता था। मंचूकुओ की स्थापना के बाद चीनी आप्रवास सीमित कर दिया गया और १९३५ के बाद सख्ती से नियंत्रित कर दिया गया। केवल ऋतु-विशेष में निर्माण-कार्य, खनिजकर्म और कृषिकार्य करने के लिए श्रमिकों को निर्धारित संख्या में उक्त प्रदेश में आने दिया जाता था। इस प्रकार मंचूकुओ के निवासियों के हितों के बजाय जापानियों के संरक्षण के लिए आर्थिक नीति का विकास किया गया था।

(११) सार्वजनिक व्यवस्था का अनुकरण

किसी सरकार की सफलता की प्रारम्भिक कसौटी यही होती है कि वह किस सीमा तक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रख सकती है। मंचूकुओ तथा स्वयं चीन में चीनी शासन पर जापान ने यही कसौटी लागू की थी और निष्कर्ष निकाला था कि चीनी शासन अपर्याप्त है। मंचूकुओ में चीनी शासन के अंतर्गत डकैती तथा लूट-मार आम बात थी और इस कारण सार्वजनिक व्यवस्था बनी नहीं रह पाती थी, १९३२ में स्थापित जापानी-मंचूकुओ शासन का मुख्य कार्य डकैती तथा लूट-मार को समाप्त करना था। उसे जनता की पूर्ण तथा स्वेच्छिक निष्ठा और समर्थन न मिल पाने से यह कार्य उसके लिए और भी कठिन हो गया था। इसका फल यह हुआ कि पहले तो कुछ लोग कृषि की पूर्त्ति के लिए एक 'कठोर' व्यवसाय के रूप में डकैती तथा लूटमार करते थे। लेकिन अब ऐसे लोग भी यह काम करने लगे जो नये शासन के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध के रूप में डकैती तथा लूट-मार करते थे। उनका उद्देश्य राजनीतिक अधिक होता था, आर्थिक कम, व्यवसाय के रूप में डाके डालने वालों तथा राजनीतिक उद्देश्य से यह काम करने वालों के बीच क्या अन्तर था, यह बताना असम्भव है। जापानियों ने इन दोनों को डाकू-लुटेरे घोषित किया था। पहले प्रकार के डाकू-लुटेरों की संख्या आर्थिक स्थिति, विशेषतः कृषि की दशा के अनुसार घट या बढ़ सकती थी। कठिन समय में किसी भी सरकार के लिए डाकुओं-लुटेरों को बलप्रयोग द्वारा दबाना एक समस्या होती है। लेकिन अच्छा समय आने पर ये ही डाकू-लुटेरे बिना अत्यधिक बल-प्रयोग के ही समाज में मिलकर शान्त तत्त्व बन जाते हैं। दूसरे प्रकार के डाकू-लुटेरे केवल बल-प्रयोग द्वारा या ऐसा शासन स्थापित करके, जिससे जनता को संतोष हो, समाप्त किये जा सकते हैं। बल-प्रयोग की

सफलता उसी अनुपात में आसान या कठिन होगी जिस अनुपात में गुरिल्लों को ग्रामीणों का समर्थन मिलेगा। ग्रामीणों का समर्थन इस बात पर निर्भर करेगा कि वे सरकार और अर्थव्यवस्था से कहाँ तक संतुष्ट हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण से डकैती की समस्या के और कठिन हो जाने का कारण यह था कि जापानी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में मंचूरिया की कृषि की दशा अच्छी नहीं थी। १९३२ और १९३४ के बीच फसल बहुत कम हुई जिसके फलस्वरूप मंदी आ गयी। मुख्य फ़सल, जिससे समृद्धि की माप की जा सकती थी, सोयाबीन थी। यद्यपि उत्पादन १९३० के ५,३००,००० टन से गिरकर १९३४ में ३,३५०,००० टन हो गया तथापि १९३२ के पश्चात् सोयाबीन के दाम गिर गये। इसका कारण यह था कि राजनीतिक संबंधों के कारण चीनी बाजार बन्द हो गया और विश्व में, विशेषतः जर्मनी में जो सोयाबीन का प्रमुख खरीदार था, उसकी माँग कम हो गयी।

जापान द्वारा कृष्येतर विकास पर बल दिये जाने से किसानों की दशा सुधारने के लिए कोई संतोषजनक कदम न उठाये जा सके। मंचूकुओ की सरकार ने अनेक फसलें बोने की प्रणाली चालू की और उससे दीर्घावधि में, विशेषतः यदि नयी फसलों के लिए मंडियों का विकास किया जाता तो, किसानों की दशा सुधर सकती थी। परन्तु उस समय जापानी निर्माण-कार्यों के फलस्वरूप शहरों की समृद्धि में किसान भागीदार नहीं बन सके। नयी रेलों तथा राजमार्गों के निर्माण की योजना मुख्यतया सामरिक दृष्टि से बनायी गयी थी। इस कारण किसान उनसे भी अपनी स्थिति तत्काल सुधरने की आशा नहीं कर सकते थे। इस प्रकार ऐसे रचनात्मक उपाय नहीं किये गये जिनसे गाँवों के समृद्ध हो जाने से डकैती-लूटमारी कम हो जाती। इसके अतिरिक्त चीनी जनता स्वेच्छा से नयी राजनीतिक व्यवस्था मानने को तैयार नहीं थी जिसके कारण मंचूरिया को चीन से अलग कर दिया गया था। यदि जनता नयी व्यवस्था से संतुष्ट होती तो राजनीतिक डकैती-लूटमार, अर्थात् मंचूरिया में बचे हुए चाँग-ह्यूए लियांग के सैनिकों तथा जापान-विरोधी अन्य लोगों द्वारा चलाया गया गुरिल्ला युद्ध धीरे-धीरे कम होकर समाप्त हो जाता, किन्तु डकैती-लूटमार के बढ़ जाने तथा अव्यवस्था के फैलने के कारण जापान को सैनिक बल का प्रयोग करना पड़ा।

१९३७ के जापान-मंचूकुओ वर्ष बोध[३४] (जापान मंचूकुओ इअर बुक) में दस पृष्ठों में मार्च १९३२ से मार्च १९३५ तक मंचूकुओ सेना द्वारा डकैती-लूटमार के दमन का काल-क्रम दिया गया है। इससे पता चलता है कि जापानी इस समस्या में कितने उलझे हुए थे और उन्हें डकैती-लूट मार का दमन करने में कहाँ तक सफलता मिली। परन्तु सरकार के इस कथन के बावजूद कि डकैती-लूटमार का दमन करने और इस प्रकार

देश में शान्ति स्थापित करने में उसे सफलता मिली, १९३६ में सेना-प्राधिकारियों ने गाँवों के लोगों को संरक्षित गाँवों में एकत्र करने की प्रणाली चालू कर दी...... दूरस्थ फार्म-गृह जला डाले गये और कुछ जिलों में खड़ी फसलें जला कर राख कर दी गयीं। प्रत्येक गाँव के चारों ओर किसानों को ऊँची-ऊँची मिट्टी की दीवारें बनानी पड़ीं। बाहरी लोगों के प्रवेश पर नियन्त्रण रखने के लिए स्वयं गाँव वालों के नाम रजिस्टरों में दर्ज किये गये। गाँव के मुखिया को इस बात के लिए उत्तरदायी बनाया गया कि उसके गाँव में कोई डाकू-लुटेरा शरण न पाये। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह न कर पाने पर उसके लिए मृत्यु के दंड की व्यवस्था थी। जो गाँव वाले अपने निवास संबंधी प्रमाणपत्र प्रस्तुत न कर पाते उन्हें फौरन फाँसी पर लटका दिया जाता। कभी-कभी कुछ जिलों में एक-एक दिन में दस-दस आदमियों को फाँसी दे दी जाती थी। १९३७ के मध्य तक इस प्रकार के २००० से अधिक संरक्षित गाँव बसा दिये गये थे। इस कार्यक्रम से प्रभावित क्षेत्रों की कुल जनसंख्या ५०, और ६० लाख के बीच होने का अनुमान था।"[५] इस प्रकार की कड़ी कार्यवाही से यह बोध नहीं होता कि मंचूकुओ के पहले चार वर्षों में की गयी प्रत्यक्ष सैनिक कार्यवाही से डकैती-लूटमार का दमन कर दिया गया। इससे तो यही विदित होता है कि डकैती-लूटमार बढ़ गयी थी जिसमें गाँव वालों का भी सहयोग था। यह निष्कर्ष इस बात से भी निकलता है कि राज्य की आय का बड़ा भाग रक्षा-प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा। रक्षा के अन्तर्गत डकैती-लूटमार का दमन भी था। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि मंचूरिया में स्थित जापानी सेना (अर्थात् क्वान्तुंग सेना) में, जो मंचूकुओ की सेना से भिन्न थी, १९३२ से १९३७ तक की अवधि में कमी करने के बजाय वृद्धि की जाती रही। इसका मुख्य कारण रूस से संघर्ष की संभावना तथा चीन के प्रति अनुसरित नीति भी थी। किन्तु इससे यह तथ्य भी प्रकट होता था कि नये राज्य और उसके अन्तर्गत स्थापित शासन को लगातार जापानी संगीनों के सहारे की आवश्यकता रहती थी क्योंकि उसे मंचूरिया की जनता का स्वेच्छिक समर्थन प्राप्त नहीं था। इस प्रकार तीन पूर्वी प्रान्तों में चीनी प्रशासन के अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था की जो स्थिति थी उसमें आलोच्य वर्षों में मंचूरिया पर जापानी अधिकार के फलस्वरूप कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

जापानी अधिकार की अवधि में ये तीन बातें उल्लेखनीय हैं—कृषि-संकट, देश को डाकुओं-लुटेरों से मुक्त करने में असफलता और सरकार के समर्थन के लिए सैनिक शक्ति में वृद्धि करने की आवश्यकता। लेकिन इनका कारण केवल जापानी नीति, विशेषतः उसकी सकारात्मक नीति, नहीं थी। आर्थिक दशा के संबंध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। फसलों के खराब होने के मुख्य कारण ये थे—बाढ़, डकैती, लूटमार और राज्य-प्रतिरोध

के फलस्वरूप निरंतर विद्यमान राजनीतिक अस्थिरता। जैसा कि कहा जा चुका है, विश्व-स्थिति के कारण मंचूरिया के मुख्य खाद्यान्न सोयाबीन का निर्यात कम हो गया था। लेकिन १९३६ में एक त्रिपक्षीय वस्तु-विनिमय समझौता हो जाने से जर्मनी में सोयाबीन का निर्यात पुनः आरम्भ हो गया। इस प्रकार १९३८ तक इसका निर्यात "संघर्ष-पूर्व" स्तर तक पहुँच गया था। निर्यात किये गये सोयाबीन का मूल्य ७१ करोड़ ४४ लाख मंचूरियन युआन था। किन्तु कृषि-उपज का ही निर्यात होता रहा और औद्योगिक विकास के लिए जापानियों ने जो पूँजी लगायी थी उससे कोई भी ऐसा उद्योग विकसित नहीं हुआ जिसकी वस्तुओं का निर्यात करना संभव होता। वस्तुतः जापान द्वारा लगायी गयी इस पूँजी से निर्यात की दृष्टि से जो स्थिति पैदा हुई वह जापानी अधिकार के पहले की स्थिति से कुछ भिन्न थी। जापानी अधिकार के पहले मंचूरिया सामान्यतया आयात से अधिक निर्यात करता था। १९३२ के बाद और विशेषतः १९३६ के बाद कृषि-उत्पादन बढ़ जाने पर जापान–मंचूकुओ गुट की दृष्टि से व्यापार का संतुलन अनुकूल था, लेकिन जापान और मंचूकुओ की दृष्टि से प्रतिकूल था। इसका कारण यह था कि नगरीकरण तथा उद्योगीकरण के लिए जापान से उत्पादन-वस्तुओं का आयात किया गया और १९३७ में चीन के साथ युद्ध होने तक जापान को किये जाने वाले निर्यात में कमी हुई। निर्यात में यह कमी इस धारणा के विपरीत थी कि मंचूरिया जापान के लिए कच्चे माल की संपूर्ति का अपरिहार्य स्रोत बन जायेगा।

(१२) मंचूकियों की स्थापना का सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव

मंचूरिया तथा उसकी जनता पर नये शासन की स्थापना के प्रभाव का अनुमान लगाने के लिए जापानी नीति के एक और पहलू का उल्लेख करना आवश्यक है। यह आर्थिक विकास से भिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का पहलू है। दीर्घ काल से यह स्वीकार किया जाता रहा था कि चीन के, जिसमें मंचूरिया सम्मिलित था, विकास की एक समस्या अफीम और उससे बने पदार्थों के प्रयोग पर नियंत्रण रखने की थी। इस समस्या के संबंध में चीन की भिन्न-भिन्न सरकारों ने पृथक-पृथक ढंग से कार्यवाही की थी। सरकार पर जिन तत्त्वों का नियंत्रण होता उन्हीं के अनुसार कार्यवाही भी होती थी। लेकिन १९३१ के बाद मंचूरिया में जापानियों ने जो कुछ किया वह चीन द्वारा अपने सबसे अधिक कुशासन की अवधि में किये गये कार्यों से किसी भी दशा में अच्छा नहीं था। ओपियम मानोपोली ब्यूरो ही पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण की एजेन्सी था। उक्त समस्या का हल करने का उसका दृष्टिकोण प्रत्यक्षतः राजस्व में वृद्धि करने का था, न कि मादक पदार्थों के नियंत्रण का। जितने क्षेत्र में विधिक रूप से अफीम बोयी जा सकती थी उसे

बढ़ा दिया गया और धूमपान के अनुज्ञापत्रों का शुल्क कम करके तथा फुटकर विक्रेताओं पर नियंत्रण शिथिल करके अफीम और उससे बने पदार्थों का सेवन काफी बढ़ा दिया गया।

यह घोषणा की गयी कि वाँग-टाओ के राजसी मार्ग के सिद्धान्त के आधार पर मंचूकुओ के लिए नीति निर्धारित की जायेगी। इसके अनुसार नयी व्यवस्था को प्राचीन चीनी-प्रणाली के उन पहलुओं से जोड़ने का सजग प्रयत्न किया गया जिनसे शासकों के प्राधिकार के प्रति निष्ठा-भावना जागृत होती थी। किन्तु कन्फ्यूशियन का यह संशोधन अस्वीकार कर दिया गया कि ऐसे अधिकारियों का शासन होना चाहिए जो वस्तुतः परोपकार की दृष्टि से कार्य करें। इस संशोधन के अनुसार जनता को विद्रोह का भी अधिकार था। नीति-निर्धारण संबंधी उक्त सिद्धान्त का अर्थ व्यवहार में यह लगाया गया कि वह "फासिज्म तथा बालशेविज्म के बीच सर्वोत्कृष्ट मध्ययान है।" इस प्रकार वह सिद्धान्त न राष्ट्रवादी था, न साम्यवादी। जापान द्वारा की गयी इस व्याख्या का प्रमाण शिक्षा के संबंध में अनुसरित उसकी नीतियों से मिलता है।

चीनी नियंत्रण के अंतिम वर्षों की तुलना में शिक्षा पर कुल व्यय लगभग आधा कर दिया गया। जापान के अधिकार के बाद वर्षों तक बजट में शिक्षा के लिए निर्धारित धनराशि में वृद्धि के बजाय कमी की जाती रही। १९३८ के अनुमानित व्यय का केवल २.२ प्रतिशत स्कूल-अनुरक्षण के प्रयोजन के लिए निर्धारित किया गया था, जब कि १९३४–३५ में यह प्रतिशत ३.२४ था। इसकी तुलना में सैनिक प्रयोजन के लिए कुल आय का ४० प्रतिशत निर्धारित किया गया था। स्कूलों के लिए वित्त-व्यवस्था में कमी का कारण वे विभिन्न समस्याएँ थीं जो नये राज्य की स्थापना तथा संगठन के कारण उत्पन्न हो गयीं थीं। नयी व्यवस्था के सांस्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से संभवतः अधिक महत्त्व की बात यह थी कि जापान का पूरा ध्यान प्रारम्भिक शिक्षा तथा प्रारम्भिक स्तर पर व्यावसायिक प्रशिक्षण पर लगा था। चीनी प्रणाली के अंतर्गत जिन कालेजों और विश्वविद्यालयों की व्यवस्था की गयी थी वे अब समाप्त हो गये थे। पंचानबे प्रतिशत स्कूल प्रारम्भिक थे। शेष पाँच प्रतिशत मिडिल तथा प्राविधिक स्कूल थे। सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली में सान-मिन-चु प्रथम के विचारों और इस प्रकार चीनी राष्ट्रीयता को व्यक्त करने वाली पुरानी पाठ्य-पुस्तकों को स्वभावतः कोई स्थान नहीं दिया गया। इनके बदले में नयी पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा जिन विचारों का प्रतिपादन किया गया उनमें सम्राट के प्रति सम्मान, जापान से घनिष्ठ संबंध के लाभ, सद्गुण की कन्फ्यूशियन धारणा, उचित आचरण, औचित्य तथा परोपकार पर बल दिया गया था। इन सभी बातों से अभिभूतता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और स्वाग्रह की भावना क्षीण होती जाती है। शिक्षा का उद्देश्य नये शासन के प्रति स्वामिभक्ति की भावना विकसित तथा केन्द्रित

करना था। इस प्रकार स्वयं जापान की शिक्षा-प्रणाली में जिन बातों पर जोर दिया जाता था उन्हीं पर चीन में भी दिया गया। इसके साथ ही उच्च शिक्षा की व्यवस्था न करके सारा ध्यान व्यावसायिक शिक्षा पर दिया गया और सरकारी पदों पर जापानियों की अधिकाधिक नियुक्ति की गयी। ये सब तथ्य जापान के इस उद्देश्य को स्पष्ट कर देते थे कि वह चीनी जनता के अधिकांश भाग को उसके नये राष्ट्रीय जीवन में अनुसेवा की सुनिर्धारित स्थिति ग्रहण करने के लिए तैयार करना चाहता था और शासन के पद केवल जापानियों तथा कुछ थोड़े से चीनियों के लिए सुरक्षित रखना चाहता था जो जापान में विश्वविद्यालय की शिक्षा ग्रहण करने के बाद उसे स्वीकार हों।[३६] जापानियों ने निश्चय ही कुछ थोड़े-से विद्यार्थियों को जापानी विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण पाने के निमित्त चुनकर उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया।

प्रारम्भिक स्तर पर सिद्धान्त-बोधन के निमित्त एक ओर प्रेस तथा समाचार-सेवाओं पर सेन्सर लगाकर उन पर नियंत्रण रखा गया और दूसरी ओर १९३२ में स्थापित कांकार्डिया सोसाइटी ने अपनी कार्यवाहियों द्वारा उसमें सकारात्मक योगदान दिया। यह सोसाइटी देशभक्तिपूर्ण प्रचार-कार्य करती थी जिससे मंचूरिया में शासन तथा जापान को जनता का समर्थन प्राप्त हो। नयी परिवर्तित स्थिति को जनता स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर ले, इसके लिए स्कूल पहले से ही कार्य कर रहे थे। उक्त सोसाइटी की भूमिका इन स्कूलों का साथ देने की थी। इसका उद्देश्य मंचूरिया का चीन से बौद्धिक तथा भावात्मक संबंध तोड़कर उसे जापानी सांस्कृतिक क्षेत्र के अंतर्गत लाना था। लेकिन जापान को इस समस्या की ओर निरंतर जितना ध्यान देना पड़ता था, उसको देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि इस कार्य में उसे चीन के साथ युद्ध छिड़ने के समय तक सफलता नहीं मिली थी।

तेईसवाँ अध्याय

युद्ध का पूर्व रंग

(१) उत्तरी चीन में जापानी दबाव (१९३३–३५)

मंचूकुओ की वैधानिक स्थापना तथा १९३७ में जापान और चीन के बीच युद्ध प्रारम्भ होने के बीच के वर्ष जहाँ एक ओर मंचूकुओ की स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, वहीं जापान का दवाव इस बीच चीन पर कितना वढ़ता गया, इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। जापान का दवाव निरन्तर मजवूत होता गया—इसके मूल में चीन की घरेलू परिस्थितियाँ भी थीं, लेकिन ये घरेलू परिस्थितियाँ भी इसलिए पैदा हुई थीं कि इस बीच जापान और चीन के सम्वन्ध निरन्तर विगड़ते जा रहे थे। यहाँ यह वात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि विदेशी और देशी दोनों प्रभाव एक-दूसरे से प्रभावित थे और सामान्य रूप से विचार-विमर्श में स्पष्टता लाने के लिए आवश्यक है कि इन दोनों तत्त्वों को सफाई के साथ अलग-अलग देखा जाय। यहाँ यह उचित होगा कि चीन के तीन पूर्वी प्रदेशों के बाहर १९३२ के वाद जापान की नीति का विकास कैसे हुआ, इस पर पहले विचार किया जाय।

१९३२ तक आते-आते मंचूरिया पर से चीन के सैनिक और शासनाधिकार लगभग समाप्त हो गये। सीमा के शहर चिंगचाऊ पर जापानी सेना का कब्जा होने के बाद से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी थी। किसी भी स्तर पर चीनी सेना द्वारा जापान का प्रतिरोध नहीं किया गया और इस वीच अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, जैसे लीग आफ नेशन्स या इस प्रकार की और संस्थाओं पर भरोसे की पुकार की गयी। शंघाई में चीनी सेनाओं ने शक्तिशाली प्रतिरोध किया, खास करके १९३२ में, जब कि जापानियों ने मंचूरिया की परिस्थिति के विरोध में किये जानेवाले चीनी बहिष्कार को तोड़ने के प्रयत्न शुरू किये। इससे पता लगता है कि चीन मंचूरिया के अलावा अपने बाकी १८ प्रदेशों की रक्षा के मामले में कड़ी नीति अपनाना चाहता था।

चीन की इस इच्छा का प्रमाण तब मिला, जब १९३३ के प्रारम्भ में शांशीवान पर जापानी हमला हुआ। जापान का यह हमला असल में जोहोल प्रदेश पर आक्रमण करने का संकेत मात्र था। युवक सेनापति चैन शूलियांग, जो इसके पहले पीकिंग क्षेत्र

के व्यवस्था आयुक्त थे और जो मंचूरिया से जापानियों द्वारा भगाये जा चुके थे, इस समय आगे आये, और उन्होंने टी० बी० सुंग के साथ मिलकर एक संयुक्त वक्तव्य दिया, जिसमें जापानियों के मुकाबले में तब तक लड़ने की बात कही गयी थी, जब तक चीनी सेना का आखिरी आदमी बचा रहेगा। इस घोषणा के बाद भी जोहोल प्रदेश पर जापानियों का अधिकार उतनी ही तेजी से हुआ, जितनी तेजी से चीनी प्रतिरोध टूटा। जोहोल प्रदेश की राजधानी चिंगतेह पर बिना किसी युद्ध के जापानियों ने ३ मार्च को अधिकार कर लिया।

जब लड़ाई उत्तरी चीन में बढ़ी, तब चीनी सेनाओं ने होपेई प्रदेश के दर्रों की रक्षा करनी शुरू की। जापानी सेना लून नदी की ओर बढ़ने में विशेष सफल हुई थी, फिर भी, जापानियों ने अपनी सेनाएँ आगे नहीं बढ़ायीं। यों यह तय था कि यदि वे आगे बढ़तीं तो चीनी सेनाएँ पीछे हट गयी होतीं। इसके बदले समझौते की बातचीत शुरू हुई और यह तय होने लगा कि होपेई[1]-शासन में कौन-कौन से व्यक्ति रहेंगे। इस सम्बन्ध में जापान का यह प्रयत्न था कि ये व्यक्ति जहाँ तक हो सके जापानी पक्ष के हों। इन समझौते की बातों से तांगकू-संधि का मसौदा तैयार हुआ, जिस पर २५ मई १९३३ को हस्ताक्षर हो गये। इस समझौते के अनुसार पीकिंग-त्यानसिन का पूरा क्षेत्र असैनिक क्षेत्र कर दिया गया और वहाँ से चीनी सेनाएँ हट गयीं। इस क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था चीनी पुलिस सेना के जिम्मे सौंपी गयी और इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि इस पुलिस सेना में जापान-विरोधी सशस्त्र टुकड़ियाँ नहीं होंगी। बाक्सर-व्यवस्था के अनुसार जापान को यह अधिकार था कि वह तेनसिन और सांचाऊ के बीच की रेलवे लाइन के साथ-साथ अपनी सेनाएँ चीन में रखे। अब इस नये समझौते के कारण जापान इस स्थिति में आ गया कि स्थानीय शासन पर बराबर अपने प्रभावशाली दबाव का प्रयोग करता रहे और समझौते की चौथी[2] धारा के अनुसार शान्ति-रक्षा करनेवाली सेनाएँ अपने स्थानीय शासन की तुलना में जापान की तरफ अधिक आकर्षित हैं कि नहीं, इसकी बराबर पुष्टि करता रहे। यदि कोई प्रति-दबाव इस क्षेत्र में पड़ सकता था तो वह केवल नानकिंग से ही पड़ सकता था। यद्यपि समझौते का पालन होने लगा, फिर भी जापानी सैनिक अधिकारियों की ओर से इस क्षेत्र में वर्तमान स्थिति की आलोचना बराबर होती रही। इस क्षेत्र में नियुक्त राज्य कर्मचारियों पर बराबर यह दोष लगाया जाता रहा कि वे जापानियों के साथ सहयोग नहीं करते। जापानी और चीनी बाशिन्दों के बीच भी विभेद बढ़ते रहे और यह भी कहा गया कि उस क्षेत्र के विद्यार्थियों को जापान विरोधी प्रचार के लिए बराबर उकसाया गया है। जापान के दृष्टिकोण से स्थिति में तब तक भी कोई सुधार नहीं हुआ, जब तक च्यांगकाई शेक के व्यक्तिगत

ध्यान देने से ऐसे कुछ अधिकारी उस क्षेत्र से हटा नहीं दिये गये, जिनके कार्य जापानियों की दृष्टि से अवांछनीय थे। यह भी सम्भव नहीं हुआ कि जापानी शासन जिन शर्तों को नापसन्द करता था, उन पर विचार करने के लिए च्यांग को सहमत किया जा सके। गुप्त रूप से जापान की ओर से बराबर यह प्रयत्न चलता रहा कि इस क्षेत्र में ऐसी एक व्यवस्था और उसको चलाने के लिए ऐसे अधिकारी रखे जायँ, जो जापान के लिए उपयुक्त हों। वहीं दूसरी ओर च्यांग और नानकिंग सरकार की ओर से उत्तरी प्रदेशों पर कुछ सीमा तक अपना आधिपत्य बनाये रखने का प्रयत्न बराबर होता रहा।

जहाँ तक उत्तरी चीन का प्रश्न था, जून १९३३ से लेकर जून १९३५ तक के दो वर्षों में चलनेवाली खींचतान का परिणाम इतना अवश्य हुआ कि जापान की स्थिति इस क्षेत्र में काफी दृढ़ हो गयी। असैनिक क्षेत्र पर चीन के हट जाने के बाद जापान का अधिकार इस हद तक बढ़ गया कि उसकी ओर से सैनिक कार्रवाइयों की संभावना पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गयी। डीरेन में जुलाई, १९३३ में होनेवाले अधिवेशन में यह तय हुआ कि जापानी हमले के समय जिन असैनिक लोगों ने जापान की सहायता की है, वे शान्ति-सुरक्षा-सेनाओं में नियुक्त कर लिये जायँ। चीन की तुलना में जापान को पुलिस सेना पर अधिक अधिकार दिया गया। इस अधिवेशन में जापान द्वारा की गयी तीन अन्य माँगें[3] चीनियों द्वारा नवम्बर में चुपके से स्वीकार कर ली गयीं। इसी स्वीकृति के परिणामस्वरूप चीन और मंचूरिया के बीच की डाक की सुविधा पुनः स्थापित की गयी। यों इस बीच इस बात की काफी सावधानी बरती गयी कि चीन के मंचूरिया प्रदेश के उससे निकल जाने की कोई स्वीकृति इस बीच घोषित न की जाय। संधि की एक शर्त के अनुसार जापान के लिए यह भी सम्भव हो गया कि वह निर्धारित जगहों में जापानी सेनाओं को जमीन और निवास के स्थान पट्टे पर दे सके। इस सबका स्पष्ट तात्पर्य था कि जापानी उत्तर के एक सीमित क्षेत्र में अपनी स्थिति दृढ़ करने में असमर्थ हो गये थे। इस दिशा में और अधिक प्रयत्न १९३५ के प्रारम्भिक महीनों में नहीं किये जा सके। इस बीच १९३४ में जो भी प्रमुख राज्य-शासनिक प्रयत्न किये गये, वे नानकिंग में ही हुए, पीकिंग में इस बीच लगभग सन्नाटा रहा। ये कदम आंशिक रूप से इसलिए उठाये गये कि उत्तर में चीनी यह प्रयत्न कर रहे थे कि जो सुविधाएँ जापानियों को दे दी गयी हैं, उनका परिणाम कम से कम परिलक्षित हो, जब कि जापानी सेना अपनी शक्ति भर अपनी नयी प्राप्त स्थिति को बराबर मजबूत कर देना चाहती थी। जापान द्वारा डाले गये दबाव के कारण चीनी अधिकारियों ने घुटने टेक दिये और उन्होंने फिर कुछ सुविधाएँ जापान को दे दीं। इन सुविधाओं को जुलाई १९३५ में होनेवाले होमेत्सु समझौते में मूर्त रूप में देखा जा सकता है। यों इन छूटों के सम्बन्ध

में बराबर असहमति थी, फिर भी चीन ने जापान की कुछ माँगों को स्वीकार कर ही लिया। ये माँगें थीं—अवांछित सेनाओं तथा अफसरों का क्षेत्र से हटाया जाना, कुमितांग संगठन का उन क्षेत्रों से निष्कासन करना, जहाँ जापानी स्वार्थ स्थापित हों तथा जापान-विरोधी प्रयत्नों को समाप्त करने के लिए मजबूत कार्रवाई करना।

(२) जापान और मंगोलिया

इस बीच जापान द्वारा भीतरी मंगोलिया के चहार और सुयान प्रदेशों पर मजबूत हमला शुरू किया गया। ये दोनों ही प्रदेश मंचूकुओ और उत्तरी चीन में जापानी स्थिति को मजबूत करने की दृष्टि से तात्कालिक महत्त्व के थे। इससे जापान के रूस तथा चीन के परस्पर के सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता था। वाशिंगटन अधिवेशन के पहले और बाद में भी, रूस और जापान चीन में अपनी-अपनी स्थिति के लिए लड़ते आ रहे थे। जापान ने पहले-पहल निश्चित रूप से १९१५ में भीतरी मंगोलिया में अपनी रुचि प्रदर्शित की थी और वहाँ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उसने दबाव डालना शुरू किया था, जब कि रूस ने अपनी नीति बाहरी मंगोलिया पर केन्द्रित कर रखी थी। इस बीच बाहरी मंगोलिया में विचित्र तरह के सम्बन्धों का विकास हो रहा था। यहाँ यह स्मरणीय है कि चीनी प्रजातन्त्र की स्थापना के साथ-साथ ही मंगोलों के बीच भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। इस के परिणाम स्वरूप १९३३ तक आते-आते बाहरी मंगोलिया लगभग एक स्वतन्त्र क्षेत्र बन गया। यों तब भी वह चीन की अधीनता में था। उस क्षेत्र में मंगोलों की अपनी सरकार थी और मंगोलों और रूस के बीच सम्बन्ध घनिष्ठ हो रहे थे। यहाँ राज्य के हर विभाग में रूसी सलाहकार विराजमान थे और मंगोल सेना सही अर्थों में रूसी नियंत्रण में थी। मंगोल अर्थ-नीति रूस के साथ बँधी हुई थी और बाहरी मंगोलिया संभवतः विश्व का पहला क्षेत्र था, जिसके निवासी रूसी प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित हुए थे।[४]

यह मंगोलों के स्वतन्त्र होने का आन्दोलन जितना चीन-विरोधी था, उतना ही रूस के पक्ष में भी था। यह भीतरी मंगोलिया के घास के लम्बे-चौड़े मैदानों में चीन के आने तथा मंगोलिया तक चीनी शासन के बाहरी भाग के विरुद्ध की जानेवाली एक रक्षात्मक प्रतिक्रिया थी। चीन की इस नीयत का पता भीतरी मंगोलिया में काफी पहले, १९२८ में ही चल चुका था। उसके बाद भीतरी मंगोलिया में चीन और आगे तक घुसता चला गया था। चीन के इस दबाव के कारण उस क्षेत्र के कबीले या तो अपने-अपने झुण्डों के साथ पीछे हटने को बाध्य किये गये या नष्ट कर दिये गये। इस बढ़ाव की गति रोकने के लिए बाहरी मंगोलिया का स्वतन्त्र शासन स्थापित हुआ,

जिसको १९२२-२३ में रूस ने स्वीकृति भी दी थी। इस सम्बन्ध में चाहे श्वेत रूसी हों चाहे लाल, दोनों ही एक दृष्टि के थे और दोनों ने ही इस क्षेत्र में स्वतन्त्र सरकार स्थापित करने में मदद की थी। रूस ने सोवियत शासन में, १९२४ में चीन के साथ अपने सम्बन्ध अच्छे बनाने के लिए बाहरी और भीतरी मंगोलिया पर चीन का प्रभुत्व मान लिया, लेकिन उसके साथ ही बाहरी मंगोलिया का स्तर लगभग स्वतन्त्र शासन के रूप में भी स्वीकार किया गया था। वंश-परम्परा से चले आते हुए राजाओं के हाथ से शासन ले लिया गया और कुमिंतांग के संकेत से इस क्षेत्र में पूँजीवाद-विहीन और बीच के क्षेत्र में समाजवादी अर्थ-नीति स्वीकार की गयी। भीतरी मंगोलिया में चीनी सहायता से सामंती सम्बन्ध चलते रहे, इसलिए यह क्षेत्र जनतांत्रिक प्रजातंत्र के क्षेत्र में नहीं आ सका। इसलिए जब जापानी सेनाएँ १९३१ के बाद मंचूरिया में घुसीं, तब केवल बाहरी मंगोलिया ही रूसी प्रभाव-क्षेत्र में था, भीतरी मंगोलिया रूस और चीन के बीच उस समय एक प्रत्यन्त देश का कार्य करता रहा।

१९१५ में जापान ने पहली बार चीन के सामने अपनी माँगें रखीं, जिनसे मंगोलिया में उसके निहित स्वार्थ का संकेत मिला। लेकिन १९३२-३३ तक भी वे इस क्षेत्र के भीतर घुसने में समर्थ न हो सके। जब उन्होंने मंचूरिया पर अधिकार स्थापित कर लिया, तब वे इस स्थिति में आये कि मंगोलिया के साथ सीमागत संभावनाओं पर विचार कर सकें। मंचूरिया के साथ जोहोल के जुट जाने से ये सेनाएँ और नजदीक आ गयीं। मंचुकुओ की विधिवत् स्थापना के बाद यह देखा गया कि लगभग २० लाख मंगोल भी उस क्षेत्र में रह गये हैं। इस प्रकार जापान के अधिकार में मंगोल राष्ट्र का बाहरी या भीतरी मंगोलिया की तुलना में कहीं ज्यादा हिस्सा था। ये मंगोल मंचुकुओ में एक अलग प्रदेश में संगठित किये गये और स्वतन्त्रता की सीमा तक उनके साथ उदार व्यवहार किया गया। यह इस दोहरी आशा में किया गया था कि इससे मंचूकुओ में बसे हुए मंगोल जापान की स्थिति को आसानी से स्वीकार कर लेंगे और फिर उनका उपयोग भीतरी मंगोलिया के राजाओं और प्रधानों को मंचुको के साथ मिलने के लिए चुम्बकी आकर्षण के रूप में किया जा सकेगा। यह भी आशा की गयी कि अन्तिम मंचू सम्राट् को मंचूकुओ के सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित करने से बाकी मंगोल भी इस नये शासन में आ जायेंगे, क्योंकि ये राज-वंश मंगोलिया और चीन के बीच के सम्बन्ध जोड़नेवाले थे।

ऊपर से उदार दीखनेवाली जापानी नीति से जब कोई तात्कालिक मनचाहा लाभ नहीं मिला, तो जल्दी ही यह नीति परिवर्तित कर दी गयी, लेकिन भीतरी मंगोलिया के राजा जापानी प्रभाव-क्षेत्र में आने की संभावना से नानकिंग में अपने प्रभाव का उपयोग करने लगे। इससे उन्हें इतनी सफलता अवश्य मिली कि १९३४ में उस क्षेत्र

के लिए चीन की स्वीकृति से एक स्वतन्त्र शासन की स्थापना हुई और चीन द्वारा इस क्षेत्र के उपनिवेशीकरण की प्रगति को रोकने के सम्बन्ध में भी वे एक समझौता करने में सफल हुए। इससे सम्प्रति मंचूकुओ के अर्द्ध-स्वतन्त्र मंगोलों के पक्ष में स्वेच्छा से जाने की उनकी प्रवृत्ति पर काफी रोक अवश्य लग गयी। निष्कर्ष यह निकला कि शक्तिशाली जापान के साथ कमजोर और राजनीति की दृष्टि से पिछड़े चीन को उनके मुकाबले में स्वतन्त्रता की रक्षा करना अधिक कष्टकर हो गया।

इस प्रकार १९३४ में मंगोलों के १३ विभाजन हो गये। वे मंचूकुओ के सिंगान प्रदेश, भीतरी मंगोलिया के चीनी अधिकार क्षेत्र के प्रदेश और बाहरी मंगोलिया के रूसी प्रभाव-क्षेत्र के मंगोलियाई प्रदेश में बँट गये। यह बात पुनः स्मरण कर लेनी है कि संगठित बाहरी मंगोलिया-प्रजातंत्र भीतरी मंगोलिया को अपने साथ मिलाने में असमर्थ रहा। इसका कारण तो भीतरी मंगोलिया पर चीन का मजबूत प्रभाव भी था, लेकिन मूलतः यह इसलिए भी सम्भव नहीं हो सका कि भीतरी मंगोलिया के राजा अपने सामंती अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।

१९३५ में प्रादेशिक स्वतंत्रता देने की नीति से कोई लाभ न होते देखकर जापान ने भीतरी मंगोलिया में स्वतन्त्र दबाव डालना शुरू किया। सीमा के एक झगड़े के कारण जनवरी में जापान ने चहार में सैनिकों का प्रयोग किया, जिसके परिणाम स्वरूप प्रदेश का एक टुकड़ा काट कर मंचूकुओ शासन में मिला लिया गया। जून में घटित होने-वाली एक दूसरी घटना के कारण जापानी और आगे बढ़े और उन्होंने चीन से यह मनवा लिया कि चहार में कुमिंतांग की सभी शाखाएँ काम करना बन्द कर देंगी और चांगपेई से सभी चीनी सेनाएँ हटा दी जायँगी तथा पूर्वी चहार को असैनिक क्षेत्र बना दिया जायगा। उसी समय भीतरी मंगोलियाई परिषद के सामने यह प्रस्ताव किया गया कि पूरा क्षेत्र स्वेच्छा से मंचूकुओ शासन में सम्मिलित हो जाय। जुलाई में जापानी शासन ने एक सैनिक और नागरिक परामर्शदाताओं की नियुक्ति की घोषणा की और इस प्रकार कालगन पर जापानी राजनीतिक प्रभाव की स्थापना हो गयी। यह पूरे भीतरी मंगोलिया का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था।

भीतरी मंगोलिया में जापान के इस प्रकार घुसने से एक यह सूचना मिली कि अन्त में बाहरी मंगोलिया को पूर्व और दक्षिण-पूर्व की तरफ से घेरा जायगा। इसके कारण रूस को सावधान होना पड़ा और रूस और जापान के सम्बन्धों में पुनः तीव्रता आ गयी। मंचूकुओ की स्थापना के बाद से ही जापान तथा रूस-शासित प्रदेशों के बीच एक सीमा स्थापित हो ही गयी थी, उसके साथ ही आमूर के साथ-साथ सटे हुए उत्तरी क्षेत्र में भी एक मिली-जुली सीमा बन गयी थी। इस बीच मंचूकुओ और मंगोलिया के बीच

बहुत-सी अनिर्धारित सीमा-रेखाओं के कारण झगड़े चलने लगे थे। इनमें से पहला झगड़ा जनवरी १९३५ में उठा। दोनों पक्षों में से हर-एक ने अपने-अपने दावे पर बल दिया। ये झगड़े इसीलिए हुए कि एक पक्ष के विरुद्ध दूसरे पक्ष की सेनाएँ सीमा की गलत दिशा की तरफ बढ़ गयीं। इस समस्या के समाधान के लिए जो प्रयत्न किये गये, उनमें आंशिक सफलता ही मिली। मंगोलिया और मंचूकुओ के प्रतिनिधियों का जो अधिवेशन ३ जून, १९३५ को हुआ, उसमें बहुत जल्दी ही इस प्रश्न पर गतिरोध आ गया, क्योंकि उसमें मंगोलों ने यह माँग स्वीकार करने से इनकार कर दिया कि तात्कालिक सीमा-सम्बन्धी झगड़ों के अलावा और भी विषयों को बातचीत में शामिल किया जाय। जापान-अधिकृत मंचूरिया की इच्छा थी कि मंगोलिया को व्यापार तथा निवास के लिए खोलने के प्रश्न पर समझौता हो जाय। इस प्रश्न पर मंगोल अधिकारी विचार करने को तैयार नहीं थे। यों वे बाशिंदों के प्रतिनिधियों की अदला-बदली पर तैयार हो गये थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रतिनिधियों का अधिकार-क्षेत्र इतना ही होना चाहिए कि वे सीमा के झगड़ों के समझौतों के सम्बन्ध में बातचीत कर सकें। मंचूकुओ इसके लिए तैयार हो गया, लेकिन उसने यह बात अवश्य कही कि जहाँ तक प्रतिनिधियों की संख्या और उनको पुनःस्थापित की जानेवाली जगहों का प्रश्न है, इसका निर्णय बाद के अधिवेशन में होगा।

समझौते की बातचीत अक्तूबर में फिर चली, लेकिन जापान द्वारा इस बात पर जोर दिये जाने से कि ३ प्रतिनिधियों की नियुक्ति दोनों देशों के प्रमुख शहरों में भी की जानी चाहिए, इस समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस सम्बन्ध में जापान द्वारा दी गयी सारी धमकी बेकार गयी और मंगोल के प्रतिनिधि सीमा-सम्बन्धी प्रतिनिधियों की नियुक्ति के अतिरिक्त और किसी बात पर राजी नहीं किये जा सके।

सीमा पर होनेवाले इस तरह के झगड़ों के बारे में जापान का विचार यह था कि ये इसलिए हो रहे हैं कि दोनों प्रदेशों के बीच की सीमाएँ पूरी तरह से निर्धारित नहीं की जा सकी हैं। रूस ने यह बात दृढ़ता के साथ कही कि मंचूरिया और साइबेरिया के बीच की सीमाएँ पूरी तरह निर्धारित हैं और इसके लिए वह संधियों और उनको पुष्ट करनेवाले नकशों को प्रमाण सहित प्रस्तुत कर रहा था। जापानी इस तरह की संधियों और नकशों को इन सीमाओं को निर्धारित करने का आधार नहीं मानते थे और वे बराबर यह जोर दे रहे थे कि सीमाओं का नयी तरह से निर्धारण होना चाहिए। जहाँ तक मंचूरिया-मंगोलिया सीमा का सम्बन्ध था, कोई विस्तृत घटा-बढ़ी होने का प्रश्न नहीं था। रिवाज तथा परम्परा ने यह बात काफी पहले से तय कर दी थी, लेकिन जब जापान ने अपना साम्राज्य बढ़ाने की योजना बनायी, तो उसने सामरिक महत्त्व की

दिशा में सीमा की समस्या पर नये सिरे से सोचना शुरू किया। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक था कि वह परम्परा से मान्य सीमा से काफी आगे बढ़कर नयी सीमा-रेखा बनाने की बात सोचे। यह तय था कि जब तक सीमा के प्रश्न पर कोई समझौता न हो जाता, सीमा सम्बन्धी ऐसे छोटे-मोटे झगड़े बराबर चलते ही रहते।

लेकिन जो बात छोटी-मोटी घटनाओं को लेकर शुरू हुई, जब इक्के-दुक्के संतरी या रक्षक एक-दूसरे पर झपट पड़े, वही बाद में चल कर धीरे-धीरे गम्भीर रूप धारण करने लगी, तब दोनों प्रदेशों में सीमा पर नियुक्त सेनाओं की संख्या बढ़ा दी गयी। दोनों स्पष्ट रूप से एक-दूसरे की शक्ति का अंदाज लगाने को सन्नद्ध हो गये-से लगते थे। इस प्रकार १९३४-३५ की छिट-पुट घटनाएँ १९३६ में बड़े संघर्षों का रूप ले बैठीं। इसी प्रकार की एक घटना १९३६ की ८ से १० फरवरी के बीच मंगोल-मंचूरिया सीमा पर हुई, जिसमें कई सौ जापानी तथा मंचूकुओ सैनिक ट्रकों, टैंकों और हवाई जहाजों की मदद से मंगोलिया की सीमा में ६ मील तक घुस गये थे और इस पर जोरों की लड़ाई हुई थी। इस जापानी हमले के बाद जब प्रति-आक्रमण आरम्भ हुआ, तो जापानियों की हालत खराब हो गयी और वे अपनी सीमा के पीछे तक हटने को बाध्य किये गये। इससे भी खतरनाक स्थिति तब आयी, जब मंचूकुओ-साइबेरिया सीमा पर लगभग ४,००० रूसी सैनिकों ने जापान-मंचुको सीमा पर लगभग २,५०० सैनिकों का मुकाबला किया। यह घटना १९३६ के मार्च २५ से २९ तक घटी। यदि इस अवसर पर दोनों ओर के सीमाधिकारियों ने निर्णय में जरा-सी चूक की होती, तो संभवतः इस घटना से दोनों देश एक बड़ी लड़ाई में उलझ गये होते। स्पष्ट था कि इस प्रकार की लड़ाई के लिए उनमें से उस समय कोई भी तैयार नहीं था। यों इससे यह अवश्य हुआ कि दोनों को अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर मिल गया और जिससे यह निश्चय हो गया कि हर देश अपनी सीमा का अतिक्रमण रोकने के लिए लड़ने से पीछे नहीं हटेगा। विशेषकर जापान यह मानने के लिए बाध्य हो गया कि धीरे-धीरे आगे बढ़ने और कब्जा करने की जो नीति चीन और भीतरी मंगोलिया में बराबर सफल हुई, फिलहाल साइबेरिया या बाहरी मंगोलिया के मामले में काम में नहीं लायी जा सकती, खासकर जब कि इन दोनों के पीछे रूस खड़ा हो। एक बार जब यह सत्य स्पष्ट हो गया, तो फिर सीमा के झगड़े धीरे-धीरे छिट-पुट झगड़ों के स्तर पर उतर आये।

इन सारी संधियों और जापानी दबाव के विरुद्ध प्रतिरोधों के बीच रूस बराबर बाहरी मंगोलिया की सरकार की पीठ पर खड़ा रहा। ३१ मार्च, १९३६ को रूस और बाहरी मंगोलिया के बीच हुए सुरक्षा तथा परस्पर सहायता के समझौते की घोषणा की गयी और बाद में स्टालिन ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि मंचूकुओ

द्वारा बाहरी मंगोलिया पर किया गया कोई भी हमला रूस पर हुआ हमला ही माना जायगा। इस सुरक्षात्मक समझौते से मंचूकुओ की सीमा पर होनेवाले हमले रुक गये। इसके साथ ही जापानी सेना-समर्थकों को इस तर्क को और आगे बढ़ाने में मदद मिली कि भविष्य के लिए सामरिक कार्यों पर और अधिक ध्यान दिया जाय। उधर रूस द्वारा तब तक कोई विशेष रुख स्पष्ट नहीं किया जा सकता था, जब तक कि जापान द्वारा किया गया सीमा-नियंत्रण साइबेरिया पर रूस के स्थापित प्रभुत्व को समाप्त कर देने की स्थिति में न आ जाय। यह बात भी सत्य से बहुत दूर नहीं होगी कि बाहरी मंगोलिया पर जापान के आधिपत्य स्थापित करने की कोशिश, सुदूर पूर्व स्थित रूस से सम्बन्धित थी। सीमा में घुसने के प्रयत्न का एक और कारण यह भी था कि जापानी रूस के भीतरी मंगोलिया और उत्तरी चीन के बीच एक प्रत्यन्त क्षेत्र चाहते थे। अब इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ये स्वार्थ इतने महत्त्वपूर्ण थे कि उनके कारण रूस के साथ युद्ध भी न बचाया जा सके? यहाँ आकर ऐसा लगता है कि इन कार्रवाइयों के पीछे एक या अनेक यूरोपीय राज्यों का जापान को बराबर आश्वासन अवश्य मिलता रहा होगा।

इस तरह का एक आश्वासन २५ नवम्बर, १९३६ को जर्मनी-जापान द्वारा किये गये कुमिंतांग विरोधी मसविदे में देखा जा सकता है। यों स्पष्ट रूप से सोवियत शासन के मुकाबले यह समझौता कुमिंतांग की कार्रवाइयों पर ज्यादा जोर देता है, फिर भी, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बर्लिन और टोकियो के बीच एक कामकाजी राजनीतिक मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इससे जापान को, जर्मनी की भाँति एक-दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन-विरोधी देश इटली के साथ भी मिलने-जुलने का आधार मिल गया। दो प्रमुख और शक्तिशाली यूरोपीय शक्तियों से जापान के इस कम्युनिस्ट विरोधी समझौते के कारण रूस की जापान-प्रतिरोध-क्षमता में कमजोरी आ गयी। दूसरी ओर मछली का शिकार करने के सम्बन्ध में चल रहे समझौते की बात-चीत की सम्भावनाएँ भी इससे धूमिल हो गयीं।

(३) जापान द्वारा अपनी नीति का पुनः स्पष्टीकरण

बाहरी मंगोलिया के रूस द्वारा संरक्षित किये जाने के बाद जापान के लिए नगण्य प्रतिरोध तथा मंचूरिया के बाद सर्वाधिक आकर्षण का क्षेत्र भीतरी मंगोलिया और चीन ही रह गया। उत्तर में स्थानिक रूप से दबाव डालने की नीति के काल में जापान की सामान्यतः क्या नीति होगी, इसका अंदाज लग गया था और इसकी प्रारम्भिक विकसनशील प्रक्रिया पर हम अभी-अभी विचार कर चुके हैं। उक्त नीति सम्बन्धी सिद्धान्त का सामान्य स्पष्टीकरण जापानी-मुनरो-सिद्धान्त की घोषणा में समाहित देखा

जा सकता है। ऊपर से तो पूर्वी एशिया की घोषित यह मुनरो-नीति पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों से चीन को सुरक्षित रखने के लिए निर्मित की गयी-सी लगती थी। उसमें स्पष्ट कहा गया था कि इन पश्चिमी देशों की नीतियाँ पूरब में शान्ति व्यवस्था और स्थिरता के लिए इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे जापान को संतोष दे सकें, उस जापान को जो सुदूर पूर्व में शान्ति का संरक्षक है और यूरोप के आक्रमणों के विरुद्ध चीन की सार्वभौमता का संरक्षक है। इसे स्पष्ट करते हुए जापानी विदेश मंत्रालय के एक प्रवक्ता ने १८ अप्रैल, १९३४ को कहा था––

"इसमें दो मत नहीं हो सकते कि जापान विदेशी शक्तियों से अपने मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाने की दिशा में हर प्रयत्न करता रहा है, लेकिन यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि पूर्वी एशिया में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हम अकेले अपना उत्तरदायित्व वहन करना उचित समझते हैं और यह हमारा आवश्यक कर्तव्य भी है। पूरब में चीन के अतिरिक्त ऐसा और कोई देश नहीं है, जो पूर्वी एशिया में शान्ति-स्थापन के जापानी उत्तरदायित्व का सहभागी हो सके।

इसीलिए चीन की एकता, उसकी सीमागत समग्रता और सुव्यवस्था के लिए जापान बहुत चिन्तित है। इतिहास द्वारा यह सिद्ध है कि यह कार्य चीन के खुद के झगड़ों और उसके द्वारा स्वेच्छा से किये गये प्रयत्नों से ही हो सकता है।

इसलिए हम चीन के द्वारा किये जानेवाले उन सभी प्रयत्नों का विरोध करेंगे, जिनसे वह जापान का मुकाबला करने के लिए बाहरी शक्तियों के प्रभाव में आता दीख पड़े। ऐसे ही हम चीन के उस प्रयत्न का भी विरोध करेंगे, जिसके द्वारा वह एक शक्ति पर दूसरी शक्ति के खिलाफ लड़ाने की साजिश करे। मंचूरिया और शंघाई की घटनाओं के बाद चीन को प्राविधिक या आर्थिक सहायता देने के नाम पर किये गये कई संयुक्त प्रयत्न इस विशेष परिस्थिति में राजनीतिक महत्त्व के हो गये। इस तरह की व्यवस्था यदि काफी दूर तक चलायी गयी, तो निश्चित ही इससे ऐसी उलझनें पैदा होंगी, जो ऐसी समस्याओं को उभार दें, जिनके कारण चीन के विभाजन की बातचीत उठ पड़े और उसी के साथ जापान और पूर्वी एशिया पर और भी गम्भीर असर पड़ने की आशंका उपस्थित हो जाय।

इसीलिए सिद्धान्ततः जापान ऐसे सभी कार्यों का विरोध करेगा। यों वह यह आवश्यक नहीं समझता कि यदि कोई विदेशी शक्ति चीन के साथ आर्थिक, व्यापारिक सहायता देने और चीन की शान्ति-सुव्यवस्था के लिए अथवा पूरब में शान्ति स्थापित करने के लिए, अलग से कोई समझौता-वार्ता कर रही हो, तो जापान अपनी तरफ से उसमें कोई बाधा उपस्थित करे।

फिर भी चीन को युद्धक विमान देने, चीन में हवाई अड्डे बनाने या उसे सैनिक प्रशिक्षण या सलाहकार देने, राजनीतिक कार्यों के लिए ऋण देने के प्रयत्नों से जापान और चीन के साथ और देशों के मैत्री-सम्बन्धों में निश्चित रूप से नयी स्थिति पैदा होगी और इससे पूर्वी एशिया में शान्ति और सुव्यवस्था भंग होगी, जिसके कारण जापान ऐसे सभी कार्यों का विरोध करेगा।"[६]

जापान के विदेश मंत्री श्री हिरौटा (जो १९३६ में वहाँ के प्रधान मंत्री भी हुए) द्वारा १९३४ में दिये गये एक वक्तव्य में भी लगभग ऐसी ही बातें कही गयी थीं। जापान के बर्लिन और वाशिंगटन स्थित राजदूतों ने इस आशय के वक्तव्य दिये थे। बाद में फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त-राष्ट्र-संघ के राजदूतों के नाम भेजे गये वक्तव्य में भी, यही बात कही गयी।

इन जापानी घोषणाओं की बाहरी शक्तियों पर प्रतिक्रिया भी हुई। इसे वाशिंगटन में हुए ९ देशों की सन्धि में स्पष्ट देखा जा सकता है। चीन सरकार ने भी १९ अप्रैल को एक वक्तव्य में शान्ति और न्याय की स्थापना पर बल दिया। और बातों के अतिरिक्त वक्तव्य में यह भी कहा गया था कि किसी भी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी विशेष क्षेत्र में शान्ति-स्थापना के लिए विशेष उत्तरदायित्व का दावा करे। किसी राष्ट्र को जिसे चीन के विरुद्ध कोई विशेष स्वार्थ नहीं साधना है, चीन की राष्ट्रीय निर्माण की नीति से डरने की आवश्यकता नहीं है।[७]

लन्दन स्थित चीन राज्य दूतावास द्वारा प्रसारित वक्तव्य में इस उद्देश्य के स्पष्ट संकेत किये गये थे। सुदूर पूर्व में शान्ति की निश्चित गारंटी इसमें नहीं है कि चीन के साथ पश्चिमी देश मैत्री और समाधान-सम्बन्ध बनाने से विरत रहें, बल्कि इसमें है कि जापान एशिया में क्रूर साम्राज्यवाद की स्थापना और अपने समझौते की शर्तों को दुर्नीतिपूर्ण तरीके से मनवाने के प्रयत्न से अपने को विरत कर ले।[८]

इन वाक्-युद्धों के कारण संक्षेप में इस प्रकार बताये जा सकते हैं। प्रथम तो ये वक्तव्य ऐसे समय दिये गये थे, ताकि वे जिनेवा में लीग द्वारा चीन को सहायता देने के सम्बन्ध में प्रस्तुत 'राशमन रिपोर्ट' के प्रस्तुत किये जाने के साथ ही साथ प्रकाशित हों। लीग के विशेषज्ञ नानकिंग सरकार की प्रार्थना पर उन दिनों चीन के पुनर्निर्माण की समस्याओं के स्तरों पर विचार कर रहे थे। परिषद के प्राविधिक एजेंट डा० राशमन, जिन्होंने भविष्य में चीन में किये जानेवाले कार्यों की संस्तुति करते हुए विवरण पेश किया था, जापान का विरोधी माना जाता था। इसीलिए जापानियों ने पहले ही यह बता देना अच्छा समझा कि वह राशमन के द्वारा दिये गये सुझावों की स्वीकृति का विरोध करेगा। क्योंकि जिनेवा में जापान का प्रतिनिधित्व नहीं था (वह स्वयं ही लीग से

बाहर निकल आया था) इसलिए उसका दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में पहले से ही स्पष्ट कर दिया जाना आवश्यक था और वह उसने अपनी नीतियों की घोषणा करके समय से पहले विशिष्ट रूप से कर भी दिया। यों यह करके भी उन्हें आंशिक सफलता ही मिली, क्योंकि वह 'रिपोर्ट' लीग द्वारा स्वीकृत हो गयी और तुरन्त ही वह प्राविधिक संगठनों को आगे के अध्ययन के लिए भेज दी गयी।

दूसरा कारण यह था कि चीन ने अपनी हवाई शक्ति दृढ़ करने के लिए अमेरिका और अन्य देशों से भी सहायता ली थी। 'कर्टिस-राइट कम्पनी' ने अमेरिकन इंजीनियरों की सहायता से चीन में एक हवाई-जहाज़ का कारखाना बनाने का ठेका लिया था। हांगकाऊ में सैनिक पाइलटों के लिए एक स्कूल भी हवाई अड्डे के साथ स्थापित किया गया। यह अड्डा अमेरिका की हवाई-सेना के एक अवकाश-प्राप्त कर्नल की देखरेख में बनाया गया था और अमेरिका ने चीन को कई लड़ाकू जहाज भी बेचे थे। इसके अलावा चीन-अमेरिका तथा चीन-जर्मन सहयोग से देश में दो प्रमुख नागरिक उड़ान लाइनों की स्थापना भी हुई थी। इटली की सुरक्षा के लिए मिले धन से च्यांग-काई-शेक के मुख्यालय में एक हवाई-मिशन की स्थापना की गयी थी और उसके एक हिस्से से नानचांग में एक उड़ान-केन्द्र स्थापित किया गया था। १९३४ के अप्रैल में राइख़ के भूतपूर्व अध्यक्ष जनरल वानसकेट को नानकिंग में प्रधान सैनिक सलाहकार नियुक्त किया गया था।[१]

ये सभी कार्य बड़ी शक्तियों की सहायता से चीन की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए किये गये थे, जिनमें जापान शामिल नहीं था। और भी आन्तरिक कार्य—चांहे वे राजनीतिक हों या आर्थिक, इसी लक्ष्य को रखकर आगे बढ़ाये गये। हम इन पर आगे विचार करेंगे। ज्योंही चीन पहले की अपेक्षा शक्तिशाली होता, जापान द्वारा स्थानीय शासन या नानकिंग शासन पर डाला जानेवाला दबाव पहले की अपेक्षा घटने लगता, लेकिन तात्कालिक स्थिति ऐसी थी कि जापान के चीन में बढ़ते हुए फैलाव को रोकने के लिए चीन जो कुछ भी शक्ति एकत्रित कर सकता था, वह बाहरी सहायता द्वारा ही सम्भव थी। इसलिए १९३४ में जापान ने चीन को दृढ़ करने के पक्ष में ही अपना मत दिया, लेकिन इस शर्त पर कि चीन यह कार्य बिना किसी बाहरी सहायता के, मात्र अपने प्रयत्नों से करे।

इन स्पष्टीकरणों से पता लगता है कि चीन द्वारा पश्चिमी शक्तियों से सीधे या लीग आफ नेशंस के माध्यम से प्राप्त की गयी सहायता के प्रति जापान का रुख उस समय नकारात्मक था। स्पष्ट और निर्णयात्मक रुख का पता बाद में चलकर तब लगा, जब हिरोता की त्रिसूत्रीय नीति सामने आयी। यह स्पष्टीकरण अक्तूबर २८, १९३५

को जापान-स्थित चीन के राजदूत को दिया गया। इसका स्पष्टीकरण जापान के डीड में दिया गया, जिसे २१ जनवरी, १९३६ को जापान के विदेश मंत्री के एक वक्तव्य में पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया गया। इसका पहला सूत्र यह था कि चीन और जापान के सम्बन्धों को मूल स्तर पर ठीक-ठीक रखा जाय, जिससे चीन वे सभी जापान विरोधी कार्य और योजनाएँ बन्द कर दे, जो अब तक वह करता आया है। दूसरा सूत्र यह था कि मंचूकुओ और चीन के परस्पर सम्बन्धों में भी पूरी सुव्यवस्था लायी जाय, क्योंकि विशेष कर उत्तर चीन से दोनों देशों के स्वार्थ बहुत सघनता से जुटे हुए हैं। इस सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है कि इन सम्बन्धों को पुनः ठीक किये जाने के लिए आवश्यक है कि पहले चीन सरकार मंचूकुओ को मान्यता दे और दोनों देश आपस में राजनयिक अध्ययन-प्रति-अध्ययन चालू करें। तीसरा सूत्र यह था कि जापान की इच्छा है कि वह चीन से समष्टिवाद को समाप्त करने के लिए चीन के साथ सहयोग करे।[१०]

(४) उत्तरी चीन के लिए स्वतंत्र शासन

इन तीन सूत्रों में न जाने कितने ही दूरगामी प्रभाव सन्निहित थे। तात्कालिक रूप से वे इसलिए गढ़े गये-से लगते थे कि एक ऐसी विस्तृत रूपरेखा बनायी जाय, जिसके भीतर उत्तरी चीन में जापान को आगे बढ़ने का अवसर मिले। २९ अक्तूबर को उत्तरी चीन के अधिकारियों को पाँच माँगों का एक खरीता पेश किया गया, जिसमें उत्तरी प्रदेशों में कुमितांग के अधिकार पर और भी नियंत्रण लगाने की माँग की गयी थी। यों चीन ने आंशिक रूप से इन स्थानीय माँगों का पालन किया, लेकिन इससे जापान के सैनिक अधिकारियों की आवश्यकताओं की संतुष्टि की दिशा में अधिक कुछ नहीं किया जा सका। फलतः नवम्बर के प्रारम्भ में इस तरह की बातें प्रचारित होने लगीं कि उत्तर चीन के निवासियों में यह सामान्य इच्छा बढ़ रही है कि वहाँ एक स्वतन्त्र शासन की स्थापना की जाय। ये समाचार स्पष्टतः जापान की प्रेरणा से ही फैल रहे थे। और इस बात के प्रमाण थे कि जनता की इस माँग के पीछे वैसा कुछ होने जा रहा है, जैसा इसके पहले मंचूरिया में हो चुका था। यह विवरण, धीरे-धीरे जापान द्वारा सेना का प्रयोग किये जाने की इच्छा की घोषणा का स्वरूप स्थिर करने लगा। यह इसलिए आवश्यक समझा गया कि नानकिंग शासन को मुख्य रूप से इस चीनी आन्दोलन में हस्तक्षेप करने से रोका जाय। फिर टोकियो से १८ नवम्बर को यह विज्ञापित हुआ कि धीरे-धीरे चीन में एक सप्ताह के अन्दर स्वतन्त्र शासन स्थापित हो जायगा। नवम्बर भर उत्तर चीन के पाँच प्रदेशों (होपेई, चहार, सुयान, शांशी और शांटुंग) को उसके लगभग १० करोड़ निवासियों को लेकर एक स्वतन्त्र शासन स्थापित करने की सूचना प्रचारित होती रही, यों तब भी इस दिशा में कोई कार्रवाई नहीं की गयी। इस सम्बन्ध में यह

अनुमान किया गया कि जापान द्वारा प्रचारित स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक लोकप्रिय स्वार्थ अपने को भली प्रकार उजागर करने में असफल होगा और बाहरी दबाव होते हुए भी सामान्यतः उस क्षेत्र के राज्य कर्मचारी नानकिंग सरकार से सम्बन्ध-विच्छेद करने से शुरू होनेवाले लाभों में विशेष रुचिशील नहीं प्रतीत हुए। इस बीच नानकिंग शासन ने स्वयं पहल करने के लिए उत्तरी चीन में नये अधिकारी भेजने शुरू किये और अर्द्ध-स्वतंत्र जैसे लगनेवाले कार्यों का संगठन शुरू किया। इससे उन्हें आशा थी कि वे उत्तरी चीन की राज्य-भक्ति बनाये रख सकेंगे। यों, यह सब करते हुए वे जापान पर गम्भीर प्रक्षेप करने से बराबर बचते रहे।

इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का एक तरफ संकल्पात्मक निर्णय यह निकला कि १९३५ के दिसम्बर में होपेई में एक स्वशासित क्षेत्र बन गया, जहाँ का शासन-तंत्र पूर्वी होपेई प्रशासित परिषद (काउंसिल) के नाम से स्थापित हुआ। यह शासन तीनसिंग और पीपिंग स्थित जापानी सैनिक अधिकारियों के पूर्ण प्रभाव में था। एक दूसरा अर्द्ध-स्वतन्त्र शासन भी बाद में चलकर बना, जिसे होपेई-चहान राजनीतिक परिषद (काउंसिल) कहा गया। यों इस पर जापानी अधिकार उतना स्पष्ट नहीं था। यह नानकिंग सरकार के संगठन का मुकाबला करने की उस नीति का ही परिणाम था, जिसके कारण उत्तरी चीन में स्वेच्छा से शासन संगठित करने की बात उठायी जा रही थी। विशेषकर यह उस सीमित क्षेत्र में संगठित होना था, जहाँ जापान सीधी कार्रवाई कर सकता था। वहाँ एक तो यह ध्यान रखना था कि यह शासन जापान के हित में इतना अप्रतिरोधी हो कि जापानी सेना उसका विरोध न करे, दूसरे मूल रूप से वह चीनी शासनान्तर्गत हो और वर्तमान स्थिति में जिस सीमा तक सम्भव हो सके, वह नानकिंग शासन के निर्देशों का भी ध्यान रखे। इस शासन की स्थापना से दो बातें स्पष्ट प्रतीत हुई—एक तो यह कि इससे च्यांग-काई-शेक की इस इच्छा का पता लगता था कि वह जितनी देर तक सम्भव हो, स्थिति को सामान्य रखने के पक्ष में था। दूसरा यह कि नानकिंग सरकार का प्रभुत्व पीली नदी के उत्तर में, जिधर जापान पड़ता था, लगभग समाप्त हो चुका था। यह नया शासन शक्ति के मामले में बहुत-कुछ वैसा ही था, जैसा दक्षिण और दक्षिणी-पश्चिम का राजनीतिक परिषद थी। यों इसकी स्थापना के कारण इन परिषदों से कुछ अलग ही थे, क्योंकि इसका निर्माण घरेलू राजनीति के ढाँचे पर न होकर, उस क्षेत्र में जापानी नीति की स्वीकृति के कारण हुआ था। यह उत्तर चीन की उस इच्छा को संतुलित करने का प्रयत्न था, जो उत्तर चीन पर जापान के प्रभुत्व तथा जापानी सेना के बढ़ाव के विरुद्ध था। उस क्षेत्र की इस इच्छा का पता बुद्धि-जीवी और विद्यार्थी क्षेत्रों में होनेवाली हलचलों से लगता था।

जापानी सेना द्वारा उभारे हुए चीन के ५ उत्तरी प्रदेशों को स्वतंत्र शासन देने का आन्दोलन इस मामले में असफल रहा कि वह कुछ थोड़े से असैनिकीकृत जिलों को छोड़कर पूरे उत्तर क्षेत्र को पूरी तरह से नानकिंग शासन से अलग नहीं कर सका। जापान खुले तौर पर अपनी माँग को इस हद तक आगे बढ़ाने के लिए प्रस्तुत नहीं था कि वे जबरदस्ती उन क्षेत्रों पर थोपे जायँ। साँठ-गाँठ के इस काल में, क्योंकि हिरोटा के तीन सूत्रों के आधार पर चीनी शासन ने बातचीत करने की इच्छा प्रकट की थी और भीतरी जापान-विरोधी तत्त्वों के दबावों के कारण चीन शासन का रुख भी कड़ा हो गया था, इसलिए जापान सरकार ने उत्तरी चीन में स्वतंत्र शासन के आन्दोलन के उत्तरदायित्व से अपने को अलग कर लिया था। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हुई कि इस आन्दोलन की प्रेरणा विशेषकर मेजर जनरल दुईहारा की पहल पर क्वांतुंग स्थित जापानी सेना की तरफ से प्राप्त हुई थी। इसके लिए टोकियो से ऐसी कोई खास प्रेरणा नहीं मिली थी। उत्तरदायित्व से अपने को अलग कर लेने की इस घोषणा से, जिससे जापानी शासन के भीतर वर्तमान द्वैधता का पता लगता है, उत्तर चीन में स्थानिक रूप से पड़नेवाले जापानी दबाव का प्रभाव कम हो गया। इससे उत्तरी चीन के प्रादेशिक अधिकारियों के लिए यह सम्भव हो सका कि वे भी समझौते का आधार ढूँढ़ने का उत्तर-दायित्व नानकिंग शासन पर ही डाल दें।

१९३६ के आरम्भिक महीनों में इस बात के स्पष्ट संकेत मिले कि उत्तरी चीन में जापान के स्वार्थ बने हुए हैं और हो सकता है कि चीन अधिकारियों पर इसके परिणाम-स्वरूप भविष्य में दबाव बढ़े। मंचूरिया में जापानी सेनाओं ने जो रुख लिया था, उसकी तुलना में उत्तरी चीन में जापान ने अपनी द्विविधा का प्रदर्शन दो प्रमुख कारणों से किया—एक तो यह कि इस बार का बढ़ाव चीन की मुख्य भूमि पर था और चीन के इस प्रदेश में एकता बनाये रखने का प्रश्न चीनी अधिकारियों और वहाँ के प्रभुत्वशाली वर्गों की सीधी चिन्ता का विषय था। दूसरा कारण यह था कि यह आन्दोलन एक ऐसे क्षेत्र में हुआ था, जो काफी बड़ा था और तत्त्वतः अधिक गैर-जापानी विदेशी स्वार्थ के अन्तर्गत स्थापित था। यह ऐसा क्षेत्र था, जहाँ पहले की गयी संधियों में दिये गये वचनों के संदर्भ में जापान के विस्तारवादी कार्यक्रमों का ताल-मेल बैठाना मुश्किल था। इसलिए यहाँ यह जरूरी था कि इस क्षेत्र में चीनी और विदेशी प्रतिरोध की सम्भावनाओं की जाँच और अधिक सावधानी से की जाय, क्योंकि यह स्पष्ट था कि पीली नदी की तरफ अपनी स्थिति को बढ़ाने का यह प्रयत्न और फिर उसे यांगसे तक ले जाने की कोशिश, जापानी विस्तार-वाद के कार्यक्रम की दृष्टि से तर्कसम्मत अर्थात् उपयुक्त समझी जाती थी।

सेना के निदेश में मंचूरिया के शोषण से जो कुछ प्राप्त होने की कल्पना की गयी

थी, वह पूरी नहीं हुई। जो कुछ भी इसके विकास के क्षेत्र में किया गया था, उसका आर्थिक पक्ष जापान के आर्थिक जीवन के लिए पूरक होने के बजाय प्रतिस्पर्धी सिद्ध हुआ। ऐसी हालत में अब इधर उत्तरी चीन के आर्थिक स्रोतों की ओर जापान का स्वार्थपूर्ण ध्यान स्पष्टतया जाने लगा था। उदाहरण के लिए, यह तर्क दिया गया कि यदि उत्तरी चीन के रुई-उत्पादन के क्षेत्र का पूरी तरह से उपयोग किया जाय, तो इससे वह इस मामले में अमेरिका और भारत का मुखापेक्षी नहीं रह जायगा और उसके सूती-मिल-उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल यहाँ से मिलने लगेगा। वैसे ही यह भी कहा गया कि जितना बड़ा सुरक्षित भण्डार लोहे और कोयले का भीतरी मंगोलिया और उत्तरी चीन में है, वह मंचूरिया से कहीं अधिक मूल्यवान् सिद्ध होगा। इसके साथ ही जापान इस दिशा में भी अधिकाधिक जागरूक होता गया कि जहाँ कच्चे माल के लिए क्षेत्र खोजे जायँ, वहीं उत्पादन के खपाने के लिए नये बाजार की भी सृष्टि की जाय। इसलिए मंचूरिया की तुलना में उत्तर चीन में मिलनेवाले नये बाजार की सम्भावनाओं पर विशेष जोर दिया जाने लगा। यह ऐसा क्षेत्र था, जो जापान के औद्योगिक उत्पादन के खपाने के लिए नियंत्रित स्रोत के रूप में विकसित किया जा सकता था। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से उत्तरी चीन की तरफ बढ़ने की योजना दोहरी आकांक्षा से अभिप्रेरित थी और इस विश्वास को दृढ़ करती थी कि यह क्षेत्र मंचूरिया की तुलना में कहीं अधिक आवश्यक है और इसे जापान की आर्थिक जीवन-रेखा समझना चाहिए।

जापान द्वारा उत्तर चीन पर अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने की इस अनिवार्यता के पीछे दूसरा तर्क राजनीतिक तथा उसी दृष्टि से सामरिक महत्त्व का होना भी था। यह तर्क दिया गया कि जब तक मंचूरिया के ठीक दक्षिण का क्षेत्र शत्रु-शासन के प्रभाव में है, मंचूरिया की स्थिति बराबर अस्थिर रहेगी। यह भी संकेत किया गया कि मंचूरिया में शान्ति और सुव्यवस्था लाना चीनियों के रुख के कारण मुश्किल हो जायगा, क्योंकि वे मंचूरिया के क्षेत्र में प्रचार करने और अव्यवस्था पैदा करने के लिए उत्तरी चीन को आधार बनाये रहेंगे। फिर यह बात गम्भीरता से कही गयी कि चीन की तरफ से बराबर प्रतिरोध होने तथा किसी भी मूल्य पर उनके द्वारा सहयोग न दिये जाने से जापान को बाध्य होकर उत्तरी चीन में कार्रवाई करनी पड़ी। यह इसलिए किया गया कि चीन की बाहरी दीवार के उत्तर में जापान की स्थिति दृढ़ हो जाय। इस प्रकार हिरोटा के त्रिसूत्रीय वक्तव्य में से दो सूत्र केवल मंचूरिया के संदर्भ में उत्तर चीन से सम्बन्धित थे। जहाँ तक सेना के अतिशय उत्साहित तत्त्वों का प्रश्न था, वे जापान द्वारा दिये गये इस प्रकार के स्पष्टीकरणों की भी कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। उनके लिए तो ये सारे कार्यक्रम सीमाओं के विस्तार के कार्यक्रम थे और हर तरह से उचित और आवश्यक थे,

क्योंकि ऐसा समझा गया कि इससे जापान के साम्राज्य का विस्तार होगा और उसमें दृढ़ता आयेगी। फिर भी यह स्पष्टीकरण इसलिए दिया गया कि साम्राज्य-विस्तार के सिलसिले में जो बलिदान किये गये थे, उनका औचित्य सिद्ध किया जा सके और इस प्रकार खास जापान में सामान्य जनता का इसके प्रति समर्थन और स्वीकृति प्राप्त होती रहे। यह इसलिए भी किया गया कि पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध उसे बचाया जा सके और इस प्रकार इन कार्यों के विरुद्ध होनेवाले प्रतिरोध की शक्ति कम की जा सके। यह सब राष्ट्रीय स्वार्थ की सुरक्षा के लिए ही किया गया।

(५) उत्तर चीन में जापान के प्रभुत्व के प्रभाव

पूर्वी होपेई स्वायत्त परिषद् की स्थापना का सर्वाधिक गम्भीर तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि उत्तरी चीन में तस्कर वृत्ति बहुत बढ़ गयी। तांगकू समझौते पर हस्ताक्षर के बाद तीनसिंग क्षेत्र में चीनी अधिकारियों की कमजोरी के कारण तस्कर व्यापारियों के लिए बिना चुंगी दिये देश में बाहर से माल लाकर बेचना सम्भव हो गया। होपेई क्षेत्र से या होमेई चहार सैनिक परिषद् और जापानियों द्वारा नियंत्रित उत्तर के पहाड़ी दर्रों से होकर ऐसे सामान ले आना अधिक आसान था। चीनी शासन के पास इस क्षेत्र में कोई सैन्य शक्ति या पुलिस थी ही नहीं। चुंगी अधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय देखभाल के नियमों के अधीन भी, यदि समुद्र से होनेवाला यह व्यापार रोकना चाहते, तो जापानी इस सम्बन्ध में सैनिक शक्ति का उपयोग का विरोध करते। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि तानकू समझौते के समय उनसे इस तरह का कोई मौखिक समझौता हो चुका है। चीनी इस तरह के किसी भी समझौते की बात से इनकार करते थे। ये वे ही क्षेत्र थे, जिनमें जापान ने केवल उन्हीं अधिकारियों को नियुक्त किया था, जो उसके पक्ष में थे। इससे अब चीन के पास कोई ऐसी शक्ति नहीं रह गयी, जो उन उत्तरी प्रदेशों में यांगसी नदी के दक्षिण में पड़ती हो और जो बिना चुंगी या तत्सम्बन्धी भुगतानों के, किये जानेवाले जापानी मूल्य की इस बाढ़ को रोक सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि नानकिंग-शासन की आमदनी में बहुत बड़ी कमी आयी। इसका एक ही परिणाम हो सकता था कि उत्तरी चीन के बाजारों में प्रतिस्पर्धा में खड़े अन्य पश्चिमी देशों के माल स्पर्धा न कर सकें और उन्हें बाजार से बाहर चले जाने के लिए बाध्य होना पड़े। इसका फल यह हुआ कि चीन द्वारा, तथा इंगलैण्ड द्वारा भी जापान के पास विरोध-पत्र भेजे जाने लगे। अमेरिका ने इस सम्बन्ध में यह भी कहा कि व्यापार के सम्बन्ध में मुक्त स्पर्धा का सिद्धान्त खतरे में पड़ गया है। ये विरोध इस क्षेत्र में स्वच्छ शासन के विकास की दिशा में कुछ सहायक सिद्ध हो सकते थे, लेकिन अगस्त १९३५ तक ये तस्कर व्यापार

इतने काफी उभर कर आगे आ गये और तब इनका इतना विरोध हुआ कि जापान स्थिति की जाँच करने के प्रश्न को और अधिक नजरअंदाज नहीं कर सका। इस तरह के तस्करी व्यापार को रुकवाने में असमर्थता प्रकट करना भी चीन पर एक तरह के दबाव की ही तरह था और जहाँ तक चीन को कमजोर करने का सवाल था, यह उतना ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ, जितनी सैनिक कार्रवाइयाँ होतीं।

फिर भी, पूर्वी होपेई शासन की स्थापना के बाद कुछ हद तक स्थिति में परिवर्तन हुआ। यों यह परिवर्तन चीन-अमेरिका और इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण से कोई खास लाभ-प्रद नहीं था। स्वायत्त परिषद् ने अपने पूर्ण शुल्क-दर में से २५ प्रतिशत अपनी चुंगी की दर के रूप में निर्धारित किया। यह निर्धारण इस तर्क की पुष्टि करता है कि व्यापार, अब किसी भी स्तर पर तस्करी व्यापार के साथ संयुक्त नहीं किया जा सकेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जापानी माल का भीतर आना और आसान हो गया और इससे न तो चुंगी की आमदनी के नुकसान की कमी की पूर्ति हुई और न तो गैर-जापानी विदेशी व्यापारियों को व्यापार सम्बन्धी सुविधाओं में कोई बराबरी का दर्जा ही प्राप्त हुआ। इस कार्रवाई का परिणाम यह भी हुआ कि जापानियों ने चीन में जानेवाले सभी मालों पर दी जानेवाली चुंगी की दरें घटा कर इसी स्वायत्त-शासन द्वारा निर्धारित चुंगी की दरों पर लाने की माँग की और स्पष्ट किया कि यदि वह माँग पूरी नहीं होती, तो वे यह तस्करी व्यापार जारी रखेंगे। इस प्रकार उन्होंने अपने इस कार्य के लिए एक औचित्य ढूंढ़ लिया।

इसी तस्करी व्यापार की कार्रवाइयों से मिलता-जुलता नशीली दवाइयों का व्यापार भी था। इसमें भी वही तरीके और स्तर काम में लाये गये। इन क्षेत्रों पर सैनिक शासन के दिनों में अफीम पैदा करनेवालों, वितरण करनेवालों और उपभोक्ताओं पर अनुशासन दृढ़ करने में और इनका आधिपत्य तोड़ने में चीन को प्रारम्भिक सफलताएँ मिली थीं। इस बीच तैयार औषधियों, जैसे कोकीन या हिरोइन का निर्यात पहले महायुद्ध के ठीक बाद काफी बढ़ गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन में विदेशी निरीक्षण गृहों का क्रम बना ही रहा। वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद और विशेष करके राष्ट्रीय शासन की स्थापना के बाद के वर्षों में अफीम और उसके द्वारा बनाये गये अन्य सामान के निर्माण और उपयोग पर चीन का ही आधिपत्य माना गया और इस दिशा में उसे पश्चिमी राष्ट्रों का सहयोग और स्वीकृति भी प्राप्त हुई। मंचूरिया और जोहोल पर जापानी अधिकार के बाद एक उल्टी गति चल पड़ी। जापान द्वारा जोहोल पर अधिकार करने का एक स्पष्ट कारण यह भी था कि वहाँ बड़े पैमाने पर होनेवाले अफीम के

उत्पादन से लाभ उठाया जाय। १९३३ में मंचूरिया और जोहोल को मिलाकर एक विशाल अफीम का एकाधिकार स्थापित किया गया, जिसके लिए लीग की सरकारी समिति में कहा गया कि वह नशीली वस्तुओं के अवांछित आवागमन की दिशा में यह विश्व में किये गये अब तक के सभी प्रयत्नों में सबसे बड़ा प्रयत्न है। इन जापानी शासित क्षेत्रों का इस तरह के नशीले द्रव्यों का प्रवाह चीन की ओर बहने लगा। इनमें कोकीन और हिरोइन का सर्वप्रमुख स्थान था और इन सामानों के लानेवाले एजेण्ट मुख्य रूप से कोरियाई होते थे। ये लोग जापानी प्रजा होने के कारण पकड़ जाने पर सज़ा और दण्ड के भागी बनाये जा सकते थे। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर जापानी सलाहकार-अदालतें उन्हें जो सज़ा देती थीं, वे इतनी हल्की होती थीं, कि उनका कोई खास मतलब नहीं होता था। ये तथाकथित दवाइयाँ ज्यादातर हिरोइन-कोकीन होती थीं और कहा जाता था कि वे जापान, फार्मोसा या डेरेन से आती थीं। इनका एक नया स्थान अब नीनसिन में भी स्थापित हो गया था, जहाँ जापानियों द्वारा चलाये जाने वाले हिरोइन बनाने के कितने ही कारखाने प्रकाश में आये थे। चीनी स्तरों के अलावा इस बात के बहुत-से प्रमाण हैं कि जापानी नागरिक चीन की बाहरी दीवार के उत्तर और दक्षिण में इस अवांछनीय व्यापार में सर्वाधिक भयंकर गड़बड़ी पैदा कर रहे थे। तीनसिन-पीपिंग के असैनिकीकृत क्षेत्र में इन सामग्रियों का आवागमन पूर्वी होपेई परिषद् की स्थापना के बाद और अधिक आसान हो गया।[११] इस प्रकार जापान स्वयं, यद्यपि अपने नागरिकों को नशीले द्रव्यों के सेवन से मना करता था, लेकिन चीन के जिन क्षेत्रों में उसने अपना अधिकार स्थापित किया, वहाँ उसने यदि नशीले द्रव्यों का प्रचार बढ़ाया नहीं, तो भी उसके बढ़ने के लिए अपनी तरफ से पूरी छूट अवश्य दी।

चीन-जापान और मंचूकुओ तथा उत्तरी चीन के बीच चुंगी के बंधनों को तोड़ने की नीति और इस क्षेत्र के नागरिकों को नशीली दवाओं के निर्यात के सम्बन्ध में बनाये गये चीनी नियमों को तोड़ने से रोकने के प्रयत्नों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में उत्तरी चीन, मंचुका और जापान के बीच चलनेवाली मुद्रा में एकसूत्रता लाने की जापानी नीति का भी विकास हुआ। इस प्रकार क्षेत्रों को स्वायत्त-शासन देने के आन्दोलन के असफल होने के समय से लेकर १९३७ की गर्मियों में जापान और चीन के बीच युद्ध शुरू होने तक जापान की ओर से पीली नदी के उत्तर के क्षेत्रों को जापान की आर्थिक दासता के अन्दर लाने का बड़ा ही जबरदस्त आन्दोलन चलाया गया। इस बीच बार-बार सैनिक कार्रवाइयों की धमकी दी जाती रही। यह सब विशेष कर तब हुआ, जब जापान को अपने प्रदेशों के स्वायत्त-शासन देने के आन्दोलन के जरिये अपने पूरे उद्देश्य प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली।

(६) १९३३-३६ के बीच चीन की राजनीति

१९३६ की गर्मियों के शुरू में चीनी शासन का ध्यान उत्तर से हट कर दक्षिण चीन पर केन्द्रित होने लगा। इस विशेष विकास को समझने के लिए और युद्ध के सम्बन्ध में चीन की भीतरी परिस्थितियों का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए १९३३ और १९३६ के बीच चीन की भीतरी राजनीति में हुए परिवर्तनों की विवेचना करनी आवश्यक है।

पहले १९३३ तक की जिन आंतरिक परिस्थितियों के विकास की समीक्षा हमने की थी, उसको ध्यान में रखने से ज्ञात होगा कि नानकिंग शासन कुछ गुटों की चुनौती से घबराया हुआ था। इनमें से क्वांतुंग और क्वांसी प्रदेशों पर शासन करनेवाली एक सरकार भी थी, जो काफी हद तक स्वतंत्र या स्वायत्त-सी हो गयी थी। यह शासन कुमितांग संगठन के बाम पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था। यह पक्ष गैर-कम्युनिस्ट तो था, पर यह च्यांग-काई-शेक की दक्षिण-पंथी प्रवृत्तियों का विरोधी था। यह शासन अपने को सनयात्सेन के विचारों का सही उत्तराधिकारी मानता था। ये तत्त्व क्वांसी के सैनिक अधिकारियों के साथ सहयोग करते थे और क्वांतुंग में भी वे स्थानीय सैनिक कमाण्डर चेन-ची-तैंग के सहयोग पर खड़े थे। लेकिन जहाँ तक स्वायत्त राजनीतिक शासन का प्रश्न है, सरकारी संगठन दक्षिण-पश्चिम राजनीतिक परिषद् के रूप में गठित किये गये थे। इस सरकार के प्रमुख सदस्य कुमितांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी थे और इस नाते वे नानकिंग शासन की गतिविधियों को नियंत्रित करने के सम्बन्ध में होनेवाले दलीय वाद-विवादों में बराबर हिस्सा लेते थे। कुमितांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति (चौथी) का पहला वार्षिक अधिवेशन १९३१ के अन्त में हुआ। उस समय दल के भीतर के उन झगड़ों को, जिनके कारण व्यवस्थित शासन चलाने में बड़ी कठिनाई हो रही थी, सुलझाने के लिए तीन सदस्यों की एक स्थायी समिति बनायी गयी। वे तीनों सदस्य केन्द्रीय राजनीतिक परिषद् के सदस्य थे। यह केन्द्रीय राजनीतिक, केन्द्रीय कार्यकारिणी और केन्द्रीय निरीक्षक समिति के सदस्यों को लेकर गठित हुई थी। ये ३ सदस्य, जो व्यावहारिक रूप से शासकीय विभूति थे, च्यांग-काई-शेक, वांग-चिंग-वी और हू-हान-विन थे, इनमें से अन्तिम सदस्य बाद के वर्षों में नानकिंग से बराबर दूर ही रहे, लेकिन वांग-चिन-वी लगभग बराबर ही सरकार से किसी-न-किसी प्रकार से सम्बन्धित रहे, यह सम्बन्ध चाहे सरकार से असहमत होने पर इस्तीफे देने या विरोध करने जैसा ही क्यों न हो। इन परिस्थितियों में यद्यपि कैण्टन का यह शासन लगभग स्वतंत्र-सा था, लेकिन इसने नानकिंग शासन की प्रभुता को मानने से एकदम इनकार कर दिया। यों बीच-बीच में वह च्यांग-काई-शेक द्वारा व्यवहार में लाये गये

अधिकारों का विरोध करता रहा। इसके नेता बीच-बीच में अपनी असहयोग की नीति का प्रदर्शन करके कुमितांग के भीतर दूसरे और विरोधी दलों के मुकाबले में अपना पलड़ा बराबर बनाये रखने के लिग ऐसा किया करते थे। ये तरीके और इनके बल पर बनाये गये सम्बन्ध बहुत-कुछ १९१८ और १९२५ के बीच के कैंटन और पेकिंग के सम्बन्धों जैसे थे।

दूसरा दल जो नानकिंग का प्रभुत्व नहीं मानता था, साम्यवादी दल था, जिसके लिए लिटन आयोग ने १९३२ में कहा था कि राष्ट्रीय सरकार का असली प्रतिद्वंदी यही है। इसने नानकिंग शासन का विरोध कैंटन-शासन की तुलना में अधिक सीधे और सैद्धान्तिक स्तर पर किया। कैटन शासन तो इनकी तुलना में कमोवेश राष्ट्रीय सरकार के साथ कभी समझौता करके या कभी समझौते के बाहर रहता आया था। साम्यवादियों के अधिकार में १९३२ में लगभग ३,३०,००० वर्ग मील का क्षेत्र आता था और यह क्षेत्र पूरे चीन का लगभग छठवाँ अंश था। इस क्षेत्र की आबादी लगभग ९ करोड़[१२] थी। इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार के अधिकार के अन्दर पूरे चीन में एकता स्थापित करने की दिशा में साम्यवादी दल सबसे बड़ी अड़चन था।

पहले ही कहा जा चुका है कि साम्यवाद के अस्तित्व का ही प्रश्न था, जिसको च्यांग-काई-शेक ने मंचूरिया में जापान का विरोध न करने या शंघाई की घटना के सम्बन्ध में अपनी नीति का औचित्य सिद्ध करने का एक बहाना बना रखा था। जब मंचूरिया में उनके शासनगत क्षेत्र में आन्दोलन शुरू हुआ, तो इस बात की बड़ी कोशिश की गयी कि उस क्षेत्र में बने हुए चीनी सोवियत-समर्थकों को समाप्त किया जाय और यह कोशिश बाद में भी चलती रही। सच पूछिए तो च्यांग-काई-शेक और जापानियों के बीच इसी साम्यवादी विरोधी भावना के कारण समझौते का एक आधार भी बना और इसी कारण जापान की विस्तारवादी नीति के विरुद्ध चीन की रोक-थाम में कमी भी आयी। च्यांग-काई-शेक ने उस समय यही कहा कि चीन के विकास की दिशा में सबसे पहली बाधा हैं साम्यवादी, जिन्होंने अपना ध्यान और शक्ति जापान के विरुद्ध चलनेवाली निराशाजनक लड़ाई की ओर लगाने से इनकार कर दिया है।

१९३३ तक क्यांगसी प्रदेश, जिसके सम्बन्ध में कहा गया था कि वहाँ सोवियत सरकार स्थापित हो गयी है, साम्यवादियों को निकालने के लिए च्यांग-काई-शेक ने वहाँ चार हमले किये, लेकिन चारो में वे असफल रहे। इसके बदले १९३३ के अंत तक ऐसा लगने लगा कि क्यांगसी सोवियत शासन द्वारा समर्थित १९वीं रूट सेना[१३] के विद्रोह के कारण कहीं कूकिन प्रदेश भी सोवियत शासन में शामिल न हो जाय। लेकिन क्यांगसी और कूकिन प्रदेशों का यह गठबन्धन अपने देश में सफल नहीं हो सका, कूकिन प्रदेश

अंत तक केन्द्रीय शासन के प्रभाव-क्षेत्र से अलग नहीं किया जा सका। इसके बदले इस प्रदेश को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने में केन्द्रीय शासन को नयी सफलता मिलने लगी। इन दोनों प्रदेशों में स्वतंत्र होने के लिए विद्रोह हुआ था और उसी समय हुआ था जब कि च्यांग-काई-शेक की सेनाएँ क्यांगसी प्रदेश में लाल खतरा दूर करने के लिए छठवाँ हमला कर रही थीं। विद्रोह दबा दिये जाने के बाद च्यांग-काई-शेक को अपने देश में कुछ देर तक सफलता भी मिली, लेकिन पूरी सफलता १९३४—३५ तक मिली और वह भी सीधे सैनिक आक्रमण से नहीं, बल्कि कुछ और तरीकों को अपनाने से मिली। यह नया तरीका चीन को एक करने के आन्दोलन की शैली में एक परिवर्तन का द्योतक है और इसी कारण उसका महत्त्व भी था। नानकिंग शासन ने यह स्पष्ट देख लिया कि अपनी शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उन क्षेत्रों में धीरे-धीरे बढ़ा जाय और एक बहुत-बड़े क्षेत्र पर नाम मात्र का अधिकार रखने के मुकाबले छोटे-छोटे क्षेत्रों पर अधिकार करके वहाँ अपनी स्थिति काफी दृढ़ करने के बाद दूसरे क्षेत्र में बढ़ा जाय। इस बीच सैनिक दबाव के साथ-साथ राजनीतिक तरीके भी काम में लाये जायँ। इनमें से कुछ तरीके ऐसे थे, जिनको कुमितांग की राजनीति को गठित करने के समय काम में लाया गया था।

जो तरीके काम में लाये गये, वे इस प्रकार थे :

(१) नीली-कुर्ती दल का संगठन—यह एक आतंकवादी दल था और बहुत-कुछ नाजी ढाँचे पर बनाया गया था। इसका उपयोग नानकिंग शासन की नीति से हटने वाले लोगों को दबाने और कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता था।

(२) राजकीय सेनाओं का राजनीतिक प्रशिक्षण।

(३) युद्ध से प्रभावित साम्यवादियों के प्रभाव में आनेवाले क्षेत्रों में पूँजीपतियों और जागीरदारों का संगठन—यह ऐसा संगठन था, जो सेना के बाकी काम को पूरा करने के लिए बनाया गया था।

(४) विस्तृत आर्थिक और सामाजिक सुधार, जो साम्यवादी आन्दोलन के मूल कारणों को दूर कर सकें।

(५) नवजीवन आन्दोलन—यह आन्दोलन नये चीनियों—विशेष रूप से युवकों में भावनात्मक गौरव, परम्परागत एवं सांस्कृतिक महत्त्वों की भावना जागृत करने के प्रयत्न के रूप में चलाया गया। इन योजनाओं का प्रभाव काफी दूर तक पड़नेवाला था। इनसे नानकिंग द्वारा शासित प्रदेशों में सभी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का गहरा दमन करना था और इसमें शिक्षा और

साहित्य को भी सन्निहित किया गया था, जिसका मतलब यह था कि कनफ्यूशस के आदर्शों तथा प्राचीन परम्पराओं की ओर देश को पुनः प्रेरित किया जाय। यदि देश स्वेच्छा से जाय तो ठीक, नहीं तो आवश्यकता पड़ने पर इसके लिए शक्ति का भी प्रयोग किया जाय।[१६]

यह स्पष्ट है कि ये तरीके साम्यवादियों द्वारा मुक्त किये गये क्षेत्रों तथा उसके अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी च्यांग-काई-शक की स्थिति मजबूत करने के लिए काम में लाये जा रहे थे। सेनाएँ जब आगे बढ़ जाती थीं, तो वे ये तरीके नये नियंत्रित किये गये क्षेत्रों में अपनी स्थिति दृढ़ रखने के लिए काम में लाये जाते थे, क्योंकि ऐसा होता था कि जिस क्षेत्र से सेनाएँ जीत कर आगे निकल जाती थीं, वहाँ पीछे-पीछे साम्राज्यवादी भी चले आते थे और अपना काम शुरू कर देते थे और उन्हें इस प्रयत्न में बराबर जनता की स्वीकृति मिलती थी।

नीली-कुर्ती दल की गतिविधियों के संचालन तथा सेनाओं के प्रशिक्षण की पद्धति के अलावा, इस दिशा में जो भी काम किये गये, वे बाद की स्थिति को दृढ़ करने के तरीके थे। उन्हें सफल बनाने के लिए अर्थ और सेना के दबावों का उपयोग किया गया। साम्यवादी क्षेत्रों के चारो तरफ आर्थिक घेराबन्दी की गयी, नये क्षेत्रों में सेनाओं के आवागमन के लिए मोटर की सड़कें बनायी गयीं और सोवियत सरकार की मदद से सामाजिक क्षेत्रों में जो उद्योग आदि बनाये गये थे, उन्हें बम-वर्षा करके ध्वस्त कर दिया गया। सेना की प्रगति यों धीमी थी, क्योंकि जब एक बार सेना के बढ़ जाने के बाद क्षेत्र पूरी तरह से अपने प्रभाव में आ जाया करता था, तभी सेनाएँ आगे बढ़ जाया करती थीं और ये तरीके उन तरीकों से अलग थे, जिनमें साम्यवादी क्षेत्रों में काफी दूर तक सेनाएँ चली जाती थीं और लम्बे हमले किया करती थीं।

१९३४ के अन्त तक कम्यूनिस्टों को, कियांगसी को, अपना मुख्य गढ़ खाली कर देने के लिए बाध्य होना पड़ा और उन्हें शीघ्रता के साथ पड़ोस के क्षेत्रों में जाने से भी रोका गया, लेकिन उन्हें इससे भी समाप्त नहीं किया जा सका और यहीं आकर सरकारी नीति असफल हो गयी। यों साम्यवादी च्यांग-काई-शेक द्वारा भेजी गयी सेनाओं का सीधा मुकाबला नहीं कर सकते थे, लेकिन वे पश्चिम की तरफ से च्यांग-काई-शेक द्वारा लगाये गये घेरे को तोड़ने में सफल हो गये। इसका एक कारण तो यह था कि इधर घेरा डालनेवाली सेनाएँ प्रादेशिक टुकड़ियों की थीं। वे कम शस्त्र-सुसज्जित थीं, उनका प्रशिक्षण भी उतना नहीं हुआ था और सैनिक अधिकारियों का स्तर भी च्यांग-काई-शेक की अपनी सेना के मुकाबले में नीचा था। साथ ही नानकिंग और कैंटन के अधिकारियों में सहयोग भी बीच में ही टूट गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि लाल सेनाएँ कई प्रकार की

घुसपैठ और अन्य तरीकों का उपयोग करके क्विचाऊ-सुचांग-हूनान के सीमागत क्षेत्रों में, जहाँ कि पहले से ही साम्यवादी प्रभाव था, घुसने में समर्थ हो गयीं। इस प्रकार सिचमान, शैंसी और कांसू के साम्यवादी प्रभावित क्षेत्रों से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। फल यह हुआ कि सरकार की यह विजय, लाल-सेनाओं को चीन से समाप्त करने में सफल होने की जगह, उन्हें नानकिंग प्रभावित क्षेत्रों से हटा कर उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों में ठेल ले गयी, जहाँ सोवियत रूस से वे और आसानी से सम्बन्ध स्थापित कर सकें। वहाँ रहकर वे जापान के लिए भी उलझन पैदा कर सकती थीं, क्योंकि अब वे उन क्षेत्रों के सीधे सम्पर्क में थे, जिस पर हाल में ही जापान ने अपना प्रभाव स्थापित किया था। यह बाद का सम्बन्ध इस समय विशेष करके अधिक महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि साम्यवादी नेताओं ने चीन में साम्यवाद फैलाने के इरादे के मुकाबले जापान के विरुद्ध चीन की रक्षा के प्रश्न को अधिक महत्त्व देना शुरू कर दिया था। इसलिए १९३५ में, उत्तरी चीन में जापानी बढ़ाव से ज्योंही नयी परिस्थितियाँ पैदा हुई, उनका मुकाबला करने के लिए राजनीतिक संतुलन में एक नया तत्त्व और शामिल हो गया। साम्यवादियों द्वारा चीन की एकता के लिए जापान-विरोधी स्वरूप अपनाये जाने के बाद और उन उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में एक आधार बना लेने के बाद, जिन पर कि जापान अधिकार कर लेना चाहता था, जापानियों की वितृष्णा साम्यवाद की तरफ और उभर कर सामने आयी। इसका सीधा असर हिरोटा के तीन सूत्रों में से तीसरे पर पड़ा और इसे आधार बनाकर जर्मन-जापान-कुमितांग-विरोधी समझौते का स्वरूप इसी के चलते समय सामने आया, लेकिन साम्यवाद के पक्ष में इस वितृष्णा के चलते उसके लिए यह मुश्किल हो गया कि वह उत्तर के असैनिकीकृत क्षेत्रों में साम्यवादियों के दमन के लिए बढ़ने वाली च्यांग-काई-शेक की सेनाओं को रोक सके। इसका परिणाम यह हुआ कि यों तो १९३६ के अंत तक साम्यवादी उत्तर-पश्चिम में पूरी तरह स्थापित हो गये, लेकिन उनकी इस उपस्थिति से उत्तर-में च्यांग-काई-शेक की शक्ति भी मजबूत हुई, क्योंकि उन्हें इसी बहाने अपनी सेनाओं और सेना-अधिकारियों को उत्तर में भेजने का अवसर प्राप्त हो गया। यह बराबर बना रहने वाला साम्यवाद का खतरा च्यांग-काई-शेक के लिए एक प्रकार से और भी काम आया। उन्हें जापान के साथ सम्बन्ध सँभाल कर रहने का भी बहाना मिल गया और इसी के नाते वे दोनों देशों के बीच उठने वाले बड़े प्रश्नों के संदर्भ में जापान की शर्तों को विना पूरी तरह माने ही किसी तरह सम्बन्ध निबाहने में सफल हो गये।

दूसरा लाभ च्यांग-काई-शेक को यह भी हुआ कि इसी बहाने उन्हें सिचुआन प्रदेश में नानकिंग शासन को मजबूत करने का मौका मिल गया। यह तब हुआ जब साम्यवादियों के लम्बे धावे के भय से घबरा कर उस क्षेत्र के अधिकारियों ने च्यांग-काई-शेक

से आर्थिक और सैनिक सहायता की माँग करनी शुरू की। यह सहायता उन्हें इसी शर्त पर दी गयी कि वे नानकिंग शासन की अधीनता में आवें और दोनों प्रदेशों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो। युन्नान और विशाऊ प्रदेशों से भी यही माँग आयी और उनके साथ भी यही हुआ। इस प्रकार केवल क्वांतुंग और क्वांगसी प्रदेशों को छोड़कर यांग-टिसी-क्यांग के दक्षिण के क्षेत्र में नानकिंग शासन का प्रभुत्व पूरी तरह फैल गया और सिचुवान में केवल नीचीन सोवियतों को छोड़ कर और भागों में भी केन्द्रीय शासन का प्रभाव उसी तरह स्थापित हो गया।

(७) चीन का आर्थिक दृष्टि से पुनर्निर्माण

राजनीतिक दृष्टि से पूरे चीन को एक करने में जो बाहरी समस्या चीनी शासन को परेशान किये हुए थी, वह आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या थी। इस विवेच्य समय में इस दिशा में थोड़ी प्रगति अवश्य हुई थी, लेकिन यदि इस दिशा में ज्यादा अधिक काम नहीं हुआ, तो इसका कारण यही था कि शासन इस बीच अपने प्रभाव का क्षेत्र बढ़ाने और दृढ़ करने में लगा हुआ था और उसे अपना अधिक से अधिक धन युद्ध सम्बन्धी समस्याओं पर लगाना पड़ता था।

इस दिशा में निर्माण के कार्यों की तरफ विशेष ध्यान देने में असफल रहने के और कारण भी थे। एक कारण यह था कि मंचूरिया और जोहोल के नानकिंग शासन से बाहर चले जाने और फिर उत्तरी प्रदेशों में चुंगी की वसूली न कर पाने से चीनी अर्थ-स्थिति को गहरा धक्का लगा। इधर नानकिंग-शासन द्वारा शासित प्रदेशों में बार-बार बाढ़ आने और सूखा पड़ने के कारण भी स्थिति खराब होती गयी। फिर चीन और भी रोज गिरावट और मंदी से भी प्रभावित हुआ। इस मंदी में सबसे अधिक नुक-सान सूती वस्त्र-उद्योग को हुआ। १९३४ में विदेशी व्यापार भी गिरा। इस दिशा में १९३३ के स्तर से आयात में एक तिहाई तथा निर्यात में आठवें अंश की गिरावट आयी तथा रूई और रेशम ऐसी दो प्रधान पैदावारों में ५० प्रतिशत तक की कमी हो गयी।[१५]

जून, १९३४ के बाद संयुक्त राष्ट्र अमेरिका द्वारा निर्धारित नीति के कारण भी चीन पर गहरा असर पड़ा। आयात और निर्यात दोनों ही तेजी से गिरे और यह गिरा-वट आशा के प्रतिकूल हुई। चाँदी के मूल्य के बढ़ने के कारण यह दुर्भाग्य झेलना पड़ा। बाहर के बढ़ते हुए मूल्यों का मुकाबला करने के लिए चीन के भीतर जो कुछ भी सुरक्षित चाँदी का आधार था, वह तेजी से बाहर जाने लगा। अमेरिका से नीति बदलने के लिए बराबर माँग की गयी, लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। अन्त में ४ नवम्बर, १९३५ को चीन को बाध्य होकर चाँदी का स्तर छोड़ना पड़ा और देश में विशेष रूप से नयी मुद्रा

चलानी पड़ी। चाँदी का धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण किया गया और कागजी मुद्रा प्रचलित करने का अधिकार विशेष रूप से केवल तीन शासनों द्वारा नियंत्रित संगठनों को दिया गया। ये थे 'सेंट्रल बैंक आफ चाइना", "दि बैंक आफ चाइना" तथा "दि बैंक आफ कम्यूनिकेशंस"। इनमें से पहला बैंक अपनी स्थापना के दिन से ही सरकार के नियंत्रण में था। बाकी दो में भी सरकारी धन का अंश बढ़ाया गया और वे और भी अधिक प्रभाव में लाये गये और इन माध्यमों से देश में प्रचलित मुद्रा का पूरा उत्तरदायित्व शासन के अधिकार में आ गया।

भीतरी युद्ध की बाधाओं के बाद भी आर्थिक गिरावट, मुद्रा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव आदि होने के बाद भी १९३४–३५ के बीच नानकिंग शासन ने कुछ ऐसे काम किये, जिनके लिए उसकी प्रशंसा की जा सकती है। यह कार्य विशेष कर आवागमन और यातायात के क्षेत्र में हुआ। नये रेल रास्तों के निर्माण का काम किया गया और कुछ पुराने कार्यों को भी पूरा किया गया। मोटर चलने लायक सड़कों को पूरे देश में फैलाया गया, हवाई पट्टियाँ और हवाई रास्ते भी विस्तृत किये गये। रेडियो द्वारा वार्ता-वहन के साधन भी बढ़ाये गये।

कृषि-सहकारी-समितियों का संगठन भी आगे बढ़ाया गया। यह कार्य राष्ट्रीय सरकार द्वारा सत्ता-ग्रहण करने के पहले से ही चल रहा था, जिसे और दृढ़ किया गया। इसके लिए १९३४ में एक विधेयक भी पास किया गया[१६]। इसका परिणाम यह हुआ कि सहकारी समितियों की संख्या १९३४ में १४,६४९ हो गयी और उनकी कुल सदस्य-संख्या ५,५७,५२१ हो गयी। इन सहकारी समितियों का सबसे प्रमुख काम था गाँवों में ऋण देना। इन समितियों ने साम्यवादी प्रभाव से छूट हुए क्षेत्र में सरकार को दृढ़ करने में बड़ी सहायता की। इस कार्य में समितियों को रूरल फाइनेंस रिलीफ ब्यूरो (१९३२ में स्थापित) और हांगकांग के चार प्रदेशों के कृषि बैंकों से बड़ी सहायता मिली। इससे राष्ट्रीय शासन की इस इच्छा का पता लगता है कि वह किसानों की दशा सुधारना चाहता था, लेकिन यह कार्य अभी प्रारंभिक अवस्था में था, गोकि यह धारणा बन गयी थी कि यदि शासन सैनिक शक्ति की तुलना में जनमत पर भरोसा करता है, तो इस काम में अधिक तेजी लानी चाहिए। यह भी सोचा गया था कि यही सिद्धान्त पुनर्निर्माण के और पक्षों में भी काम में लाया जाना चाहिए।

जहाँ तक उद्योगों का सम्बन्ध है, उनमें व्यक्तिगत प्रयत्नों से उल्लेखनीय प्रगति हुई। औद्योगिक प्रगति से सरकार का क्या सम्बन्ध था, उसका पता शुल्क-दर के नियंत्रण से लगता है। जब स्वायत्त शासन स्थापित हुआ, यह सोचा गया कि संरक्षण के ख्याल से शुल्क-दर का उपयोग किया गया था, लेकिन जापान के बराबर विरोध करने से

इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली। इस प्रकार केवल अमेरिका और ब्रिटेन के अभ्यातों में ही शुल्क-दर का उपयोग किया जा सका, सो भी बहुत थोड़ी सीमा तक और वह भी केवल नानकिंग शासित प्रदेशों में, जहाँ उनकी स्पर्धा जापानी माल से थी। जैसा कि पहले कहा गया है, उत्तर में चीन के इस रुख से विदेशों ने जापान को विरोध-पत्र[१७] भी दिया। अन्ततः जापानी शासन ने अपने को उत्तरदायित्व से मुक्त घोषित किया और उसके साथ ही तस्कर व्यापार के सम्बन्ध में चीन की नीति का विरोध करने की दृष्टि से शुल्क-दर के स्तर में और कमी की माँग की।[१८]

१९३५–३६ के बीच जापान का पुनः दवाव बढ़ने के कारण कुछ ऐसे भी परिणाम हुए, जिनका अनुमान शुरू में नहीं लगाया गया था। इनसे न केवल उत्तर में जापान के विरुद्ध भावना दृढ़ हुई, बल्कि पूरे चीन में विशेषतः विद्यार्थियों में, जो विरोधी भावना बढ़ी, उसने च्यांग-काई-शेक को जापानी बढ़ाव का सामना करने के लिए बाध्य किया। इसके साथ नानकिंग और कैंटन के शासनों में चलने वाले अब तक के सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुए।

(८) नानकिंग और कैंटन के सम्बन्ध (१९३३–१९३६)

जैसा कि पहले कहा गया है कि नानकिंग शासन काफी हद तक क्वांतुंग और क्वांगसी प्रदेशों पर प्रभावकारी शासन स्थापित करने में समर्थ नहीं आ, इसलिए उनके सम्बन्धों को अस्थायी समझौते की तरह माना जा सकता है। इनका सबसे बड़ा कारण था च्यांग-काई-शेक का बढ़ता हुआ व्यक्तिगत प्रभाव। उनके समर्थक केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति में भरे हुए थे और वही उनकी नीतियाँ निर्धारित करते थे। इसके माध्यम से वे दल पर भी शासन करते थे। इसलिए कैंटन के लोगों के लिए दल के संगठन के माध्यम से राष्ट्रीय नीतियों पर अपना प्रभाव रखने में सफलता प्राप्त करना कठिन था। इसीलिए दल का अधिवेशन बराबर टलता जाता था और ऐसी स्थिति आयी कि १९३३ के बाद कोई अधिवेशन हुआ ही नहीं।

दल का राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाने में असमर्थ होने पर वैधानिक शासन की स्थापना करने का प्रयत्न भी किया गया। १९३४ में संविधान का एक मसौदा बनाया गया और विचार-विमर्श के लिए वह एक विशेष समिति को सौंपा गया। यह बाद में नवम्बर १९३५ में होनेवाली राष्ट्रीय कांग्रेस के समय रखा जाने वाला था। यह कांग्रेस फिर टल गयी, फिर भी केन्द्रीय कार्यकारिणी ने इसको स्वीकृत कर लिया और इस मसौदे को १९३६ में कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत करने का निश्चय किया गया।

कैंटन के नेता च्यांग-काई-शेक के इसलिए और विरोधी थे कि मंचूरिया के संकट के समय वे जापान का मुकाबला करने में असमर्थ रहे। सितम्बर १९३४ में दक्षिण के

कुछ नेताओं ने एक गश्ती तार में चलने वाले हस्ताक्षर-अभियान म सहयोग किया, जिसमें राष्ट्रीय नीति में परिवर्तन की माँग की गयी थी और च्यांग-काई-शेक की यह शिकायत की गयी थी कि १९३१ में जापान के सम्बन्ध में जो निर्णय कांग्रेस ने लिय थ, उनका उन्होंने पालन नहीं किया। न केवल सैनिक प्रतिरोध का प्रयत्न किया गया, बल्कि इस दिशा में और भी कितने ही प्रमाण मिले, जिनसे सिद्ध होता था कि च्यांग-काई-शेक कांग्रेस के आदेशों को मानने के लिए बराबर इच्छुक रहे।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं नानकिंग-शासन भी इस प्रश्न पर एकमत नहीं था। वित्तमंत्री वी-सुँग ने जापान का प्रतिरोध किये जाने पर ही सरकार से इस्तीफा दिया था। उनके अलावा और भी कितने ही प्रसिद्ध दार्शनिकों और साम्यवादियों ने, जिनमें हूं-सिग आदि भी थे, ऐसी किसी सरकार का समर्थन नहीं कर रहे थे, जो किसी देश से सरकार को बचाने का प्रयत्न नहीं करती।

नानकिंग में तथा नानकिंग शासित प्रदेशों में यह भावना वर्तमान थी, इसलिए कैंटन के नेताओं ने सोचा था कि इसके माध्यम से च्यांग-काई-शेक की बढ़ती हुई शक्ति को वे एक धक्का दे सकेंगे। वे सोच रहे थे कि यदि, वे इस दबाव से प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी सेनाओं को जापान की ओर लगा दिया, तो उनकी शक्ति निश्चित रूप से भीतरी प्रदेशों में कमजोर हो जायगी। इस पर भी अगर शत्रु का मुकाबला करने की जगह देश के भीतर अपनी शक्ति मजबूत करने के ही फेर में लगे रहे, तो उन्हें जनमत तथा कैंटन और क्वांगसी की सेनाओं के सम्मिलित प्रयत्न से उखाड़ फेंका जा सकता था।

इधर जापानी अपना दबाव १९३६ के अन्त में फ़िर बढ़ाने लग गये थे। इसी समय दक्षिणी सेनाओं ने च्यांग-काई-शेक से माँग की कि वे उत्तर में जापान का दबाव रोकने के लिए दक्षिणी सेनाओं से सहयोग करें। इस प्रकार उनका प्रभाव उत्तर से दक्षिण चीन की तरफ घूम गया और जापान से कैंटन की ओर लोगों का ध्यान चला गया। कुछ सप्ताह तक यह लगा कि बड़े पैमाने पर गृह-युद्ध छिड़ जायगा, क्योंकि च्यांग-काई-शेक का कहना था कि यदि दक्षिण की सेनाएँ उत्तर में बढ़ीं, तो वे उनकी गति को रोकेंगे, लेकिन दक्षिण प्रदेशों का विद्रोह बिना किसी विशेष संघर्ष के ही असफल हो गया। च्यांग-काई-शेक स्वयं कैंटन गये और उन्होंने वहाँ की सेना और शासन को पुनः संगठित किया। नानकिंग से भेजे गये अधिकारी महत्त्वपूर्ण जगहों पर लगाये गये और नानकिंग के बीच एक ही कारण के लिए आर्थिक सुधार किया गया। सितम्बर तक क्वांगसी के सैनिक अधिकारियों से भी समझौता हो गया, जिसमें यद्यपि क्वांतुंग को अधिक स्वतंत्रता दी गयी, लेकिन फिर भी वे च्यांग-काई-शेक से अधिक निकट लाये गये और उनकी सेनाएँ राष्ट्रीय सेना का अंग बना ली गयीं।

(९) च्यांग-काई-शेक और साम्यवादी

दक्षिण-पश्चिमी प्रादेशिक शासनों के समाप्त किये जाने के बाद पूरे देश के एकीकरण के रास्ते में केवल दो अड़चनें रह गयीं—एक तो जापान की स्थिति और उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में उसकी नीति इसमें सबसे बड़ी बाधा थी और दूसरी बाधा थी शैंशी-कांशू सीमागत क्षेत्रों में साम्यवादी शक्तियों का जोर पकड़ लेना। उस क्षेत्र में उस तरह की लाल सेनाएँ आकर इकट्ठी हो गयी थीं, जिनसे वहाँ न केवल एक सोवियत शासन बन गया था, वरन् शैंशी और सुयान प्रदेश में वह धीरे-धीरे बढ़ भी रहा था। च्यांग-काई-शेक ने उनके विरुद्ध सेनाएँ भेज रखी थीं। चांग-शू-लियांग राजकीय सेनाओं के अधिकारी थे और ये सेनाएँ अधिकतर पुरानी मंचूरिया की उन सेनाओं की शेषांश थीं, जिन्हें जापानियों ने उनके अपने प्रदेश से और फिर उत्तर चीन से १९३३ में भगा दिया था। पिछले अनुभवों के कारण और भविष्य के प्रति सजग होने के कारण ये सेनाएँ जापान विरोधी प्रचार में ज्यादा रुचि लेती थीं। इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है, क्योंकि अपने नये कार्य में वे उन्हीं क्षेत्रों में मिलाये गये थे, जहाँ जापानी कार्रवाइयाँ हो रही थीं। यहाँ उन्हें लाल सेनाओं से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा, जिसके नेता जापान-विरोधी प्रचार में अधिक जोर-शोर से लगे हुए थे।

१९३५ के अन्त में माओत्से-तुंग, चूतेह, चाऊ-एन-लाई तथा और साम्यवादी नेताओं ने अपने प्रभावित क्षेत्रों तथा अपने प्रभाव के बाहर भी लम्बे धावे के समय पहले के सूत्रों के अलावा दूसरे सूत्रों पर भी जोर डालना शुरू कर दिया था। वे इस प्रयत्न में थे कि कुमिंतांग के साथ एकता स्थापित करने के बदले इस प्रकार के प्रयत्न से जापान के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाय। चीन की केन्द्रीय सरकार के अध्यक्ष माओत्से तुंग ने १९३६ में अपनी नीति इस प्रकार स्पष्ट की—

१—विदेशी आक्रमण का मुकाबला करना,

२—जनता को अधिक अधिकार देना, और

३—देश की अर्थ-स्थिति विकसित करना और किसानों को राहत देना।"

इस सम्बन्ध में उनका मत था कि खेती का स्तर बुर्जुवा-पद्धति पर आधृत है और इससे केवल पूंजीवाद को मदद मिलेगी। उनका कहना था कि हम चीन में पूँजीवाद के विकास के विरोधी नहीं हैं, लेकिन साम्राज्यवाद के विरोधी अवश्य हैं। इस सिद्धान्त से देश की सभी जनतांत्रिक शक्तियों की माँग पूरी हो जाती है और इस प्रकार हम सब लोगों से मिल कर पूरी शक्ति से देश की रक्षा करेंगे।

इसीलिए जब चीनी साम्यवादी सेनाओं का मुकाबला राजकीय सेनाओं से हुआ, तो साम्यवादियों ने पूछना शुरू किया कि वे लोग आपस में क्यों लड़ रहे हैं, जब कि उनकी सम्मिलित शक्ति को जापानियों के विरुद्ध लगना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी सेनाओं में भी असंतोष बढ़ गया। उन्हें लगा कि राजकीय नीति यह है कि वह देश की सुरक्षा को साम्यवादियों के समाप्त किये जाने के मुकाबले कम महत्त्व देते हैं। परिणामस्वरूप लाल सेना के विरुद्ध किये गये सैनिक अभियान में कोई जान नहीं रह गयी। १९३६ के अन्त तक युद्ध-क्षेत्र न केवल जहाँ का तहाँ स्थिर हो गया, बल्कि दोनों ओर की सेनाओं के सैनिकों में काफी हद तक भाई-चारा भी स्थापित हो गया। इससे साम्यवाद विरोधी अभियान लेकर गयी सेनाओं के बीच में असंतोष बढ़ा।

इस असंतोष का समाचार च्यांग-चाई-शेक को भी मिला और वह उड़कर वहाँ गये भी, लेकिन उन्होंने अपनी नीति बदलने से अब भी इनकार किया और इस असंतोष को कुछ महत्त्व भी नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब वह दिसम्बर में सियान लौटे, उनके अपने ही सहकारियों ने उन्हें एक तरह से अपहृत कर दिया। जिन लोगों ने उन्हें अपहृत किया था, उन लोगों पर भी उनके सहकारियों का बड़ा दबाव था। यह उचित तरीका इसलिए अपनाया गया था कि उससे च्यांग-काई-शेक अपनी नीति में परिवर्तन करें और इस दिशा में वह सैनिक अधिनायकवाद के मुकाबले अधिक प्रजातांत्रिक तरीके अपनायें और कम्युनिस्टों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाना स्वीकार कर जापान के विरुद्ध अभियान करने में शीघ्रता करें।

च्यांग-काई-शेक १२ दिसम्बर को पकड़े गये थे और १[illegible] दिसम्बर को छोड़े गये। इस बीच न केवल चीन, बल्कि पूरे विश्व का ध्यान सियान में होनेवाले इस विचित्र नाटक की ओर खिंच गया। नानकिंग शासन ने सियान पर सैनिक और हवाई हमले की कार्रवाई की धमकी दी। यों इसका परिणाम यह होता कि च्यांग-काई-शेक की मृत्यु हो जाती। इस प्रकार उनको गिरफ्तार करने वाले लोग और जो लोग उनको चिढ़ाना चाहते थे, उनकी नीति के कारण च्यांग के जीवन को खतरा अवश्य पैदा हो गया था, फिर भी उनका व्यक्तिगत सम्मान इतना था और उसके साथ ही उनकी पत्नी और उनके भाई और अन्य संरक्षक इतने प्रभावशाली थे कि जब सियान में च्यांग-काई-शेक से इन लोगों ने भेंट की, तो उनके आदेशों का पालन नानकिंग शासन ने तब भी किया और विरोधी हमले की कार्रवाई रोक दी गयी। इस प्रकार बंदी होते हुए भी नानकिंग शासन पर अपना अधिकार बनाये रखने में वे समर्थ थे। अब प्रश्न यह था कि उनको छोड़ा कैसे जाय, क्योंकि इसके बाद जिन लोगों ने उन्हें गिरफ्तार किया था, उनके लिए भी कई खतरे खड़े हो सकते थे और उनके साथ ही प्रधान सेनाध्यक्ष और शासन के प्रधान की

प्रतिष्ठा का भी प्रश्न था। च्यांग-काई-शेक की नीति इस सम्बन्ध में बड़ी साफ थी। उनका कहना था कि इस सम्बन्ध में समझौते की कोई बात ही नहीं है। या तो जिन लोगों ने उन्हें पकड़ा है, वे उनके सहायक हैं और उन्हें इस कार्य के लिए जो फल मिले वह भोगना चाहिए या फिर वे उन्हें केवल कैदी समझें और कुछ नहीं। ऐसी हालत में अच्छा हो कि वे उन्हें मार डालें, क्योंकि वे अपने सहायकों से समझौते की बात नहीं कर सकते।

लेकिन च्यांग-काई-शेक का यह कड़ा रुख, उनकी पत्नी मैडम च्यांग-काई-शेक, टी-बी-सुंग और विदेशी सलाहकार बी-एच-डोनाल्ड के सियान पहुँचने के बाद थोड़ा नर्म हुआ। उन्हें च्यांग की बात सुननी पड़ी और साम्यवादी नेता चाऊ-एन-लाई का पक्ष भी समझना पड़ा। फिर भी, उन्होंने लिखकर कोई स्वीकृति देने से इनकार किया। बाद में बिना किसी खास स्पष्ट समझौते के उनको मुक्ति मिल गयी। च्यांग शू लियांग ने यह निर्णय च्यांग-काई-शेक का दौरे पड़ने के बाद लिया था। उस दौरे के पड़ने से पता लगा था कि इस दिशा में नयी नीतियाँ बनायी जा सकती हैं और इस समस्या का निराकरण किया जा सकता है। उनको मुक्त करने में साम्यवादियों का यह कहना भी काम आया कि यदि च्यांग-काई-शेक छोड़े नहीं जाते, तो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी होगी, जिससे जापानी विरोधी लोक-प्रिय मोर्चे का एक अत्यन्त आवश्यक नेता समाप्त हो जायगा।

च्यांग-काई-शेक को नानकिंग भेज दिया गया। उनको गिरफ्तार करनेवाले च्यांग-शू-लियांग को इस कार्य के लिए बाद में एक सामान्य-सा दण्ड भी दिया गया, जो बाद में माफ भी कर दिया गया। बाद में कुमितांग की कार्यकारिणी के सामने विद्रोहियों का आठ सूत्रों का कार्यक्रम विचार-विमर्श के लिए रखा गया, लेकिन कार्यकारिणी ने विरोधी तरीके से रखे जाने के कारण उनपर विचार नहीं किया। च्यांग-काई-शेक ने इस सारी घटना का उत्तरदायित्व खुद लेते हुए अपनी व्यक्तिगत असमर्थता के कारण सभी पदों से त्यागपत्र दे दिया। उस समय यह स्वीकृत नहीं हुआ कि गिरफ्तारी के समय भागने की कोशिशों के कारण उन्हें लगे घावों को ठीक करने के लिए कुछ दिनों के लिए अवकाश दे दिया जाय।

इस सम्बन्ध में यह सोचना ठीक नहीं होगा कि सियांग की घटना का केवल साधारण महत्त्व था। इस घटना से पूरे देश में च्यांग-काई-शेक को गिरफ्तार करनेवालों के प्रति जो विरोधी प्रतिक्रिया हुई, उसके कारण नानकिंग में च्यांग-काई-शेक के विरोधियों को उनके विरुद्ध कोई लाभ नहीं मिला। इस घटना से पता लगता है कि चीन को एक करने का कार्यक्रम किस हद तक मजबूत हो गया था, क्योंकि बीच में उनके न रहते समय

में किसी भी प्रादेशिक सैनिक अधिकारी ने केन्द्रीय सरकार से अलग होने का साहस नहीं दिखाया और इससे कुमिंतांग और साम्यवादियों में एक स्वेच्छा-समझौता भी हो गया। समझौते चलते रहे और दोनों पक्ष धीरे-धीरे एक सामान्य रास्ते पर आने के लिए तैयार हो गये। गृह-युद्ध के रुख तक की स्थिति उत्पन्न हो गयी और सच मानिये तो ७ जुलाई १९३७ में जब लुकाशियों की घटना घटी और जापान ने युद्ध की धमकी दी, उस समय तक लगभग गृह-युद्ध रुक गया था और चीन को एक करने का कार्य लगभग पूरा हो चुका था।

(१०) चीन-जापान के सम्बन्ध—जुलाई १९३६ से १९३७ तक

यह पहले ही कहा जा चुका है कि नानकिंग के विरुद्ध असंतोष के कई कारणों में से एक यह भी था कि नानकिंग-शासन राष्ट्रीय मुक्ति के लिए युद्ध चलाने की जगह जापानी दबावों के लिए रास्ता देने तथा समझौते करने के पक्ष में रहता था। यों कहें कि च्यांग-काई-शेक जापान के साथ किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्ध बनाये रखने की नीति अख्तियार करते थे, जब कि चीनी राष्ट्र भावनात्मक रूप से बड़ी दृढ़ता से जापान-विरोधी होता जा रहा था। यह बात दक्षिण-पश्चिमी सरकार के द्वारा भी तब घोषित की गयी थी, जब उसने १९३६ की गर्मियों में नानकिंग शासन के विरुद्ध विद्रोह किया था। तंगपी सेनाओं की साम्यवादियों के विरुद्ध लड़ने की अनिच्छा में भी यही बात देखी जा सकती थी। इन संकेतों के अलावा जनता में भी यह भावना धीरे-धीरे तीव्र होती जा रही थी और इसका प्रमाण इतने रूपों में मिलता था कि यह निश्चित रूप से पूरे राष्ट्र की भावना हो गयी-सी लगती थी।

जापान द्वारा इन जापान-विरोधी प्रश्नों और भावनाओं के, जो बे-सिर-पैर के जवाब दिये जाते थे, उनसे यह भावना और तीव्र होती गयी। उदाहरण के लिए, तीन जापानी मल्लाहों के चीनी बंदूकधारियों द्वारा गोली मारे जाने के विरोध में, जापानी जहाज जो हांगक्यू जिले में शंघाई के पास चढ़ आये थे और उन्होंने जो कुछ दिनों तक वहाँ सैनिक अधिकार बनाये रखा था, उसकी सफाई में उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह इतना बेतरतीब और लीपा-पोती की तरह का था कि उससे पूरे चीन में घृणा की लहर फैल गयी। इसी बीच माँग की गयी कि दोनों देशों के बीच उठने वाली समस्याओं के बीच फैसले किये जायँ और यह बात-चीत च्यांग-काई-शेक के माध्यम से चली, न कि विदेश मंत्री के। ऐसी हालत में च्यांग-काई-शेक को अवकाश से लौट कर अपना काम सँभालना पड़ा। च्यांग-काई-शेक ने यह किया भी और नये जापानी राजदूत से बातचीत भी चलने लगी।

समझौतों के बीच दोनों पक्षों के विरोध धीरे-धीरे कम होने लगे और समझौता निकट आने लगा, लेकिन इसी बीच जापान की सेनाएँ उत्तर में मंचूकुओ-मंगोलिया सेनाओं की सहायता में सीधी बढ़ने लगीं और समझौते पर इसका असर पड़ा। मंचूकुओ-मंगोलिया की सेनाओं को सुयान प्रदेश में चीनियों के साथ झगड़ने में नुकसान उठाना पड़ा। इसी कारण जापान सीधे उनकी सहायता के लिए आगे बढ़ा। चूँकि चीनी सेनाओं को प्रारम्भिक सफलता मिली थी, इसीलिए नानकिंग-शासन जापान को और अधिक सहूलियत देने को तैयार नहीं था। नतीजा यह हुआ कि समझौता नहीं हो सका, जब कि सियान के अपहरण-काण्ड के बाद चीन की नीति में अपनी ओर से परिवर्तन घटित होते रहे।

इसके बाद जापान-चीन सम्बन्धों में थोड़ी शान्ति का समय आया। यह कुछ तो १९३७ में हिरोटा सरकार के हट जाने के कारण हुआ। जापान में भी सरकार की इस बात के विरुद्ध बहुत रोष था कि वह किसी भी तरह समझौते पर पहुँच नहीं पा रही थी। १९३६ के नवम्बर में किये गये कुमिंतांग विरोधी झगड़े का भी जापान में स्वागत नहीं किया गया। यह माना गया कि हिरोटा सरकार ने जापान में संसदीय-पद्धति-विरोधी नाजी शासन की तरफ कदम बढ़ाना शुरू कर दिया है। मंचूरिया और उत्तरी चीन में सैनिक अभियान चलाये जाने के कारण पड़नेवाले आर्थिक बोझ से भी परेशानी बढ़ रही थी। इतना होने पर भी मंत्रिमण्डल का पुनर्गठन सैनिक नेताओं द्वारा ही हुआ, क्योंकि उनके ही विद्रोह के कारण जनरल उगाकी को, जो कि उदार राजनीतिक के रूप में प्रसिद्ध थे, मंत्रिमंडल का निर्माण नहीं करने दिया गया। फिर भी, जो नयी सरकार बनी, वह चीन के सम्बन्ध में अपने पूर्वगामियों से अधिक उदार थी। विदेश-मंत्री सैटो ने अपनी नीति की घोषणा करते हुए कहा कि वे चीन से बराबरी के दर्जे पर समझौता करने के इच्छुक हैं।[२०]

सैटो की नीति किसी दूरगामी महत्त्व की नहीं साबित हुई। यह केवल साँस लेने का इतना समय दे रही थी कि जिसमें चीनी नीति गठित हो जाय और इस बीच इस पर कोई खास जापानी दबाव न पड़े। यह इसी कारण हो सका कि जापान की सैनिक अधिनायकवादी शक्तियाँ घरेलू झगड़ों में लगी हुई थीं, क्योंकि घर में अधिनायकवादी नीतियों का विरोध होने लगा था और विरोधी दल अपना असंतोष व्यक्त करते हुए जापान की तत्कालीन नीति पर विरोध प्रकट कर रहे थे। इस विरोध का मुकाबला करने के लिए सरकार ने डियट के पुनः बुलाये जाने का फैसला किया और चुनाव के लिए ३० अप्रैल, १९३७ की तिथि तय भी कर दी। डियट का पुनर्गठन कुछ नये ढर्रे पर अवश्य हुआ, लेकिन इससे सरकार का कोई लाभ नहीं हुआ। इससे इतना अवश्य हुआ कि सरकार

ने इस्तीफा नहीं दिया और इस्तीफे की तिथि ३१ मई तक टल गयी। उसके बाद राजकुमार कोनी के नेतृत्त्व में एक मिली-जुली सरकार स्थापित हुई। मंत्रि-मंडल ने प्रधान-मंत्री के उत्तरवादी सिद्धान्तों का सहारा लेकर दलों का सहयोग लेने की कोशिश की। उसे जापानी सेना का सहयोग जनरल सुचयामा को युद्ध-मंत्री और एडमिरल यूनाई को जल-सेना मंत्री बनाने से मिल गया। लुकाशियो की दुर्घटना होने के समय, जिसके कारण चीन-जापान युद्ध शुरू हो गया था, यही मंत्रि-मंडल जापान में शासनारूढ़ था।

चौबीसवाँ अध्याय

द्वितीय चीन-जापान-युद्ध

(१) लुकोचियाओ-घटना

एक साधारण घटना से सन् १९३१ के मंचूरिया संकट को उत्तेजना मिली। इससे मंचूकुओ की स्थापना हुई। जापान की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों के संतुलन में इसी के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा चीन के आन्तरिक परिणामों पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस घटना से उत्पन्न स्थिति ने तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मुख्य दुर्बलताओं को प्रकट कर दिया। उसी प्रकार लुकोचियाओपीकिंग के निकट के एक ग्राम की, अपेक्षाकृत एक साधारण घटना के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि तुरन्त चीन तथा जापान में (यद्यपि घोषणा नहीं हुई) और अन्ततः चीन और पश्चिमी राज्यों में युद्ध हो गया। दोनों ही मामलों में प्रस्तुत की हुई स्थितियाँ आकस्मिक न होकर सैद्धान्तिक थीं तथा उनमें दोनों राज्यों के सम्बन्ध का ऐतिहासिक विकास निहित था। इस विकास-सिद्धान्त का वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। अतः इस दृष्टि से अब यह आवश्यक है कि इस झगड़े का, जिसे जापानी चीन का झगड़ा या घटना कहते हैं, तथा चीन, जापान, दक्षिण-पूर्व एशिया, नीदरलैंड द्वीपसमूह, फिलिपाइन तथा पश्चिमी राज्यों पर उसके उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव का पता लगाया जाय।

जुलाई ७, १९३७ की घटना के विवरण जिससे झगड़े को उत्तेजना मिली, परस्पर विरोधी हैं, फिर भी निम्नांकित विवरण तथ्यपूर्ण लगते हैं। वाक्सर-अभिमत-पत्र के अन्तर्गत अपने समुन्नत अधिकार के बल पर जापानियों ने उत्तरी चीन में दुर्ग-रक्षण के निमित्त एक सैनिक शक्ति बना ली थी। १९३५ में तथा उसके उपरान्त यह शक्ति अत्यधिक बढ़ा दी गयी थी। जापानी तथा अन्व सम्बन्धित सरकारें चीन की राजधानी के नानकिंग चले जाने के उपरान्त भी पुराने अभिमत-पत्र को चालू समझती थीं। इसी अनुमान के आधार पर जापानियों को कुछ मुख्य स्थानों पर फौजों के रखने का अधिकार था, परन्तु लुकोचियाओ इस अधिकार के अन्तर्गत नहीं पड़ता था। १९३५ से टीन्ट-सिन-पीकिंग क्षेत्र में उनके अधिकारों का अर्थ बहुत ही उदारता तथा विस्तार के साथ

लगाया गया था, जिसके परिणामस्वरूप वे वहाँ जंगी चालें चलने के अधिकृत होने लगे थे। इसी कल्पित अधिकार के बल पर, जिसे संधि-व्यवस्था से कोई मान्यता नहीं मिली थी, जापानी फौजें जुलाई, १९३६ में लुकोचियाओ में जंगी चालें चल रही थीं।[1] घटना की जापानी-उक्ति के अनुसार ७ जुलाई की रात को चीनी सैनिकों ने जापानी फौजों पर गोली चलायी। जापानियों ने दूसरे दिन प्रातःकाल तक, जब तक कि और कुमुक नहीं आयी, गोली नहीं चलायी। उन्होंने गोली उसी समय चलायी जब चीनियों ने पुनः गोली चलाना आरम्भ किया, यद्यपि एक संयुक्त जापान-चीन कमेटी[2] जाँच के लिए भेजी जा चुकी थी। चीन वालों का यह कहना था कि जापानियों ने अपने कथनानुसार गोली चलने का शब्द सुना था तथा अपने एक आदमी के न मिलने पर उसे ढूँढ़ने के लिए वान-पिंग गाँव में घुसने का अधिकार माँगा था। माँग की पूर्ति न होने पर उन्होंने बल-प्रयोग की धमकी दी थी। यद्यपि वह आदमी मिल गया, फिर भी माँग पर जोर दिया ही जाता रहा। 'हो पी चाहर' कौंसिल[3] ने, जो सिद्धान्ततः उत्तरी क्षेत्र की अधिशासी एजेन्सी थी, जापानियों की प्रार्थना पर इस आशा से उपर्युक्त आयोग भेजा कि उससे झगड़ा बच जायगा। घटनास्थल पर पहुँचने पर चीनी प्रतिनिधियों ने जापानियों की शहर में घुसने की तलाशी लेने की माँग को अस्वीकार कर दिया। आयोग के सदस्यों को शहर में जाने की अनुमति दी गयी थी तथा निपटारे की वार्ता चल रही थी। वार्ता समाप्त भी नहीं हुई कि जापानियों ने गोली चला दी, जिसका चीनियों ने आत्म-रक्षार्थ प्रत्युत्तर दिया।

जो भी उक्ति सही हो, परन्तु तथ्य यह है कि घटना इस कारण घटी कि जापानी फौजें उस स्थान पर थीं, जहाँ उन्हें रहने का कोई भी कानूनी अधिकार नहीं था तथा वे वहाँ पर ऐसे समय में उपस्थित थीं, जब उत्तरी चीन में, चीन और जापान के सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में, चीन का लोकमत जापानियों के विरुद्ध था। इस प्रकार ध्यान देने योग्य बात यह नहीं है कि एक घटना घटी, वरन् यह है कि यह उसके पूर्व नहीं घटी थी।

पूर्व घटना तथा उत्तरी चीन में वास्तविक संघर्ष छिड़ने में तीन सप्ताह का अन्तर था। यह अव्यवस्था तथा संक्षोभ का समय था। विरोधियों के अपनाये हुए रुखों के अन्तर, 'होपी चाहर' राजनीतिक कौंसिल के वरिष्ठ अधिकारियों की प्रस्तावहीनता, आंशिक समझौता, मतैक्यहीनता, जापानी फौज में ऐक्य-संकल्प तथा उद्देश्य-प्राप्ति का भीषण निश्चय[4]—सभी बातें स्पष्ट थीं। उत्तरी चीन का शेष देश से राजनीतिक तथा आर्थिक विच्छेद करना उद्देश्य था और यह एक ऐसा उद्देश्य था, जिस पर पूरी तन्मयता से, कभी-कभी छल से भी, १९३५ से ही ध्यान दिया गया था। यदि चीन, जैसी कि च्यांग-काई-शेक की राय है, समझौते के अपने न्यूनतम आधार पर डटा रहता, तो कोई भी समायोजन नहीं हो सकता था। न्यूनतम आधार थे—चीन के राज्य-क्षेत्र की अखण्डता तथा

प्रभुसत्ता का अधिलंघन करनेवाले किसी भी समझौते का न किया जाना, होपी चाहर राजनीतिक कौंसिल की स्थिति में किसी प्रकार का उलटफेर न होना, बाहरी दबाव के कारण होपी चाहर राजनीतिक कौंसिल के सभापति, जैसे—केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए स्थानीय अधिकारियों को हटाने के किसी भी समझौते का न होना तथा २९वीं सेना की अपनायी हुई स्थिति पर पाबंदी का न लगाया जाना।[5]

(२) झगड़े का आरम्भ तथा उसका मार्ग

चीन और जापान की मौलिक स्थिति में प्रत्यक्ष विरोध के बावजूद समझौते की वार्ता उस समय तक चलती रही, जब तक कि जुलाई २६ को लौंगफैंग में एक दूसरी घटना नहीं हो गयी। उसके पश्चात् शत्रुता पुनः आरम्भ हो गयी। इस घटना के पश्चात् जापानियों ने अन्तिमेत्थम दे दिया, जिसका आशय चीनी फौजों को हटाना था। समझौते की वार्ता उस समय समाप्त हो गयी, जब राजनीतिक कौंसिल के चीनी जनरल सुगं-चेह-चुआन ने जापानियों द्वारा समझौते की माँग ठुकरा दी जाने पर अन्तिमेत्थम की शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। उसके पश्चात् जापानी फौज मैदान में आ गयी तथा चीनियों को समस्त पीपिंग-टीन्टसिन क्षेत्र से हटाने के लिए बढ़ चली। रोकने पर भी वे बढ़ते ही गये, जिसका मुख्य कारण चीनी नेतृत्व का फौजी दस्तों के कमांड में सामंजस्य स्थापित करने तथा फौजी कार्रवाइयों के लिए पूर्व-योजना बनाने में असफल होना था। इससे यह प्रकट-सा होता है कि चीनी अन्तिम समय तक समझौता की आशा रखते थे, जिससे अन्तिम विकल्प पुनः स्थगित हो जाता, यद्यपि उससे उत्तरी चीन में जापानियों की स्थिति दृढ़ हो जाती। दूसरी ओर जापानी सुस्पष्ट रूप से मामले को सफल निष्कर्ष पर पहुँचाने के लिए दृढ़ संकल्प थे।[6]

मंचूरिया तथा जेहाल के मामलों की तरह यदि नानकिंग सरकार बिना औपचारिक मान्यता के पीपिंग-टींटसिन क्षेत्र का नियन्त्रण त्यागना स्वीकार करती अथवा यदि जापानी उत्तरी चीन के उस वर्जित भाग का नियन्त्रण पाकर संतुष्ट हो जाने की आकांक्षा प्रकट करते, तो सम्भवतः युद्ध पुनः टाला जा सकता था। पिछले वर्ष चांग-काई-शेक ने दृढ़ता से इस बात पर पुनः जोर दिया कि चीन अपने अतिरिक्त राज्यक्षेत्र अथवा मुख्य चीन में अपनी प्रभुसत्ता नहीं त्याग सकता, चाहे युद्ध ही क्यों न करना पड़े। सरकार से अवरोध करने की माँग उस समय इतनी दृढ़ थी कि सन् १९३१ से १९३७ तक अपनायी हुई सामान्य नीति तथा समर-नीति का और अधिक पालन न हो सका। यह मुख्यतः जापानी सेना की उस आकांक्षा से हुआ, जिसके विषय में यह ज्ञात हुआ था कि वह पीपिंग-टींटसिन क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट न रहेगी। उत्तरी चीन में फौजें तथा खाद्य-

सामग्रियाँ इतनी अधिकता में पहुँचा दी गयी थीं कि यह स्पष्ट हो गया कि उनका मुख्य उद्देश्य कम-से-कम नील नदी के उत्तर के पाँचों प्रदेशों पर अधिकार स्थापित करना था। केवल इस बात से ही यह निश्चित हो गया कि जापानी यदि समझौता करना भी चाहें, तो चीन का उस क्षेत्र में बढ़ना, जहाँ कि उनका बढ़ाव सीमित क्षेत्र से आगे वर्जित था, स्वीकार कर समझौता नहीं कर सकते।

उसी समय शंघाई में कुछ घटनाएँ घटीं, जिनसे सम्बन्ध और भी बिगड़ गये और जापानी नौसैनिक तथा फौजी दस्तों का वहाँ जमाव होने लगा। वहाँ पर उन्हें केन्द्रीय चीन सरकार की फौजों का सामना करना पड़ा। अगस्त ९ के उपरान्त जब चीनियों तथा जापानियों में हुंगजाओ हवाई अड्डे के निकट गोली चली तो घटनाओं का क्रम संकटावस्था की ओर बढ़ चला तथा १३ अगस्त, १९३७ से शत्रुता की बड़ी-बड़ी घटनाओं के घटने का सूत्रपात हो गया। इस प्रकार यद्यपि उत्तर में तीन सप्ताह से कुछ लड़ाई चल रही थी, परन्तु चीन और जापान में वास्तविक युद्ध शंघाई में आरम्भ हुआ। दोनों दलों में से किसी ने भी औपचारिक रूप से युद्ध-स्थिति की घोषणा नहीं की। कुछ समय तक जापान ने इसे "चीन की घटना" कहा, बाद में उसे कुछ ऊँचा शीर्षक देते हुए "चीन का मामला" कहा। आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से इसके विस्तार तथा महत्त्व को कम करना आभासतः उचित समझा गया था ; कम-से-कम कुछ अंशों तक अमेरिका की तटस्थता के नियमों के कारण पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के रूप में, युद्ध-जैसी परिणामी स्थिति का सुस्पष्ट चित्रण किये बिना ही चीन ने विस्तृत शत्रुता के तथ्य को स्वीकार कर लिया। फिर भी, शंघाई पर युद्ध आरम्भ होने के समय से ही चीन अपनी प्रभुसत्ता तथा अखण्डता को, स्थानीय अथवा आंचलिक रूप में नहीं, वरन् राष्ट्रीय रूप में, सैनिक-रक्षा प्रदान करने के अपने नवीन इतिहास पर पहली बार आरूढ़ हुआ।

उत्तर में गड़बड़ी आरम्भ होने तथा शंघाई तक युद्ध पहुँचने के समय के बीच प्रधान प्रादेशिक फौजी सरदार नानकिंग में च्यांग को अपनी सेवा प्रदान करने और अपनी वफादारी तथा निष्ठा का विश्वास दिलाने आये क्कुमिन्तांग-कम्युनिस्ट वार्ता शीघ्रता-पूर्वक पूरी की गयी, जब कि कम्युनिस्ट नियंत्रित क्षेत्र का अपना अलग अस्तित्व रखते हुए, स्वयं शासित प्रदेश की भाँति एक राज्य के रूप में समावेश हुआ तथा लाल फौजों को राष्ट्रीय रीति से पंचम मार्ग-फौज की हैसियत प्रदान की गयी। कम्युनिस्ट नेता तथा सेनापति अपने-अपने स्थान पर ही रहे, परन्तु च्यांग-काई-शेक के निदेशन में कार्य करना उन्होंने स्वीकर ही नहीं किया, वरन् कुछ समय तक वे उनके निदेशन में कार्य करते भी रहे ? सैद्धान्तिक रूप में कम्युनिस्ट दल राष्ट्रीय सरकार के अधीनस्थ था।

इन परिस्थितियों में एकता, आधीनता के कारण उतनी नहीं हुई, जितनी कि संयुक्त-

राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संश्रय अथवा सहयोग से। निश्चय ही, कमान की बाहरी एकता अगस्त के अन्त तक स्थापित हो चुकी थी तथा केन्द्रीय सरकार के अधिकार में चीन का एकीकरण अन्तिम रूप में स्पष्टतः जापानी दबाव के कारण ही हुआ था। इस एकता की वास्तविकता तथा स्थायित्व को वास्तविक रूप में स्थायी समझने के पूर्व उन्हें दीर्घकालिक युद्ध की अग्नि में परखना आवश्यक था। बहुत से लोग, मुख्यकर जापानी, यह समझते थे कि फौजी पराजय के सम्मुख एकता नहीं चल पायेगी। इससे जापानी नीति के एक अंग का अभिप्राय ज्ञात हो जाता है—जिसके अनुसार उन क्षेत्रों में, जो उनके आधिपत्य में आये, क्षेत्रीय सरकार स्थापित की गयी। यह सोचा गया था कि इससे क्षेत्रीय फौजी अफसरों तथा जनता की निष्ठा उस ओर आकर्षित होगी।

फौजी दृष्टिकोण से स्वयं चीन-जापान युद्ध के मार्ग का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। यह तीन सुस्पष्ट खण्डों में विभक्त है—(१) अगस्त १३ को शंघाई में युद्धारम्भ से दिसम्बर १५, सन् १९३७ में नानकिंग के पतन तक, (२) नानकिंग के पतन से लेकर १९३८ के अक्तूबर में जापानी फौजों द्वारा कैंटन तथा हैकांग की विजय तक तथा (३) हांगकांग से चीनी फौजों के स्जेचुआन प्रदेश में चुकिंग तक हट जाने के बाद।

(३) युद्ध का प्रथम चरण

शंघाई में जापानी सेना ने केन्द्रीय चीनी सरकार की सेना का सामना किया। उन्होंने जापानी हमलों का असंभावित शक्ति तथा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिरोध किया। जापानियों के मुकाबले में उनके पास हथियार कम थे, जिससे निरन्तर उन्हें इस असुविधा के साथ लड़ना पड़ा। मुख्यतः हवाई शक्ति के सम्बन्ध में यह बात अधिक स्पष्ट थी। यद्यपि १९३३ के पश्चात् च्यांग-काई-शेक हवाई शक्ति बढ़ाने में लग गये थे, तथापि इस शक्ति के विस्तार तथा समाघात-क्षेत्रों के लिए प्रशिक्षित सैनिकों की वृद्धि में अभी जापानियों की बराबरी करने का समय नहीं आया था। इस प्रकार आरम्भ से ही जापानियों को हवाई प्रभुता प्राप्त थी। उन्होंने उसका उपयोग व्यापक रूप से—सर्वप्रथम मुख्यतः निम्न-चांगहजी प्रदेश में—बम गिराने में किया। उन्होंने सामरिक लक्ष्यों, जैसे—संचार-लाइनों, रेलवे-अन्त्यों, हवाई अड्डों तथा फौजी जमावों को बरबाद करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त आतंक फैलाने के लिए धुआँधार तथा व्यापक रूप में असामरिक महत्त्व के लक्ष्यों पर भी बम फेंके गये जिसका अभिप्राय यह समझा गया था कि उससे चीन के लोगों का प्रतिरोध करने का संकल्प टूट जायगा तथा इस प्रकार वे सरकार तथा फौजी शक्तियों से अलग हो जायेंगे।

शंघाई नगर की विचित्र बनावट के कारण, जो उसकी अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती तथा

नदियों के सामनेवाली फ्रांसीसी रिआयतों के कारण थी, वहाँ फौजी प्रतिरोध की कठिनाइयाँ बढ़ गयी थीं। इससे जापानियों ने न्यूनतम कठिनाइयों के साथ अपनी फौजें उतार लीं तथा उनकी नौ-सेना के जहाजों को कुछ संरक्षण मिला। यह इसलिए हुआ कि चीनियों को फौजी संक्रिया इस ढंग से करनी थी कि विदेशी बस्तियों की शान्ति पर उनसे उतना ही असर पड़े, जितना युद्ध की परिस्थितियों में अत्यावश्यक तथा अनिवार्य है। वास्तव में इस विचार का जापानी फौजी संक्रिया पर भी प्रतिबन्ध था, परन्तु यह उन्हें उनके उस त्वरित लाभ से विरत न कर सका, जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय बस्तियों के होने तथा उनके संरक्षण में भाग लेने के कारण सुलभ था।

नवम्बर, १९३७ के पश्चात् ही जापानी शंघाई से चीनी फौजों को हटाने में समर्थ हुए। यह सम्मुख हमले द्वारा नहीं, वरन् दक्षिण से पार्श्विक-संक्रिया द्वारा अन्ततः प्रतिपादित किया गया। हैंगकाउ की खाड़ी पर ५ नवम्बर को एक जापानी फौज उतारी गयी और वह शीघ्रता से स्थल पर बढ़ चली। इससे चीनी फौजों के लिए पीछे तथा पार्श्व सें खतरा उत्पन्न हो गया, जिसके कारण उन्हें शंघाई खाली करने के लिए विवश होना पड़ा। खाली करने की यह क्रिया एक पद्धति के अनुसार थी, जिससे जापानी पूर्ण मार्ग पर लौट न सकें तथा चीनी फौजों को इस प्रकार विनष्ट न कर पायें। फौजें यांगत्ज़ी नदी के पास नानकिंग तक हटीं, जहाँ दीर्घकालीन प्रतिरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। फिर भी इस स्थान पर जापानी शंघाई से भी शीघ्र सफल हुए। उन्होंने चीनियों को उनकी राजधानी से एक मास से कम समय में ही खदेड़ दिया। उस प्रक्रिया में उन्होंने च्यांग-काई-शेक की सर्वश्रेष्ठ फौजों को भंग कर दिया। इससे निर्मूलन की सम्भावना, जिसे शंघाई से फौजों को हटा कर टाला गया था, उत्पन्न हो गयी। केन्द्रीय सरकार के कार्यालय पहले ही हैंकाउ तथा कुछ मामलों में, यांगत्जी से भी आगे, इस उद्देश्य से स्थानान्तरित कर दिये गये थे, जिससे सरकार स्वयं अपना कार्य करती रहे। चीनी फौजों के पुनर्निर्माण तथा उनके मनोबल की पुनःप्राप्ति के पूर्व यदि जापानियों ने नानकिंग में अपनी विजय का अनुगमन तुरंत किया होता, तो बहुत सम्भव था कि दूसरे वर्ष की घटनाओं ने दूसरा ही मार्ग अपनाया होता। परन्तु हुआ यह कि जापानी फौजें उस समय नानकिंग में रुक गयीं, जिससे चीनियों को फौजी विनाश के उपरान्त सँभलने का समय मिल गया। जापानी सेनापतियों ने च्यांग-काई-शेक की फौजों को केवल सँभलने का ही अवसर नहीं दिया, वरन् शंघाई के पतन के उपरान्त जापानी सेना ने अपने व्यवहार से उन्हें प्रतिरोध करने की नयी प्रेरणा भी दी। इन सेनाओं ने, जो अनुशासन के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध थीं, इतनी बुरी तरह से जन-जीवन और सम्पत्ति लूटने का ताण्डव किया कि बाद में दुनिया को नानकिंग के बाहर विदेशी स्पष्ट-दर्शकों द्वारा इस सम्बन्ध में दिये गये समाचारों

पर विश्वास करने में बड़ी कठिनाई हुई। इस घटना ने तथा इसके पहले और बाद हवाई हमलों ने गाँवों में हुई जन-धन-हानि की घटनाओं में युद्ध को अन्तिम निर्णय तक पहुँचाने के चीनी निश्चय को निर्बल न करके और भी दृढ़ कर दिया।

इसी बीच दक्षिण में टीन्टसिन-पुकाउ तथा पीकिंग-हैंकाउ रेलों की ओर तथा पार्श्व में शान्सी प्रदेश की ओर बढ़ती हुई जापानी सेनाएँ उत्तरी चीन में व्यापक फौजी कार्रवाई कर रही थीं। दक्षिण दिशा की प्रगति में २१वीं मार्ग-सेना ने, जिसे उन्होंने पीकिंग से बड़ी सुगमता से हटा दिया था, उनका कड़ा प्रतिरोध किया। उस वर्ष के अन्त तक उन्होंने चीनी फौजों को टीन्टसिन-पुकाउ रेलवे लाइन के किनारे नील नदी तक हटा दिया था। वहाँ वे सम्भवतः इस आशा से रुक गये कि शान्टुग-प्रदेश का प्रशासक जनरल हैनफुचू उनसे समझौता कर लेगा। पूर्व में पीकिंग हैंकाउ रेलवे के किनारे-किनारे जापानी सेना चींग टिंग्फू के दक्षिण ओर बढ़ चली, जहाँ पीकिंग-हैंकाउ रेलवे, समुद्र से शैन्सी प्रदेश की राजधानी तैवान तक जानेवाली पूर्व-पश्चिम रेलवे को पार करती है। इसके पश्चात् दक्षिण की ओर होनान प्रदेश में बढ़ने के स्थान पर पश्चिम दिशा में रेलवे के किनारे-किनारे तैवान की ओर उस सेना की सहायता के लिए आक्रमण किया गया, जो उत्तरी होपी से शान्सी में हटा दी गयी थी तथा जिसकी पूर्वकालिक लाल फौजें, जिनका अष्टम मार्ग सेना के रूप में पुनर्नामिकरण हुआ था, सफल प्रतिरोध कर रही थीं। इन दोनों सेनाओं के मिल जाने से जापानियों ने नवम्बर के आरम्भ में तैवान पर अधिकार कर लिया। इससे रेलवे लाइन में पार्श्व में होपी तथा उत्तरी शांन्तुग के अतिरिक्त उन्हें दक्षिणी-शांसी का भी नियन्त्रण मिल गया। इसके आगे क्वांडुंग सेना चहार के साथ-साथ सूयुआन प्रदेश का नियंत्रण पाने तथा औपचारिक रूप से २९ अक्तूबर, १९३७ को मंगोलिया की संघीय सरकार स्थापित करने में सफल हो चुकी थी। उसी प्रकार १४ दिसम्बर को "शान्ति संरक्षक-आयोग" को, जो पहले पीकिंग तथा टीन्टसिन के लिए स्थापित किया गया था, हटाकर चीन के लिए एक अन्तःकालीन सरकार बनायी गयी।

इस सरकार के तत्त्वावधान में जापानी सैनिक अधिकारी जापान-विरोधी भावना तथा कार्यों का निर्मूलन करने निकल पड़े, जिसके विरुद्ध वे कई वर्षों से अभ्यापत्ति कर रहे थे। यह प्रयास प्रेस तथा शिक्षा पर नियंत्रण लगा कर किया गया। शिक्षा-नियंत्रण के अन्तर्गत जानेवाले विषय थे—पाठ्य पुस्तकों का परिशोधन, प्रत्येक पाठशाला में जापानी शिक्षकों की नियुक्ति, जापानी भाषा पढ़ने की आवश्यकता तथा विद्यार्थियों के उन सभी क्रिया-कलापों का प्रबल-दमन, जिनसे जापान-विरोधी कार्यों के किये जाने की आशंका थी।

इस प्रकार युद्ध का प्रथम चरण जापानियों द्वारा उत्तरी चीन में तात्त्विक रूप से उनके मौलिक उद्देश्य की प्राप्ति तथा उनकी सेनाओं द्वारा निम्न यांगत्जी प्रदेश के अधि-

कृत किये जाने के कारण समाप्त हुआ। वास्तव में जापानियों का नियंत्रण केवल नगरों तथा उनकी सेनाओं द्वारा अधिकृत संचार-धमनियों पर ही स्थापित हुआ था। देहातों ने जापानियों के राजनीतिक-नियंत्रण को सहज में स्वीकार नहीं किया। ग्रामवासी उस समय भी अपने प्रधानों के नियंत्रण में रहे और जब उन्हें संगठित किया गया, तो किसानों ने भरसक उन छापामार फौजों की सहायता की, जो वस्तुतः जापानी हथियारों द्वारा विजित क्षेत्रों में संगठित की गयी थीं। यह बात मुख्यतः उत्तर में सत्य सिद्ध हुई थी, जहाँ साम्यवादी नेतृत्व में वही समर-तंत्र अपनाये गये थे, जिनका इसके पूर्व लाल फौजों द्वारा च्यांग-काई-शेक के विरुद्ध युद्ध में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया था। जापानियों की यह आशा—"कि यदि चीनी शासन, जिसे लोग च्यांग-काई-शेक के शासन से श्रेयस्कर समझेंगे, स्थापित किया जाय, तो प्रतिरोध समाप्त हो जायगा", न तो इस अवस्था में पूरी हुई न इसके पश्चात् ही। फिर भी, एक स्वायत्त-शासन की स्थापना कर दी गयी थी। यदि चीन की केन्द्रीय सरकार नील नदी के उत्तर के क्षेत्र से अपना नियंत्रण त्यागने के आधार पर समझौता करने के लिए उद्यत होती, तो जापानी दृष्टिकोण के अनुसार शत्रुता समाप्त हो जाती।[८] नानकिंग पर अधिकार कर लेने के पश्चात् सैनिक संक्रिया में विराम आ जाने के कारणों में एक कारण यह आशा भी थी। जब यह देख लिया गया कि सैनिक पराजय से न तो च्यांग-काई-शेक की प्रतिष्ठा ही बिगड़ सकी और न देश ही प्रादेशिक इकाइयों में विभक्त हो सका तथा जब यह भी ज्ञात हो गया कि विषय का फल च्यांग तथा उसकी सरकार को हटाकर ही भोगा जा सकता है, तो जापानी सरकार ने च्यांग तथा कुमितांग सरकार की मान्यता के प्रत्याहरण की घोषणा कर दी। उसी समय उसने अपने इस निश्चय की भी घोषणा की, कि—"चीनी मामले" पर उस समय तक युद्ध चलेगा, जब तक सूदूर पूर्व की शान्ति भंग करनेवाला च्यांग-काई-शेक अपने स्थान से हटा नहीं दिया जाता।

(४) युद्ध का द्वितीय चरण

इस प्रकार युद्ध के द्वितीय चरण का समारम्भ हुआ जिसमें पहले चरण की बहुत-सी विशेषताए विद्यमान थीं। इसका उद्देश्य चीन की नयी राजधानी—हांगकांग की प्राप्ति करना तथा उसी क्रम में चीन की पुनर्गठित सेना का विनाश करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मध्यवर्ती क्षेत्र से चीनियों को निकाल देना आवश्यक था। अतः टीन्टसिन-पुकोव तथा लुंघई रेलों के मिलन-स्थान स्चाउ पर अधिकार करना पहला उद्देश्य बनाया गया। स्चाव पर जापानियों ने किलाबन्दी कर रखी थी। नानकिंग की पराजय से सँभलने के पश्चात् चीनियों ने हर मूल्य पर स्चाउ की प्रतिरक्षा करने के आशय की

घोषणा की, तथा, तत्त्वतः उस पर जापानियों के अधिकार करने के प्रयत्न को चुनौती दी। नानकिंग पर अधिकार कर लेने के पश्चात् हैंकाउ के जर्मन राजदूत के माध्यम से प्रस्तावित शान्ति की शर्तों को चीनी स्वीकृति नहीं मिली। अतः १९३८ के बसन्त में जापानी फौजें पुनः मैदान में आ गयीं। नानकिंग पर अधिकार करने वाली सेना नानकिंग से यांगत्जी पार कर टीन्टसिन पुकाउ लाइन के पार्श्व से उत्तर की ओर बढ़ चली, जब कि उत्तरी सेना ने नील नदी के दक्षिण उसी रेलवे का मार्ग अपनाया, जहाँ १९३७ के अन्त में उत्तरी अभियान रुक गया था। जापानी सेना के नील नदी पार करने पर शान्तुंग प्रदेश के राज्यपाल ने उन्हें शक्तिशाली ढंग से रोका नहीं तथा बिना किसी कठिनाई के उस प्रदेश के दक्षिणी भाग में उनका पहुँचना सुलभ कर दिया। राज्यपाल हैन-फुचू को उसकी इस असफलता के कारण सेवा से निवृत्त कर फाँसी दे दी गयी। इसके पश्चात् चीनी सेनाओं की प्रतिरक्षा सुदृढ़ हो गयी। इस स्थिति ने तथा उसी के साथ जापानी सेनानायकों द्वारा चीनी शक्ति के गलत अनुमान ने चीनियों को इस योग्य बना दिया कि उन्होंने अप्रैल, १९३८ में टायर चुआंग पर जापानियों को एक गहरी मार दी। इस विजय ने, जो चीनियों के लिए उस समय तक उस युद्ध में एक मात्र महत्त्वपूर्ण विजय थी, निश्चय ही उनके मनोबल को सुदृढ़ किया। जापानी सेना बढ़ा दी गयी तथा मई में स्चाउ पर उसने अन्तिम विजय प्राप्त की, परन्तु इससे चीनी-सेना का विनाश नहीं हुआ। स्चाउ से हटने में निर्मूलन के तत्त्व विद्यमान थे, जिससे जब जापानी लुँघाई रेलवे के किनारे पश्चिम की ओर दबती हुई चीनी सेनाओं का पीछा कर रहे थे, उस समय यदि बाढ़ के जल से नील नदी के बाँध कई स्थानों पर टूटे न होते तो, उन्हें अन्तिम फल प्राप्त हो गया होता। इस कारण जापानी फौजों का उस क्षेत्र में फौजी संक्रिया संचालित रखना तत्काल असम्भव हो गया।

इस स्थिति ने उन्हें यांगत्जी नदी से ऊपरी क्षेत्र हैंकाउ की ओर बढ़ने के लिए एकत्रित होने पर विवश कर दिया। आक्रमण के अभिप्राय से उत्तरी चीन की तमाम टुकड़ियों सहित सभी उपलब्ध सेनाएँ शंघाई-नानकिंग क्षेत्र में बुला ली गयीं। फौजों के पुर्नवितरण से जहाँ हैंकाउ में इसको अपना ध्येय अन्ततः पूर्ण करने में सहायता मिली, वहीं उत्तरी चीन में छापामार फौजें जापानी अधिकार को केवल बड़े-बड़े शहरों तथा रेलवे-क्षेत्रों तक ही सीमित रखने में सफल हुईं। यह स्थिति चलती रही। सैनिक जमाव की इस स्थिति में भी अक्तूबर २५, १९३८ के पश्चात् ही हैंकाउ जापानी शस्त्रों के सम्मुख झुक सका। विलम्ब पूर्णतः चीनी सेनाओं के प्रतिरोध से ही नहीं हुआ, यद्यपि इस पर उसका पर्याप्त प्रभाव था। यह विलम्ब पार करनेवाले क्षेत्रों की प्रकृति के कारण भी हुआ, जिसने जापानियों को रेलवे तथा मोटर परिवहन के योग्य सड़कों से दूर कर जल-

मार्ग, झीलों, दलदलों तथा पानी से भरे हुए धान के खेतों में, जहाँ की जलवायु बुरी थी और जहाँ विभिन्न प्रकार के स्थानीय रोग फैले हुए थे, पहुँचा दिया था। इसके अतिरिक्त आगे का बढ़ाव सुगम करने के लिए नौ-सेना को यांगत्जी नदी से, जहाज-संचालन को अवरुद्ध करने के निमित्त चीनियों द्वारा, फेंकी गयी बल्लियों तथा अन्य रुकावटों को हटाने में काफी परिश्रम करना पड़ा। इन सभी बातों के प्रभाव से जापानियों का बढ़ाव धीमा हो गया। किसी प्रकार पुनः बढ़ाव आरम्भ होने पर पौमांग झील से यांगत्जी तक एक किनारे के सकरे मार्ग पर सैन्य संचालन करते हुए वे तीन सप्ताह में हुंकाउ पहुँचे। जुलाई के अन्त में किउकियांग का पतन हो गया। इस समय उनका बढ़ाव अपेक्षाकृत बहुत धीमा हो गया तथा उनके चरम ध्येय की प्राप्ति सन्देहात्मक लगने लगी। जापानी तथा चीनी दोनों पक्षों में हताहतों की संख्या अधिक थी, यद्यपि चीनियों की ओर अनुपातत: यह संख्या और भी अधिक थी।

इन परिस्थितियों में जापानी सेना-नायकों ने चीनियों के विरुद्ध अपनी सफलता के अभाव को यह दृष्टिकोण प्रसारित कर, कि हैंकाउ सरकार शान्ति-याचना कर रही थी, तथा अपनी कठिनाइयों का दोषारोपण अधिकाधिक विदेशी सहायता पर कर, जो उनके कथनानुसार चीनियों को सँभालने में प्रधानतः सहायक थी, छिपाना चाहा। हैंकाउ की सेनाओं के लिए सैनिक पूर्ति मुख्यतः हांगकांग तथा कैन्टन से, जो हैंकाउ-कैन्टन रेलवे-क्षेत्र में माल-परिवहन के प्रविष्ट स्थान में पहुँच रही थी। इस रेलवे का अन्तिम खण्ड ठीक युद्ध आरम्भ होने के समय पूरा हुआ था। जापानी हवाई शक्ति इसी कारण रेलवे लाइन के संपार्श्व में इसकी उपयोगिता को विनष्ट करने की आशा से व्यापक रूप में बम गिरा रही थी। इसमें असफल होने पर अन्ततः जापान ने अक्तूबर, १९३८ में नौसैनिक शक्तियों की सहायता के साथ एक सैनिक अभियान-दल कैन्टन भेजा, जिस पर उन्होंने २१ अक्तूबर को तत्त्वतः चीनियों के बिना किसी प्रतिरोध के अधिकार कर लिया। चीनी अधिकार में बचे हुए सैनिक पूर्ति की प्रविष्टि के एक प्रधान बंदरगाह होने का मुख्य महत्त्व प्राप्त करने के बावजूद भी इसकी प्रतिरक्षा के लिए कोई वास्तविक व्यवस्था नहीं की गयी थी। यह विफलता आंशिक रूप से इस भावना पर, कि हांगकांग में अंग्रेजों की स्थिति के कारण कैन्टन जापानी हमले से सुरक्षित था, आरोपित की जा सकती है। वास्तव में यह सुरक्षा उसी समय तक विद्यमान थी, जब तक जापानी सरकार को इसके विरुद्ध अंग्रेजों द्वारा कार्रवाई की जाने की आशंका थी। यह भय अधिकांशतः उस समय समाप्त हो गया, जब चेकोस्लोवेकिया के संकट के सम्बन्ध में अंग्रेजी सरकार ने तुष्टिकरण की नीति के कारण म्यूनिच-समझौते को अंगीकार किया। सितम्बर २९, १९३८ का यूरोप का यह समझौता अक्तूबर २१ को जापान द्वारा कैन्टन पर सैनिक अधिकार

किये जाने के लिए सीधा आमुख बन गया। हैंकाउ का पतन चार दिन पश्चात् हुआ तथा इस प्रकार चीन और जापान के सैनिक युद्ध के द्वितीय चरण की समाप्ति हुई।

(५) तीसरा चरण

चीनी सरकार सुव्यवस्थित रूप से पुनः हट गयी—इस बार उनके पहुँचने का स्थान उच्च यांगत्जी का चुंकिंग था। चीनी फौजें पुनः विनष्ट नहीं हुईं। इस प्रकार चीनियों के आत्मसमर्पण बिना ही युद्ध का दूसरा चरण समाप्त हो गया। अन्तिम फल युद्ध-श्रान्ति तथा निराशावादिता से सम्बन्धित था—इसका आभास तब हुआ, जब हैंकाउ में बिलगाव हुआ। वांगकिंग नी ने शान्ति स्थापना के उद्देश्य से समझौता-वार्ता आरम्भ करनी चाही, परन्तु नीति में इस प्रकार का दिशान्तरण करा सकने में उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका तथा सरकार द्वारा राज्य द्रोही कहे जाने पर उन्हें हैंकाउ से भागना पड़ा। यह स्पष्ट कर दिया गया था कि अन्त तक प्रतिरोध किया जायगा। दूसरी ओर हैंकाउ पर अधिकार करने के पूर्व जापानियों की ओर से यह संकेत मिला था कि उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् फौजी आक्रमण समाप्त हो जायेंगे। इसमें यह अन्तर्निहित था कि उनका कार्य चीन की नयी सरकार को सागरतटीय क्षेत्र में स्थापित होने में सहायता देना तथा शान्ति एवम् पुनर्निर्माण के कार्यों में सहयोग प्रदान करना था। परन्तु हैंकाउ पर अधिकार कर लेने के पश्चात् उनका अभिप्राय उस समय तक फौजी संक्रिया संचालित रखने के लिए घोषित हुआ, जब तक कि च्यांग-काई-शेक तथा उनकी सरकार—जिन्हें केवल एक स्थानीय तंत्र का नाम दिया गया था, पूर्णतः विनष्ट नहीं कर दिये जाते।[१] इस प्रकार दोनों ही ओर से युद्ध जारी रखने की प्रत्याशाएँ थीं।

युद्ध के तीसरे चरण के समय चीन यथार्थतः दो भागों में विभक्त हो चुका था—(१) स्वतंत्र चीन, जिसके अन्तर्गत उस रेखा के पश्चिम में पड़नेवाले प्रदेश थे जो उत्तर में लगभग पेकिंग से हैंकाउ होते हुए दक्षिण में कैन्टन तक फैली हुए हैं, तथा (२) "अधिकृत चीन"—उस रेखा तथा समुद्र के बीच का प्रदेश। अनधिकृत चीन स्वयं दो सुस्पष्ट तथा वास्तव में विलग सरकारों द्वारा शासित भाग से बना हुआ था। एक भाग चुंकिंग में कुमितांग राष्ट्रीय सरकार के अधिकार में तथा दूसरा येनान में मुख्यालय रखकर चीनी कम्यूनिस्ट नेतृत्व के निर्देशन में था। यद्यपि वे युद्ध में जापान के विरुद्ध एक थे, जब कि युद्ध में वस्तुतः १९४० के पश्चात् फौजी दृष्टिकोण से गतिरोध उत्पन्न हो गया था, फिर भी कुमितांग तथा साम्यवादी चीन ने पुनः परस्पर घोर शत्रुता आरम्भ कर दी। उस समय दोनों पश्चिमी जगत् तक पहुँच रखने से प्रभावतः वंचित थे। किन्तु इस उक्ति के कुछ अपवाद भी थे, जैसे—(१) उत्तर-पश्चिम में रूस तक कारवाँ तथा ट्रकों का पहुँचना, (२) हिन्द-चीन के बीच फान्स-येनान रेलवे होकर तथा इसके उत्तरी अन्तस्थ

से चुंकिंग तक मोटर की एक सड़क का स्थित होना, (३) बर्मा के मार्ग से इसके सीमान्तों तथा चुंकिंग के बीच एक मोटर की सड़क जो शीघ्रता से पूरी कर यातायात के लिए खोल दी गयी थी और (४) हांगकांग से हवाई यातयात का होना। फौजी पूर्ति के ये ही मुख्य मार्ग थे, यद्यपि पर्याप्त आयात कुछ उन तटीय बंदरगाहों से भी, जो जापानियों के प्रभावशाली अधिकार में नहीं थे तथा जहाँ से जापानी पंक्ति के विभिन्न छिद्रों से होकर अंतस्थ प्रदेशों में परिवहन की संभावना थी, हो रहा था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया "अधिकृत" तथा "स्वतंत्र" चीन के बीच जापानी माल का चीनी माल से अवैध विनिमय व्यापक रूप में चलता गया।

अधिकृत चीन, जैसा कि बतलाया जा चुका है, पूर्णतः जापान के नियन्त्रण में न था, न पेकिंग तथा नानकिंग में स्थापित दोनों सरकारों के निर्देशन की ही उसे चिन्ता थी। छापामार फौजें अधिकृत क्षेत्र तथा केन्द्रीय एवम् उत्तरी चीन में व्यापक रूप से क्रियाशील थीं। इससे जापान का प्रभावशाली निर्यत्रण संचार-लाइनों और मुख्य नगरों पर ही रह गया था। विदेशी आवास-क्षेत्र भी उस समय जापानी अधिकारियों की पहुँच के बाहर थे। इनमें ऐसे केन्द्र उपलब्ध हो गये थे, जहाँ से चुंकिंग और येनान सरकारों के एजेन्ट अधिकृत क्षेत्र में जापान-विरोधी कार्रवाई कर सकते थे तथा अपने समर्थक विदेशी हितों से सम्पर्क बनाये रख सकते थे।

इन परिस्थितियों में, तत्त्वतः वह युद्ध, फौजी गतिरोध के रूप में दीर्घकालिक हो गया। रेलों तथा पूर्व-पश्चिम के अन्य संचार-साधनों की धमनियों से आगे बढ़ जाने के कारण जापानी सेनाएँ च्यांग-काई-शेक की सरकार को उलटने में समर्थ न थीं। कभी-कभी सीमित आक्रमणों से कुछ आरम्भिक प्रगति हुई। चीनी नगरों, मुख्यतः राजधानी, महत्त्वपूर्ण रेलों तथा प्रधान सड़कों पर वायुयानों से निरन्तर बम गिराये गये। परन्तु इनमें से कोई भी गतिरोध समाप्त न कर सका।

दूसरी ओर चीनियों के पास हवाई शक्ति, गंभीर शस्त्रास्त्र तथा आधुनिक परिवहन का अभाव था, जो स्वयं उनके लिए किसी बड़े पैमाने पर आक्रमण करने के लिए आवश्यक था। अतः अधिकृत राज्य-क्षेत्र से जापानी सेना को हटाने के लिए उनके पास शक्ति नहीं थी। राष्ट्रवादी सेनाएँ उस लम्बे मोर्चे पर प्रबल आक्रमण की धमकी के लिए सैनिक संक्रियार्थ एकत्रित की गयी थीं। इससे जापानी सेनाओं के बड़े भागों को फँसा लेने में सहायता मिली। इसके अतिरिक्त यह यत्न किया गया कि समुद्र तटीय प्रदेशों के नियन्त्रण से जापानियों का कोई आर्थिक लाभ न होने पाये। यह अनुमान था कि यदि जापानी अपने प्रयास की गम्भीरता शीघ्रतापूर्वक न समझ सके, तो जापानी-अर्थ-व्यवस्था फौजी संक्रिया जारी रखने तथा जापानी महाद्वीपीय सेना के लाखों आद-

मियों का भरण-पोषण जापानी साधनों से करने का प्रतिफल सहन न कर सकेगी। अपनी प्रकृति को और अच्छी तरह समझ लेने तथा उसके प्रयोग का अधिक अनुभव प्राप्त कर लेने के साथ उत्तर तथा पूर्वीय केन्द्रीय चीन में कार्यरत कम्युनिस्ट सेनाओं ने छापामार संक्रिया को चुंकिंग सरकार द्वारा संचालित सैनाओं की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक अपनाया।

विजय के आर्थिक लाभ से जापानियों को वंचित रखने के लिए चीनियों ने युद्ध के प्रथम दो चरणों में सिद्धान्ततः "सर्वक्षार" नीति का पालन किया। जब सेनाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटती थीं, तो उनसे तथा उनके साथ शरणार्थियों की भाँति चलनेवाली. जनता से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे सभी प्रकार के यन्त्र तथा उपस्कर अपने साथ लेते जायेंगे तथा उन सभी वस्तुओं को, जिनसे शत्रुओं के लाभ होने की सम्भावना हो, विनष्ट कर देंगे। इन नीतियों को अक्षरशः अपनाने का अर्थ था कि देहातों की खाद्य-सामग्री तथा उपज निर्मूल कर दी जाय। यह केवल इसलिए किया गया था, जिससे जापानी सेना अपना निर्वाह विजित भूमि द्वारा नहीं, वरन् स्वदेश के साधनों द्वारा करने के लिए विवश हो जाय। यद्यपि पर्याप्त मात्रा में उपस्कर हटाये अथवा विनष्ट किये गये, तथापि ऐसा करने में बहुधा इतना विलम्ब हो जाता था कि उनका ध्येय भली-भाँति पूरा नहीं हो पाता था। औद्योगिक उपस्करों तथा फसलों के स्वामी अपनी सम्पत्तियों के विनाश की आवश्यकता का पूर्वानुमान करने में झिझकते थे तथा इस प्रकार कभी-कभी वे समयानुसार कार्रवाई नहीं करने देते थे। फिर भी "सर्वक्षार" अवधारणा के प्रयोग में बहुत कुछ हुआ।

तीसरे चरण में अनुवर्ती छापामार संक्रियाएँ, उसी ध्येय की ओर—जिससे जापानी अपनी विजय के आर्थिक फल का उपभोग कम से कम कर पायें—निर्देशित की गयीं। उदाहरणार्थ, उत्तरी चीन में कृषकों को कपास की कृषि न करके खाद्य पदार्थों की कृषि करने के लिए उद्यत किया गया, क्योंकि व्यापक विदेशी क्रय (भारतीय तथा अमरीकी) से बचने के लिए जापान को कपास की आवश्यकता थी। इस प्रकार के क्रय से जापान की विदेशी मुद्रा का ह्रास होता था, जिसे वह युद्ध-सामग्रियों के आयात के लिए बनाये रखना चाहता था। स्वयं खाद्य पदार्थों की फसलों को, जब उन्हें जापानी फौजों के हाथ में पड़ने से रोकना होता था तथा ऐसा करना सम्भव हो पाता था, विनष्ट कर दिया जाता था। इस "सर्वक्षार" नीति ने उन चीनियों को, जो आवश्यकतावश अधिकृत क्षेत्र में रह गये थे, प्रचंड कठिनाइयों में डाल दिया। वहाँ सदैव यह प्रश्न विद्यमान था कि कृषक-गण जापान-प्रभावित सरकार को स्वीकार करने की अपेक्षा पारिणामिक कठिनाइयों को कब तक अधिक सहनशील समझ पायेंगे।

तथापि चीनी प्रतिरोध-नीति का मुख्य लक्षण ऐसी स्थिति का निर्माण ही रहा—जिससे, जैसी आशा थी, जापान में आर्थिक विभंग की दशा उत्पन्न हो जाय। प्रतिरोध की यह प्रणाली, जो समयानुकूल व्यापारिक विलम्ब प्रत्युत्पन्न करनेवाली भी कहलाती है, दूसरे महत्त्वपूर्ण विचार पर आधारित थी। इसका आशय यह था कि जापानी क्रिया-कलाप—उस क्षेत्र में, जिस पर अधिकार करने में वे सफल हो गये थे, उनके विरुद्ध एक अथवा बहुत-सी प्रधान शक्तियों का संघर्ष उत्पन्न कर देंगे। दूसरे शब्दों में यह अनुमान किया गया था कि यदि चीन अपना प्रतिरोध अधिक समय तक बढ़ा सके, तो संयुक्त राज्य, ब्रिटेन, अथवा सोवियट संघ अपनी संधि तथा चीन में अपने व्यापारिक अधिकार की अभि-रक्षा के लिए कार्रवाई करना आवश्यक समझेंगे। इस अनुमान को ग्रहण करने तथा उसके अनुसार कार्रवाई करने का औचित्य सूदूर पूर्व में १९३७ के पश्चात्वर्ती अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की परीक्षा से ज्ञात होता है। इसमें हाथ लगाने के पूर्व चीन तथा जापान पर पड़नेवाले युद्ध के असैनिक प्रभावों पर विचार करना अत्यावश्यक होगा।

(६) चीन में जापान

महाद्वीप में सैनिक संक्रिया के कारण, जैसा कि बतलाया जा चुका है, अनुमानतः पीकिंग से हैंकाउ होते हुए कैन्टन तक जानेवाली लाइन के पीछे तक का समुद्र-तटीय क्षेत्र जापान के सैनिक अधिकार में आ गया। उस क्षेत्र के जीवन का पुनर्गठन करने तथा वहाँ पर जापानी स्थिति सुदृढ़ करने के प्रयत्न में जापान ने पीकिंग में एक प्रादेशिक सर-कार की तथा बाद में कैन्टन में एक संशोधित सरकार की स्थापना की, जो उसके निय-न्त्रण तथा निर्देशन के प्रति अनुक्रियाशील थीं। ऐसा लगता था कि इसका प्रारम्भिक उद्देश्य, नानकिंग सरकार के अधिकार की वृद्धि द्वारा इन दोनों को मिलाकर, च्यांग-काई-शेक की सरकार के विरुद्ध चीन में एक वैकल्पिक सरकार बनाना था। दो मुख्य कारणों से उस दिशा में जो प्रगति हुई, वह अपेक्षित प्रगति से मन्द थी। इसका पहला कारण जापान के महाद्वीपीय कमान के गुटों के, उद्देश्य तथा लक्ष्य के पुनर्मेल की कठिनाई से उपस्थित हुआ था। क्वान्तुंग सेना, यदि अनन्यतः नहीं तो प्रधानतः मंचूकुओ में जीती हुई स्थिति का अनुरक्षण करना तथा उस स्थिति को आन्तरिक मंगोलिया तक बढ़ाना चाहती थी। उत्तरी चीन-कमान की रुचि के केन्द्र पाँचों उत्तरी देश थे। इनकी अभिरक्षा अधिकतम प्रभावशाली ढंग से उसी समय की जा सकती थी, जब कि इनका नियंत्रण पीकिंग की प्रादेशिक सरकार (जिसकी स्थापना १४ दिसम्बर, १९३७ को हुई थी) के हाथ में रहे, जिसके ऊपर वह अपना सीधा अधिकार जता सके। दूसरी ओर, केन्द्रीय चीन कमान का अधिकार निम्न यांगत्जी की घाटियों वाले प्रदेश में विद्यमान था

तथा वह २८ मार्च, १९३८ में स्थापित हुई चीनी गणराज्य की संशोधित सरकार पर नियन्त्रण रखने तथा नानकिंग से अपने प्राधिकार का पालन कराने की उत्कृष्टतम स्थिति में था। यदि वह सरकार अधिकृत चीन की सरकार के रूप में स्वीकृत हो जाती तो जापान के सैनिक कमान के भीतर का शक्ति-सन्तुलन केन्द्रीय चीनी कमान की ओर झुक जाता। शेष दोनों कमान च्यांग के विरुद्ध नानकिंग को चीनी प्राधिकार का केन्द्र स्वीकार करने के लिए केवल इसी शर्त पर तैयार थे कि उनके प्रधान हितों के क्षेत्र में उनका प्रभुत्व बना रहे। इस प्रकार संतोषप्रद तथा स्वीकार्य सरकारी व्यवस्था के अनुस्थापन ने जापानी सैनिक कमान के गुटों में समझौते की आवश्यकता उत्पन्न कर दी और वे टोकियो तथा महाद्वीप दोनों ही स्थान पर किये गये। इन समझौतों के परिणामस्वरूप २२ सितम्बर, १९३८ को "चीन की संयुक्त परिषद्" का, अनिवार्यतः प्रतिद्वन्द्वी सरकारों के सदस्यों की एक सम्पर्क-समिति के रूप में अनुस्थापन हुआ। ३० मार्च, १९४० को वांग-चिंग की सरकार की स्थापना के कारण यह समिति विस्थापित हो गयी।

जापानी निर्देशनों के प्रति अनुक्रियाशील रहनेवाली संतोषप्रद केन्द्रीय चीनी सरकार की स्थापना में दूसरी कठिनाई कर्मचारी वर्ग की थी। पीकिंग की अस्थायी सरकार तथा नानकिंग की संशोधित सरकार दोनों ही ऐसे व्यक्तियों से बनी थीं, जिनके जापान से पूर्वानुमोदनीय सम्बन्ध थे अथवा चीनी राजनीति में जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम था। इस प्रकार दोनों ही सरकारों के लिए, चाहे वे भले ही स्वतंत्र प्राधिकार के योग्य हों, कर्मचारी वर्ग-सम्बन्धी दृष्टिकोण से, चुंकिंग सरकार से दूर रहनेवाली जनता अथवा अधिकारियों की स्वामिभक्ति प्राप्त करना सम्भवन नहीं था। समस्या थी एक ऐसे चीनी राजनीतिक व्यक्तित्व को ढूँढ़ने की, जिस पर नयी सरकार का नेतृत्व करने के लिए जनता विश्वास रख सके। मार्शल वू. पी. फू. जैसे पुराने नेताओं की रुचि आकर्षित करने के पूर्व-प्रयास असफल रहे। इस सम्बन्ध में पहला वास्तविक अवसर उस समय आया, जब वांग-पिंग-वी ने अपने कुछ अनुयायियों के साथ अक्तूबर, १९३८ में, हैंकाउ के पतन के पश्चात्, च्यांग-काई-शेक के शान्ति-समझौते न करने तथा युद्ध जारी रखने के निर्णय के कारण सरकार का परित्याग कर दिया। राष्ट्रीय सराकार द्वारा वांग के रुख को देशद्रोह की संज्ञा देकर उसकी निन्दा की गयी। इसके कारण उसके सम्मुख राजनीति से संन्यास ग्रहण करने अथवा जापानियों के सहयोग से शक्ति की पुनःप्राप्ति के ही विकल्प रह गये। राजनीति त्यागने का विचार न होने पर उसने दूसरे ही विकल्प के लिए, आभासतः यह समझते हुए कि जापान के साथ सम्बन्ध रखने के लिए सन्तोषप्रद आधार पर समझौता हो सकता है, प्रयत्न किया।

इस प्रकार जो समझौता आरम्भ हुआ, वह बहुत समय तक चलता रहा। वांग यह

जानता था कि उसकी सरकार को चुकिंग से कोई समर्थन उसी दशा में प्राप्त हो सकेगा, जब समझौता न्यूनतम रूप में चीन की स्वतंत्रता पर——भले ही वह नाममात्र की हो——आधारित हो। दूसरी ओर जापान के लिए वही समझौता संतोषप्रद हो सकता था, जिससे इस बात की पुष्टि होती कि चीनी सरकार जापानी निर्देशन के प्रति पूर्णतः अनुक्रियाशील रहेगी, जिससे स्वतंत्रता के कारण जापान मंचूको-चीन गुट के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा, जो जापान का चरम ध्येय था।

यह दीर्घकालिक वार्ता अन्त में समझौते में परिणत हुई, जिसके आधार पर च्यांग-काई-शेक की प्रतियोगिता में ३० मार्च, १९४० को जापान ने वांग-चिंग-वी को नानकिंग में चीनी सरकार का प्रधान बना दिया।[१०] इस सरकार के साथ जापान ने औपचारिक रूप से उस समझौते की पूर्ति की, जिसको इस प्रभाव के लिए रखा गया था कि उसके कारण जापान की फौजी संक्रिया चीन के विरुद्ध आभासतः युद्ध न होकर आन्तरिक शत्रु के विरुद्ध, मान्यता प्राप्त सरकार की सहायता में बदल जाय। समझौते के अनुसार गृह-युद्ध की समाप्ति के दो वर्ष के भीतर जापानी फौजों को उत्तरी चीन के नामोद्दिष्ट क्षेत्रों के अतिरिक्त, जहाँ उन्हें साम्यवाद के विरुद्ध प्रतिरक्षा के कार्यों के लिए रखा जा सके, अन्य सभी क्षेत्रों से हट जाना था। इसने आर्थिक सहयोग के आधार की व्याख्या भी इस रूप में की कि उससे उत्तरी चीन में जापान की सर्वोच्चता (युद्ध में जापान का आरम्भिक ध्येय) तथा शेष चीन पर जापान का पर्याप्त प्रभाव सुनिश्चित हो जाय। सब कुछ होते हुए, यदि यह समझौता कार्यान्वित हो जाता, तो इससे चीन को केवल नाममात्र की स्वतंत्रता मिलती, परन्तु उसे वास्तविक रूप में जापान पर ही आश्रित रहना पड़ता।

इस प्रकार अधिकृत क्षेत्र में राजनीतिक सम्बन्धों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता हुआ जापान अपनी नयी स्थिति में आर्थिक शोषण की ओर अग्रसर होता जा रहा था। १९३८ के अन्त में हैंकाउ के अधिकृत किये जाने की पूर्वाशा से महाद्वीपीय नीति के असैनिक अंगों के विकास तथा प्रबन्ध के लिए टोकियो में मन्त्रिमंडल के आधीन केन्द्रीय एजेन्सी के रूप में एक चीनी विषयक बोर्ड (अथवा पूर्व एशिया[११] विषयक बोर्ड) की स्थापना की गयी। महत्त्वपूर्ण सीमा तक इस मंडल (बोर्ड) ने मंत्रिमंडल से इस क्षेत्र की नीति का नियंत्रण स्वयं अपने हाथ में खींच लिया। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि, अपने संगठन के माध्यम से, यह मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा सेना के नियंत्रण में अधिक था। जापान के समस्त उद्यमों पर इसके समन्वयी तथा पर्यवेक्षकीय प्राधिकार का प्रसार किया गया था। इसके अधीन उत्तरी चीन-विकास-कम्पनी की रचना की गयी, जिसे चीन के उत्तरी प्रदेशों में जापानी शोषण-क्रियाकलापों का वास्तविक एकाधिकार सौंप

दिया गया। केन्द्रीय चीन की प्रगति के लिए गठित कम्पनी की स्थापना यांगत्जी प्रदेशों में मौलिक आर्थिक कार्य का एकाधिकार प्राप्त करने के लिए की गयी थी। उसी प्रकार की एक कम्पनी की योजना उत्तरी चीन के लिए बनायी गयी थी, परन्तु वह औपचारिकतः इस कार्य के लिए अधिकृत नहीं की गयी थी। पीकिंग सरकार ने एक विभिन्न एजेन्सी 'संघीय रिजर्व बैंक' की भी रचना की, जिसका प्रयोग उत्तर में चीनी राष्ट्रीय मुद्रा को विनष्ट करने के लिए इस उद्देश्य से किया गया था, जिससे इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार की वित्तीय स्थिति निर्बल हो जाय। वांग-चिंग-वी सरकार के प्रतिष्ठापन के पश्चात् एक उसी प्रकार का बैंक, जिसे नोट छापने का भी अधिकार प्राप्त था, नानकिंग में स्थापित किया गया था।

इन एकाधिकारी कम्पनियों के तत्त्वावधान में अपनी अर्थ-व्यवस्था का जापान-मंचुको अर्थ-व्यवस्था से समाकलन करने के उद्देश्य से जापानी लोग अधिकृत क्षेत्रों में सम्पत्ति उपार्जित करने तथा नये उद्यमों का उद्घाटन करने अथवा सुस्थापित व्यापारों का स्वत्व प्राप्त करने चल पड़े। उत्तरी चीन में इस दिशा में अन्य स्थानों की अपेक्षा संचलन और भी आगे बढ़ाया गया, क्योंकि १—वहाँ जिस स्थिति पर निर्माण आरम्भ करना था, वह काफी उन्नतिशील थी, २—उत्तरी चीन, केन्द्रीय चीन के पहले जापान के सैनिक अधिकार में आया था, तथा ३—वहाँ संस्थापित पश्चिमी अधिकारों तथा हितों के मार्ग में कम विचार करना था तथा पश्चिमी शक्तियों को अनुचित अतिक्रमण से बचाने के लिए वहाँ सावधानी बरतने की भी आवश्यकता थी। उत्तरी चीन सहित समस्त अधिकृत क्षेत्र के प्रगाढ़ शोषण में केन्द्रीय सरकार के निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करनेवाली छापामार सेनाओं की राजनीतिक गतिविधि तथा सैनिक संक्रियाओं के कारण विघ्न पड़ जाता था। अधिकृत क्षेत्र में जापानी राजनीतिक तथा आर्थिक संक्रियाओं से यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि समस्त क्षेत्र में जापान का प्रभुत्व प्रभावोत्पादक रूप में फैला हुआ था। जैसा पहले कहा जा चुका है इसका प्रसार वास्तव में देहातों में नहीं, वरन् शहरों और सेना-रक्षित नगरों में तथा संचार-लाइनों के किनारे-किनारे ही था। इस प्रकार के प्रतिबन्ध के बावजूद जापानियों की पहुँच के भीतर ऐसे भी स्थान थे, जहाँ आर्थिक संक्रिया (कृषि को छोड़कर) केन्द्रित होने के साथ-साथ विकीर्ण भी की जाती थी। इस प्रकार नगरों, संचार-लाइनों तथा विचार-केन्द्रों के नियंत्रण के कारण जापान के आर्थिक नियंत्रण प्रसार को आरम्भिक क्षेत्र मिल गया।

उपर्युक्त ऐजेन्सियों के अतिरिक्त चीन के भीतर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए जापान ने जो पग उठाये, उनके अन्तर्गत "येन" से सम्बन्धित एक नयी मुद्रा के चलाने के जापानी व्यापार का पक्षपात करने के लिए पीपिंग तथा नानकिंग की जापान-

प्रायोजक सरकारों द्वारा भाड़ा दर में संशोधन तथा विदेशी व्यापार और नौ-परिवहन[१२] में हस्तक्षेप करने इत्यादि के प्रयत्न सम्मिलित थे। परिणामस्वरूप जापान तथा चीन के बीच व्यापार का पर्याप्त विस्तार हुआ। जापान से चीन के निर्यात के सम्बन्ध में, जो १९३७ के १९ करोड़ येन् से बढ़कर १९३८ में ३४.३ करोड़ हो गया, यह बात विशेष रूप से स्पष्ट थी। चीन से आयात किये जाने की वृद्धि अपेक्षाकृत बहुत कम थी—१९३७ के १६ करोड़ येन से १९३८ में इसका योग केवल १७.९ करोड़ हुआ। यद्यपि 'येन' गुट के अन्तर्गत जापान ने प्रचुर मात्रा में इससे व्यापार के अनुकूल सन्तुलन उत्पन्न कर शेष संसार के प्रतिकूल-सन्तुलन को सँभाला, तथापि 'येन' से सम्बन्धित क्षेत्र के बाहर क्रय करने के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने में इससे सहायता नहीं मिल सकी। युद्ध कार्यों के लिए जापान अधिक अच्छी स्थिति में होता, यदि चीन के व्यापार में उसे निरन्तर बढ़ते हुए प्रतिकूल-सन्तुलन का ही सामना करना पड़ता, क्योंकि उन परिस्थितियों में, उसका अर्थ होता महाद्वीप से कच्चे माल प्राप्त करने की उसकी योग्यता में वृद्धि होना। उसके विस्तार-वाद का मुख्य ध्येय बाहर के आयात पर निर्भर न रहने के निमित्त एक आत्म-पर्याप्त आर्थिक सत्ता का सर्जन करना था। इस ध्येय को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था कि चीन अपने कच्चे माल को बढ़ती हुई मात्रा में प्रदान करे तथा बाजारों में भेजे। बाजार के अत्यधिक विस्तार का अर्थ यह हुआ कि चीन में बेचने का सामान बनाने के लिए जापान को अपने गुट के बाहर से कच्ची सामग्री का आयात करने के लिए विवश होना पड़ा। अतः उसके अधिकार जमाने का त्वरित प्रभाव, जिसका अर्थ महाद्वीप पर व्यापार-विस्तार था, उसके आत्म-पर्याप्ति को कम करने के स्थान पर बनाये रखने से सम्बन्धित था। अपने उद्योगों का पोषण करने तथा अपने युद्ध-प्रयासों का निर्वाह करने के लिए अपने राजनीतिक नियंत्रण क्षेत्र के बाहर मुख्यतः संयुक्त राज्य से वह कपास, लोहे तथा फौलाद के रद्दी माल, मशीनें, मशीनों के विभिन्न हिस्से, तथा पेट्रोल की वस्तुओं का आयात करता रहा। शान्ति तथा सुदृढ़ता की स्थिति में यदि जापान को एक अवसर अपने ध्येय की पूर्ति करने तथा चीन में अपने अवसरों का उपयोग करने के लिए मिल गया होता, तो पर्याप्त समय बीत जाने के बाद सम्भवतः यह मामला इस रूप में न रहता।

(७) स्वतंत्र चीन पर युद्ध का सांस्कृतिक प्रभाव

चीन के "स्वतंत्र" तथा "अधिकृत" दोनों ही भागों पर युद्ध का गहरा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा में स्वयं युद्ध-संक्रिया के कारण सम्पत्ति तथा जीवन का प्रचण्ड विनाश हो रहा था। नागरिक जनसंख्या का विनाश मुख्यतः जापान की

हवाई बमबाजी के कारण हुआ, जो शहरों तथा नगरों के विरुद्ध की जाती थी। बमबाजी से जापान का ध्येय असैनिक जनसंख्या को आतंकित करके कदाचित् चीनी प्रतिरोध को समाप्त करना था। इस ध्येय के साथ जो पद्धतियाँ अपनायी गयीं—जिनमें बलात्कार, लूट तथा हवाई हमले सम्मिलित थे, वे असफल सिद्ध हुईं। चीन का मनोबल तथा उसके साथ युद्ध को निर्णायक स्थिति तक पहुँचाने का निश्चय घटने के स्थान पर युद्ध के प्रथम वर्षों में और भी बढ़ गया। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि युद्ध में भाग्य ने चीनी सेनाओं तथा सरकार के लिए अन्तस्थ प्रदेश में स्थिर रूप से हटना ही आवश्यक नहीं कर दिया, वरन् एक बड़े पैमानें पर जनसंख्या को भी स्थानान्तरित कर डाला। करोड़ों मनुष्यों को समुद्रतटीय क्षेत्र त्यागना पड़ा, क्योंकि उनके घर विनष्ट कर दिये गये थे तथा खेत जोते नहीं जा सकते थे अथवा यह इसलिए हुआ, क्योंकि वे जापानियों से, उनके अनुभव तथा अधिभोक्ता के रूप में उनके व्यवहार के कारण, भयभीत थे। वे अन्तस्थ प्रदेशों की ओर, स्वयं अपने ही देश में, शरणार्थियों की भाँति चले गये। ऐसे लोगों की विशाल संख्या के कारण उक्त स्थिति में पुनःसमंजन करना एक समस्या हो गयी। प्रव्रजन की स्थितियों के कारण इसने सार्वजनिक स्वास्थ्य की भी गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी। सैनिक गतिरोध-काल में जब स्थिति स्थायी होने लगी, तो इनमें बहुत-से लोग अधिकृत क्षेत्र के अपने घरों में लौट आये। तथापि, शरणार्थियों की समस्याएँ युद्ध के अन्त में, अधिकृत क्षेत्र में अथवा उसके बाहर, देश के ऊपर युद्ध के पड़ने वाले प्रभावों के स्पष्ट फल के रूप में विद्यमान रहीं। इन शरणार्थी समूहों में विद्यार्थीगण तथा कालेजों और विश्वविद्यालयों के सर्वोन्नत निकाय एवम् कला, विज्ञान तथा साहित्य में उनके बौद्धिक अवकलन विशेष स्मरणीय थे। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, नवीन छात्र-वर्ग ने कुमिंतांग-विद्रोह की प्रारम्भिक स्थितियों में मुख्य भूमिका का निर्वाह किया था। १९२० का विद्यार्थी-विद्रोह विशेषतः महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इसके कारण विज्ञान तथा प्रजातन्त्र के नवीन सांस्कृतिक विचार तथा नवीन देशभक्ति संयुक्त रूप से साम्राज्य-विरोधी कार्यक्रम में संकेन्द्रित हुई। अर्वाचीन इतिहास में, पूर्व कालों की अपेक्षा, विद्यार्थी-वर्ग ने चीन के कल्याण का अधिक उत्तरदायित्व स्वीकार किया तथा छात्र-संगठनों के माध्यम से ग्रामों में साधारण लोगों तक पहुँचने का प्रयत्न किया। उस समय जो देश-भक्ति की अग्नि जली, उसे कुमिंतांग-नियंत्रण के प्रथम वर्षों में संधि-सुधार-आन्दोलन की सफलताओं के कारण अधिक बल मिला। परन्तु जब कुमिंतांग के आन्तरिक सुधार एवम् विकास के कार्यक्रम में शिथिलता आ गयी, तो छात्र-वर्ग तीन समूहों में विभक्त होने लगा। जो प्रारम्भिक रूप से सबसे छोटा खण्ड था, वह साम्यवादी आन्दोलनों में रुचि लेने लगा। दूसरे खण्ड ने आर्थिक तथा

सामाजिक नहीं, वरन् राजनीतिक रुचि के नाते, कुमिंतांग की नौकरशाही में ही सुखाश्रय पाया। इस प्रकार उन्होंने चीनी छात्रत्व के परम्परागत निर्गम मार्ग का अनुसरण किया। तीसरा खण्ड प्रत्यक्ष राजनीतिक क्रियाकलापों से दूर हट गया, जैसे १९१७ से १९२२ तक वह इससे विरत रहा, परन्तु सार्वजनिक विषयों पर बोलता रहा। इसी दल से वैज्ञानिक अनुसंधान तथा वैज्ञानिक पद्धति में शिक्षण, आर्थिक अनुसंधान तथा ऐसे प्रकाशन, जैसे नानकाई के अर्थ शास्त्र, सामाजिक अनुसंधान—जैसा डा० फी ह्सियाओ तुंग ने कृषकों के जीवन तथा उनकी संख्याओं के विषय में किया था, नवीन साहित्य—जिसका उदाहरण लाउ शा के रिक्शा-बालक नामक सामाजिक उपन्यास तथा कुओ मो-जो के काव्य तथा उनकी अन्य कृतियों में मिलता है, पश्चिमी शैली पर नाटकों की रचना-प्रक्रिया आदि का विकास हुआ। यह वही दल था, जिसने राजनीति तथा सरकार में प्रत्यक्षतः भाग लेने से दूर रहकर भी कुमिंतांग तथा इस प्रकार स्वयं सरकार की राज्य-तंत्र तथा दमन करनेवाली वृत्तियों की अधिकाधिक आलोचना की, परन्तु इसने अपने को उस दल से, जो चीन में सरकार का स्वीकृत यंत्र था, विलग नहीं किया।

तथापि राष्ट्रीय सरकार के प्रति इन न्यूनाधिक निष्ठाओं के साथ, कालेज तथा विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों सहित पूरा छात्र-वर्ग, देश की स्वतंत्रता तथा अखण्डता-विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए, मौलिक रूप से संगठित रहा। बाहरी जगत् के सम्बन्ध में, इसकी अधिक आत्मानुभूति, चीन के विरुद्ध इसका दबाव, चीनी समाज में इसकी स्थिति आदि के कारण १९३१ के मंचूरिया-संकट के समय तथा इसके अनन्तर राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण से उत्तरी चीन को विलग करने के जापानी प्रयास के पश्चात् जापान के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना का विकास करने में, इस वर्ग को विशेष भूमिका निभानी पड़ी। इस प्रकार प्राध्यापकों, विद्यार्थियों, युवक बुद्धिजीवियों द्वारा, जो उत्तर चीन के छात्र-तुष्टीकरण विरोधी आन्दोलन से प्रभावित थे, १९३५ में राष्ट्रीय विक्षोभ आन्दोलन आरम्भ किया गया। इसका कार्यक्रम सरल तथा बहुत स्पष्ट था, जैसे—गृह-युद्ध समाप्त करो और जापान का तुष्टीकरण समाप्त करो। इसके आगे उसने कोई सिद्धान्त अथवा कार्यक्रम नहीं बनाया था। मुख्यतः उत्तरी चीन की पाठशालाओं में विद्यार्थियों[13] की देशभक्ति सम्बन्धी क्रिया-कलापों के कारण जापानियों ने उन्हें तथा उनकी पाठशालाओं को जापान-विरोधी आन्दोलन के केन्द्रों के रूप में मानते हुए उन्हें मिटा देना बहुत आवश्यक समझा। यह जानकर कुछ महाविद्यालय वास्तविक शत्रुता आरम्भ होने के पूर्व ही नये स्थानों पर चले गये। सामान्य शत्रुता आरम्भ होने के बाद अन्य महा-विद्यालयों के विद्यार्थी तथा निकाय, ऐसे सामानों के साथ, जिन्हें वे ले जा सके, निम्न यांगत्जी क्षेत्र तथा उत्तरी चीन से हटा दिये गये। उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को, जो

छूट गये तथा जिन्होंने अधिकृत क्षेत्र में अपना कार्य जारी रखा, बाद में जापानियों द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार चलना पड़ा। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अधिक-से-अधिक केवल प्रतिबन्धित शैक्षिक एवम् बौद्धिक क्रिया-कलाप चला सकते थे और इसके विपरीत उन पर शत्रु से साठ-गाँठ करने का अभियोग लग सकता था, भले ही वह बाध्यता तथा उत्कृष्टतम अभिप्राय के कारण ही क्यों न हो।[१४]

इस सामूहिक शैक्षिक परिवर्तन ने देश के भीतरी भाग की ओर चीन के बौद्धिक तथा शैक्षिक जीवन को प्रारम्भिक रूप से शरणार्थी आधार पर स्थित कर दिया। परन्तु जिन स्थितियों में ऐसा किया गया, उनको क्रिश्चियन-विश्वविद्यालयों की स्थिति तथा चेंगटू की संयुक्त-संस्थाओं, राजकीय कालेजों एवम् विश्वविद्यालयों के कुम्मिग में पुर्ननिर्धारित किये जाने के पश्चात् भी जो आर्थिक कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ीं, उनके परिणाम स्वरूप देशभक्ति की लपटें और भी तीव्र हो गयीं और उनसे राष्ट्रीय मनोवल के पोषण में पर्याप्त योगदान मिला। उस समय इसका जो एक संयुक्त कारण समझा जाता था, उसके लिए उठायी गयी कठिनाइयों की सहभागिता के फलस्वरूप सरकार, विद्वान्गण तथा जनता सभी अस्थायी रूप से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध में आ गये। इससे अन्तस्थ प्रदेशों में आधुनिक विचार अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता तथा व्यापकता से फैलने लगे। परन्तु इससे वे उस क्षेत्र में आ गये, जहाँ चीनी परम्परा बहुत दिनों से विद्यमान् थी तथा जहाँ परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि संदेह हो जाता था कि नवीन, प्राचीन को विस्थापित कर सकेगा या उसके सम्मुख स्वयं विनष्ट हो जायेगा।

(८) युद्ध का राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव

जिस प्रकार आक्रमण के कारण शिक्षा-व्यवस्था में पुनःसमंजन करने की विवशता उपस्थित हुई, जिसके अन्तर्गत इसके साधनों में गंभीर रूप से कमी हो गयी, उसी भाँति वहाँ की तत्कालीन राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को भी नया रूप देना पड़ा। पूर्वी समुद्र तटीय प्रदेशों से बलात् परावर्तन के कारण, पूर्व काल के बहुधा उपेक्षित दक्षिण पश्चिमी प्रदेश को, जो युद्ध के समय कुमिंतांग के नियंत्रण में था, नवीन महत्त्व मिला। स्वतन्त्र चीन को, जो युद्ध के कारण "अन्तस्थ चीन" बन गया था, ऐसी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना था, जो बहुधा आत्म-पर्याप्ति के आधार पर, लोगों की आवश्यकता की पूर्ति कर सकने के साथ ही साथ युद्ध-प्रयासों को भी चलाने में सक्षम हो। युद्ध-प्रयासों के लिए निर्यात पदार्थों के उत्पादन की आवश्यकता थी, जिससे उसका विनिमय युद्ध-पदार्थों तथा उद्योग के निमित्त यंत्रों, परिवहन के लिए ट्रकों तथा असैनिक एवम् सैनिक कार्यों के निमित्त वायुयानों अथवा उसके अंगों के आयात के लिए किया जा सके।

चीन के औद्योगिक क्षेत्र जापान के अधिकार में आ गये थे। जिसके कारण स्वतन्त्र चीन को आरम्भ में निर्माण का श्रीगणेश करना था। निर्माण के अनुक्रम का एक अंग उपलब्ध साधनों का व्यापक सर्वेक्षण करना था, क्योंकि पूर्व-सर्वेक्षण अध्ययन में कुछ प्रदेश उपेक्षित कर दिये गये थे। उसमें तथा वास्तविक पुनर्निर्माण में सरकार को विकास की पंक्तियों का सीमांकन करना तथा उसके व्यय के निर्वाह में सहायता प्रदान करना था। इन नये कार्यों के कारण प्रशासनीय प्रक्रियाओं पर अप्रत्याशित अधिक भार पड़ा तथा मुख्यतः नीति-नियोजन-स्तर पर इसके पुनःसमंजन एवं प्रसारण की आवश्यकता पड़ी। योजना के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए तीन आयोगों—(१) एक करोड़ 'च्या' के आरम्भिक विनियोग के साथ औद्योगिक तथा खनन पुनःसमंजन आयोग, (२) तीन करोड़ 'च्या' के आरम्भिक विनियोग के साथ कृषि पुनःसमंजन आयोग (३) व्यापार पुनःसमंजन आयोग की, जिसके पास आरम्भिक व्यय के लिए २ करोड़ 'च्या' थे, स्थापना की गयी। एक औद्योगिक सहकारी-आन्दोलन का भी, जिसे कुछ सरकारी वित्तीय सहायता मिलती थी, सूत्रपात हुआ। सरकार ने बुनियादी उद्योगों के विकास का नियंत्रण अपने हाथ में ही रखा तथा इस प्रकार सामरिक कार्यों के लिए राज्य के निर्णय पर पूँजीवाद का मान स्थापित किया। प्रधान सड़कों के निर्माण तथा नयी रेलों के प्रक्षेपण एवम् पुनःसंगठन के माध्यम से, जिससे हवाई परिवहन स्वतन्त्र चीन के क्षेत्र से होकर आगे बढ़ सके, सरकार को आन्तरिक क्षेत्रों में प्रत्यक्ष रूप से परिवहन का प्रसारण भी करना पड़ा। इनमें तथा इनसे सम्बन्धित सरकारी क्रिया-कलापों में अधिकारियों को व्यक्तिगत लाभ का अवसर प्राप्त हुआ, जिसका पूर्ण परित्याग देश-भक्ति के आरम्भिक वर्षों के तीव्र उत्साह में भी नहीं हुआ था। युद्ध के अन्तिम दो वर्षों में जब आलस्य ने उत्साह का स्थान ग्रहण कर लिया तथा मनोबल का ह्रास हुआ, तो अधिकारी-वर्ग का व्यवहार स्तर भी बहुत गिर गया। यद्यपि अकुशलता तथा दोहन कार्य सर्वत्र दिखाई पड़ रहे थे, परन्तु कार्य-पूर्ति के रूप में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चुंकिंग का अधिकारी-वर्ग कुछ समय तक अपनी नयी जिम्मेदारियों के प्रति उचित रूप में सजग सिद्ध हुआ।

औद्योगिक तथा खनन-पुनःसमंजन आयोग का कार्य, जो राष्ट्रीय साधन-आयोग के साथ कार्य कर रहा था, अंशतः उसके नाम से ही प्रकट हो जाता है। १९३८ के पश्चात् इसका कार्य "स्वतन्त्र" चीन के प्राकृतिक साधनों (कृषि के अतिरिक्त) के दोहन का प्रबन्ध करना था। इसके पूर्व औद्योगिक क्षेत्र में, इसे औद्योगिक तथा मिलों के उपस्करों को युद्ध-क्षेत्र से हटाने में सहायता पहुँचानी पड़ती थी तथा अधिकाधिक उपस्करों के विस्तार के लिए प्रयास करना पड़ता था। अतः जापानी सेनाओं के

हटने में सरकारी कार्यालयों, अभिलेखों तथा सेनाओं को सुव्यवस्थित परावर्तन के अतिरिक्त बहुत कुछ करना पड़ता था। आंशिक रूप से विलम्ब तथा दोषपूर्ण प्रायोजना के कारण अनधिकृत क्षेत्र में उपभोग के लिए औद्योगिक उपस्करों के केवल एक भाग का ही विस्तार एवं संस्थापन किया जा सका, परन्तु आन्तरिक चीन में उत्पादन बढ़ाने के लिए वह भाग बड़े ही महत्त्व का सिद्ध हुआ। अधिकतम प्रभावोत्पादक प्रयोग के लिए इसके पुनःस्थापन का आयोजन कच्चे पदार्थों के आधार पर करना था। इसके अतिरिक्त पुराने अथवा नये उपस्करों एवम् प्रशिक्षित कार्य-कर्मियों को, जो अधिकृत क्षेत्र से हटाये गये थे, एकत्रित करने की समस्या का भी सामना करना था।

औद्योगिक सहकारिता की स्थापना, जिसका उद्घाटन जुलाई, १९३८ में हैंकाऊ के पतन के बहुत पहले हुआ था, ग्रामों के विकेन्द्रीकृत आधार पर उपयोगार्थ उत्पादन बढ़ाने के निमित्त की गयी थी। यह कार्य उत्पादकों के सहकारिता-संगठन के माध्यम से पूरा होना था, जिन्हें स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ ऐसी औद्योगिक प्रतिरोध-व्यवस्था का निर्माण तथा औद्योगिक उत्पादन करना था, जो जापान के फौजी आक्रमण तथा आर्थिक आघात से सम्भवतः उन्मुक्त हों। एक वर्ष के भीतर लगभग १,३०० सहकारी संस्थानों की स्थापना हुई।[१५] उनकी किस्मों की विविधता व्यापक थी। उनमें लोहे और कोयले के खनक, वस्त्र, कागज, छपाई, तम्बाकू, इमारतें तथा इमारती सामान, आटे-चावल की मिलें, मिट्टी के बर्तनों का कार्य, पोर्सिलेन-रंगाई तथा विरंजन एवम् यंत्र सम्बन्धी कार्य सम्मिलित थे। इस प्रकार के समारम्भ से सहकारी संस्थाओं की संख्या ३०,००० तक बढ़ाने की आशा की गयी थी।[१६]

चीनी-औद्योगिक-सहकारिता के विकास की रूपरेखा के निर्माण का आरम्भ सरकारी क्षेत्र के बाहर हुआ था। औद्योगिक प्रतिष्ठापन के समय यह कार्यकारिणी युआन द्वारा आयोजित एक सामाजिक संगठन था। सरकारी तथा निजी उद्यमों के मध्य रहकर, औद्योगिक सहकारिता ने उन व्यापक सुविधाओं की पूर्ति की, जो पूर्णतः राज्यान्तर्गत पूँजीवादी अथवा निजी नियंत्रण में स्थित थीं तथा जिनके विकास के लिए इनकी संरचना हुई थी। यह चीनी-समाज के अब तक के अप्रायोगिक स्तर-परिवार, जित्ज, ग्राम, स्वयंसेवक, कृषक वर्ग तथा नगरवासियों की उन सामाजिक विधाओं का प्रयोग करते हुए किया गया, जो शैक्षिक नौकरशाही के निम्नतम स्तर के नीचे रहती थीं। यद्यपि इस आन्दोलन का युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में तीव्र विकास हुआ, परन्तु सरकार तथा निजी साधनों—दोनों से अपर्याप्त पूँजी मिलने के कारण युद्ध अथवा शान्ति के समय के कार्यों में इसे पूर्ण शक्यता नहीं प्राप्त हो सकी। मौलिक रूप से इसकी सीमाएँ अधिकारी वर्ग तथा उनसे भी अधिक महत्त्वशाली चीनी व्यापारियों के

लिए वैयक्तिक लाभों पर बल देकर निश्चित कर दी गयी थीं। दक्षिण मार्ग की ओर झुकाव का यह स्वाभाविक फल था, जो युद्ध के दीर्घकालिक गतिरोध के समय कुमिंतांग में दीख पड़ा था।[१७]

कृषि-क्षेत्र की दिशा में, "अनधिकृत" प्रदेशों के वर्तमान कृषि-क्षेत्रों तथा नगरों के निवासियों के अतिरिक्त सेनाओं एवम् शरणार्थी जनसंख्या के निर्वाह के लिए युद्ध ने उत्पादन-वृद्धि की समस्या उत्पन्न कर दी। इसने युद्ध की अर्थ-व्यवस्था की जो अपने सामान्य व्यापारिक सम्बन्धों से विलग हो चुकी थी, आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी उत्पादन के पुनःसमंजन की समस्या पैदा की। बुनियादी समस्या वित्त की थी, जिसका उपयोग कृषकों को, उत्पादन में वृद्धि करने तथा नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनाजों के बदलने में, प्रोत्साहन तथा सहायता देने के निमित्त उधार देने के रूप में किया जाता था। इसके कारण सहकारी कार्रवाई आवश्यक हो गयी, जो कृषि पुनः-समंजन आयोग के तत्त्वाववान में की गयी। परिचालन कार्यों के लिए उक्त आयोग को सार्थक रूप से अधिकतम प्रारम्भिक अनुदान-निधि दी गयी थी।

केवल इस प्रकार कृषि-सम्बन्धी उन्नति करने के लिए कृषकों को पर्याप्त वित्तीय स्वतन्त्रता दी जा सकती थी। इस प्रकार युद्ध का एक उद्देश्य ऐसा आन्दोलन आरम्भ करना था, जिससे सूदखोरी की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर कृषि सम्बन्धी उधार की सन्तोषप्रद स्थायी व्यवस्था स्थापित की जाय।

पुनःसमंजन के लिए जितने भी प्रयत्न किये गये, उनसे चीन के निवासियों के लिए युद्ध के प्रभाव को सुधारने के अतिरिक्त और कुछ न हो सका। दीर्घकालिक अवधि के युद्ध के प्रभाव के कारण आन्तरिक प्रदेशों में बलात् किये जानेवाले विकास से चीन के वास्तविक लाभ की संभावनाएँ हो सकती थीं। परन्तु जो कठिनाइयाँ उस समय पड़ीं, वे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थीं। जिस स्तर पर जनता तथा सेना की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती, उस स्तर तक औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पादन बढ़ाना असम्भव था। सरकारी पर्यवेक्षण, मुख्य वस्तुओं के अनुचित संग्रह तथा फाटका को रोक नहीं सका। परिणामस्वरूप जनता की कठिनाइयों तथा उनके बढ़ते हुए असंतोष के साथ वस्तुओं के मूल्य भी निरन्तर बढ़ते गये। इसी से १९४१ के प्रारम्भ में आन्तरिक विभाजन तथा सरकारी एवम् वैयक्तिक व्यवहारों के स्तर के विभंजन का भय उत्पन्न हुआ।

चीन में भी अन्य स्थानों की तरह "दक्षिण" और "वाम" जैसे सुगम शब्दों का प्रयोग, देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चाहने वालों तथा न्यूनतम परिवर्तन के साथ वर्तमान दशाओं को ही चालू रखने वालों अथवा पुराने स्तर की स्थापना के

इच्छुकों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके उपरान्त चीन के साम्यवादी दल को, भूमि के प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करने तथा "दक्षिण पंथी" अथवा "वाम पंथी" के रूप में दलों का रुख समझने के निमित्त वाद-विशेष के वैचारिक महत्त्वों को स्थापित करने से विशेष सहायता मिली। इसका कृषक निर्वाचन-क्षेत्र ऐसा था जहाँ वह समर्थन प्राप्त करने में गंभीर हानि होने की कोई आशंका किये बिना ही भूमि-सम्बन्धी "क्रान्तिकारी" नीति का प्रयोग कर सकी। जैसा कि कम्यूनिस्टों ने प्रस्तावित किया था, भूमि की पट्टेदारी के परिवर्तन के सम्बन्ध में, जमींदारों तथा उच्च कृषक वर्ग से समर्थन प्राप्त करनेवाला कुमितांग "यथास्थिति" लानेवाला दल हो गया, यद्यपि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में इसके कार्य संचालन का कार्यक्रम पारम्परिक सहयोग की व्यवस्था के अनुसार ही स्थिर किया गया था। यह अनिवार्य कृषक अर्थ व्यवस्था में भूमि-सम्बन्धी सुधार के विरुद्ध उद्योगीकरण सुधार की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सका।

फलस्वरूप प्रतियोगात्मक भूमि-सुधार कार्यक्रम की अपेक्षा, जिसे वह दल के मुख्य तत्त्वों की सहानुभूति खोये बिना न तो बढ़ा ही सकता था न कार्य में परिणत कर सकता था, उसने सफलता के लिए अपनी उत्कृष्ट सैनिक-शक्ति पर ही विश्वास किया। आन्तरिक संघर्ष तथा देश के एकीकरण को पूर्ण कर उसे स्थिर रखने तथा बाहरी आक्रमणों से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता के कारण सैनिक शक्ति पर जो जोर दिया गया, उससे न केवल शक्ति एवम् पूँजी का शोषण हुआ, वरन् दल के भीतर नये अफसर वर्ग में नीति के विषयों की निरपेक्षता के साथ च्यांग-काई-शेक का समर्थन करनेवाली एक दृढ़ टुकड़ी की स्थापना भी हुई। वर्षों की समाप्ति के साथ-साथ राष्ट्रीय सेनाओं में ह्वाम्पोआ (सैनिक एकेडेमी) स्नातकों का अनुपात बढ़ता रहा अफसरों में तकनीकी योग्यता प्राप्त व्यक्तियों का बाहुल्य था। जिनकी क्षमता तथारुचि मुख्यतः फौजी ही थी। नयी सेनाओं के संस्थापक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक नीति[१८] के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिए जनरलइसिमो तथा दल की ओर देखते थे। कुमितांग में एक अन्य तत्त्व, जो च्यांग-काई-शेक का समर्थक था, चेन ली-फू तथा चेन क्यू-फू द्वारा संचालित "सी० सी० दल" कहलाता था। चेन-बन्धु साम्यवाद के कट्टर शत्रु होने के कारण दक्षिणपंथी थे। परन्तु इसके उपरान्त उनका रुख कन्फ्यूसियन सामाजिक मूल्यों के परावर्तन की वृद्धि में मुख्य भूमिका का निर्वाह करते समय परिलक्षित हुआ। चेन (ली-फू) का कहना है कि चीन की आधुनिक बुराइयों[१९] का निर्मूलन चीन की प्राचीन संस्कृति द्वारा ही हो सकता है। पश्चिमीकरण के संदर्भ में इस दृष्टिकोण के अनुसार सुधार आगे तथा बाहर की ओर देखने में नहीं, वरन् भीतर तथा पीछे की

ओर देखने में ही निहित था। आन्दोलन पर प्रभाव डालने के लिए तथा जनरलइसिमो की सेवा करने के निमित्त चेन बन्धुओं में एक ने शिक्षा-मंत्री तथा दूसरे ने दल की प्रशिक्षण-पाठशाला, केन्द्रीय राजनीतिक संस्थान के प्रधान के रूप में, दल के संगठन तथा सिद्धान्त-बोधन में रुचि दिखलायी। राज्य में दल को शक्ति का प्रभावशाली यंत्र बनाये रखने के लिए उन्होंने आन्तर-दल-अनुशासन बढ़ाना चाहा। इस प्रकार दल की शक्ति का, आर्थिक तथा राजनीतिक लाभ के संदर्भ में कोई विशेष विचार न करके उन्होंने ऊपर के मार्ग-निर्देशन के अनुसार अधिकृत रूप से निश्चित नीति का पालन करते हुए अधिकार का प्रयोग करनेवालों को, प्रशासनिक यंत्र-विन्यास में परिवर्तित करने में सहायता प्रदान की।

तीसरा तत्त्व जो पश्चिमीकरण की रुचि के अनुसार अधिक सुधारक तथा आधुनिक था, समुद्रतटीय क्षेत्र के नगरों में विकसित होनेवाले नवीन वाणिज्य, औद्योगिक तथा वित्तीय हितों में ढूँढ़ा जा सकता था। १९२७ के कम्युनिस्ट-शोधन के समय च्यांग-काई-शेक इस अवयव के साथ भी मिले हुए थे। १९२७ के पश्चात् इसने पूँजी का प्रबन्ध करने में सरकार की सहायता की थी। सुधार के दृष्टिकोण से इसकी रुचि संचार-व्यवस्था के विकास, बैंकिंग सुविधा के विस्तार तथा ऐसे अन्य परिवर्तनों में थी, जिनसे उद्योगीकरण की नींव पड़ती। भूमि-सम्बन्धी सुधार के बजाय इस विचार ने १९२७-१९३७ के दशक के अनुकूल विकास को उन्मुख करने में सहायता दी। इन्हीं आधारों के अनुसार इसका अभिस्थापन होने के कारण कुमिंतांग अपनी विचार शैली में अनिवार्यतः नागर रहा तथा इसी कारण युद्ध सिद्धान्त के अनुसार छापामार युद्ध में अपनी सेना लगाने के बजाय इसने नगरों तथा संचार साधनों के प्रयत्न को सँभाला। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह तत्त्व आर्थिक तथा वर्ग-सम्बन्ध, दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार कृषकवर्ग की अपेक्षा जमींदारों से अधिक घनिष्ठता के साथ बँधा हुआ था। इसने नये चीन तथा पश्चिमी वाणिज्य हितों के बीच सम्पर्क स्थापित करने का कार्य किया।

चुंकिंग में सरकार के स्थानान्तरण के साथ, कुमिंतांग में इस आधुनिकीकरण तत्त्व ने अपनी शक्ति का आर्थिक आधार खो दिया, क्योंकि वह आधार उन नगरों में था, जो अब जापानी अधिकार में चले गये थे। यह नौकरशाही क्षेत्र के अन्तर्गत इस सीमा तक प्रभावशाली रहा कि इसकी सेवाएँ "स्वतन्त्र" चीन-क्षेत्र के युद्ध-उत्पादन के संगठन तथा चीन और उसके बाहर संयुक्त राज्य और ब्रिटेन के प्रति किये जानेवाले व्यवहारों के लिए अनिवार्य रहीं। जब स्जेयुआन, युन्नान तथा कुमिंतांग द्वारा नियंत्रित अन्य प्रदेश अधिकतर आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से "पारम्परिक" चीन के रूप में आबद्ध रह गये, तो दक्षिण-पश्चिम के आन्दोलन ने आगे की अपेक्षा पीछे देखनेवाले

जनरलइसिमो की स्थिति सुदृढ़ की तथा दल-नेतृत्व के अधिक उन्नतिशील तत्त्वों पर निर्भर रहनेवाली उसकी हीनता भी कम कर दी।

युद्ध के प्रभावस्वरूप सत्तावादी व्यवस्था के दल तथा अन्तर्दल-नियंत्रण को दृढ़ करना अवश्यम्भावी था। सेंसरी तथा गुप्त पुलिस की निरोधी कार्रवाइयाँ—"स्वतन्त्र" चीन में इस सीमा तक बढ़ गयी थीं कि वहाँ वक्तव्य तथा पत्रकारिता की औपचारिक स्वतंत्रता भी कम हो गयी थी; और सार्वजनिक नीति के अन्तर्गत उच्च सरकारी अधिकारियों तथा उनके संरक्षित व्यक्तियों के व्यवहारों तथा क्रिया-कलापों की प्रभावशाली आलोचना करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं था। इन कड़ाइयों में से अधिकांश युद्ध के ध्येय से आवश्यक थीं। तथापि आलोचना-निषेध का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि जनता का मनोबल गिर गया, कार्य-कुशलता कम हो गयी तथा व्यक्तिगत विवर्धन के उद्देश्य से युद्ध द्वारा शोषण का मार्ग प्रशस्त हो गया। व्यक्तिगत रूप से ईमानदार अफसरों पर भी सन्देह किया गया तथा इन परिस्थितियों में अधिकारी वर्ग विषयक उत्तरदायी आलोचना का स्थान "चाय की दूकान" की गप का विषय बन गया। ये बाहरी शस्त्रास्त्रों की सहपूर्ति से सम्बद्ध एक प्रमुख अंग का प्रतिनिधित्व करते थे। रूस से भेजी हुई सहपूर्ति सामग्रियाँ सीधे कम्युनिस्ट सेनाओं को नहीं, वरन् विनिधानार्थ केन्द्रीय सरकार को मिला करती थीं। तथापि यह कभी भी स्पष्ट न हो सका कि यदि चीनी सरकार किसी कठोर कम्युनिस्ट विरोधी आन्तरिक नीति का पालन करे, तो जापान के प्रसारवाद के भय के कारण रूस च्यांग-काई-शेक की सहायता करता रहेगा। इस प्रकार युद्ध-सामिग्रयों की सहपूर्ति का मुख्य उद्‌गम बाह्य होने के कारण, सरकार के रूस पर विशेष रूप से निर्भर होने के समय, उस समय की अपेक्षा जब इँग्लैंड तथा संयुक्त राज्य से अधिक परिमाण में आयात की संभावना होती, कम्युनिस्ट विरोधी प्रवृत्तियाँ अधिक कठोरता के साथ दबायी जाती थीं।[२०]

छापामार युद्ध-पद्धति ने कम्युनिस्टों का शक्तिवर्धन किया, क्योंकि वे इसके संगठन तथा संचालन में अभ्यस्त थे। इस प्रकार छापामार युद्ध के प्रशिक्षणार्थ उन्होंने नेतृत्व भी प्रदान किया। इस कारण हैंकाउ के पतन के पश्चात् चुकिंग पर उनका सामान्य प्रभाव बढ़ गया। उन्होंने नानकिंग के दक्षिण यांगत्जी-प्रदेश में परिचालन के लिए सेनाओं को संगठित करने की आज्ञा माँगी और वह उन्हें मिल भी गयी। अतः उस क्षेत्र में जो चतुर्थ सेना निर्मित हुई वह कम्युनिस्ट थी। इसके परिचालन से कम्युनिस्ट पुनः उसी क्षेत्र में आ गये, जहाँ से वे १९३४ में भगाये गये थे। इस प्रकार उनकी प्रादेशिक स्थिति का विस्तार हुआ, क्योंकि अष्टम मार्ग-सेना उत्तर-पश्चिम कयुनिस्ट-क्षेत्र पर ही स्थित रही।

१९४१ में कुमितांग तथा कम्युनिस्टों में पुनः शत्रुता भड़क उठी। कम्युनिस्ट-विरोधी तत्त्वों द्वारा इतनी दृढ़तर स्थिति अपनाये जाने का कारण सम्भवतः अंग्रेजों द्वारा बर्मारोड का खोल दिया जाना, (जिससे सहपूर्ति के उद्गम के रूप में रूस पर निर्भरता कम हो गयी), तथा ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा चुकिंग सरकार को अधिक उधार दिया जाना था। इन सभी बातों के कारण चीन में उन लोगों की स्थिति, जो रूस की ओर नहीं, वरन् अमेरिका की ओर के अभिस्थापन को श्रेयस्कर समझते थे, सुदृढ़ हो गयी। सम्भव है यह उस आन्तरिक सैनिक शक्ति की बृहत्तर भावना के कारण हुआ हो, जो दक्षिणी चीन में जापानियों के विरुद्ध की गयी सफल संक्रिया के रूप में यद्यपि वह सीमित थी, प्रदर्शित हुई थी। कदाचित् "स्वतन्त्र" चीन[21] की कठिन आर्थिक दशाओं के कारण यह और भी अधिक सम्भव हो सका था। जो भी कारण हो, विद्वेष नवम्बर, १९४० में युद्ध-मंत्री जनरल यिंग-चिन की इस माँग में प्रकट हुआ कि दक्षिण यांगत्जी क्षेत्र को चतुर्थ सेना खाली कर दे। दूसरी ओर कम्युनिस्ट नेताओं ने केवल यही नहीं माँगा कि इस आदेश पर पुनर्विचार हो, वरन् उनकी माँग यह थी कि उनके दल को विधि-सम्मत दल बनाने की उनकी पूर्व प्रार्थना पर विचार किया जाय, जेल भेजे गये कम्युनिस्टों को छोड़ा जाय, कम्युनिस्टों तथा उनके परिवारवालों के विरुद्ध की जानेवाली कार्रवाइयाँ समाप्त की जायँ तथा उनकी शस्त्रास्त्र की सहपूर्ति, जो उनके आरोप के अनुसार १४ महीने से नहीं दी गयी थी, पुनः आरम्भ की जाय। इस विवाद पर इतना जोर दिया गया कि १९४१ के आरम्भ में ऐसा लगा कि यदि गृह-युद्ध पुनः छिड़ा तो युद्ध-प्रयासों को बहुत बड़ा धक्का लगेगा। इसके परिणाम स्वरूप संयुक्त मोर्चों का शीघ्र पूर्ण विनाश होता, जापान-प्रतिरोधी योग्यता का ह्रास होता तथा वांग-चिंग-वी सरकार से मौलिकतः जापान की सहमति पर आधारित उसके उपबन्धों के अनुसार, शान्ति-समझौता होता। इसके निवारण के लिए कम्युनिस्टों ने रिआयत की तथा च्यांग एक नये समझौते पर वार्ता करने के लिए तैयार हो गये। परिणामस्वरूप औपचारिक खण्डन टल गया, परन्तु जापान की अन्तिम हार तक, पारस्परिक सम्बन्ध शस्त्र-विराम-सन्धि जैसा ही रहा। कुछ सफलता के साथ कुमितांग ने शेष "स्वतन्त्र" चीन से कम्युनिस्ट प्रदेश को संरोधित करना चाहा। समय बीतने के साथ-साथ अधिकृत चीन तथा स्वतन्त्र चीन के बीच वास्तविक समागम की वृद्धि स्वयं स्वतन्त्र चीन के दोनों भागों के पारस्परिक समागम की अपेक्षा कहीं अधिक हुई।

आन्तरिक स्थिति का उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन, जिस प्रकार इसने १९४१ की समाप्ति तक कुमितांग तथा कम्युनिस्टों के सम्बन्ध को प्रभावित किया, इस निष्कर्ष की ओर इंगित करता है कि चीन-जापान युद्ध के संघात से चीन का राजनीतिक ढाँचा कम ही बदल

सका था। युआन की विधान-सभा में उस समय भी एक नवीन तथा स्थायी विधान विचारान्तर्गत था तथा "जनता की राजनीतिक परिषद्" की संस्थापना में व्यक्त प्रजातंत्र की पुनः स्थापना के लिए एक ऐसा आन्दोलन भी चल रहा था। कुमितांग नियंत्रक दल का स्थान ग्रहण किये रहा तथा नीति-निर्णय इसके अन्य अंगों, मुख्यतः केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के लिए सुरक्षित रहे। वास्तव में स्वयं युद्ध के लिए अधिकारों के संकेन्द्रण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जापान के विरुद्ध युद्ध के परिणामस्वरूप च्यांग-काई-शेक के अधिकारों के संकेन्द्रण की, जिनमें आवश्यक राष्ट्रीय एकता कायम रखने के लिए विभिन्न गुटों की माँगों का संतुलन बनाये रखने की आवश्यकताओं के कारण संशोधन हुआ, यथावत् स्थिति न केवल स्थिर रही, वरन् उसमें वृद्धि भी हुई।

पचीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

जुलाई १९३७ से ७ दिसम्बर, १९४१ तक

(१) लीग और चीन-जापान युद्ध

चीन और जापान में जुलाई, १९३७ में युद्ध आरम्भ हुआ, तो इस पर पश्चिमी राष्ट्रों की प्रतिक्रिया ऐसी ही थी, जैसी १९३१-१९३२ में थी। जर्मनी और इटली सैद्धान्तिक रूप से "कमिन्टर्न-पैक्ट" के विरोध में जापान के साथ संगठित थे। दोनों ने "नेशन्स लीग" (राष्ट्र संघ) से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था और इसके साथ और संगठित अन्तर्राष्ट्रीय जीवन से उनका वैसा ही सम्बन्ध हो गया था, जैसा १९३३ के बाद जापान का था। तथापि, इनमें से हर एक विशेष रूप से जर्मनी, चीन से जो प्रत्येक के लिए व्यावसायिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था, विरोध नहीं करना चाहता था। जिस पर भी, जर्मनी और इटली दोनों जापानी दवाव से चीन को अनुपयुक्त रूप से सहायता देने और उसे अवप्रेरित करने से विरत रहे। अतः जर्मनी शुरू में कुछ टाल-मटोल के बाद चीन से अपना सैनिक प्रतिनिधि-मंडल वापस बुलाने के लिए विवश हुआ, जिसे उसने चीन में उसकी सैनिक शक्ति के संगठन के सम्बन्ध में च्यांग-काई-शेक को परामर्श देने के लिए वहाँ रखा था और जो नानकिंग की पराजय के बाद कुछ समय तक युद्ध-संचालन के सम्बन्ध में उसे परामर्श भी देता रहा। फिर भी, यूरोप में युद्ध आरम्भ होने तक जर्मनी ने अपना एक पैर चीन को अपनी युद्ध-सामग्रियाँ बेचते हुए, चीनी शिविर में ही रखा। परिणाम स्वरूप जर्मनी और इटली के जापान के साथ स्थापित सम्बन्ध और उनके पश्चिमी शक्तियों से सम्बन्ध-विच्छेद ने इसके १९३१ की सामान्य स्थिति में संशोधन करने पर भी, इसे १९३९ के बाद तक मूलतः परिवर्तित नहीं किया।

पूर्व स्थिति के निरन्तर बने रहने और तदनुरूप प्रतिक्रिया, दोनों जिनेवा की कार्रवाइयों के माध्यम से अभिव्यक्त की गयीं। पहले का औपचारिक अधिमत चीन के पक्ष में और जापान के विरुद्ध था। यह अधिमत जिनेवा में स्थापित किया गया था,

जिसका वाशिंगटन में समर्थन हुआ था। फिर भी, इससे चीन के समर्थन के लिए कोई स्पष्ट कार्रवाई नहीं की गयी थी। नकारात्मक कार्रवाई, जो संयुक्त-राज्य द्वारा शुरू की गयी और जो उसे मान्यता न प्रदान करने की नीति में प्रगट हुई, "लीग" की सुदूर पूर्व सलाहकार-समिति के निदेश के अन्तर्गत बनाये रखी गयी थी। १९३७ में युद्ध आरम्भ होने पर चीन द्वारा उकसायी गयी "लीग" की कार्रवाई के साथ, सलाहकार-समिति ने 'एसेम्बली' को अपनी जाँच चीन के पक्ष में दी और यह सिफारिश की कि 'नवों शक्तियों की सन्धि' के हस्ताक्षरकर्ताओं से, चीनी-जापानी सम्बन्धों की समस्या का समाधान ढूँढ़ने और इस प्रकार युद्ध की समाप्ति के लिए आपस में विचार-विमर्श करने की प्रार्थना की जानी चाहिए। इन रिपोर्टों पर एसेम्बली ने अक्तूबर, १९३७ को विचार किया। संयुक्त राज्य ने वैसा ही सम्मेलन बुलाने के सुझाव और सिफारिश को मान्यता दी, जैसा सम्मेलन १९३१-३२ में बुलाया गया था और जिसने "लीग" को उस समय ऐसे कार्य के लिए समर्थन प्रदान किया था।

तथापि कार्रवाई होने के पहले, अमेरिका के राज्य-सचिव ने १६ जुलाई को एक सिद्धान्त सम्बन्धी वक्तव्य परिचारित किया था—जो, गोकि सामान्य रूप से प्रस्तुत किया गया था, किन्तु जिसकी आवश्यकता सुदूर पूर्व में होनेवाली घटनाओं के संदर्भ में उपस्थित हुई थी और जिसमें जापान को चेतावनी दी गयी थी।

५ अक्तूबर को सुदूर पूर्व सलाहकार-समिति की रिपोर्ट पेश होने के समय ही अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपना शिकागो का प्रसिद्ध संगरोधक भाषण भी दिया था। इस भाषण में अन्य चीजों के साथ, उन्होंने कहा, कि—"दुर्भाग्यवश यह सत्य प्रतीत हो रहा है कि विश्व में अशान्ति और उपद्रव बढ़ रहा है। युद्ध एक प्रकार का छूतरोग है, चाहे इसकी घोषणा की गयी हो या न की गयी हो। यह शत्रुतापूर्ण क्षेत्र से दूर बसे राज्यों और जनता को भी अपने में समेट लेता है। हमने अपने को युद्ध से अलग रखने का निश्चय किया है, फिर भी, यह निश्चय नहीं है कि हम युद्ध के विनाशकारी प्रभाव और इसमें सम्मिलित होने के खतरे से बच जायँगे। ऐसी स्थिति में शान्ति बनाये रखने के लिए क्रियात्मक रूप से प्रयत्न होने चाहिए।" इससे यह संकेत मिला कि संयुक्त-राज्य, एसेम्बली द्वारा प्रस्तावित सम्मेलन में, जिसमें उसने भाग लेना स्वीकार किया है, सक्रिय रूप से नेतृत्व करेगा। तथापि राष्ट्रपति के शिकागो के भाषण के प्रति उनके देश में आन्तरिक रूप से प्रतिरोधी प्रतिक्रिया हुई, जिसने उनके उक्त प्राक्कथन का स्वर विनम्र कर दिया। उनके द्वारा इस प्रकार के और अन्य प्रकार के निश्चयात्मक शब्दों का प्रयोग होने के वावजूद भी संयुक्त राज्य द्वारा, इस सम्मेलन में अपने को सम्बद्ध कर कोई सक्रिय कार्रवाई करना संदेहास्पद हो गया। ३ नवम्बर को ब्रुसेल्स

में आयोजित सम्मेलन के समय तक यह निश्चय हो गया कि वह अपनी मध्यस्थता को शान्ति-स्थापना के निमित्त केवल चीन और जापान के बीच सीधा समझौता कराने तक ही सीमित रखेगा।

जापान ने, वाशिंगटन-सम्मेलन-शक्तियों के साथ इसमें भाग लेना अस्वीकृत कर दिया। इस कार्य में रुचि लेनेवाले उन देशों में, जो वाशिंगटन-सम्मेलन के कार्यों में भाग नहीं ले रहे थे, एक देश (सोवियत संघ) ने ब्रुसेल्स-सम्मेलन में उपस्थित होकर जापान को रोकने के लिए अद्यतन कार्रवाई की, जब कि दूसरा देश (जर्मनी) न केवल सम्मेलन में उपस्थित होने में असफल रहा, वरन् उसने मित्रवत् दोनों दलों के बीच स्वतंत्र रूप से मध्यस्था करने का भी प्रयास किया। जापान की अनुपस्थिति में इटली के प्रतिनिधि-मंडल ने उसका दृष्टिकोण पूरी तरह प्रस्तुत किया और उसके पक्ष में उसने पूरी बहस की। तिसपर भी, बिना जापान के निजी प्रतिनिधित्व के मध्यस्था या समझौता कराने का प्रयत्न असम्भव था। परिणामस्वरूप सम्मेलन २४ नवम्बर को एक सैद्धान्तिक घोषणा करते हुए और अपने विचार-विमर्श की एक रिपोर्ट पेश करते हुए, समाप्त हो गया। अतः विचार-विमर्श और स्वेच्छापूर्वक समझौता कराने के इस तरीके और मान्य अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद दूर कराने के प्रयत्न में उससे भी कम सफलता मिली, जितनी प्रथम मंचूरियाई संकट के समय इसी प्रकार के प्रयत्नों में मिली थी।

(२) विदेशी हितों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्रवाई

इस सामूहिक राष्ट्रीय कार्रवाई के अतिरिक्त, सुदूर-पूर्व में नयी स्थिति के अन्तर्राष्ट्रीय समंजन के लिए स्थापित राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करने की दृष्टि से भी अनेकानेक प्रकार की राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएँ हुईं। हैन्काउ की पराजय तक और उसके बाद ही पूर्वी एशिया में एक नयी स्थिति की घोषणा होने पर युद्ध पश्चिमी शक्तियों के लिए बिना कोई प्रधान महत्त्व पैदा किये, नितान्त रूप से केवल चीन और जापान के बीच ही होता रहा। पश्चिमी शक्तियों ने प्रधानतः अपने को, केवल अपने चीनस्थित नागरिकों के प्रति उत्तरदायी समझा। इसके लिए उन्होंने युद्धरत देश में इनके ऊपर युद्ध का कम से कम, प्रभाव होने की दृष्टि से तदनुरूप कार्रवाइयाँ कीं और वे युद्धकारी कार्यों से अकस्मात्, किन्तु अपरिहार्य रूप से अपने नागरिकों को पहुँचनेवाली चोट और उनकी सम्पत्ति के नुकसान आदि की पूर्ति कराने के लिए सचेष्ट रहे। जापान ने युद्ध की औपचारिक घोषणा न कर इसे आकस्मिक परिस्थितियों का परिणाम बताया, इसलिए ऐसे अन्य राष्ट्रीय व्यक्तियों की क्षति-पूर्ति का दावा पर्याप्त विस्तृत

आधार पर औचित्यपूर्ण ठहराया जा सका, जो दावा करना जापान द्वारा वास्तविक युद्ध-घोषणा होने पर सम्भव नहीं था। अतः जिस समय यांत्जी के निचले क्षेत्र में युद्ध हो रहा था, जहाँ विदेशी नागरिकों की काफी बड़ी आबादी और उनकी सबसे अधिक विदेशी सम्पत्ति लगी थी, वहाँ व्यक्तिगत चोट और सम्पत्ति को क्षति-पूर्ति के दावे बराबर किये जा रहे थे। ये दावे राजदूतिक माध्यमों से उपस्थित किये जाते थे। इन मामलों में प्रस्तुत प्रतिनिधित्वों के दो परिणाम होते थे। एक तो वास्तविक क्षति की पूर्ति करने के लिए किया जाता था, दूसरा भविष्य में ऐसी कार्रवाई न करने के सम्बन्ध में किया जाता था, जिससे विदेशियों को क्षति हो और क्षति-पूर्ति के लिए उसे और दावे करने की आवश्यकता पड़े। जापानियों का इनके सम्बन्ध में प्रत्युत्तर भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होता था। एक तो जापान के सैनिक कमाण्डर विदेशियों से ऐसी कठिनाइयाँ कम करने के लिए वास्तविक युद्ध-क्षेत्र से हटने का निवेदन करते हुए करते थे, जैसा नानकिंग पर बम-वर्षा के समय चेतावनी देते हुए किया गया था। ऐसी स्थिति में क्षति होने या व्यक्तिगत चोट पहुँचने पर वे विदेशियों को ही इसके लिए जिम्मेदार ठहराते थे, क्योंकि ऐसे मामलों में उन क्षेत्रों में जहाँ युद्धक कार्रवाइयाँ चलती थीं, वहाँ इन व्यक्तियों या इनकी सम्पत्ति के होने से ही चोटें पहुँचती थीं या क्षति होती थी, जिसका उत्तरदायित्व तत्सम्बन्धी विदेशियों का ही होता था। दूसरे शब्दों में वे सैनिक आवश्यकता के लिए हुई ऐसी घटनाओं में अपनी जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब इन मामलों में दृढ़तापूर्वक अनुयोग उपस्थित किया जाता था और जाँच के बाद दावे की पूर्ति पर जोर दिया जाता था तो टोकियो सरकार ऐसी माँग की जाने पर इन घटनाओं के पुनः न होने का आश्वासन देती थी। इन मामलों में कोई समझौता करना या उसको बनाये रखना इसलिए कठिन था, क्योंकि आश्वासन टोकियो-स्थित विदेशी कार्यालय द्वारा दिये जाते थे, जब कि शिकायती कार्रवाइयाँ सेना द्वारा की जाती थीं, जो सरकार के प्रभावपूर्ण नियंत्रण में नहीं थीं।

इस अवधि के लगातार १९३७ से लेकर १९३८ के अधिकतर समय में अपने नागरिकों के हितों के समर्थन में अमेरिकी राजनयिक दबाव ब्रिटेन के दबाव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावजन्य था। इसका पता विशेषरूप से "पैने" की घटना पर हुई समझौता-वार्ता में लगा, जब एक अमेरिकी नौसैनिक जलयान और अमेरिकी व्यापारियों पर जापान के हवाई जहाजों ने उनके शत्रु-क्षेत्र से हटने पर भी बमवर्षक हमला किया था और जिसके लिए अमेरिका ने क्षति-पूर्ति का दावा दाखिल किया था। इसके लिए जापान द्वारा तत्क्षण क्षमा-प्रार्थना की गयी थी और पूरी क्षति-पूर्ति भी की गयी थी, जब कि

इसके विपरीत उन्होंने ब्रिटेन के नौसैनिक जलयान पर ऐसी ही परिस्थिति में हुई क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में दूसरा रुख अपनाया था। ब्रिटेन की अपेक्षा अमेरिका के प्रति जापान के अधिक प्रत्युत्तरात्मक होने के अनेक कारण बताये जा सकते हैं। एक तो यूरोप में ब्रिटेन की बढ़ती हुई कठिनाइयों को देखते हुए और दूसरे यथासंभव झंझटों से बचने की उसकी सामान्य नीति को इसका एक कारण समझा गया था। इस नीति को उसकी कमजोरी का प्रमाण भी समझा गया। इसका दूसरा कारण यह था कि जापानी चाहते थे कि अमेरिका और ब्रिटेन दोनों अपने सामान्य हितों की रक्षा में परस्पर सहयोग न करने पावें। इँग्लैण्ड और अमेरिका को इसमें अलग रखते हुए, उसने अमेरिका के साथ रियायती व्यवहार किया, जब कि उन क्षेत्रों में इंग्लैण्ड का तत्कालीन वस्तुगत हित अमेरिका से अधिक था, जो और उग्रता के साथ इन मामलों में कार्रवाई की माँग कर सकता था। राज्य द्वारा बड़े हितों की रक्षा के लिए और रियायत देने पर संयुक्त राज्य के अल्प वस्तुगत हित की सहपूर्ति-स्थिति कुछ और हो जाती। अतः ऐसी रियायतें देना, जो अस्थायी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त दी जा रही थीं, उन्हें बन्द करना पड़ता और अन्तिम रूप में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यदि संयुक्त राज्य अपने राजनयिक सम्बन्धों के माध्यम से अपनी माँगें पूरी न होने पर अपने हितों के लिए सक्रिय रक्षात्मक कार्रवाई शुरू कर देता तो जापान के लिए तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी ऐसी कार्रवाइयाँ ब्रिटेन की कार्रवाइयों से कहीं अधिक विनाशकारी सिद्ध होतीं। इसका एक कारण यह था कि सैनिक सामानों की आवश्यकता पूर्ति के लिए जापान, अमेरिकी आयात पर और अपने निर्यात के लिए विशेषतया अमेरिकी बाजार पर आश्रित था, जिससे प्राप्त आय से ही वह या तो संयुक्त-राज्य या दूसरे देशों से किये जानेवाले जापानी आयात की आवश्यक अर्थ-व्यवस्था कर सकता था।

अमेरिकी माँगें, जिस हद तक जापानी पूरी करने को प्रस्तुत थे, वे वस्तुतः दो बातों पर आधारित थीं। पहली यह कि माँग किस प्रकार की है। जहाँ तक उनका वहाँ स्थित अमेरिकी स्वार्थ से सम्बन्ध था, जापानी कोई गंभीर मतभेद बचाने के लिए अमेरिका के साथ काफी हद तक रियायत कर सकते थे। जहाँ तक स्वतंत्र कार्रवाइयों सम्बन्धी नीति का प्रश्न था, तब तक पर्याप्त रूप से विचार-विमर्श और समझौता करना सम्भव था, जब तक जापान ने वाशिंगटन-सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित विधि के स्थान पर पूर्वी एशिया में "एक नयी विधि' स्थापित करने का अपना विस्तृत उद्देश्य अभिव्यक्त नहीं कर दिया था। तथापि, नवम्बर, १९३८ के बाद दोनों देशों की बृहत्तर नीति विषयक स्थिति में समझौता होना असंभव हो गया। अमेरिकी माँगों की पूर्ति में जापान का

दूसरा दृष्टिकोण जिसके विषय में अनेक बार वह निश्चित निर्णय नहीं कर पाया था, यह था—कि संयुक्त राज्य अपनी माँगें केवल राजनयिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से ही पूरी कराने तक अपनी कार्रवाइयाँ सीमित रखेगा, या अपना दृष्टिकोण और माँगें मनवाने के लिए वह इससे आगे प्रत्यक्ष कार्रवाई भी करेगा? युद्ध के प्रति अमेरिकी भावनाओं ने, जो १९३५ से १९३७ के बीच के वर्षों में उसके तटस्थतावादी विधान में व्यक्त हुई थीं—अमेरिकी सरकार के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया कि अमेरिका अपने अभिमत के पक्ष में चाहे जितनी कड़ाई से बात करे, किन्तु वह कोई ऐसी कार्रवाई करना नहीं चाहेगा, जिससे युद्ध का खतरा हो। परिणामतः सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह के जापानी प्रचारकों ने इसका लाभ उठाते हुए बार-बार यह विचार व्यक्त किया, जिसने अमेरिकी मत को वहुत अधिक प्रमाणित भी किया कि दबाव के उद्देश्य से व्यापारिक सम्बन्धों में संशोधन करने से युद्ध होने की आशंका है। जब कभी भी ये संकेत मिले कि संयुक्त राज्य द्वारा परिणाम की चिन्ता किये विना भी ऐसी कार्रवाइयाँ की जायँगी, या यह विश्वास व्यक्त किया गया कि इन कार्रवाइयों से युद्ध नहीं होगा, तो अमेरिकी दबाव पर जापान ने और तेजी से उसकी माँगें पूरी कीं। जापानी नीति की ऐसी प्रवृत्ति होने पर अमेरिका ने संयुक्त राज्य द्वारा अपनायी गयी युद्ध-विरोधी भावना के कारण अपने विचारों को गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित कराने के लिए युद्ध के साढ़े तीन वर्षों तक अपनी आर्थिक और वित्तीय शक्ति का प्रयोग नहीं किया।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—१९३९ से १९४१ तक

अक्तूबर, १९३८ में हान्काउ के पतन के बाद, सूदूर पूर्व में युद्ध जितना जापान और चीन के बीच संघर्षपूर्ण स्थिति में था, उतना ही वह पश्चिमी शक्तियों और जापान के बीच भी हो गया। कैन्टन पर पहले ही कब्जा हो जाने से हान्काउ पर कब्जा करना आवश्यक और आसान हो गया था। हांगकांग के कारण ब्रिटेन के साथ संघर्ष होने के भय से जापानियों ने अपनी सैनिक कार्रवाइयाँ तब तक यांगत्जे घाटी में सीमित रखीं; जब तक यूरोप में चेकोस्लोवाकिया का प्रश्न अपने चरम बिन्दु तक नहीं पहुँच गया। जर्मन-शक्ति के जैसे प्रदर्शन और निश्चयात्मक रुख से प्रेरित होकर चेम्बरलेन म्युनिक गये थे, जापान भी उसी प्रकार कैन्टन में पहुँचा था। म्युनिक समझौते पर, जो इसके पूर्व वृत्त के साथ जापान द्वारा ब्रिटिश कमजोरी और उनके निश्चय की कमी का प्रमाण समझा गया था, २९ सितम्बर, १९३८ को हस्ताक्षर किया गया। अक्तूबर के शुरू में जापानी सेनाएँ बियास की खाड़ी पर उतरी थीं, जिसके बाद उन्होंने कैन्टन पर कब्जा किया था। चीनियों द्वारा इसकी पर्याप्त रूप से सुरक्षा नहीं की गयी थी,

जिससे उन्होंने यह अनुभव किया कि इस पर कब्जा होने से चीन का हांगकांग से सम्बन्ध भंग हो जायगा और उनकी शक्ति सुदृढ़ हो जायगी, किन्तु आगे ब्रिटेन के भय से शायद उनका इसके विरुद्ध प्रयाण रुकने की आशा की जाती थी। एक बार यह भय यूरोप में घटनाओं के विकास के कारण दूर हो गया था, जिससे मुख्यतया जापानियों की नीति में भी अस्थाई परिवर्तन आया था।

उसी समय संयुक्त राज्य ने अपने हितों की रक्षा करने की नीति के स्थान पर इस बात पर जोर देना शुरू किया कि व्यापार में समान अवसर प्रदान करने के सिद्धान्त के अनुरूप जापानी नीति में संशोधन किया जाना चाहिए। युक्त अवसर प्रदान करने की और चीन की अखंडता बनाये रखने की अमेरिकी नीति में परिवर्तन नहीं हुआ था, किन्तु ब्रुसेल्स-सम्मेलन के बाद यह नीति राजनयिक सम्बन्धों के आधार के रूप में नहीं मानी गयी थी। फिर भी, ६ अक्टूबर, १९३८ के 'नोट' में अमेरिका ने जापानी दखल के कुछ क्षेत्रों और विशेष रूप से ऊपरी चीन में जापान के कुछ विशिष्ट कार्यों, जैसे—विनिमय नियंत्रण और आयात शुल्क दर में संशोधन पर कड़ा रुख अपनाया था। ये कार्य व्यापार में मुक्त अवसर प्रदान करने के सिद्धान्तों के विरुद्ध समझे गये थे। जापान ने इस 'नोट' का १८ नवम्बर के पहले कोई उत्तर नहीं दिया था। उसके उत्तर में उसने मुख्यतया अमेरिका के विशिष्ट आरोपों का खंडन किया था। किन्तु चीन स्थित अमेरिकी नागरिकों के अधिकार के विरुद्ध कोई भेद करने की सामान्य नीयत का परिचय न देने पर भी, इसने एक 'नोट' प्रस्तुत किया, जिसमें स्पष्टतया वाशिंगटन-सम्मेलन द्वारा निर्णीत आपसी सम्बन्धों की प्रणाली और जापान द्वारा स्थापित नयी प्रणाली में निहित अन्तर के सम्बन्ध में उसके भावी निर्णय का संकेत व्यक्त हुआ था। इसका अन्तिम अनुच्छेद इस प्रकार है—

"जापान इस समय पूरे पूर्व एशिया में वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय न्याय पर आधारित एक "नयी प्रणाली" की स्थापना करने में अपनी शक्ति का निरन्तर अधिकाधिक प्रयोग कर रहा है।

जापानी सरकार का यह दृढ़ विश्वास है कि पूर्वी एशिया में विकसित हो रही नयी परिस्थितियों में, पुराने सिद्धान्तों का वर्तमान और भावी स्थितियों में प्रयोग करने से पूर्वी एशिया में न तो वास्तविक शान्ति ही स्थापित होगी, और न इससे वर्तमान समस्याएँ ही सुलझेंगी।"

अमेरिकी "नोट" पाने और इसका प्रत्युत्तर भेजने के समय के बीच ही जापानी सरकार ने सरकारी तौर पर यह घोषणा कर दी थी कि "नयी प्रणाली" की स्थापना

करना इसका लक्ष्य है। संयुक्त राज्य को दिये गये उत्तर में उसका उल्लेख करते हुए उसने एक प्रकार से पश्चिमी राष्ट्रों को इस बात की "नोटिस" भी दी थी कि वाशिंगटन सम्मेलन-विधि में एकांगी निराकरण करनेवाले ऐसे राष्ट्रों का प्रभाव है, जो जापान की इस "नयी प्रणाली" को असंगत मानते हैं। इसके बाद जापान द्वारा इस "नयी प्रणाली" के सिद्धान्त को कोई संक्षिप्त या विस्तृत रूप नहीं दिया गया। फिर भी, जो व्याख्या उसने प्रस्तुत की थी, उससे पहले की गयी कार्रवाइयों के विरोध और तदनुरूप विकसित नीति में उसके पूर्व प्राक्कथन के विस्तार का संकेत मिलता है। इस "नयी प्रणाली" की स्थापना के लिए आवश्यक था कि चांग-काई-शेक की अध्यक्षता में संगठित सरकार की जगह ऐसी सरकार स्थापित की जाय, जो टोकियो के निर्देश पर उसके साथ सहयोग करते हुए कार्य करे। इसमें चीन से और अन्ततः (जब बृहत्तर पूर्व एशिया के लिए नयी प्रणाली का विस्तार हो जाय) पूरे दक्षिणी पूर्वी एशिया से पश्चिमी सामन्तवाद को हटाकर उसके स्थान पर जापानी सामन्तवाद स्थापित करने का उद्देश्य निहित था, क्योंकि जापान को ही अपनी योजना में निहित ऐसे निदेश और नियंत्रण द्वारा इस सहयोग को कार्य रूप देना था। चूँकि इसके अनुसार प्रभावित क्षेत्रों से समष्टिवाद का बहिष्कार करने के लिए चीनी-जापानी सहयोग की स्थापना करने का प्रस्ताव था, इसलिए इसका उद्देश्य रूस को बंकल झील के उत्तरी क्षेत्र से बाहर करते हुए, कम से कम या अधिक से अधिक उत्तरी क्षेत्रों में उसकी स्थिति को समूल विनष्ट करने का था। आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विस्तृत आत्म-निर्भर आर्थिक क्षेत्रं का निर्माण करते हुए उसमें आरम्भिक रूप से जापान, मंचुकूओ और चीन को सम्मिलित करने की योजना थी। ऐसा अनुमान था कि इससे अपरिहार्य रूप से उस क्षेत्र में या तो गैर-जापानी व्यापार और पूँजी लगाने का 'दरवाजा बन्द' हो जायगा या केवल जापान के माध्यम से उसकी शर्तों पर ही उस प्रायद्वीप में घुसा जा सकेगा। दूसरी व्याख्या के अनुसार और इसकी आरम्भिक घोषणा तथा उसके विकास के अनुसार यह स्पष्ट हो गया था कि नयी प्रणाली" में जापान अकेले पूर्ण लाभ प्राप्त करेगा, किन्तु इससे उसी की (जापानी) व्याख्या के अनुसार—(१) जैसा अनुमान किया जा सकता है कि इसमें या तो चीन को आर्थिक लाभ होगा या उस देश के जीवन पर पूर्णतया जापानी निर्देश होने से उसे राजनीतिक लाभ मिलेगा और (२) "नयी प्रणाली" के अन्तर्गत जापान के प्रति मित्रता व्यक्त करनेवाले अन्य दूसरे राज्यों को, तीसरे राज्यों के समक्ष विशिष्ट स्थिति प्राप्त होगी।

पुरानी प्रणाली के विरुद्ध इस स्पष्ट चुनौती का सामना करते हुए, संयुक्त राज्य ने ३१ दिसम्बर, १९३८ को एक "एक नोट" में वाशिंगटन सम्मेलन-प्रणाली के प्रति

अपना समर्थन पुष्ट कर अपनी परम्परागत नीति का सत्यांकन किया। इसने परिवर्तन से इनकार नहीं किया और अपने नोट में यह व्यक्त किया कि

"यह सरकार (अमेरिकी) इस तथ्य से पूरी तरह अवगत है कि परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ है। यह सरकार इस बात से भी पूरी तरह अवगत है कि इनमें से अधिकतर परिवर्तन जापानी कार्रवाइयों के कारण ही हुए हैं। यह सरकार यह नहीं स्वीकार करती कि किसी एक देश (या शक्ति) को इस क्षेत्र में, जहाँ उसकी प्रभुसत्ता भी नहीं है, स्वयं एक "नयी प्रणाली" की शर्तों और स्थितियों को तय करके अपने ऊपर इनके नियंत्रण का उत्तरदायित्व लेने और तदनुसार उनके (औरों के) भाग्य का अभिकर्ता (एजेन्ट) बनने की आवश्यकता है।

तथापि संयुक्त राज्य-सरकार सदा और इस समय भी किसी ऐसे प्रस्ताव पर आवश्यक तथा पूरा ध्यान देने के लिए तैयार है, जो ऐसे न्याय और कार्य-कारण पर आधारित हो, जिससे समस्या का, इससे सीधे सम्बन्ध सभी पार्टियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का विधिवत् विचार रखते हुए, स्वतंत्र समझौता-वार्ता के माध्यम से, समाधान किया जा सके और इन सभी सम्बद्ध पार्टियों द्वारा दिये गये नये वचनों का भी इससे पालन हो सके। यह सरकार सदा और इस समय भी ऐसे प्रस्तावों पर, जब भी वे प्रस्तुत किये जायँ, विचार-विमर्श करने के लिए प्रस्तुत है और ये विचार-विमर्श वह अन्य पार्टियों के प्रतिनिधियों के साथ, जिसमें जापान और चीन भी सम्मिलित हों, जिनके अधिकारों का प्रश्न इसमें सन्निहित है, सामान्यतः निश्चित किसी भी समय और स्थान पर करने के लिए हर प्रकार तैयार है।

इसके साथही, यह सरकार संयुक्त-राज्य के सभी अधिकारों को, वे जैसे इस समय हैं, सुरक्षित रखना चाहती है और उन अधिकारों को किसी भाँति क्षीण करने को सहमत नहीं है।"

संयुक्त राज्य के इस दृष्टिकोण के साथ इंग्लैण्ड और फ्रांस ने भी अपने को संयुक्त कर लिया। इसकी औपचारिक अभिव्यक्ति के पूर्व संयुक्त राज्य ने १५ दिसम्बर को आयात-निर्यात बैंक के माध्यम से चीन के लिए २.५ करोड़ स्टर्लिंग के एक ऋण की व्यवस्था की। दिसम्बर में ब्रिटेन ने भी ऋण नवनिर्मित यूनान-बर्मा राज-मार्ग पर युद्ध सामग्रियों के परिवहन के लिए आवश्यक मोटर ट्रकें खरीदने के लिए ४५०,००० पौंड का एक ऋण चीन को देना स्वीकृत किया।

इन तथा अन्य कार्रवाइयों द्वारा भविष्य में चीन के प्रति एक स्वीकारात्मक समर्थन का संकेत मिला।

जापान ने चीन में अपने आक्रमण को अधिकाधिक कठिन समझने पर और चीनी

मामले को तीव्रता और सफलता के साथ निर्दिष्ट निर्णय तक पहुँचाने में विफल होने पर, पश्चिमी राष्ट्रों के साथ अधिकाधिक संबंध स्थापित करना शुरू किया। च्यांग-काई-शेक को सीधी सहायता सीमित रूप से ही दी जाती थी, किन्तु इसने चीन को अपनी रक्षा करने में बराबर प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य में और अन्य पश्चिमी देशों तथा साथ ही जिनेवा में चीन के समर्थन में मत व्यक्त होने से चीनियों को अपने सुरक्षा-युद्ध को चालू रखने का उत्साह प्राप्त हुआ। जापानियों द्वारा दखल किये गये भाग में विदेशियों के निवास-क्षेत्रों ने चीनियों का समर्थन करने का कार्य किया और गोकि इन पर तटस्थ शासन था, फिर भी इसने जापानयों को अपनी शक्ति सुदृढ़ करने में वाधा उपस्थित की। नानकिंग के पतन के बाद भी चीनी सरकार के कार्यालय शंघाई में विदेशियों द्वारा नियंत्रित क्षेत्रों में बने रहे, गोकि अन्त में इनके वित्तीय कार्यों का केन्द्र वहाँ से हटाकर हांगकांग में स्थापित किया गया था। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों और अनेक रियायती व्यवस्थाओं के अन्तर्गत न तो जापान का और न तो अस्थायी चीनी सरकार का ही अधिकार पूरी तरह स्वीकार किया गया था, इसलिए जापान-विरोधी कार्यों में संलग्न व्यक्ति उन चीनी गुप्तघातियों के साथ, जो छलपूर्वक जापानियों के साथ सहयोग करने वाले और साथ ही छापामार युद्ध चलानेवाले समझे जाते थे, विदेशी क्षेत्रों का अपने मुख्यालय और आत्म रक्षा के स्थान के रूप में प्रयोग करते थे। चीनी सरकार की निधि और अन्य सम्पत्तियाँ, जिनकी चीनी डालर का विनिमय-मूल्य स्थिर रखने के लिए आवश्यकता थी, विदेशी क्षेत्रों में रखी जाती थीं, जहाँ तक जापानियों की पहुँच नहीं थी।

अतः पश्चिमी शक्तियों के विरोध से बचाव का उपाय करने की आवश्यकता पड़ी, क्योंकि हांकाउ के बाद जापान की सैनिक कार्रवाई निर्णायक बिन्दु तक पहुँचने में विफल रही। यह बचाव कार्य १९३९ की वसन्त ऋतु में और उसके बाद विशेष रूप में द्रष्टव्य हुआ। जापानी नीति की दिशा बदलने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों का राजनयिक दबाव, जो अक्टूबर, १९३८ में शुरू किया गया था, १९३९ के शुरू के महीनों में विफल हो गया था। पूर्व कार्रवाइयों के विरुद्ध प्रेषित विरोध और "नयी प्रणाली" को अस्वीकार करने के साथ, इसका उद्देश्य हांगकांग और शंघाई के बीच के क्षेत्र में औपचारिक शत्रुता की समाप्ति के बाद यांगत्जे में पुनः व्यापार चालू करने का प्रयत्न करना था। पश्चिमी राष्ट्रों के दबाव के प्रत्युत्तर में जापान ने पश्चिमी राष्ट्रों पर अपनी व्याख्या के अनुसार "नयी प्रणाली" को स्वीकार कराने का दबाव डाला।

१९३९ में इस दिशा में पश्चिमी राष्ट्रों की स्थिति के विरुद्ध किये गये प्रथम अभियान का पता १० फरवरी को हेनान द्वीप पर दखल करने में लगा था। गोकि

इस पर किये गये आरोप का यह कहते हुए खंडन किया गया था कि यह कार्रवाई चीनी जहाजरानी के अवरोधों को दूर करने और दक्षिणी चीन में कार्य संचालन को सुगम करने के लिए की गयी है, किन्तु जापानी समाचार-पत्रों में इसकी विशेष प्रशंसा की गयी, क्योंकि इससे हांगकांग-सिंगापुर का सम्पर्क भंग होने से हांगकांग का नौसैनिक अड्डे के रूप में कोई विशिष्ट मतलब नहीं रह गया। फ्रांसीसी सरकार और ब्रिटिश सरकार ने इसकी शिकायत की, पर उग्र विरोध नहीं किया, फ्रांसीसी सरकार ने इसलिए शिकायत की, क्योंकि हैनान के सम्बन्ध में पहले से चीन के साथ अनाक्रामक संधि करने के कारण इस कार्रवाई से वह प्रभावित हुआ था और ब्रिटिश सरकार ने अपनी सैनिक स्थिति के विशेष रूप से प्रभावित होने के कारण यह शिकायत की थी। आरोप में इसी प्रकार सागर-तटीय मछुआ द्वीपों के ऊपर अधिकार के सम्बन्ध में भी शिकायत की गयी थी। फरवरी के अन्त में, शंघाई में आतंक जागृत होने के परिणामस्वरूप जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को लागू करने के प्रश्न उठाये और उसने इस आतंकवाद को दवाने के लिए समझौता-शक्तियों की पुलिस और जापानी व्यावसायिक पुलिस के बीच सहयोग स्थापित कराने की माँग की। इसमें उसकी दूसरी माँग के सम्बन्ध में, समझौता-अधिकारियों के बीच ४ मार्च को एक सन्धि हुई। उसके अनन्तर जापानी अधिकारियों ने सहयोजित समझौता संगठन के प्रशासन और नियंत्रण में अपना अधिकांश हिस्सा रहने की अपूर्तिकर माँग की। यह इस क्षेत्र की सबसे सुदृढ़ विदेशी स्थिति और विदेशी अधिकारों और हितों के सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र पर दबाव डालने का कार्य समझा गया। इसका संयुक्त ब्रिटिश-अमेरिकी शक्तियों ने इस आधार पर विरोध किया कि इसमें नीति-विषयक साम्य हो सकता है, किन्तु वर्तमान व्यवस्था में कोई समंजन करने के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं है, क्योंकि इसके लिए भूमिगत विनिमय में परिवर्तन करना पड़ेगा।

इस बीच मई में जापान ने एक दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र कुलांगसु द्वीप से अमाय बन्दरगाह पर आक्रमण किया, जहाँ तत्सम्बन्धी विदेशी हितों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इस कार्रवाई को, जिसमें स्थल सैनिकों की सहायता के लिए एक नौसेना भेजी गयी थी, यह कहकर उपयुक्त सिद्ध किया गया था कि आतंकवाद फैलाने वालों के विरुद्ध सम्यक् कार्रवाई करने में वहाँ की नगरपालिका के अधिकारी असफल थे। कुलांगसु के अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण पर कब्जा करने में जापान को सफलता नहीं प्राप्त हुई, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारियों के समर्थन में वहाँ संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और फ्रांस ने भी समान रूप से अपनी शक्ति-सम्पन्न सेनाएें भेजी थीं। शंघाई और कुलांगसु में पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा संयुक्त सैनिक शक्ति इस कारण लगायी गयी थी कि वहाँ

सबका हित समान रूप से प्रभावित हुआ था, जो इस प्रकार के संगठित प्रयास से ही पुनः बना रह सकता था, इसलिए ऐसे सहयोजित प्रयत्न द्वारा वे अपनी स्थिति अनुरक्षित रख सके थे।

सम्भवतः ऐंग्लो अमेरिकी शक्ति के सहयोजित सैनिक संगठन को तोड़ने के लिए और शायद तियेनसिन की तत्कालीन स्थिति के कारण जापान का दवाव अपना स्थान परिवर्तित कर तियेनसिन स्थित ब्रिटिश अधिकरण पर हुआ। उस स्थान पर सक्रिय संघर्ष ९ अप्रैल को आरम्भ हुआ, जब ब्रिटिश अधिकरण में स्थित चीनी-सीमा-शुल्क-कमिश्नर की हत्या कर दी गयी थी। हत्या के अभियोग में जिन चार आशंकित आदमियों को ब्रिटिश हिरासत में रखा गया था, जापानी अधिकारियों ने उन पर मुकदमा चलाने और तदनुसार दण्ड देने के लिए लौटाने की माँग की। ब्रिटिश अधिकरण के अधिकारयों ने उन्हें कारण बताते हुए देना अमान्य कर दिया कि उनके अभियोग को तत्काल सिद्ध करने के लिये पर्याप्त सबूत उपलब्ध नहीं हैं। जापानियों ने अपनी माँग पूरी होते न देखने पर जून में ब्रिटिश अधिकारियों को अल्टिमेटम दिया और यदि माँग पूरी न हुई, तो उन्हें (अंग्रेजों) को प्राप्त रियायतें बन्द कर देने की धमकी दी। इस रियायत बन्दी पर १२ जून को कार्रवाई भी की गयी। इसको इस रूप में लागू कर ब्रिटिश अधिकरण को वास्तव में एकांगी कर दिया गया। ऐसे अवरोध फ्रांसीसी रियायती अधिकरण पर भी लगाये गये, किन्तु वे उतनी दृढ़ता के साथ नहीं प्रयुक्त किये गये थे। इस प्रकार की कार्रवाई पर ब्रिटिश रियायतों की बन्दी ने विशेष रूप से ब्रिटिश प्रजा की स्थिति वहाँ बड़ी उपेक्षापूर्ण कर दी। ब्रिटिश जहाजरानी और व्यापार दोनों हस्तक्षेप की स्थिति में पड़ गये। ब्रिटिश रियायती अधिकरण के लिए खाद्य-सहपूर्ति अधिकारिक प्रतिबन्धित कर दी गयी। संधि-पूर्व स्थिति में चीनी अधिकारियों द्वारा ब्रिटेन कैन्टन में और जापान में भी इन पर दवाव डालने की तकनीक का दृढ़ता से प्रयोग किया गया।

जान-बूझकर हत्या करनेवालों के विसर्जन का पुराना प्रश्न एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, जिससे ब्रिटिश रियायती अधिकरण उत्तरी चीन और चीन में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में जापान के साथ संघर्ष रत हुआ था, जिसे जापान सुदृढ़ होने देना नहीं चाहता था। तिएनसिन में विदेशी स्थिति इस प्रकार की थी कि वहाँ से उत्तरी चीन के साथ व्यापार करने में जापान के लिए अपने इच्छानुसार एकाधिपत्य स्थापित करना कठिन था।

रियायती अधिकरण के विदेशी बैंकों ने विदेशी विनिमय में चीनी सरकार की मुद्रा के स्थान पर जापान की समर्थित पेकिंग सरकार द्वारा स्थापित "फेडरल रिजर्व बैंक" से जारी किये गये नोट लेना अस्वीकार कर दिया था, जिससे चुकिंग की स्थिति

सुदृढ़ हुई थी और तदनुसार उत्तरी चीन में जापान की स्थिति क्षीण हुई थी। और एनसिन में स्थित बैंक चीन की राष्ट्रीय सरकार के पक्ष में कार्य-विन्यास करते थे, अतः उनके पास सुरक्षित चाँदी का संग्रह जापानियों के अधिकार के बाहर ही रहा। परिणामस्वरूप तिएनसिंग में भी प्रधान प्रश्न शंघाई के प्रश्न के समान ही था और यह आतंकवाद पर नियंत्रण करने के प्रश्न की तुलना में कहीं अधिक गम्भीर था। युद्ध के संदर्भ में तत्कालीन प्रधान प्रश्न विदेशी सरकारों द्वारा जापानी अधिकार या जापान द्वारा विशेषतया नियंत्रित चीनी सरकार की अस्वीकृति का था, जिसके कारण जापान को तथाकथित अधिकृत क्षेत्रों में चांग-काई-शेक का अधिकार पूर्णतया समाप्त करने के लिए कदम उठाने की आवश्यकता पड़ी। दीर्घकालीन उद्देश्यों की दृष्टि से यह प्रश्न चीनी स्थिति पर जापान के अधिकार और उसके नियंत्रण की क्षमता का प्रश्न था।

चूँकि विशेष जोर ब्रिटिश हितों और उसकी स्थिति को दिया गया, जिस पर आक्रमण भी किया गया था, इसलिए यह नग्न सत्य था कि यदि जापान का यह आक्रामक विरोध सफल हुआ, तो उससे अन्य राज्यों के हितों पर भी समान रूप से प्रतिगामी प्रभाव पड़ सकता है। चूँकि सभी पश्चिमी राज्यों की स्थिति एक आधार पर स्थित थी, इसलिए उनमें से यदि एक ने, जिसका निश्चित रूप से वहाँ सर्वप्रधान हित सम्बन्धित है, जापानी शर्तें मंजूर कर लीं, तो औरों के लिए भी अलग-अलग या एक साथ अपने अधिकारों को बराबर बनाये रखना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा और चूँकि ब्रिटेन और अन्य देशों के प्रति जापानी रुख में अन्तर था, इसलिए विदेशियों की स्थिति का—केवल शंघाई को छोड़कर और मामलों में सबने मिलकर एक साथ समर्थन नहीं किया, क्योंकि शंघाई में किसी राष्ट्र विशेष के रियायती अधिकारों के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय रियायती अधिकारों पर आक्रमण किया गया था। प्रयुक्त अन्यथा विशिष्ट हितों की सुरक्षा और प्रत्येक राज्य की नीतियों के समर्थन के लिए अपनायी गयी और समर्थित कार्रवाई एकांगी थी, जब अलग राज्यों ने अलग-अलग कार्य किया था। अतः उदाहरण स्वरूप, चूँकि अमेरिकियों को तिएनसिन में कोई विशिष्ट रियायत नहीं प्राप्त थी, इसलिए वे ब्रिटिश रियायत की सुरक्षा के प्रश्न से अलग रखे जा सकते थे। जब ऐसी कार्रवाई ब्रिटिश स्थिति को क्षीणतर करने के लिए अपनायी गयी, तो अमेरिकियों और फ्रांसीसियों को यह समझने का अवसर दिया गया कि उनके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जायगा।

यूरोप में ब्रिटेन की स्थिति संकटप्रद होने के कारण और पूर्व मित्रराष्ट्र के साथ समझौता करने के लिए उसके देश में आन्तरिक दबाव डालने के कारण टोकियो स्थित ब्रिटिश राजदूत ने 'क्रेइगी-ऐरिटा-समझौते'[1] में निहित सूत्र (विधि) स्वीकार किया,

जिसका उद्देश्य तिएनसिन का अवरोध दूर करना और विवादास्पद प्रश्नों पर समझौता वार्ता जारी रखना था। इसमें यह स्पष्ट किया गया था कि—

"संयुक्त साम्राज्य (ब्रिटेन) की महामहिम सरकार चीन की वास्तविक स्थिति से पूरी तरह अवगत है, जहाँ बड़े पैमाने पर शत्रुता फैली हुई है और वह इस सम्बन्ध में इस तथ्य को भी अंकित करती है कि जब तक वहाँ घटनाएँ इस रूप में बनी हुई हैं, चीन स्थित जापानी सेनाओं को अपनी सुरक्षा बनाये रखने के लिए और उनके अधिकारों में निहित क्षेत्रों में जन-शान्ति और व्यवस्था रखने के लिए तथा ऐसी कार्रवाई और कारणों को, जो उसके शत्रु के लिए हितप्रद हो सकती हैं, दबाने के लिए विशेष अनिवार्य कार्रवाई करने की आवश्यकता है।

उनकी महामहिम सरकार की, उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जापानी सैनिकों की कार्रवाइयों में अवरोध उत्पन्न करने वाले या इनमें भ्रम पैदा करने वाले कार्य करने की कोई मंशा नहीं है और वह इस अवसर पर अपनी नीति पूर्णतया स्पष्ट करते हुए यह सुनिश्चित करती है कि चीन स्थिति ब्रिटिश अधिकारियों या नागरिकों को ऐसे कार्यों और साधनों से अपने को सदा विरत रखना चाहिए।"[२]

यदि यह समझौता तत्कालीन प्रश्न के सम्बन्ध में या भावी घटनाओं के संदर्भ में, लागू किया गया होता, तो यह तिएनसिन में जापान की पूर्ण विजय का द्योतक होता और इसने ब्रिटिश तथा साथ ही चीनियों की भी स्थिति क्षीण की होती। पर यह वास्तव में जापान की अस्थायी राजनयिक विजय ही रही, जिसे चीन स्थित या अन्य स्थानों पर ब्रिटिश हितों की रक्षा के संदर्भ में इस प्रतिरोधी रूप में प्रगट किया गया था, किन्तु यह प्रतिरोध विशेष रूप से तब प्रगट हुआ, जब अमेरिकी सरकार ने १९११ की "अमेरिकी-जापानी-व्यापार-संधि" को समाप्त करने की नीयत से २७ जुलाई को जापान को एक "नोटिस" दी थी। जापानी सरकार ने इस "नोटिस" को संयुक्त राज्य और जापान के बीच व्यापार पर संभावित अवरोध पैदा करने वाला समझा, क्योंकि इस तरह की अवरोध-घोषणा के छः महीने बाद इस पर कार्रवाई होने में कोई कानूनी अड़चन नहीं रह जाती। इस धमकी के कारण जापान को ब्रिटेन पर दबाव डालने में और अधिक असमंजस दिखाई पड़ा, जब कि तत्कालीन प्रमुख प्रश्नों पर समझौते का दूसरा आरम्भ होनेपर यह ब्रिटिश रुख को अधिक नम्र करने में सहायक भी हुआ। अतः स्वीकृतसूत्र (विधि) की विस्तृत व्याख्या करते हुए जापान द्वारा अनुमानित कार्रवाई नहीं की गयी, गोकि तिएनसिन में मतभेद के प्रमुख कारण का निर्णय जापानी शर्तों के अनुसार ही किया गया था। हत्या के लिए दोषी ठहराये गये व्यक्तियों को न्यायिक जाँच और दण्ड के लिए जापान के स्थानीय अधिकारियों के हवाले कर दिया गया

था, जिसके लिए यह दलील पेश की गयी थी कि उनको दोषी ठहराने के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार को और सबूतों की सूचना मिली है, इसीलिए उन्हें जापानियों के हवाले किया गया है। बृहत्तर आर्थिक प्रश्नों पर अभी और वार्ता चल ही रही थी, जब "जर्मन-सोवियत अनाक्रामक-संधि" पर हस्ताक्षर होने के साथ सामान्य स्थिति और बदल गयी।

(४) कोमिंटर्न-विरोधी समझौते का प्रभाव

जापानी नीति का एक स्थायी तत्त्व उसके जर्मनी और इटली के साथ कोमिंटर्न-विरोधी समझौते में निहित था, जिससे समष्टिवाद और इस प्रकार सोवियत संघ से उसकी शत्रुता होने का प्रमाण मिलता है। समझौते ने जापान को केवल धुरी राष्ट्रों से संलग्न ही नहीं किया था, वरन् रूस के समक्ष दोहरे सैनिक असमंजस की स्थिति पैदा कर दी थी, जब उसके यूरोप स्थित मित्रराष्ट्रों ने सुदूर पूर्व में जापान पर रूस का सीधा आक्रमण होने के समय उसे आवश्यक आश्वासन दिया था। संयुक्त-राज्य के अतिरिक्त रूस को ही जापान ऐसे दूसरे सबल राज्य की स्थिति में मानता था, जो अन्य जगहों पर द्वन्द्व से मुक्त रहने पर अपनी कार्रवाइयों द्वारा चीन का प्रभाव-पूर्ण ढंग से समर्थन और जापान के विरुद्ध समर्थ कार्रवाई कर सकता था। युद्ध के समय रूस ने चीन को अन्य राष्ट्रों की तुलना में अधिक स्पष्ट सहायता प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त इसने मंचूकुओ में जापान की दृढ़ सैनिक शक्ति के एक खण्ड को युद्धरत रखते हुए चीन की अपरोक्ष सहायता भी की थी, क्योंकि वहाँ संभावित रूसी आक्रमण के समक्ष अपनी स्थिति सुदृढ़ रखने के लिए जापान को लगभग ढाई लाख से लेकर पाँच लाख व्यक्तियों को तदनुरूप सैनिक सामग्रियों के साथ तैनात करना पड़ा था। बढ़ते मतभेद ने, जिनसे शत्रुता बढ़ती गयी, (जैसे १९३८ के ग्रीष्म में चंगकुफेंग में और १९३९ के ग्रीष्म में मंगोलिया की मंचुकुआन सीमा पर कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं) इस संभावना को निरन्तर बनाये रखा, किन्तु इतना सब होने पर भी, रूस की हितकारी तटस्थता, उसकी चीन के समर्थन में भाग लेने की अपेक्षा अधिक दृढ़ बनी रही।[३]

ब्रिटेन पर अपना दबाव डालने के अंश के रूप में जापान ने उस समय, जब १९३९ के ग्रीष्म में ब्रिटेन, जर्मनी के विरुद्ध रूस को यूरोपीय-रक्षा-संगठन में सम्मिलित करने के लिए और स्वयं अन्य राष्ट्रों से मिलकर उसके समक्ष अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के लिए समझौता वार्ता कर रहा था, जापानी सेनाधिपतियों ने जिन्होंने "कोमिंटर्न-विरोधी-संधि" में भाग लिया था, अपने को जापान-जर्मनी के बीच मैत्रीपूर्ण संधि से सम्बद्ध कर लिया। किन्तु इसमें वे आगे चलकर असफल रहे। क्योंकि जापान-सरकार उस समय यूरोपीय धुरी में अपने को पूर्णतया वचनबद्ध करने के लिए तैयार

नहीं थी। किन्तु केवल इससे कि एक अनिवार्य रूस-विरोधी मैत्रीपूर्ण गठबंधन पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है, सोवियत संघ से सम्बद्ध नाजी स्थिति तदनन्तर बिल्कुल उलट गयी और इतनी गम्भीर हो गयी, जितनी वह अन्यथा (ऐसे समझौते का विचार न होने पर) न हुई होती।

अतः इस अनिश्चय के साथ कि उसकी संयुक्त-राज्य के साथ की गयी संधि का निराकरण कार्यरूप में परिणित करने पर क्या होगा और जर्मनी के रूस के प्रति परिवर्तित रुख के साथ ही यूरोप में युद्ध छिड़ जाने पर, जिसके बाद ही रूस-जर्मनी समझौते पर हस्ताक्षर हुआ, जापानी सरकार को अपनी स्थिति पर पुर्नविचार करना पड़ा। जर्मनी के साथ खुली मैत्री से सम्बद्ध अधिकार-प्राप्त सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। इसके उत्तराधिकारी ने यूरोपीय युद्ध के प्रति जापान की तटस्थ स्थिति का उल्लेख किया। इसने संयुक्त-राज्य के साथ यातायात-अवरोध को कार्यान्वित न करने के लिए वार्ता चलायी। और नानकिंग में एक सरकार स्थापित करते हुए, जिससे शान्ति स्थापित हो सके, इसने चीन में युद्ध समाप्त करना चाहा और ब्रिटेन पर अपना सीधा दबाव बहुत कुछ कम कर दिया।

नानकिंग में सरकार १९४० तक नहीं स्थापित हो सकी, उसके बाद ही बांग-चिंग-वी जब नानकिंग में स्थापित सरकार के प्रधान पद पर प्रतिष्ठित हुआ, तो वह जापान के साथ उसके सहयोग की शर्तें स्वीकार करने के लिए अन्तिम रूप से तैयार हुआ, जिससे सम्भवतः युद्ध समाप्त नहीं हुआ, किन्तु इसने युद्ध को एक गृह-युद्ध के रूप में परिणित करने का आधार प्रस्तुत किया, जब जापानी सेना ने एक के विरुद्ध दूसरी पार्टी को समर्थन प्रदान करना आरम्भ किया।

संयुक्त-राज्य के साथ जापानी वार्ता पर कोई समझौता नहीं हुआ, केवल इससे बैंग सरकार की स्थापना से चीन में युद्ध की स्थिति परिवर्तित हो गयी। किन्तु अमरीकी राजदूत के कड़े प्राक्कथन के बावजूद, २६ जनवरी, १९४० को व्यापार-संधि की समाप्ति के बाद भी तत्कालीन स्थितियों में, जिनमें संयुक्त-राज्य और जापान का व्यापार चल रहा था, कोई विरोधी संशोधन नहीं दृष्टिगत हुआ, यहाँ तक कि अनिवार्य युद्ध सामग्रियों की सहपूर्ति की दृष्टि से भी इस का कोई खास असर नहीं पड़ा। किन्तु फिर भी विपरीत कार्रवाई की धमकी बनी रही।

१९४० की बसन्त ऋतु में जब युद्ध सैनिक कार्रवाइयों की दृष्टि से सक्रियता की स्थिति में आ गया, तो जापान के सामने एक और नयी स्थिति उत्पन्न हुई। यह नयी स्थिति जर्मनी द्वारा डेनमार्क और नार्वे, बेल्जियम और हालैण्ड तथा अन्त में फ्रांस पर सफल विजय प्राप्त करने और जून के अन्त में ब्रिटिश शक्ति के विनाश की धमकी देने

के कारण उपस्थित हुई थी, जिससे जापान का ध्यान अपने पूर्व उद्देश्य की पुनः तत्क्षण प्राप्ति की संभावना की ओर आकृष्ट हुआ, जिसे वह इसके पहले प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। शीघ्रता से इंडो-चीन में फ्रांसीसियों पर दबाव डाला गया। पहले इसने (१) यह सुनिश्चित करने के लिए पर्यवेक्षणीय अधिकार प्राप्त किया कि इंडो-चीन की ओर से चुंकिग में आवश्यक सामग्रियाँ नहीं पहुँचतीं, और (२) उसने हवाई अड्डों पर अधिकार प्राप्त किया, जहाँ से वह बर्मा की सीमा के सहपूर्ति-मार्ग के विरुद्ध और तेजी से कार्रवाई कर सके। यह मार्ग ब्रिटेन द्वारा चीन के लिए गर्मियों में बन्द कर दिया गया था, किन्तु बाद में खोल दिया गया, क्योंकि अन्ततः ब्रिटेन यह मानने के लिए विवश था कि उसके सुदूर पूर्व हितों की जापान से रक्षा केवल चीन द्वारा ही हो सकती है। इंडो-चीन पर दबाव डालने का अभिप्राय सामान्यतया फ्रांसीसी अधिकरण को जापान द्वारा पूर्व घोषित "बृहत्तर पूर्व-एशिया में नयी प्रणाली" के अन्तर्गत लाने और विशेषतया चीन के विरुद्ध इंडो-चीन से होकर सेनाएँ ले जाने और इंडो-चीन के हवाई अड्डों का युद्ध के लिए प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त करना था। जैसी स्थिति थी, उसमें श्याम (थाईलैंड) भी फ्रांसीसी उपनिवेशन में अपना विस्तार करना चाहता था, इसलिए जापान को फ्रांसीसियों से इस सम्बन्ध में उससे भी अधिक रियायत प्राप्त करने का एक साधन मिल गया, जितनी रियायत की——उसे चीन के विरुद्ध युद्ध के लिए आवश्यकता थी। थाईलैंड और फ्रांसीसी उपनिवेश के बीच संघर्ष बढ़ाकर, जापानी सरकार ने स्वयमेव उनके बीच मध्यस्थता करने का अधिकार प्राप्त कर लिया और इस प्रक्रिया में उसने अपने लिए लाभ की स्थिति बनाते हुए सैगान में और साथ ही थाईलैंड के क्षेत्रों में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने की सुविधा प्राप्त कर ली।

जापान सरकार को यूरोप में प्रादुर्भूत नयी स्थिति का पूरा लाभ उठाने में दो चीजों ने बाधा उपस्थित की। इसका एक कारण इसकी सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध की अनिश्चितता थी। नाजियों ने स्वयं अपनी सोवियत विरोधी नीति में परिवर्तन होने के कारण जापान को भी रूस के साथ समझौता करने के लिए प्रोत्साहित किया। इनमें जब तक कोई अपने मूल रुख में संशोधन न करे, तब तक समझौते का कोई आधार प्राप्त करना कठिन था। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि पूर्व वर्षों की ही भाँति १९३९ की गर्मियों में वे परस्पर तीव्र शत्रुता में संलग्न हो गये थे, जिसमें रूस ने यह प्रदर्शित कर दिया था कि जापान का सामना करने के लिए उसके पास पर्याप्त सैनिक शक्ति है। इन परिस्थितियों में 'जर्मन-सोवियत संधि' पर हस्ताक्षर होने के पश्चात् यदि यूरोप में युद्ध छिड़ न गया होता और वहाँ इस तरह की स्थिति न पैदा हुई होती, तो शायद

जापान को मूलतः रूसी शर्तों पर समझौता करना पड़ा होता। किन्तु इस युद्ध ने रूस को यूरोप में उतनी ही तीव्रता के साथ संलग्न कर लिया, जितनी तीव्रता से उसने पहले कम्युनिस्ट-विरोधी जर्मनी की धमकी का सामना किया था। इन परिस्थितियों और उद्देश्यों के संदर्भ में रूसी अधिकारियों के सम्मुख दोहरी असमंजसपूर्ण स्थिति उपस्थित हो गयी थी। अतः दोनों पक्षों में यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि उस समय तत्क्षण अपने उद्देश्यों का कम या अधिक त्याग करते हुए उन्हें समझौता कर लेना चाहिए, जैसा समझौता "कोमिंटर्न-विरोधी मोर्चे" के टूटने के पूर्व होना आसान न होता। फिर भी, फ्रांस के पतन और इंग्लैण्ड के भावी विनाश की संभावना के कारण, जापानी विस्तारवाद के लिए एक नया और प्रमुख क्षेत्र खुल गया। तथापि दक्षिण-पूर्वी एशिया में तीव्र सैनिक कार्रवाई के लिए रूस के साथ मतभेद और शत्रुता की संभावना कम करने की आवश्यकता पड़ी। परिणामस्वरूप जापानी सरकार स्वयं सोवियत संघ के साथ समझौता करने के लिए अपनी नीति में संशोधन करने को तैयार हुई। उत्तर में पारस्परिक हितों की व्याख्या के अनुरूप और ऐसी व्याख्या के आधार पर वार्ता—अनाक्रमण-संधि के निर्णय की प्राप्ति करने में १३ अप्रैल, १९४१ तक सफल नहीं हो सकी, जब तटस्थता की एक संधि पर मास्को में हस्ताक्षर हुआ। इस सम्बन्ध में डच, ब्रिटेन, और साथ ही फ्रांस के सम्बन्ध में तीव्र नीति अभिव्यक्त न होने का दूसरा और समान रूप से महत्त्वपूर्ण कारण—इनकी, और कम-से-कम इन पर संयुक्त-राज्य की प्रतिक्रिया की अनिश्चितता से उपस्थित हुआ था। नाजियों द्वारा हालैण्ड पर कब्जा होने के समय, जापान के विदेश-मंत्री अरिता ने १५ अप्रैल, १९४० को निम्नलिखित वक्तव्य दिया था —

"दक्षिण समुद्री प्रदेशों के साथ, विशेष रूप से नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूहों के साथ जापान एक दूसरे की आवश्यकता पूर्ति और उनके साथ निकटता के कारण आर्थिक दृष्टि से सम्बद्ध है। इसी भाँति पूर्वी एशिया के अन्य देश भी इन प्रदेशों के साथ निकटवर्ती आर्थिक सम्बन्ध रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जापान और इनमें से सभी देश और प्रदेश मिलकर पारस्परिक सहायता और निर्भरता द्वारा पूर्वी एशिया की समृद्धि में योगदान दे रहे हैं।

यदि यूरोप की शत्रुता का नीदरलैण्ड तक, जैसा आप इसे नीदरलैण्ड द्वीप समूह कहते हैं, विस्तार होता है और उसका इस पर प्रभाव पड़ता है, तो यह पारस्परिक आर्थिक निर्भरता, सहअस्तित्व और सामान्य समृद्धि को बनाये रखने और उसे बढ़ाने के केवल उपर्युक्त सम्बन्धों में ही हस्तक्षेप नहीं उपस्थित करेगा, वरन् यह पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से भी एक अवांछनीय स्थिति पैदा करेगा। इन तथ्यों

के संदर्भ में जापानी सरकार यूरोप के युद्ध का इस क्षेत्र में विस्तार होने पर, जो नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूहों की यथास्थिति को प्रभावित कर सकता है, चुप नहीं रहेगी, वरन् इससे वह गहनता के साथ सम्बद्ध होने की स्थिति में होगी।"[४]

१७ अप्रैल को अमेरिकी सचिव हल ने यथास्थिति[५] बनाये रखने पर आधारित अमेरिकी नीति की जो व्याख्या की थी, वह जापान के लिए एक प्रकार से चुनौती थी।

नाजियों ने मई में हालैण्ड पर आक्रमण कर उसे अपने कब्जे में कर लिया था। जैसा पहले बताया गया है, फ्रांस का पतन होने पर जापानियों ने इंडो-चीन पर अपना दबाव डाला था, जो सीधा दबाव होने पर भी चीन के युद्ध से सम्बद्ध थी। तदनन्तर यह दक्षिण में बढ़ने से अधिक स्पष्टतया सम्बद्ध था। नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूहों के सम्बन्ध में पहले आर्थिक सम्बन्धों को बनाये रखते हुए और उसे सुरक्षित रखते हुए ऐसा दबाव डाला गया था। डच अधिकारियों ने वार्ता करने के लिए प्रस्तुत होने की इच्छा व्यक्त करते हुए ऐसे दबाव में कुछ करना अस्वीकृत कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि जहाँ तक तीसरी पार्टी का सम्बन्ध है, उससे वे द्वीप-समूहों की स्वतंत्रता बनाये रखना चाहते हैं। विशेष रूप से उन्होंने 'बृहत्तर पूर्वी एशिया' के जापानी सिद्धान्त को जैसी उस सिद्धान्त की जापानी विदेश मंत्री ने १९४० की पतझड़-ऋतु में और उसके बाद व्याख्या की थी, उसके अनुसार उसे कार्यान्वित करने में अपनी स्पष्ट असहमति व्यक्त कर दी।

यूरोप में युद्ध के विकास के समय अमेरिका ने अपनी नीति के अनुसार पश्चिम में एक गोलार्ध (सामूहिक) सुरक्षा-व्यवस्था की इस आशंका से स्थापना करने पर जोर दिया कि ब्रिटेन को ऐसी स्थिति में फेंक दिया जा सकता है कि उसे गोलार्ध सुरक्षा के निमित्त अपने शस्त्रीकरण के विकास की आवश्यकता पड़े और उसने ब्रिटेन को अपने देश में अपनी सुरक्षा के लिए तथा अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए और यदि सम्भव हुआ तो युद्ध जीतने के लिये उसकी शस्त्र-सहपूर्ति करने में उसकी सहायता करने की नीति अपनाने पर भी जोर दिया। अटलाण्टिक में संभावित आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए इस प्रकार की गोलार्ध-सुरक्षा-व्यवस्था की स्थापना पर अत्यधिक जोर देने पर भी अमेरिकी बेड़ा मलाया की यथास्थिति को भंग करने के निमित्त जापानी हमला होने पर उसके विरुद्ध कार्रवाई करने की धमकी देते हुए, प्रशान्त महासागर में पड़ा रहा। जैसे-जैसे शस्त्रीकरण के विस्तार का अमेरिकी कार्यक्रम आगे और बढ़ता गया, जापान के लिए अमेरिका द्वारा किये जानेवाले युद्ध सामग्रियों के निर्यात पर प्रमुख रूप से अधिकाधिक प्रतिबन्ध लगाया जाना शुरू हुआ। यह विशेषतया अमेरिका द्वारा अपने देश में शस्त्रीकरण के विकास की योजना अपनाने के कारण किया गया, न

कि केवल जापान के सम्मुख अवरोध उपस्थित करने के लिए और जापानी नीति निदेशन के प्रति अप्रसन्नता व्यक्त करने के लिए। अमेरिका ने इसे अपने दृष्टिकोण के कार्यान्वियन में किसी विशिष्ट आर्थिक प्रतिबन्ध के रूप में अमेरिका की निश्चित कार्रवाई के आधार पर भी स्थापित नहीं किया था। तथापि, यह वातास में उड़ते फूस के समान ही रहा, जैसा उसकी चीन के लिए आर्थिक सहायता बढ़ाने का कार्य था। तात्पर्य यह है कि उसकी इस नीति का तत्कालीन परिस्थितियों पर तनिक भी असर नहीं हुआ। तथापि, असंगति इस रूप में भी बनी रही कि अमेरिका, जापान को अनिवार्य सामग्रियाँ देता रहा, जिनका उपयोग वह उन लोगों के विरुद्ध अपने युद्ध-प्रयासों का संभव विकास करने में करता था, जिनको संयुक्त-राज्य ने अनुरक्षित रखना चाहा था।

पहले तो संयुक्त-राज्य पर और द्वितीय रूप में रूस पर दवाव डालने के एक साधन के रूप में जापान, जर्मनी और इटली ने अपनी कार्यकारी राजनीतिक चेतना को २७ सितम्बर, १९४० को एक सैनिक संगठन के रूप में अभिव्यक्त करते हुए इसे "कोमिंटर्न-विरोधी-संधि" में सहयोजित किया। सूदूर पूर्व में पुराना और यूरोप में नया युद्ध एक साथ आरम्भ करने पर इसका प्रभाव पड़ा। इसमें इस बात की व्यवस्था की गयी कि यदि संयुक्त-राज्य उस सीमा तक कोई कार्रवाई करता है, जिसे संधि के हस्ताक्षरकर्त्ता इसे युद्ध के समान समझते हैं, तो ये युद्ध में भाग लेनेवाले अन्य देशों के साथ संयुक्त-राज्य के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा करेंगे। इसलिए यदि संयुक्त राज्य अपने प्रशान्त सागर में स्थित वेड़े द्वारा नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूहों पर जापान द्वारा कब्जा करने के प्रयास में अवरोध उत्पन्न करता है, तो जर्मनी और इटली से भी आशा की जाती है कि वे भी संयुक्त-राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित कर प्रशान्त सागर में उसके विरुद्ध ऐसा युद्ध चलायेंगे। या, यदि ब्रिटेन को अमेरिकी सहायता केवल सामग्रियों की सहपूर्ति तक सीमित न रहकर उससे आगे जाती है, या वह इस सम्बन्ध में किसी विरोधी निर्णय की धमकी देता है, तो जापान से संयुक्त-राज्य के विरुद्ध पैसिफिक में कार्रवाई करने की आशा की जाती है। तथापि, हस्ताक्षरकर्त्ताओं को यह निर्णय करने की स्वतंत्रता थी कि संयुक्त-राज्य की कौन-सी कार्रवाई युद्धपरक समझी जायगी, जिससे इस मैत्रीपूर्ण सहयोग को कार्रवाई करने की आवश्यकता पड़ेगी। स्पष्टतया इसका उद्देश्य पैसिफिक में युद्ध छेड़ने की धमकी देकर संयुक्त-राज्य को इंग्लैण्ड के पक्ष में कोई निर्णयात्मक कार्रवाई करने से रोकना था या यदि अमेरिका उस क्षेत्र से सम्बन्ध होने के नाते निश्चित रूप से बृहत्तर सुदूर पूर्व में जापान की प्रगति में रुकावट डालता है, तो उसे जर्मनी और इटली के साथ भी युद्धरत माना जायगा। इसलिए इसका मूल उद्देश्य केवल तभी निश्चित किया जायगा, जब यह देख लिया जायगा कि इसके कारण

अमेरिका, इंग्लैण्ड और चीन को नीदरलैण्ड द्वीप-समूह एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्रिटेन के सम्बन्ध में अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करता है या समर्थन की कार्रवाइयों में कमी करता है । स्थिति ऐसी ही थी, क्योंकि यदि ये धमकियाँ अमेरिकी नीति-निदेशन में संशोधन नहीं ला सकीं और उसके साथ युद्ध निश्चित हुआ, तो वास्तविक रूप से शक्ति-संतुलन की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि तब जापान, जर्मनी और इटली को यूरोप में उतनी सहायता देने की स्थिति में न होगा, जितनी सहायता वे सुदूर पूर्व में अमेरिका के विरुद्ध जापान को अपना क्रियात्मक समर्थन प्रदान करते हुए, वहाँ उसे देने की स्थिति में होंगे।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस बात का संयुक्त-राज्य में स्पष्टतया अनुभव किया गया या नहीं, किन्तु यह स्पष्ट था कि नवम्बर, १९४० में रूजवेल्ट के पुनर्निर्वाचन के बाद वाशिंगटन, ब्रिटेन और चीन को भी, कम से कम पूर्णतया आर्थिक और वित्तीय सहयोग देने के लिए अधिकाधिक वचनबद्ध होता गया, वहाँ तत्क्षण बाद विशेषतया 'ऋण-पट्टा-विधेयक' के नाम से पुकारा जानेवाला एक विधेयक पारित किया गया, जिसमें राष्ट्रपति को उन देशों को निश्चित करने का अधिकार दिया गया, जिनकी सुरक्षा करना संयुक्त-राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक था और राष्ट्रपति को उनकी सुरक्षा के लिए उपयुक्त समझी जानेवाली सामग्रियाँ, इसकी शर्तों और नियमों के अनुसार देने का भी अधिकार प्रदान किया गया। यह विधेयक इसलिए पारित किया गया और लागू हुआ, क्योंकि यह विचार विशेष रूपेण स्वीकार किया जाने लगा था कि ब्रिटेन और उसके जो भी मित्रराष्ट्र हैं, उनको और साथ ही चीन को समर्थन प्रदान करके ही पश्चिमी गोलार्ध में युद्ध का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना किया जा सकता है। अमेरिका द्वारा 'ऋण-पट्टा अधिनियम' वास्तव में धुरी राष्ट्रों के 'सैनिक-मैत्री-सहयोजन' के प्रत्युत्तर के रूप में, उन्हें वांछित सहायता देने के लिए बनाया गया था।

१९४१ के वसन्त में आक्रमण की संभावना में यह अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा कि जर्मनी चाहेगा कि जापान उसी समय दक्षिण-पूर्व एशिया में ब्रिटिश क्षेत्रों में अपनी सैनिक कार्रवाइयों का विस्तार करे, जिस समय वह स्वयं ब्रिटेन पर आक्रमण करता है। जापान खुले रूप में ऐसा करने के लिए तब तक इच्छुक नहीं था, जब तक वह यूरोप में या तो जर्मनी की विजय पर विश्वास करने के लिए उपयुक्त रूप से आश्वस्त न हो, या फिर उसे रूस से निश्चिन्त होकर स्वतंत्र कार्रवाई करने की स्थिति न मिल जाय। स्थिति का सर्वेक्षण करने के लिए जापान के विदेश-मंत्री मत्सुओका ने हिटलर से मिलने के आमंत्रण पर यूरोप की यात्रा की। तथापि, बर्लिन जाते समय और रोम और बर्लिन होकर स्वदेश लौटते समय मत्सुओका मास्को में भी रुके।

जापानी विदेश-मंत्री ने यूरोप में अपने मित्र राष्ट्रों की शक्ति के प्रति जो धारणा बनायी, वह निश्चित रूप से अनुमान के विपरीत थी। इंग्लैण्ड ने उसके यूरोप-यात्रा के समय उत्तरी अफ्रीका में सफलतापूर्वक आक्रमण का सामना किया था। इसके पश्चात् पूर्वी अफ्रीका में आक्रमण होने पर इटली के साम्राज्यवादी स्वप्न का अन्त होता मालूम हुआ। यूरोपीय युद्ध में ग्रीस पर इटली का आक्रमण होने पर, उसने न केवल आक्रमण को निष्फल ही किया, वरन् उसने इटालियनों को पीछे अल्वानियाँ में उनकी सीमा तक ढकेल दिया। जिस समय मत्सुओका यूरोप में थे, जर्मन, टर्की और यूगोस्लाविया के विरुद्ध राजनयिक प्रत्याक्रमण में भी विफल हो गये थे। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने इटली के बेड़े पर निर्णायक विजय प्राप्त करते हुए भूमध्यसागरीय क्षेत्र में अपनी शक्ति पर्याप्त सुदृढ़ कर ली थी और उन्होंने तरान्तो स्थित इटली के नौसेना अड्डे के विरुद्ध कार्रवाई करते हुए अपनी शक्ति को प्रमाणित भी कर दिया था। और रूस ने, गो कि पूरे साहसपूर्वक नहीं, फिर भी बलगेरिया को अपने क्षेत्रों में जर्मन सेना को प्रविष्ट करने के लिए दबाया और टर्की को यह अनुभव कराया कि उसके लिए शस्त्र के बल रक्षा करने की अपेक्षा तटस्थतापूर्वक रहना अधिक हितप्रद होगा। जापान के सीधे सम्बन्ध के संदर्भ में मास्को की रिपोर्टों से यह पता लगा कि जापान को उससे समझौता करने में काफी घाटा उठाना पड़ेगा और इतना घाटा सम्भवतः उसे उस स्थिति में न उठाना पड़ता, यदि अंग्रेज अपने बल पर जर्मनी के विरुद्ध समर्थ होने की स्थिति में न आ गये होते।

किन्तु दूसरी ओर, जब जापान के विदेश-मंत्री ने अपनी टोकियो लौटने की यात्रा शुरू की तो यूरोप में सैनिक स्थिति तेजी के साथ बदलने लगी। जर्मन और इटली की सेनाओं ने उत्तरी अफ्रीका में पराजित क्षेत्र पर पुनः कब्जा कर लिया। यूगोस्लाविया में राजनयिक पराजय का बदला युद्ध करके लिया गया, जब वह देश तेजी के साथ जर्मनी के सैनिक नियंत्रण में आ गया। ग्रीक सेनाएँ थ्रेस से पीछे ठेल दी गयीं और नाजी— ब्रिटेन और ग्रीस के विरुद्ध अपनी विजय प्रमाणित करने में इस सीमा तक सफल हुए कि जर्मन सैनिक शक्ति के समक्ष विरोधी मित्र राष्ट्रों को अपनी क्षमता पर संदेह होने लगा।

यूरोप में, युद्ध में देशों के भाग्य के चढ़ाव और उतार के कारण श्री मत्सूओका ने अपनी यात्रा के मुख्य उद्देश्य से ध्यान नहीं हटाया। इटली और जर्मनी की असफलता ने उसे प्रभावित अवश्य किया, किन्तु उसके बाद पूर्व पराजयों के विरुद्ध जर्मन सैनिक सफलता ने रूस को भी प्रभावित किया था और उसने निश्चित रूप से मत्सुओका को भी प्रभावित किया होगा। किसी भी तरह हो, जापानी विदेश-मंत्री ने टोकियो लौटते

समय मास्को में सोवियत अधिकारियों के साथ एक "तटस्थता-संधि" करने में सफलता प्राप्त की। इस संधि पर १३ अगस्त, १९४१ को हस्ताक्षर किया गया। इसके द्वारा संधिकर्त्ता राज्यों में प्रत्येक ने एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता और एक-दूसरे के क्षेत्रों का अतिलंघन न करने का समझौता किया। इसमें इस बात का वचन दिया गया कि रूस मंचूकुओ और जापान बाहरी मंगोलिया में कोई आक्रामक कार्रवाई नहीं करेगा। अतः गोकि इससे दोनों देशों के बीच उपस्थित विशेष समस्याओं का हल नहीं हुआ, जैसे—सीमा-निर्धारण और मत्स्य-समस्या का समाधान नहीं हो सका, फिर भी, इसने एक ऐसा आधार अवश्य तैयार किया, जिससे समस्याओं के सुलझाने की आशा की जा सके। तथापि, इसमें तत्क्षण महत्त्व की बात यह थी कि संधि (अधिनियम—२) द्वारा यह निश्चय किया गया कि—'यदि समझौता करनेवाली पार्टियों से एक या अनेक तीसरी पार्टियों के बीच में शत्रुता की स्थिति पैदा होती है, तो समझौता करनेवाली पार्टियाँ पूरे संघर्ष के बीच आपस में तटस्थता की नीति बरतेंगी।'

इस अधिनियम का स्वरूप जापानी दृष्टिकोण से इस रूप में निर्धारित किया गया था, जिससे जापान रूस और संयुक्त-राज्य दोनों द्वारा उपस्थित होनेवाली संभावित कठिनाइयों से एक साथ मुक्त हो सके। अतः यह समझौता सितम्बर, १९४० की धुरी-संधि का अगला चरण कहा जा सकता है। तथापि, इसमें सूदूर पूर्व के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था, इसलिए यदि सोवियत संघ यूरोपीय क्षेत्र में युद्ध-संलग्न हो, तो जापान को अपने उत्तरदायित्व के अनुसार रूस के विरुद्ध कार्रवाई करने की स्वतंत्रता नहीं रहेगी, इस प्रकार यह समझौता धुरी-संधि से पीछे हटने की प्रक्रिया के रूप में भी था।

सूदूर पूर्व में मई, १९४१ तक स्थिति इस सीमा तक पहुँच गयी, जब जापान ने राजनयिक रूप में, जहाँ तक सम्भव था, दक्षिण-पूर्वी एशिया पर यूरोपीय अधिकार के विरुद्ध कार्य करने के लिए रास्ता साफ कर लिया था। च्यांग-काई-शेक को हटाने के लिए जापान द्वारा किया गया प्रयत्न अभी पूरा नहीं हो पाया था और उस संघर्ष के संदर्भ में सोवियत-जापान संधि के अन्तर्गत स्थिति अपरिवर्तित बनी रही। मास्को इस सम्बन्ध में स्वतंत्र रहा और चुंगकिंग सरकार को सैनिक सामग्रियाँ देने का व्यापार चालू रखने की उसकी नियति का संकेत दिया। ऐसी स्थिति में दो प्रधान अनिश्चित धारणाएँ टोकियो में विचारणीय थीं—(१) कि क्या ब्रिटेन यूरोप में अपनी सुरक्षा बनाये रख सकेगा और क्या इसके साथ ही पूर्वी एशिया में जापानी आक्रमण के समय वह सफलतापूर्वक अपना बचाव कर सकेगा, और (२) ब्रिटिश और डचों

के अधिकार-क्षेत्र पर आक्रमण होने पर क्या इसे संयुक्त-राज्य के विरुद्ध युद्ध समझे जाने की संभावना है ?

फिर भी, जापान के सम्मुख उपस्थित स्थिति मई और जून के बीच बदल गयी, क्योंकि जब मत्सुओका ने रूस के—तीसरी पार्टी के साथ युद्ध में संलग्न होने पर तटस्थता बरतने का वचन दे दिया था, उसके बाद जर्मनी ने सोवियत संघ के विरुद्ध (२१ जून, १९४१ को) युद्ध आरम्भ कर दिया। यह बिना जापान को पूर्व सूचना दिये ही किया गया था। उस समय तक यूरोप की घटनाओं के संदर्भ में यह तर्क किया जाता था कि जापान का विस्तारवादी उद्देश्य उत्तर से दक्षिण की ओर अग्रसर होने का है। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जाता कि सोवियत संघ पर अवेक्षित आक्रमण से ध्यान हटाने के लिए ही स्वयं नाजियों ने १९४१ के वसंत में जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश क्षेत्रों पर, जब वह यूरोप में ब्रिटेन पर निर्णायक आक्रमण करे, उसी के साथ-साथ आक्रमण करने की तैयारी करने पर जोर दिया। रूस के साथ तटस्थता-संधि इस दृष्टिकोण के साथ की गयी थी, जिससे जापान के चीन में अपने अधूरे कार्य की पूर्ति के लिए, उत्तर और दक्षिण में एक साथ युद्ध संलग्न होने की संभावना कम न हो सके।

सोवियत संघ पर जर्मनी के आक्रमण ने जापान के सरकारी क्षेत्र में बड़ी असमंजस और संत्रास की स्थिति पैदा कर दी। उस समय उसकी संयुक्त-राज्य सरकार से, समझौता-वार्ता, जो ७ दिसम्बर, १९४१ तक बढ़ा दी गयी थी, अभी पूरी नहीं हो पायी थी। यदि संयुक्त-राज्य से समझौता वार्ता में वे सफलीभूत हो जायँ, तो इससे सुदूर पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया में जापानी कार्रवाइयों में अमेरिकी हस्तक्षेप का भय दूर हो जायगा। यदि यूरोप में रूस पर जर्मनी की शीघ्र और निर्णायक विजय का अनुमान सत्य हुआ, तो जापान उत्तर में कम से कम सैनिक कार्रवाई करते हुए दक्षिण-पूर्वी एशिया में और अधिक संलग्न होने पर भी अपनी शक्ति बढ़ाने में सफल हो जायगा। किन्तु, सोवियत संघ के साथ की गयी संधि के अनुरूप तटस्थता भंग न करने की जापानी नीति को तोड़ने के लिए जर्मनी ने जापान से प्रार्थना की और जापान को तत्काल ब्रिटेन पर आक्रमण की योजना स्थगित रखने की भी, जिसके लिए वे पहले जोर दे रहे थे, प्रार्थना की थी। उन्होंने जापान से रूस के विरुद्ध एक सुदूर पूर्व मोरचा स्थापित करने के लिए जोर दिया, जिसमें यूरोप में युद्ध के किसी निर्णय तक पहुँचने के पूर्व जापान उसकी सहायता कर सकता था, किन्तु इससे स्वयं उसकी अपनी शक्ति क्षीण होने की संभावना थी। दूसरे रूप में, यदि वह दक्षिण में बुरी तरह संलग्न हो जाता, तो वह रूस को सुदूर पूर्व से निष्कासित करने का यह सुअवसर खो सकता था।

जहाँ तक सोवियत-जर्मन युद्ध का सम्बन्ध था, इस असमंजस की स्थिति में—'सावधानी से इसको देखते रहने और प्रतीक्षा करने'—की नीति अपनायी गयी। जापानी नीति में धुरी-संगठन को पुनः समर्थित किया गया था, किन्तु रूस और अमेरिका को यह आश्वासन दिया गया था कि उस समय जापान अपनी तटस्थता की नीति का समादर करेगा, गोकि तटस्थता की नीति के आविष्कर्ता मत्सुओका जापानी मंत्रिमंडल से उसके बाद शीघ्र ही अलग कर दिये गये थे। संयुक्त-राज्य से संभव समझौता करने का कोई वास्तविक आधार पाये बिना, समझौता वार्ता जारी रखी गयी। किन्तु, देश के सम्पूर्ण साधनों का युद्ध की तैयारी के लिए त्वरित रूप में उपयोग हो रहा था और इंडो-चीन तथा नीदरलैण्ड पर दबाव कम करने की अपेक्षा बढ़ाया ही गया था।

(५) जापानी-अमेरिकी समझौता वार्ता—१९४१

१९४१ तक संयुक्त-राज्य अपनी प्रशासकीय नीति के अनुसार धुरी राष्ट्रों के विरोधी देशों को अपनी सुरक्षा बनाये रखने के समर्थन के रूप में "लोकतंत्रीय माध्यम से आयुधशाला स्थापित" कराने में सहायता देने के लिए वचनबद्ध था। मार्च में पारित "ऋण-पट्टा-अधिनियम" ने प्रशासकीय नीति को राष्ट्रीय नीति के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस अधिनियम के अनुरूप चीन उन देशों में से था, जिसे सहायता प्राप्त करने की मान्यता दी गयी थी। परिणामस्वरूप यह अनुमान किया जा सकता था कि चीन को पहले दी गयी सीमित सहायता (निर्यात-आयात-बैंक द्वारा ५ करोड़ ऋण और मुद्रा-स्थिरता के लिए दिया गया ५ करोड़ ऋण) वास्तविक रूप से बढ़ भी जायगी। इसके साथ ही, जापान की अर्थ-व्यवस्था, संयुक्त-राज्य तथा अन्य देशों द्वारा प्राप्य निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के कारण संकटग्रस्त होने लगी थी। १९४१ के आरम्भ में संयुक्त-राज्य से जापान के लिए लोहा, इस्पात, प्रधान धातुओं, मशीनों, अच्छे पेट्रोल, समिश्र पदार्थों, ऊँचे किस्म के पेट्रोल के उत्पादन के लिए वांछित संयंत्रों का जहाजरानी से निर्यात क्रियात्मक रूप से समाप्त-सा हो गया था।[६] किन्तु पेट्रोल का जहाजी निर्यात फिर भी चालू रखा गया, क्योंकि सचिव हल के अनुसार—"जापान इस पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के कारण नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूहों में तेल-उत्पादन करने का बहाना पा जाता।"[७]

इन परिस्थितियों में संयुक्त-राज्य और जापान में तनाव बढ़ गया था। जापान द्वारा चीन के बाद दक्षिण पूर्व एशिया और इंडोनेशिया पर भी दबाव डालने के कारण यह तनाव कम नहीं हो सका। किन्तु, जापान और संयुक्त-राज्य में कोई भी

इस प्रश्न को पैसिफिक में युद्ध फैलने की सीमा तक नहीं ले जाना चाहता था। अमेरिकी मत, विशेषतया यूरोप के सम्बन्ध में, तटस्थता बनाये रखते हुए संलग्नता की नीति के स्वीकरण से आगे बढ़ गया (जिसके अनुसार सैनिक समर या गोलाबारी और सक्रिय युद्ध करने के अतिरिक्त और सारे प्रयास करने की नीति अपनायी गयी) किन्तु स्वयं युद्ध के लिए सैनिक दृष्टिकोण से तैयारी करने के लिए समय की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप जब गैर सरकारी तौर पर यह सुझाव दिया गया, कि "जापानी सरकार अपना राजनीतिक मैत्री-संगठन बदलने और चीन के विरुद्ध अपनी नीति में संशोधन करने के अवसर का स्वागत करेगी"[८]—तो अमेरिकी प्रशासन ने बिना किसी बड़ी आशा के, अनौपचारिक रूप से ऐसा आधार प्राप्त करने की संभावना के प्रति अपनी इच्छा व्यक्त की, जिससे समझौता-वार्ता शुरू की जा सके।

जापान के नये राजदूत एडमिरल नोमुरा के संयुक्त-राज्य पहुँचने पर, जो विचार-विमर्श हुआ, उसमें सचिव हल ने (१६ अप्रैल को) चार सिद्धान्त स्थिर किये, जिनके आधार पर समझौता किया जा सके। ये थे—(१) प्रत्येक और सभी राष्ट्रों की अखण्डता और स्वायत्तता का आदर, (२) दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, (३) समानता के सिद्धान्त का समर्थन, जिसमें व्यापारिक कार्यों के लिए भी समान रूप से अवसर प्राप्त करने की गुंजाइश हो और (४) पैसिफिक में यथास्थिति को शान्ति-साधनों के अतिरिक्त किसी और प्रकार से न बदलने का प्रयास।[९] स्पष्टतया इन सिद्धान्तों के उपयुक्त कार्यान्वियन के लिए और १९३१ में शुरू किये गये उसके बंधनहीन कार्यों के सम्बन्ध में भी जापानी नीति में भविष्य में आमूल संशोधन करने की आवश्यकता थी।

जापानी प्रस्ताव, जिन्हें मानते हुए सचिव हल ने इन्हें समझौता-वार्ता का आधार समझा था, निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों के अनुरूप १२ मई, १९४१[१०] को प्रस्तुत किये गये थे। उनको छः शीर्षकों में रखा गया था—(१) संयुक्त-राज्य और जापान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राष्ट्रों के रूप-विधान का समादर, (२) दोनों सरकारों का यूरोपीय युद्ध के प्रति रुख, (३) चीनी मामले में दोनों देशों का सम्बन्ध, (४) दोनों देशों में व्यापार, (५) दक्षिण-पश्चिमी पैसिफिक क्षेत्र में दोनों राष्ट्रों के आर्थिक क्रिया-कलाप और (६) पैसिफिक क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता के सम्बन्ध में दोनों देशों की नीतियाँ। साधारणतया अमेरिकी नीति से असहमत होते हुए जापान ने "त्रिराष्ट्रीय संधि" के अन्तर्गत सैनिक सहायता देने के अपने उत्तरदायित्व को बनाये रखने का प्रस्ताव किया और संयुक्त-राज्य-सरकार से निवेदन किया कि उसे यूरोपीय युद्ध में अपना रुख इस तरह का रखना और बराबर बनाये रखना चाहिए, जिससे किसी

राष्ट्र को दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्यों में वह सहायता न दे कि संयुक्त राज्य को प्रिन्स कोनोय द्वारा बनायी गयी और नानकिंग में जापान और वैंग-ची-वी-सरकार के बीच हुए समझौते में सन्निहित जापान की चीनी नीति के तीनों सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहिए और जापान को चीन के साथ पड़ोसी जैसा सम्बन्ध स्थापित करने की नीति पर विश्वास करते हुए, आगे च्यांग-कई-शेक से जापान के साथ शान्ति-संधि करने की प्रार्थना करनी चाहिए; कि व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्ध हटाये जाने चाहिए जिसके अनुसार एक दूसरे को ऐसी वस्तुओं की, जो उनके पास या दूसरे के पास उपलब्ध हैं, या जिनकी उन्हें परस्पर आवश्यकता है, सहपूर्ति करने का आश्वासन देना चाहिए कि संयुक्त-राज्य को जापान का दक्षिण-पश्चिम पैसिफिक क्षेत्र में विस्तार शान्तिप्रिय समझते हुए, उसे जापान के प्राकृतिक सामानों जैसे तेल, रबर, टिन, निकेल के उत्पादन एवं प्राप्ति में, जिसकी जापान को आवश्यकता है, सहयोग देना चाहिए और फिलिपाइन की स्वतन्त्रता को स्थायी तटस्थता की नीति के अनुसार अनुरक्षित रखना चाहिए।

जून और जुलाई के गोपनीय विचार-विमर्श में प्रधानता चीन के मसले को ही दी गयी थी; अमेरिका ने जापान से इस बात की सफाई माँगी थी कि कौन-सी ऐसी शर्तें जापान को स्वीकार्य होंगी, जो चीन में शान्ति की पुनःस्थापना की दृष्टि से समझौता कराने का सम्यक् आधार प्रस्तुत कर सकें। जुलाई के अन्त में इंडो-चीन की ओर जापानी अभियान के सम्बन्ध में यह कहा गया कि—"यह पूर्णतया शान्त प्रकृति का और आत्म-रक्षा के प्रयास के समान" है और इसकी आश्यकता इसलिए पड़ी, क्योंकि संयुक्त-राज्य, ग्रेट-ब्रिटेन और नीदरलैण्ड द्वीप-समूहों द्वारा जापान के विरुद्ध सफल अभियान के कारण जापानी जनता की भावना बुरी तरह उग्र हो उठी थी। तथापि, इस प्रकार के कथन के बावजूद, उन्होंने इस धारणा को और सुदृढ़ किया कि जापान द्वारा समझौता वार्ता आरम्भ करने का प्रधान उद्देश्य यह था कि उसकी सैनिक साधनों से प्राप्त हुई नयी स्थिति को संयुक्त-राज्य स्वीकार करे, न कि जापानियों का वास्तविक उद्देश्य दोनों सरकारों के बीच समझौता के लिए एक समंजित स्वीकृत आधार तैयार करना था। इंडोचीन में जापान के सैनिक बढ़ाव के प्रत्युत्तर में कार्रवाई की गयी, उसके संदर्भ में (२६ जुलाई को) एक कार्यकारी आदेश जारी किया गया, जिसके अनुसार संयुक्त-राज्य में जापान की पूरी परिसम्पत्तियाँ समाप्त कर दी गयीं और उसका सारा वित्तीय, आयात और निर्यात सम्बन्धी कार्य अमेरिकी सरकार के नियंत्रण में ले लिया गया। इसके कुछ घंटों के भीतर ही ब्रिटेन और उसके "डोमीनियन" ने इसका अनुसरण किया और डचों को भी सप्ताहान्त तक ऐसी ही कार्रवाई करनी

पड़ी[११]। इन कार्रवाइयों का प्रमुख प्रभाव यह पड़ा कि इसके अनुसार अंग्रेजों, अमेरिकियों और डचों ने जापान के लिए तेल और पेट्रोलियम की सहपूर्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस समय की गयी यह विशेष कार्रवाई विशेषतया जापान की भावी नियति की आशंका के प्रत्युत्तर में की गयी कार्रवाई समझी गयी थी। "मैजिक" (जापान द्वारा गुप्त संदेश-प्रसारण साधन को दिया गया नाम, जिसका रहस्य खुल जाने के वाद) द्वारा अमेरिका के शीर्षस्थ अधिकारियों को इसके वाद से बराबर जापानी योजना के विषय में ऐसे संदेश दिये जाते रहे, जो टोकियो द्वारा इसके विदेश-स्थित प्रमुख अधिकारियों के नाम प्रसारित किये जाते थे। किन्तु इन संदेशों के आधार पर बहुधा कोई कार्र-वाई नहीं की जाती थी, क्योंकि इससे जापानियों को अपने बहुमूल्य गुप्त संचार साधन का रहस्य भंग होने का तथ्य स्पष्ट हो जाने की संभावना थी। इस समय इस गुप्त संदेश से ज्ञात हुआ था, कि—"फ्रांसीसी इंडोचीन पर कब्जा करने के उपरान्त उनकी योजना नीदरलैण्ड द्वीप-समूह को अन्तिमेत्थम देने की है। सिंगापुर पर अधिकार करने में नौसेना प्रधान कार्य करेगी। वहाँ तक सिंगापुर में अधिकार करने के लिए स्थल-सेना द्वारा कार्रवाई करने का प्रश्न था, उसमें केवल एक डिवीजन और नीदरलैण्ड द्वीप-समूह पर कब्जा करने के लिए दो डिवीजन स्थल-सेना की आवश्यकता पड़ेगी।"[१२]

यह सूचना मिलने पर भी, यह स्पष्ट था कि कोई भी समझौता केवल जापानी शर्तों पर होना ही सम्भव था, फिर भी संयुक्त-राज्य द्वारा समझौता-वार्ता पूर्णतया भंग नहीं की गयी, क्योंकि इससे उसे जहाँ तक भी संभव हो, अपनी सैनिक तैयारी पूरी करने के लिए समय मिलने की आशा थी। फिर भी, समझौता-वार्ता चालू रखने के लिए विशेष जोर जापान ने ही दिया था।[१३] वास्तव में इसकी आवश्यकता जापान को आर्थिक दवाव कम कराने के लिए पड़ी थी, जो उनकी निश्चित योजना को विफल कर रही थी। इसमें जापानियों की इच्छा जहाँ तक सम्भव हो—"शान्तिप्रद साधनों से दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी स्थिति का विस्तार करने और अपनी सैनिक तैयारियाँ पूरी करने के लिए वांछित समय प्राप्त करने की भी थी। अन्त में इस बात की भी बहुत अल्प आशा थी कि संयुक्त-राज्य जापानी प्रस्तावों को बिना उनमें आवश्यक संशोधन किये स्वीकार करेगा, जिसमें बिना संशोधन कराये जापान को बिना युद्ध के अपना उद्देश्य पूरा करने का मौका मिल सकता था।

तिसपर भी, १६ अक्टूबर को कोनाय सरकार द्वारा त्यागपत्र देने और उसके स्थान पर जनरल तोजो की प्रधानता में स्थापित मंत्रिमंडल का संगठन होने के समय से उनका अभियान युद्ध की दिशा में ही उन्मुख था। जापान में अमेरिकी राजदूत श्री ग्र्यू[१४] ने स्वयं और अपनी सरकार को भी यह विश्वास दिलाना चाहा कि यह धारणा सत्य

नहीं थी, क्योंकि "मैजिक" द्वारा प्राप्त संवाद (जिससे प्रसारित संवाद उन्हें नहीं प्राप्त हुआ था) के आधार पर उनका दृष्टिकोण मानना कठिन था। तथापि, सरकार के परिवर्तन के बावजूद जापान द्वारा तब तक वार्ता करने पर जोर दिया जा रहा था और उसे तब तक चलाने का प्रयास किया जा रहा था, जब तक शत्रुता के मार्ग पर नितान्त अवरोधक स्थिति न आ जाय।

एडमिरल नोमुरा, जो एक व्यावसायिक राजनीतिज्ञ नहीं था, जापान के लिए नवम्बर तक वार्ता चलाता रहा। अक्टूबर में जापान सरकार का परिवर्तन होने के पूर्व विदेश-मंत्री टोयोडा ने वाशिंगटन में राजदूत की सहायता के लिए एक विशिष्ट अनुभवी राजनीतिज्ञ को भेजने की अभिलाषा व्यक्त की।[15] तथापि, नवम्बर के पहले जर्मनी में नियुक्त पूर्व जापानी राजदूत सबुरो कुरुसू इस वार्ता में भाग न ले सके। उक्त वार्ता के शीघ्र बाद २० नवम्बर को अस्थायी समझौते के लिए जापान द्वारा अन्तिम प्रस्ताव अमेरिकी सचिव के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। २६ नवम्बर को इस पर अमेरिका द्वारा प्रत्युत्तर दिया गया। अमेरिका द्वारा प्रस्तुत प्रति प्रस्ताव वार्ता को, यदि संभव हो, तो चालू रखने का उल्लेख किया गया, गोकि "मैजिक" द्वारा जापान की ऐसी वार्ता को समाप्त कर देने की नियति का पता चल चुका था, जिसके अनुसार बिना मौलिक संशोधन किये प्रस्तावों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर देने का उसने अन्तिमेत्थम दे दिया था और जिसके अनुसार यह स्पष्ट था कि बिना गंभीर संशोधन के प्रस्तावों के स्वीकार करने में संयुक्त-राज्य को अपनी स्थिति का आत्म-समर्थन कर देना पड़ेगा। अमेरिकी 'नोट'—अपनी तदनुरूप व्याख्या के अनुसार, जो जापान के प्रस्तावों के समक्ष उपयुक्त प्रति-प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया गया था, जापान सरकार द्वारा उसके अन्तिमेत्थम की निश्चित अस्वीकृति समझा गया। क्योंकि यह तभी स्वीकार किया जा सकता था, जब जापान अपनी सुदूर पूर्व नीतियों को बदलने के लिए तैयार हो। परिणामस्वरूप जापानी मंत्रिमंडल द्वारा युद्ध के सम्बन्ध में अन्तिम, निश्चित और अखण्डनीय निर्णय लिया गया। तथापि, जब जापानी बेड़ा पर्ल हार्बर की ओर अग्रसर हुआ, जहाँ संयुक्त-राज्य का पैसिफिक बेड़ा विद्यमान था, तब भी वाशिंगटन में विचार-विमर्श चल रहा था।

छब्बीसवाँ अध्याय

प्रशान्त युद्ध

पर्ल हार्बर के आक्रमण से युद्ध का समारम्भ हुआ। उसी समय, इसने यूरोप में जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों तथा रूसियों और एशिया महाद्वीप में जापान के प्रसारवाद के विरुद्ध चीनियों के प्रतिरोध को संयुक्त कर दिया। १९३१ में मंचूरिया में घटित होनेवाली घटनाओं की शृंखला का इस प्रकार का तर्कसंगत निष्कर्ष निकला था। १९३७ में चीन में युद्ध आरम्भ होने के समय तक इन घटनाओं की पारस्परिक प्रतिक्रिया तथा जापान के आन्तरिक राजनीतिक तथा आर्थिक विकासों का वर्णन हो चुका है। अब चीन के अतिरिक्त संयुक्त-राज्य, ब्रिटेन, ब्रिटिश उपनिवेशों तथा नीदरलैण्ड के साथ युद्ध के निर्णय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए १९३७ से १९४१ के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति जापान में होनेवाली आन्तरिक प्रतिक्रिया की जाँच आवश्यक हो जाती है।

(१) जापानी-राजनीति १९३७ से १९४१ तक

टोकियो में नये मंत्रिमंडल की स्थापना के थोड़े ही समय पश्चात् लुकोचियाओव की घटना घटी। हयाशी सरकार के स्थान पर, जो हिरोटा के नेतृत्व वाली सरकार को हटाकर फरवरी १९३७ में स्थापित की गयी थी, ४ जून को राजकुमार कोनोय की सरकार बनी। हिरोटा के परराष्ट्र मंत्रिपद से प्रधान मन्त्री के पद पर उन्नति प्राप्त करने के समय राजकुमार कोनोय ने निर्बल स्वास्थ्य के कारण प्रधान मंत्रित्व के पद को अस्वीकार कर दिया था। परन्तु एक वर्ष के पश्चात् ऐसी स्थिति हो गयी कि उन्हें इस विचार को त्याग कर उक्त पद का उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए सहमत होना पड़ा। हयाशी सरकार की स्थापना का अर्थ था विभिन्न दलों तथा अधिक अनुदार पूँजीपतियों पर सेना की विजय। इसके लिए आवश्यकता इस बात की पड़ी कि या तो संसदीय विरोध पूर्णतः समाप्त हो जाय या सरकार का ढाँचा इस प्रकार परिवर्तित किया जाय कि ऐसे विरोध पूर्णतः प्रभावहीन हो जाँय। दलों तथा उनके पूँजीवादी मित्रों ने सरकार के मौलिक उद्देश्यों पर आक्रमण नहीं किया, पर अपने संसदीय

अधिकारों की रक्षा के लिए वे निश्चय ही प्रयत्नशील रहे। इस प्रकार उनका रुख आक्रमणात्मक न होकर प्रतिरक्षात्मक था, परन्तु यह एक ऐसी प्रतिरक्षा थी, जिसने कम से कम, राजनीतिक पुनर्गठन की ओर अग्रसर होनेवाले आन्दोलन की गति को मंद तो कर ही दिया। "डायट" के भंग करने की शाही आज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् संयम तथा मंद गति से निकल हयाशी ने विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया। अतः अप्रैल के अन्त में सामान्य चुनाव हुआ। यह अचानक चली हुई चाल भयंकर राजनीतिक भूल सिद्ध हुई, क्योंकि सरकार उस स्थिति में मत माँगने के लिए देश के सम्मुख आयी, जब न तो उसे किसी सुसंगठित राजनीतिक समूह का बल प्राप्त था और न उसके पास मतदाताओं से सहायता माँगने के लिए कोई कार्यक्रम ही था। परिणामस्वरूप मिनसीटो की स्थिति बनी रही, यद्यपि उसे युद्ध-स्थान छोड़ने पड़े, तथा सीयुकाई को तत्कालीन राजनीति में उस समय भी दूसरा स्थान प्राप्त रहा। दोनों दलों ने संयुक्त रूप से "प्रतिनिधि-सभा" में मतदान के आधार पर पूर्ण मताधिक्य प्राप्त किया। इस प्रतिकूल मतगणना के सम्मुख हयाशी-सरकार ने अपने स्थान पर बने रहने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके इस प्रयत्न को बल नहीं मिल सका तथा अन्त में ३१ मई को हयाशी ने इस्तीफा दे दिया। तथापि, अन्तरिम काल में उसकी सरकार ने आगे की कार्रवाई के लिए मूल्य-नीति-आयोग, शिक्षा और संस्कृति-आयोग तथा मंत्रिमंडल-योजना-बोर्ड की स्थापना कर अपना मार्ग प्रशस्त कर लिया।

यद्यपि ऐसा कहा नहीं गया है, तथापि अपने उद्देश्य एवम् स्वरूप के अनुसार कोनोय सरकार निश्चय ही राष्ट्रीय थी। प्रधान मंत्री को सेनानायकों का समर्थन प्राप्त था, जिन्होंने एक वर्ष पूर्व ही उन्हें यह पद देने का प्रयत्न किया था। उन्हें नौकरशाही तथा पूँजीपतियों का विश्वास प्राप्त था तथा वे दलों के विरोधी भी नहीं समझे जाते थे। अपनी ख्याति के आधार पर वे उदार शब्द की जापानी अवधारणा की पुष्टि करते थे तथा इससे रूढ़िवादियों की ओर, जो उनकी स्थिति थी, उस पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इस प्रकार उनकी नियुक्ति द्वारा राजनीतिक एकता, जिसका १९३१ से ही अभाव था, लाने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु उद्देश्य के आधार पर यह एकता निश्चय ही सेना की मान्य शर्तों पर आधारित थी। यह उद्देश्य था—संसदीय राजनीति की द्विदलीय व्यवस्था तथा उसी के साथ दल एवम् पूँजीपति-सहयोग की समाप्ति तथा महाद्वीप पर जापानी प्रभुत्व का और अधिक प्रसार। परन्तु कोनोय का उद्देश्य सेना को सरकार पर निरन्तर दबाव डालने का अवसर न देना था, जैसा वह १९३१ से १९३७ तक करती आयी थी, वरन् उसका उद्देश्य उससे आगे बढ़कर महाद्वीपीय आन्दोलन पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना था। ऐसा

करने में चीन के साथ युद्धाग्नि भड़काने की उसकी नियति नहीं मालूम होती, वरन् ऐसा लगता है कि इसका उद्देश्य इतने शक्तिशाली ढंग तथा राष्ट्रीय एकता के इस प्रकार के प्रयत्न के साथ कार्य करना था कि चीन प्रतिरोध की आशा त्याग दे।

चीन के प्रस्थापित प्रतिरोध के साथ प्रबल सामना होने पर जापानी राजनीति तथा सरकार में सेना के भाग लेने का विस्तृत प्रक्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। इस प्रकार इसने उस समय की प्रवृत्ति को अतिशयोक्ति के साथ बढ़ावा प्रदान किया। युद्ध-कार्यों के लिए एकता लाने की दिशा में चलाये जाने वाले आन्दोलन के एक भाग के रूप में सैनिक उग्रवादियों और जनरल युगाकी, को सीयुकाई तथा मिनसीटो के नेताओं के साथ, अक्टूबर १९३७ में स्थापित मंत्रिमंडल-परामर्शदात्री-परिषद् में प्रतिनिधित्व दिया गया। देश के आर्थिक जीवन पर सरकारी नियंत्रण की दृढ़ता तथा प्रसारण के साथ, जो अन्ततः राष्ट्रीय-युद्ध-सन्नाह-कानून के अधिनियम तथा आंशिक प्रयोग के साथ पूर्ण हुए, अधिकारवर्धन के केन्द्रीयकरण की दिशा में सरकारी पुनर्गठन की व्यवस्था चलायी गयी, तथा नये मुख-पत्रों में सेना का प्रभुत्व रखा गया। स्वयं जापान के भीतर तथा महाद्वीपीय नीति के सम्बन्ध में अपनाये जानेवाले नियंत्रण-कार्यों की शक्ति चीन-विकास-बोर्ड तथा मंत्रिमंडल की आन्तरिक वृत्ति में निहित हो गयी थी। इन दोनों ही निकायों का शक्ति-संतुलन सेना के हाथ में था।[1]

कोनोय सरकार युद्ध के दोनों चरणों के समय तथा हैंकाउ के पतन के बहुत समय बाद तक भविष्य की सामान्य नीति की अवरोधी दिशा में कायम रही। पूर्वी एशिया में इन्हें नयी व्यवस्था का रूप दिया गया। ३ नवम्बर, १९३८ को नयी व्यवस्था की उत्पत्ति अचल उद्देश्यों के रूप में घोषित की गयी। उस समय बनायी गयी अवधारणा के मुख्य विवरण थे :— (१) च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में चलने वाली चीनी सरकार के स्थान पर एक ऐसी सरकार की स्थापना, जो टोकियो के निदेशन के अनुसार चले तथा जो, इस प्रकार जापान को सहयोग प्रदान करे, (२) जापानी साम्राज्यवाद की प्रति-स्थापना द्वारा चीन तथा अन्ततः सम्पूर्ण पूर्वी एशिया से पश्चिमी साम्राज्यवाद का उन्मूलन, (३) न्यूनतम रूप में रूसी स्थिति का उत्तर में अवरोध तथा अधिकतम रूप में बैकाल झील के पूर्ववर्ती क्षेत्र से रूस का निष्कासन। नयी व्यवस्था के आर्थिक उद्देश्य मुख्यतः जापान-मंचूकुओ और चीन के बीच पूर्णतया सीमित व्यावसायिक गुट की रचना द्वारा, आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था के सर्जन के रूप में परिभाषित हुए थे। इसकी प्रारम्भिक घोषणा[2] के बाद वाले वर्षों में जापान के मौलिक उद्देश्य के रूप में "पूर्वी एशिया की नयी व्यवस्था" की उत्पत्ति की निरन्तर पुष्टि की गयी। नीति की इस नयी धारणा के सर्जन के पश्चात् आन्तरिक असंतुष्टियों के कारण कोनोय सरकार को ५

जनवरी, १९३९ को डा० बैरन कीचिरो हीरानुमा के नेतृत्व में बनानेवाली सरकार के लिए स्थान रिक्त करना पड़ा। नये प्रधान मन्त्री आधि-राष्ट्रीय तथा ऐसे व्यक्ति थे, जिनके आरम्भिक क्रियाकलापों से यह प्रकट होता था कि जापानी शक्ति-प्रसार के नये महाद्वीपीय कार्यक्रम का जोरदार संचालन करने तथा स्वदेश में सेना की स्थिति को सुदृढ़ करने की प्रत्याशा उनसे उनके स्वयं सैनिक न होने के बावजूद भी की जा सकती थी। इन सभी प्रत्याशाओं को समझने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया। उनकी सरकार के निदेशन के अन्तर्गत, चीन में पुनः आक्रामक कार्रवाइयों को आरम्भ करने का प्रयत्न किया गया। उसके असफल होने पर चीन के विदेशी आवास क्षेत्रों में आंशिक आक्रमण द्वारा वे पश्चिमी साम्राज्यवाद को मिटाने के लिए चल पड़े। उसी समय कोमिंटर्न-विरोधी संघ को सैनिक संश्रय में परिवर्तित करने के लिए एक आन्दोलन का श्रीगणेश किया गया। परन्तु जापान में इसका पर्याप्त विरोध हुआ। दोनों चालें इस विचार पर आधारित थीं कि यूरोप में जर्मनी-इटली के दबाव से समन्वित होनेवाले पूर्व के जापानी-दबाव के सम्मुख इंग्लैण्ड तथा फ्रांस झुकने के लिए बाध्य थे। यूरोप में युद्धाग्नि भड़कने के पूर्व जब एक अनाक्रमणात्मक समझौते पर जर्मनी और रूस ने हस्ताक्षर कर दिया, तो जापानी भावना को बहुत गहरी ठेस लगी। इससे जापानी नीति के अनुपोषण का एक अंग शीघ्र ही विनष्ट हो गया। परिणामस्वरूप जापानी नीति के पुनरनुस्थापन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए बैरन हिरानुमा को इस्तीफा देना पड़ा। २८ अगस्त, १९३९ को हिरानुमा के इस्तीफे के पश्चात् उदारवादी जनरल नोबुयुकी-एबी के आधीन सरकार का पुनर्गठन हुआ। यूरोप के संघर्ष में जापान के लिए तटस्थ स्थिति निर्धारित करना तथा संयुक्त-राज्य से सम्बन्धों को सुधारना—उनकी घोषित नीति थी। जापान की महाद्वीपीय नीति-सम्बन्धी अमरीकी प्रतिक्रिया के कारण जापान-अमेरिका सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे। इस ह्रास के कारण अमेरिका जापान को १९११ में व्यापारिक सन्धि का प्रत्याख्यान करना पड़ा, जो संयुक्त-राज्य और जापान के बीच युद्ध-सामग्रियों के व्यापार की आधिरोपन-क्रिया के रूप में प्रकट हुआ। जापान तथा संयुक्त-राज्य की स्थितियों में इतना पारस्परिक विरोध था कि अमेरिकी विरोध कम करने के लिए जापान अपनी महाद्वीपीय नीति में अधिक रिआयत न कर सका। मुख्य रिआयत, जो उस समय प्रस्तावित थी, वह यह थी कि नौरोहण के लिए यांगत्जी नदी पुनः खोल दी जायगी। सेना के रुख के कारण इसका भी पालन नहीं किया गया। इस प्रकार विदेशी सम्बन्धों के उस क्षेत्र में, एबी सरकार कार्य-सम्पादन की दिशा में अपना निर्वाह न कर सकी। संयुक्त-राज्य के साथ जापानी सम्बन्ध सुधारने की योग्यता के अभाव के कारण नहीं, वरन् स्वदेशीय असंतुष्टि के कारण

यह सरकार हटा दी गयी। जब 'डायट' बुलायी जाती, तो उस समय निश्चय ही आलोचनात्मक बहस तथा परस्पर आक्रमण होते। इसी अनुमान से सेनानायकों ने जनवरी, १९४० में युद्ध-मंत्री के इस्तीफे की सामान्य व्यवस्था द्वारा सरकार को इस्तीफा देने के लिए विवश कर दिया। १५ जनवरी, १९४० को एबी सरकार का स्थान एडमिरल मित्सुमासा योनई की सरकार ने ग्रहण किया। एक ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति से, जो उदार तथा संयुक्त-राज्य का मित्र समझा जाता था, यह प्रकट हुआ कि सरकार का परिवर्तन एबी सरकार की नीति के उस दृष्टिकोण के कारण नहीं हुआ था, जिसमें संयुक्त-राज्य से सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्न सम्मिलित थे। युनाई की नियुक्ति से जापान की जनता को काफी आश्चर्य हुआ, क्योंकि अवकाश ग्रहण करनेवाले युद्ध-मन्त्री जनरल शुनरोकू की, जो कम उदार सेनानायकों में से थे, नये प्रधान मंत्री बनने की भविष्यवाणी की गयी थी, यद्यपि जनता की माँग, जहाँ तक वह ध्वनित हुई, द्वितीय कोनोय सरकार के लिए थी।

योनई सरकार का कार्य-काल केवल ६ मास का था। जैसा पहले ही सोचा गया था उसने डायट की आलोचना को सफलता पूर्वक झेल लिया। वह संसद-सदस्य, टकाओ सैतो के बलात् इस्तीफे के कारण जिन्होंने चीन युद्ध समाप्त करने की असफलता की आलोचना के कारण सेना को अप्रसन्न कर दिया था, ऐसा करने में समर्थ हो सकी थी। इन आलोचनाओं का अर्थ स्वयं सेना की आलोचना के रूप में समझा गया था। मंत्रि-मंडल का पतन, संसद के बाहर होनेवाली मंत्रिमंडल की आलोचनाओं के कारण हुआ, जिनके अनुसार यूरोप में जर्मनी की विजय के संदर्भ में हालैण्ड और फ्रांस के पराजित होने तथा इंग्लैण्ड के अस्तित्व के विरुद्ध निरन्तर संकट उपस्थित होने पर मंत्रिमंडल, उन स्थितियों का पर्याप्त लाभ उठाने में, जिससे जापानी उद्देश्य की घोषणा के अनुसार "बृहत्तर पूर्वी एशिया में नयी व्यवस्था" की स्थापना की जा सकती थी, असफल रहा।

योनई सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार के लाने का प्रयत्न जून में ही आरम्भ हो चुका था, जब राजकुमार कोनोय ने प्रिवी परिषद् के सभापति के पद से (जून २४, १९४०) "एक नयी तथा आदर्शवादी संस्था" के रूप में एक नये राजनीतिक संगठन बनाने की घोषणा करते हुए इस्तीफा दिया था। इस घोषणा के पश्चात् समयानुसार सभी राजनीतिक दल ३ जुलाई से १५ अगस्त के बीच भंग हो गये। इन प्रारम्भिक बातों के संदर्भ में १८ जुलाई, १९४० को कोनोय पुनः प्रधान मन्त्री हो गये। उस समय न तो नये दल की रचना ही पूर्णतः स्पष्ट थी, न वर्ष के अन्त तक नयी राजनीतिक तथा सरकारी व्यवस्थाएँ ही विकसित हुई थीं। यह सुस्पष्ट था कि पूँजीपतियों से मिले हुए "भ्रष्ट" दलों के प्रभाव के विनाश द्वारा व्यवस्था को "शुद्ध" करने वाले

आन्दोलन का, जिसका उद्घाटन १९३१ के पश्चात् किया गया था, उद्देश्य अन्ततः पूर्ण हुआ। कोनोय के विचार में प्रतियोगात्मक दल-व्यवस्था के स्थान पर संगठित "आध्यात्मिक गतिशीलता" पहले ही आ चुकी थी। इस प्रकार एक राष्ट्रीय दल संगठित करने के प्रयत्न का आशय दल-व्यवस्था-क्षेत्र के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये आशय से कहीं अधिक विशद था।

नये दल की उत्पत्ति, जो साम्राज्यिक कानून-सहायक-संस्था कहलाती थी, १२ अक्टूबर, १९४० को हुई। पश्चिमी प्रजातंत्रीय फासिस्ट अथवा साम्यवादी आशय के अनुकूल एक राजनीतिक दल न होकर, यह सरकार नियंत्रित प्रसार-पेटी के सदृश थी, जो सरकारी नीतियों का जनता को ज्ञान कराकर उनके प्रति जनता की आस्था जगाती थी[3]। अतः जब चुनाव का समय आया, तो जैसा अप्रैल, १९४२ के चुनाव से प्रकट हुआ, इसने तदनुरूप वांछित आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की। पूर्व मैत्री-संगठनों के अनुसार इसने डायट के विखण्डन को मिटाने में भी सहायता नहीं दी। ऐसी स्थिति, १००सदस्यों-वाले डायट-ब्यूरो की स्थापना होने और,अन्तर्निहित राजनीतिक दलों के स्थान पर विचार-विमर्श करने के लिए नवनिर्मित 'डायट-क्लब' की रचना होने के बावजूद हुई।

परिणामतः राजनीतिक कार्यों के अभिप्राय से थोड़े ही समय पश्चात् (मई १९४२) एक पूरक एजेन्सी की स्थापना की गयी। यह नयी एजेन्सी—"साम्राज्यिक विधि-साहाय्य-राजनीतिक समिति" के नाम से प्रसिद्ध हुई। व्यावहारिक रूप में यह डायट-सदस्यता की संस्था थी, जो डायट के निर्वाचन के लिए गैर-पार्टी सिद्धान्त पर अभ्यर्थियों के नाम निर्देशनार्थ एजेंसी का कार्य करती थी। इससे साम्राज्यिक विधि-साहाय्य-समिति के डायट-ब्यूरो का भी प्रसार होता था। इसके अतिरिक्त इसकी रचना पुराने दलों को पुनः चालू करने अथवा उनके स्थान पर नये दलों के बनाने के प्रयत्न को विफल करने के लिए हुई थी। साम्राज्यिक विधि-साहाय्य-समिति तथा सामाजिक विधि-साहाय्य-राजनीतिक समिति के क्रिया-कलापों द्वारा सरकार में जो राजनीतिक तथा आध्यात्मिक एकता लाने का प्रयत्न किया गया था, उसका निर्वाह नहीं किया गया, क्योंकि युद्ध की धारा जापान के विरुद्ध हो गयी। राष्ट्रीय मनोबल के पुनःस्थापन के प्रयत्न में ३० मार्च, १९४५ को साम्राज्यिक विधि-साहाय्य-समिति की प्रेरणा से साम्राज्यिक विधि-साहाय्य-राजनीतिक समिति ने थोड़े समय के लिए, बृहत् जापान की राजनीतिक समिति का निर्माण किया। यह नयी राजनीतिक समिति, जो जापान के आत्म-समर्पण के समय तक चलती रही, १४ सितम्बर, १९४५ को औपचारिक रूप से भंग हो गयी। इस प्रकार इसने दखल नीति की भविष्य वाणी के अनुसार प्रतियोगात्मक दल-व्यवस्था के पुनरुज्जीवन के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

सरकार के सैनिक तथा नौकरशाही नियन्त्रण की दृढ़ता के लिए एजेन्सी के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त कोनोय मंत्रिमंडल का (जो उनके प्रधान मंत्रित्व में १९४१ की जुलाई में पुनः निर्मित किया गया था) यह भी उत्तरदायित्व था कि वह अमेरिका से जापान की परराष्ट्र नीति के उद्देश्यों को स्वीकृत कराने का प्रयत्न करे। जितने समय तक कोनोय १९४१ में आरम्भ किये गये इस समझौते की प्रत्याशा बँधा सके, उतने समय तक आन्तरिक स्थिति पर कुछ सीमा तक नियंत्रण रखने का उन्हें संयोग मिलता रहा। जब जुलाई में संयुक्त-राज्य तथा अन्य स्थानों में जापानी परिसम्पत्तियों का समापन कर दिया गया तो इसकी प्रत्याशा न्यूनतम हो गयी। परिसम्पत्ति-समापन का आदेश परिवर्तित न होने पर, अपने साधनों के अत्यधिक न्यून हो जाने के पूर्व, जापान को या तो हटना पड़ता या उसे अन्ततः अपनी नीति को ही परिवर्तित करने के लिए विवश होना पड़ता। अमेरिका के इसी कार्य की यह आभासित प्रतिक्रिया थी कि अन्तिम उपचार के रूप में कोनोय ने अमरीकी राष्ट्रपति से स्वयं मिलने का सुझाव रखा। इसका प्रबन्ध न हो सकने के कारण उसका मन्त्रिमंडल भंग हो गया तथा जनरल हिदेका तोजो से सरकार बनाने के लिए निवेदन किया गया। यह सरकार युद्धकालिक सरकार के रूप में प्रसिद्ध हुई तथा १९४४ तक चलती रही।

(२) जापान पर 'चीनी कार्य' का आर्थिक प्रभाव १९३७–१९४१

जिस प्रकार 'चीनी कार्य' के प्रभाव के अनुसार जापान को, पूर्वस्थित राजनीतिक तथा सरकारी प्रवृत्तियों को सुदृढ़ करना था, उसी प्रकार अनेक कारणों से उसके आर्थिक प्रभावों का आशय उस आन्दोलन को आगे बढ़ाना था, जिसकी उत्पत्ति युद्धारम्भ के पूर्व ही हो चुकी थी।

सार्वजनिक वित्त के सम्बन्ध में यह बात मुख्यतः लागू होती थी। पूर्ववर्ती वर्षों में सरकारी खर्चे में स्थायी वृद्धि (१९३१–१९३२) के वित्तीय वर्ष में १४७.७ करोड़ येन से १९३६–३७ में २२८.२ करोड़ येन तक) हुई थी, जिसका निरन्तर बढ़ता हुआ अनुपात सेना तथा नौसेना के कार्यों में लगाया गया था। राजस्व में इतनी वृद्धि नहीं हुई। इस कारण बजट-सन्तुलन के अभाव का परिणाम यह हुआ कि आन्तरिक रूप में चालू किये गये राष्ट्रीय ऋण में (मार्च १९३० के ४५१.३ करोड़ येन से मार्च १९३७ में ९२५.८ करोड़ येन की) वृद्धि हुई। इसके साथ बाहरी ऋण भी जोड़ना पड़ेगा, जो कुछ सीमा तक उस समय कम हो गया था। खर्च तथा ऋण दोनों की वृद्धि, मुख्यतः, मंचूरिया में किये जानेवाले संचलन तथा मंचूकुओ में सैनिक एवम् आर्थिक स्थिति के दृढ़ीकरण के व्यय में प्रकट हुई।

इस प्रकार का व्यय (प्रसारवादी कार्यों के लिए) प्रकृतितः उस समय बहुत बढ़ गया, जब चीन के विरुद्ध वास्तविक युद्ध चलाना पड़ा। १९३७ के राजस्व वर्ष के बजट में ५५२.१ करोड येन की आवश्यकता पड़ी, १९३८ में यह आवश्यकता ८०० करोड़ तथा १९४० में ११०३.३ करोड़ तक बढ़ गयी।[४] व्यय की इस प्रबल वृद्धि के कारण करों में भी वृद्धि हुई, परन्तु युद्ध-व्यय के पर्याप्त अंश की पूर्ति देशों में अपनायी गयी संचालित-ऋण-व्यवस्था से की गयी थी। इस प्रकार जापान का सरकारी ऋण चीन-युद्ध के साथ प्रतिवर्ष बढ़ता गया। ३१ मार्च, १९३१ के ६८१.९ करोड़ येन से बढ़ कर ३१ मार्च १९४१ को यह ३१०७.८ करोड़ (देशीय बान्ड--२८६१.१ करोड़ येन) तक पहुँच गया।[५] इन विशाल ऋण-राशियों को चालू करने में बढ़ती हुई कठिनाइयों के कारण जापान के बैंक द्वारा ऐसे प्रत्येक ऋण को जारी करना उसके बढ़ते हुए अनुपात में, रोकना आरंभ हो गया। इस प्रकार मुद्रास्फीति का भय बढ़ गया।

करों में तीव्र वृद्धि तथा उसके साथ ऋण के चन्दों की वसूली करने की बढ़ोत्तरी का तात्पर्य जनसंख्या के साधारण जीविका-निर्वाह के उपरान्त राष्ट्रीय आय को युद्ध कार्यों में लगाना था। इसमें सैनिक तथा नौसेना के प्रयत्नों के संपालन-व्यय के अतिरिक्त महाद्वीप पर विकास कार्यों के सम्बन्ध में किये हुए व्यय भी सम्मिलित थे। इनकी पूर्ति के लिए, राज्य के हित में लोगों की त्याग-भावना पर अधिक बल देना पड़ा। यह कोई नयी रीति नहीं थी। युद्ध-प्रयासों को जारी रखने की अधिक माँग होने पर व्यक्तिगत हित को असाधारण रूप से राज्य हित के आधीन करना पड़ा। जापानियों द्वारा इस आधीनता को ग्रहण करने की स्वीकृति के कारण युद्ध-अवधि का अनुमान (चीनियों के अनुमान सहित) गलत सिद्ध हो जाता है। युद्ध का वित्तीय व्यय सँभालने के कारण जापान की आर्थिक स्थिति निश्चय ही क्रमशः गिर गयी, तथापि १९४१ के अन्त में यह उक्ति उतनी ही वास्तविक थी, जितनी कि १९३९ में, जिसके अनुसार—"यह निष्कर्ष निकालना संकटपूर्ण होगा कि जापान की आर्थिक कठिनाइयाँ इतनी बड़ी हैं कि उनका प्रभाव जापान की युद्ध चलाने की योग्यता पर पड़ेगा। अनुभव से यह ज्ञात हो चुका है कि जिस आर्थिक परिक्लान्ति के निकट इस समय जापान पहुँचा चुका है, उससे भी अधिक निकट पहुँचे हुए देश, शक्ति और सफलता के साथ लड़ते रहे हैं। वास्तव में यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि केवल आर्थिक श्रान्ति ही युद्ध के प्रश्न पर प्रभाव डाल सकती है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि जापान भविष्य को समत्व की दृष्टि से देख सकता है। उसकी आर्थिक व्यवस्था युद्ध-कालिक वित्तीय-उपकरणों से निश्चय ही गम्भीर रूप में क्षीण हो चुकी है।"[६]

परन्तु १९३७ की पूर्वकालिक प्रवृत्तियाँ केवल लोक-वित्त के क्षेत्र में ही प्रदर्शित

अथवा अतिवादित नहीं हुई थीं। मंचूकुओ के निर्मित करने के प्रयत्न के कारण जापानी अर्थ-व्यवस्था में छोटे उद्योग—मुख्यतः वस्त्र-उद्योग से भारी-उद्योग की ओर झुकाव आरम्भ हुआ। समुद्र पार औद्योगिक विकास का सैनिक उद्देश्य पूरा करने के निमित्त पूँजी प्रदान करने वाले पदार्थों का मंचूकुओ और कोरिया में निर्यात करने के लिए जापान में एक भारी उद्योग का विकास करना आवश्यक हो गया था। इस प्रकार देश के धातुकर्म-उद्योगों पर एक नया बल दिया जाने लगा था। इस विकास को राज्य द्वारा प्रोत्साहन तथा अर्थ-सहायता प्राप्त हुई थी। इस कारण इसमें भाग लेने वाले तथा इससे लाभान्वित होने वाले निजी हित के लोग सैनिक नेताओं से मिल गये। इससे सैनिक प्रसारवादी योजना को, १९३१ के पूर्व कालिक नेतृत्व की अपेक्षा, अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। बृहद् युद्ध-प्रयास तथा बढ़ती हुई विनिमय-कठिनाइयों के कारण भारी उद्योग के विकास को और भी अधिक बल मिला। युद्ध-प्रभाव के अन्तर्गत निर्यात-उद्योगों के आधार पर इसका प्रसार और भी अधिक हुआ। १९३७ के पहले जिन बातों पर जोर दिया गया था उसकी प्राप्ति छोटे निर्यात-उद्योगों को विकसित करके ही सम्भव हो सकी थी, न कि उन परिस्थितियों में जिनमें इन छोटे उद्योगों को संकुचित करने की आवश्यकता पड़ती। परन्तु १९३७ के पश्चाद्वर्ती विकास के कारण उनका संकुचन आवश्यक हो गया।

यह परिस्थिति आयात को युद्ध-कार्यों के लिए आवश्यक सामानों और उसी प्रकार भारी उद्योगों, (शस्त्रास्त्र), तक ही प्रतिबन्धित होने के कारण उत्पन्न हुई। १९ मार्च, १९३३ को प्रख्यापित विदेशी-विनिमय-नियंत्रण कानून ने सरकार को उसी विनियमन का अधिकार दिया, जिसको उसने लुकोचियाओ घटना के पूर्व प्रयोग में लाना आरम्भ कर दिया था। प्रतिमास ३०,००० येन से अधिक के आयात का भुगतान करने के निमित्त विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए इन विनियमों के अनुसार वित्त-मंत्रालय का आदेश प्राप्त करना आवश्यक था।[७] ये तथा अन्य यत्न, मुख्यतः येन की सुरक्षा के लिए ही अधिनियमित किये गये थे। परन्तु उनका कार्य कच्चे माल के आयात पर निर्भर करनेवाले उद्योगों के भी सामान्य संचालन में हस्तक्षेप करना था। परिणामतः, ये मुख्य निर्यात के छोटे उद्योग तथा शस्त्रास्त्र उद्योगों सहित भारी उद्योग से सम्बन्धित थे। युद्ध के कारण शस्त्रास्त्र-उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। अतः आयात के लिए खर्च करने की सीमित शक्ति होने के कारण, आवश्यक कच्चे माल तथा तैयार वस्तुओं का आयात करने में भारी उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान करने का आधार तैयार किया जाने लगा। १९३७ के अक्तूबर में युद्ध-कार्यों के निमित्त, विनिमय तथा अन्य प्रसाधनों को सन्निहित करने के लिए आयात-निर्यात के अस्थायी विनियमन के सम्बन्ध में कानून बनाया गया। इससे सरकार को केवल कुछ सामग्रियों के आयात-निर्यात को निषेधित अथवा प्रतिबन्धित

करने का ही अधिकार नहीं मिला, वरन् इससे वह आयात किये हुए कच्चे माल से तैयार होनेवाली वस्तुओं के उत्पादन, वितरण तथा उपयोग के विषय में भी अधिनियम जारी करने लगी।[८]

इस उपाय तथा उसी दिशा में किये गये अन्य प्रयत्नों के अन्तर्गत शस्त्रास्त्र-उद्योग के हित में सरकार ने आयात को नियंत्रित कर लिया और उसी क्रम में छोटे देशीय-उद्योग तथा निर्यात-उद्योग के लिए १९३७ के पूर्वस्तर पर जो कच्चे माल का पर्याप्त आयात होता था, उसे भी रोक देना पड़ा। इस प्रकार आन्तरिक, आर्थिक-सन्तुलन में पुनः उलट-फेर हुआ। शीघ्र ही यह पता लग गया कि इससे राज्य एक अथवा दोनों ही ओर से द्विविधा में पड़ गया है। तदर्थ—'येन' गुट के निर्यात द्वारा आवश्यक आयातों के व्यय की पूर्ति की जाती थी। परन्तु उन निर्यातों को कायम रखने तथा बढ़ाने के लिए आयात को पर्याप्त अनुपात में शस्त्रास्त्रेतर निर्यात-उद्योग में विनिहित करने की आवश्यकता थी। इस प्रकार युद्ध-कार्य सम्बन्धी आयात पर अन्य रूप में जितना ही जोर दिया गया, उतना ही उन आयातों का खर्च सँभालना कठिन हो गया। अतः उसे बनाये रखने के लिए जोर कम कर देना आवश्यक हो गया। आंशिक रूप में चीनी युद्ध के आरम्भिक वर्षों में व्यापक स्वर्ण-पोत-भरण तथा येन-गुट के बाहर से शस्त्रास्त्रेतर-आयातों का परिमाण कम करके आवश्यक युद्ध सामग्रियों के आयात का व्यय निर्वाह करना जब सम्भव हो गया, तो उससे आरक्षित स्वर्ण-राशि कम होकर संकट-बिन्दु तक पहुँच गयी। अतः कम-से-कम निर्यात उद्योग के निर्वाह के लिए कोई-न-कोई मार्ग ढूँढ़ना आवश्यक हो गया।

इसके लिए १९३८ के अगस्त में "सम्पर्क' व्यवस्था के प्रस्तुतीकरण द्वारा प्रयत्न किया गया, जिसके अन्तर्गत कच्चे माल के आयात के साथ निर्यात के लिए माल तैयार करने की विनिमय व्यवस्था अपनाने का प्रबन्ध करना था। इस व्यवस्था के सफल परिचालन से, जिसने स्वदेश के कच्चे माल के देशीय उत्पादन को देशीय उपभोग तक ही सीमित कर दिया, पर्याप्त आंतरिक पुनःसमंजन तथा देशीय अर्थव्यवस्था पर, सरकारी नियंत्रण का क्षेत्र-परिवर्धित करना आवश्यक हो गया। पिछले उपाय की आवश्यकता इसलिए पड़ी, क्योंकि प्रत्यक्षतः यह ज्ञात हो गया था कि युद्ध प्रयासों को सफल बनाने के के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति उस दिशा में लगानी आवश्यक थी।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के आयात को नियन्त्रित करने के अतिरिक्त "चीनी-समस्या" के कारण देशीय अर्थ-व्यवस्था पर सरकार का निरन्तर बढ़ता हुआ प्रतिबन्ध इस सीमा तक लगा दिया गया कि ऐसी सरकार को कम-से-कम उसकी बनावट के अनुसार, यद्यपि उस बनावट का कभी प्रयोग नहीं किया गया, समग्रवादी सरकार

कहना उचित होगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए जो यत्न पहले किये गये थे, उनमें —१९३७ के अस्थायी पूँजी-समंजन कानून, (जिसे देश की बचत को भारी उद्योगों में लगाने के लिए बनाया गया था), लोहे तथा इस्पात के नियन्त्रणार्थ १९३८ में स्थापित की हुई समिति के संगठित करने के लिए बनाये गये अधिनियम, जुलाई, १९३८ में निर्मित, कपास संभरण तथा समंजन समिति तथा १९३७ के संशोधित-विनिर्माता-संघ के अधिनियमों का उल्लेख किया जा सकता है।[९] ऐसे तथा पूर्व-घटना-नियंत्रण के लिए अपनाये गये अन्य प्रयत्नों से, जिनमें से कुछ १९१८ में अपनाये गये थे, १९३८ के सामान्य युद्ध सन्नाह-नियम के लागू करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने में सहायता मिली। यह इस आशय के साथ अधिनियमित किया गया था कि युद्ध (जो शाब्दिक रूप में आरम्भ नहीं हुआ था, क्योंकि चीन के युद्ध को इस समय एक घटना मात्र ही समझा गया था) के अतिरिक्त इसका प्रयोग और कहीं नहीं किया जायगा। चीनी सरकार के विरुद्ध संघर्ष के बढ़ाव तथा प्रसार के कारण युद्ध-सन्नाह-नियम का आंशिक प्रयोग १९४० के अन्त तक बढ़ कर प्रायः पूर्ण प्रयोग के रूप में कार्यान्वित किया गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जापान के ऊपर चीनी युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इससे 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विचित्र प्रकार के सरकारी नियंत्रणों के आधीन रह चुकी थी तथा यह उद्योग के सभी क्षेत्रों में व्याप्त पूर्वतः जटिल स्वायत-नियंत्रणों तथा युद्धकालीन अन्तः संचार-व्यवस्थाओं से संयोजित हो गयी थी। लघु-व्यापार घटते जा रहे थे, परन्तु बड़े व्यापारों का भी पूर्ण नियंत्रण नहीं स्थापित हो सका था। सरकार अधिनियम-पुस्तिका में वर्णित अपनी अनेक शक्तियों के बावजूद आर्थिक क्षेत्र में सशक्त संयोजक एवम् सक्रिय निदेशात्मक शक्ति नहीं बन पायी थी। सरकार का प्राधिकार स्वयं राज्य-नौकरशाही के अधिकार के आधीन परिचालित होनेवाली एक दलीय व्यवस्था के माध्यम से संकेन्द्रित हुआ।[१०] प्रभावतः इसे पूर्व संवैधानिक स्थिति की ओर प्रत्यावर्तित होना कहा जायगा, न कि नयी देशीय व्यवस्था की ओर अग्रसर होना।

जापान का सभी सैनिक व्यय चीन के विरुद्ध युद्ध के लिए ही नहीं था। आयात के माध्यम से युद्धोपयोगी सामग्रियों के भण्डार इस सीमा तक स्थापित कर लिये गये थे कि यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता था कि इन सुरक्षापूर्वक एकत्रित की हुई सामग्रियों के आधार पर जापान विशाल युद्ध-प्रयासों को लगभग दो वर्ष के अधिकतम समय तक चला सकता है।[११] उस समय के भीतर उसे कच्चे माल के लिए, जिसे वह निजी साधनों से पूर्ण करने में असमर्थ था, स्रोत के रूप में अमेरिका के स्थान पर, सुदुर पूर्व तथा प्रशान्त-क्षेत्र के देशों से कोई अन्य प्रवन्ध करना पड़ता, जिसके द्वारा ही वह अमेरिकी-हाट से युद्ध के कारण अथवा अमेरिकी व्यापार-समापन-नीति के निरन्तर प्रयोग के

कारण असम्बद्ध हो जाने पर अपने युद्ध प्रयासों को जारी रख सकता था। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, नवम्बर, १९४१ तक यह निष्कर्ष निकल चुका था कि अमेरिकी नीति में समझौते द्वारा परिवर्तन नहीं हो सकता। यह परिवर्तन सीमित काल में विजय प्राप्त करने अथवा उस अवधि में कम-से-कम पराजित न होने पर ही किया जा सकता है, जिसके आगे इस कार्य को स्थगित करना आफ्दापन्न होता। अतः शीघ्र निर्णयार्थ जापान ने आक्रमण किया।

(३) प्रशान्त युद्ध : पर्लहार्बर से मिडवे तक

जापान की बुनियादी युद्ध-योजना का ध्येय दक्षिण-पूर्व एशिया तथा दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त-द्वीपों को हस्तगत करना तथा एक सबल प्रतिरक्षात्मक स्थिति उत्पन्न करना था, जिससे उसे वह सुरक्षा प्राप्त हो जाय, जिसकी सहायता से आक्रमण द्वारा जीती हुई स्थिति सुदृढ़ की जा सके। उसने उर्वर अधिकृत क्षेत्र के प्रसाधनों के शीघ्र-शोषण-व्यवस्था की प्रत्याशा कर ली थी। अधिकृत किये जानेवाला क्षेत्र—कुरिलीज, मार्शल्स (वेक सहित) बिस्मार्कस, तिमोर, जावा, सुमात्रा, मलाया और बर्मा को मिलाने वाली रेखा के अन्तर्गत था।[१२] उसी समय संयुक्त राज्य के बेड़े का, जो जापान के लिए आक्रमणात्मक रूप से भयप्रद था, आक्रमण द्वारा निस्तारण करना था। ऐसी पूर्वाशा की गयी थी कि इन आक्रामणात्मक संक्रियाओं से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी, जिससे अपेक्षाकृत कम समय में शान्ति समझौता सम्भव हो सकेगा। ऐसा विचार किया गया था कि प्रशान्त में अमेरिकी प्रहार-शक्ति के अस्थायी विनाश द्वारा तथा उसके लिए महत्त्वपूर्ण अमेरिकी प्रतिरोध के अभाव में जापानियों को अपनी बृहत्तर पूर्वेशिया की विजय को पूर्ण तथा सुदृढ़ करने का समय मिल जायगा। यह भी सोचा गया था कि इससे जापान को अमेरिका के प्रत्याक्रमण का अवरोध करने के निमित्त प्रति-रक्षात्मक-रोध स्थापित करने में सहायता मिलेगी—एक ऐसा प्रतिरक्षात्मक-रोध, जिसको भंग करना अमेरिका के लिए बहुत महँगा पड़ेगा।

युद्ध के आरम्भिक काल में जापानियों ने अपने पूर्ववर्ती ध्येय की पूर्ति की। युद्ध की आसन्नता तथा पर्ल हार्बर पर आक्रमण के जो भी साक्ष्य अमरीकी सरकार के पास थे, उन सबके बावजूद पर्ल हार्बर के आक्रमण से अमेरिकी प्रतिरक्षक आश्चर्यचकित रह गये। इससे प्रशान्त बेड़े की, जिसने वहाँ अड्डा बना रखा था, बड़ी भयानक क्षति हुई। २५ दिसम्बर, १९४१ को हांगकांग ने तथा २५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। जापानियों में सम्पूर्ण मलाया को तो पहले ही कुचल डाला था। जनरल वेनराइट की सेनाओं के बटान में ९ अप्रैल तथा कारेगिडोर में ६ मई को आत्मसमर्पण

करने के पश्चात् फिलीपाइन भी न रुक पाया । १९४२ की मार्च तक नीदरलैण्ड द्वीपसमूह भी विजित कर लिया गया ।

जिस सुगमता से जापान ने अपना पूर्व-नियोजित ध्येय पूर्ण किया, उससे उसकी प्रारम्भिक योजना बढ़ गयी । वह समय तथा प्रसाधन, जो क्षेत्रों के भीतर सुदृढ़ात्मक कार्यों में लगाया जा सकता था, बर्मा पर १९४२ में विजय प्राप्त करने, तथा प्रशान्त में परिरक्षात्मक परिसीमा को उस क्षेत्र तक बढ़ाने में लगाया गया, जिसके अन्तर्गत अलेडारेयन्स के अत्तू तथा किस्का, (इस प्रकार अलारका के लिए भय-दर्शन उपस्थित करते हुए) केन्द्रीय प्रशान्त के मिडवे तथा दक्षिण पश्चिम प्रशान्त के गिलबर्ट्स तथा सालोमन द्वीप समूह पड़ते थे ।

जापान की भौतिक तथा संशोधित दोनों ही योजनाओं में दो गणनात्मक भ्रान्तियाँ थीं । पहली भ्रान्ति अमरीकी समुद्र क्षेत्र में अमेरिकी बेड़े पर होनेवाले आक्रमण के सम्बन्ध में संयुक्त-राज्य की भावना के प्रभावं की अवास्तविक कल्पना थी । राष्ट्रीय शक्ति निष्क्रिय करने तथा वर्तमान अमरीकी शान्तिवादी तथा विविक्तिवादी मनोभावों को उभाड़ने के स्थान पर पर्ल हार्वर के महान् संकट ने युद्ध कार्यों के लिए राष्ट्रीय एकता उत्पन्न कर दी तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के कारण आवश्यक प्रयास करने के लिए राष्ट्रीय संकल्प को, यह निश्चित करने के लिए—कि जापान बृहत्तर पूर्वेशिया में अपने उद्देश्य पूर्ति की स्थिति में न रहने पाये, सुदृढ़ कर दिया । दूसरी भ्रान्ति उस गति के अनुमान की कमी से सम्बन्धित थी, जिसके अनुसार उतनी शीघ्रता से संयुक्तराज्य अपने पोतों, वायुयानों तथा तोपों के साधनों को युद्धसंलग्न कर पाता ।

जापान के पास उस प्रत्याक्रमण का, सामना करने के लिए जिसे उसने स्वयं आमंत्रित किया था, सैनिकों तथा साधनों की कमी थी । दूसरी ओर संयुक्त-देश १९४१ के दिसम्बर में उस स्थिति में पहुँच रहा था, जहाँ उसके विशाल साधन—नवीन पोत, वायुयान, बन्दूकें तथा प्रशिक्षित सेना का असीम संख्या में निर्माण कर देते । जापानी आक्रमण ने तन्द्रा में पड़े हुए भ्रान्त तथा अनिश्चित प्रजातन्त्र को एक ही झटके में एक ऐसे सशक्ततम तथा सर्व-समाकल्पित युद्धोपकरण में ढाल दिया जिसे विश्व ने पहले कभी देखा भी नहीं था।[१३]

प्रारम्भिक मासों की क्षति के बावजूद संयुक्त-राज्य के पास, जापानियों को कोरल सागर के युद्ध (७ तथा ११ मई) में क्षति ग्रस्त करने के उपरान्त, केन्द्रीय प्रशान्त में उन्हें मिडवे के युद्ध ४ जून, १९४२) द्वारा पीछे भगा देने के लिए काफी शक्ति थी । इस पिछली कार्रवाई के परिणामस्वरूप दक्षिण पश्चिम प्रशान्त में जापानी विजय की उत्तुंग लहरें उठीं। मिडवे ने युद्ध के प्रथम अर्द्ध वर्ष को चरम सीमा पर पहुँचा दिया

तथा प्रशान्त में सैनिक संक्रिया के एक नये रूप का उद्घाटन किया। इस प्रकार जापान न केवल अपने सम्वर्द्धित उद्देश्य की प्राप्ति में ही अपूर्ण रहा, वरन् सम्बन्धित प्रयत्नों में अपने पोत, वायुयान तथा अपनी जनशक्ति भी उसने इस प्रकार खपा डाली कि शीघ्रता-पूर्वक उनकी पुनःपूर्ति न हो सकी।[१४] इसका एक अन्य परिणाम यह हुआ कि वह पूर्व-नियोजित परिसीमा के अनुसार अपनी प्रतिरक्षात्मक शक्ति विकसित नहीं कर पाया, यद्यपि उसकी स्थिति काफी सबल लगती थी।

प्रतिरक्षात्मक आक्रमण की चाल के रूप में संयुक्तराज्य ने अगस्त, १९४२ में, 'जब संयुक्त राज्य की नौ तथा समुद्री सेनाओं ने गुआदलकेनाल तथा फ्लोरिडा द्वीपसमूहों के पुलिन-पदाधारों को हस्तगत कर लिया तथा तुलागी पर अधिकार जमा लिया, सालोमन द्वीप से जापानी सेनाओं को भगाने का प्रयत्न किया।' १९४३ के आरम्भ में कठिन युद्ध के पश्चात् यह कार्य पूर्ण हो पाया था।[१५] न्यूगिनी-स्थित पोर्ट मोरेस्वी की प्रतिरक्षा के साथ इसने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी, जिससे मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के लिए प्रति-रक्षात्मक आक्रमण की संक्रिया से आक्रमणात्मक संक्रिया की दिशा में बढ़ना सम्भव हो गया। जापानी अन्तर्विष्ट कर लिये गये थे तथा आस्ट्रेलिया का संभरण पथ अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित कर लिया गया था।

(४) संयुक्त राज्य द्वारा १९४२ से १९४५ के बीच स्वतः कार्यारम्भ

यह प्रतिरक्षा की आक्रमणात्मक स्थिति न्यूनतम पैदल, हवाई तथा नौसैनिक शक्ति द्वारा स्थापित की गयी थी। युद्ध आरम्भ होने के पहले ही अमेरिकी युद्ध-नीतिक योजना ने, जो जापानी तथा जर्मनी दोनों के ही विरुद्ध युद्ध की सम्भावना पर आधारित थी, जापान के पूर्व जर्मनी के विनाश करने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया था।[१६] युद्ध आरम्भ हो जाने पर यूरोप के युद्ध में अमरीकी सेना तथा सैनिक सामान के भेजने को अग्रता दी गयी, यद्यपि आक्रमण जापान द्वारा किया गया था और वह भी प्रशान्त महासागर में। यदि अमेरीकी उत्पादन का बृहद् प्रसार न हुआ होता, जिसके कारण पूर्वापेक्षित मात्रा से अधिक सामग्रियाँ प्रशान्त की ओर भेजी जा सकीं, तो आक्रमणात्मक संक्रियाएँ दक्षिण-पश्चिमी अथवा केन्द्रीय प्रशान्त में इतने कम समय में न हो पातीं, जितने कम समय में वे वास्तविकतः प्रशान्त क्षेत्र में आरम्भ हो गयी थीं।

अमेरिकी सेनाओं ने १९४२ में जो अभिक्रमशीलता अपनायी थी, वह कभी त्यागी नहीं। एक के बाद दूसरे द्वीप का प्रयोग करते हुए तथा दक्षिण पश्चिम प्रशान्त के समर-तन्त्र को पार्श्व में छोड़ते हुए, जिससे अपेक्षाकृत बड़ी जापानी सेनाएँ निष्क्रिय हो गयीं थीं, जनरल मैक आर्थर मन्द गति से, किन्तु दृढ़ चित्त होकर फिलीपाइन्स तक, जहाँ से वे

(राष्ट्र मंडल के सभापति क्वेजन तथा उपसभापति ओसमेना के साथ) दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त में कमान सँभालने के लिए हटाये गये थे, पहुँच गये। अक्तूबर, १९४४ में लेइत पर अवतरण किया गया तथा १९४५ की मार्च तक मनीला भी हस्तगत कर लिया गया।

इस बीच केन्द्रीय प्रशान्त में आगे की ओर वही बढ़ाव ज़ारी था। १९४३ तथा १९४४ में गिलवर्ट्स मार्शल्स, कैरोलिन्स तथा मरियानाज तथा १९४५ में ओकिनावा तथा रयूक्यू द्वीपसमूह जापानियों से ले लिये गये। इस बढ़ाव से ऐसे थल-अड्डे प्राप्त हुए, जहाँ से जापान के मुख्य द्वीप-समूहों पर हवाई आक्रमण किया जा सकता था।

इन प्रत्यावर्ती-आक्रमणों के विरुद्ध की जाने वाली प्रतिरक्षा में जापानी हवाई तथा नौ-सैनिक शक्तियाँ इस प्रकार व्यय कर दी गयीं कि उनका प्रतिस्थापन सम्भव नहीं हो सका। युद्धनीतिक बमबाजी के कारण उसके नगर क्षीण हो गये तथा उत्पादन-शक्ति विनष्ट हो गयी। उसकी शेष नौ सैनिक शक्ति लेडते खाड़ी के नियंत्रण-सम्वन्धी युद्ध में पूर्णतः समाप्त हो गयी। सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह थी कि पनडुब्बियों का प्रयोग इतने प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया कि जापान की आवश्यक कच्चे माल की बाहरी-पूर्ति-व्यवस्था पूर्णतः असम्बद्ध हो गयी।

इस प्रकार १९४५ के मध्य-ग्रीष्म के पूर्व ही युद्ध में जापान की पराजय स्पष्ट हो चुकी थी। जो बात उस समय भी स्पष्ट नहीं हो सकी थी वह यह थी कि क्या जापान गृह-द्वीप पर आक्रमण होने अथवा उस पर अधिकार हो जाने के पूर्व ही बिना शर्त आत्म-समर्पण कर सकेगा अथवा नहीं। ऐसा न होने पर मित्र-राष्ट्रों को अधिक व्यय करना पड़ता। आक्रमण की आवश्यवम्भाविता का अनुमान करके सोवियत संघ को भी जापान के विरुद्ध युद्ध में लाने के निमित्त समझौता-वार्ता आरम्भ की गयी थी। परिणामस्वरूप याल्ता-सम्मेलन में समझौता हो गया, जिसके आधार पर रूस तटस्थता की नीति त्याग कर युद्ध-संलग्नता के लिए तैयार हुआ। जिस समय आक्रमण करने के लिए युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, उसी समय प्रथम समाघात-परमाणु बम ६ अगस्त, १९४५ को हिरोशिमा पर तथा तत्पश्चात् दूसरा ९ अगस्त को नागासाकी पर गिराया गया। ८ अगस्त को सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। १० अगस्त को जापान ने शान्ति याचना की तथा २ सितम्बर १९४५ को टोकियो की खाड़ी में युद्ध-पोत मिसूरी के ऊपर औपचारिक आत्म-समर्पण समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।

(५) चीनी रंगमंच

१९४२ की जुलाई तक जापानी सेनाओं ने पश्चिमी शक्तियों को पूर्वी तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया, फिलिपाइन्स और इन्डोनेशिया से बाहर हटा दिया था। फ्रान्सीसी उपनि-

देशवादी विची-सरकार, इन्डोचीन में निश्चय ही बनी रही, परंतु वह जापानियों द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार इस सीमा तक क्रियाशील रही कि उसने जापान के उद्देश्यों की पूर्ति में हस्तक्षेप नहीं किया। यह सरकार जापानी निदेशों के पालन करने तथा जापान के आर्थिक एवम् सैनिक ध्येय की पूर्ति करने के लिए विवश थी। थाईलैन्ड के एक राष्ट्रवादी आन्दोलन ने, जिसने १९३२ में राज्य-विप्लव द्वारा राज्य का नियंत्रण प्राप्त कर लिया था, देश को दृढ़तापूर्वक अधिक सत्तावादी आधार पर व्यवस्थित किया। १९३८ के पश्चात् आंशिक रूप से चीनियों के प्रति आन्तरिक विरोध प्रगट करते हुए और जापान की प्रदर्शित शक्ति की सराहना करते हुए तथा पश्चिम की स्वतंत्रता और वर्तमान स्थिति का लाभ उठाते हुए अपने प्रसार की इच्छा से थाई-सरकार अधिकाधिक जापान की ओर झुकती गयी। युद्ध आरम्भ होने पर एक सांकेतिक प्रतिरोध के पश्चात् बर्मा पर आक्रमण करने की सुविधा प्रदान करने के लिए जापानियों को देश के उस पार सेना ले जाने की इनके द्वारा अनुमति दे दी गयी तथा थाई-सरकार दृढ़तापूर्वक जापानी निदेशों के अधीन कार्य करने लगी।

जापान की इन आरम्भिक सफलताओं के कारण पश्चिमी जगत से चीन का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। च्यांग-काई-शेक के दृष्टिकोण की यह वास्तविकता प्रकट हो गयी कि यदि युद्ध अधिक समय तक चलाया गया, तो संयुक्त-राज्य तथा ब्रिटेन चीन और उसके मित्रों के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में आ जायेंगे। शक्ति-प्रदर्शन की तात्कालिक परिस्थितियों ने चीन को सबल बनाने के स्थान पर निर्बल कर दिया, क्योंकि सामग्रियों की सहपूर्ति सम्बन्धी जो न्यूनतम सहायता उसे मिलती आ रही थी, वह भी विच्छिन्न हो गयी। "केवल ५०० मीलों वाले आसाम, भारत तथा युन्नान प्लेटो के मध्यवर्ती हिमालय के ऊपर की थोड़ी-सी हवाई पूर्ति" के अतिरिक्त, विभक्त किन्तु संयुक्त चीन युद्ध में अपना निर्वाह करने के लिए केवल अपने अविकसित साधनों पर ही निर्भर रहने के लिए विवश हो गया। पर्वत के ऊपर से हवाई पूर्ति का प्रयोग करना युद्ध की एक चामत्कारिक उपलब्धि थी। १९४४ की जनवरी तक वायुयानों द्वारा चीन में लायी गयी सामग्रियों का प्रतिमास का औसत १३,३९९ टन था तथा १९४५ की जनवरी में यह ४३८९६ टन था।[१७] इतने अधिक टनों की पूर्ति भी, संयुक्त-राज्य द्वारा अन्य युद्ध रंगमंचों पर भेजी गयी पूर्ति की मात्रा की तुलना में, बहुत विषम थी। जो भी हो, चीन की अनन्यतम, आवश्यक वस्तुएँ—ट्रकें, चल-स्टाक, तोपखाना, टैंक तथा अन्य भारी साधन-अधिक मात्रा में चीन में हवाई मार्ग द्वारा नहीं पहुँचायी जा सकीं, जिससे जापान के विरुद्ध युद्ध में आक्रमणात्मक कार्रवाई करने के लिए चीन सक्षम न हो सका। १९४५ में कहीं लीडो, बर्मा सड़क पर पूर्ति मार्ग खुला। इस प्रकार युद्ध के अन्तिम छः महीनों में जहाँ तक शस्त्रास्त्रों का सम्बन्ध है,

चीन इस स्थिति में आने लगा कि वह जापानियों को अधिकृत क्षेत्र से भगाने के लिए आक्रमणात्मक थल-संक्रिया आरम्भ कर सके।

विश्वयुद्ध की विशालयुद्ध नीति ने, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रशान्त को नहीं, वरन् यूरोप को अग्रता प्रदान की। जापान पर निर्णयात्मक आक्रमण करने के निमित्त चीन को अड्डा बनाने की कठिनाई तथा प्रशान्त में अभिक्रमशीलता को सफलतापूर्वक अपनाने से युद्ध प्रशान्त के अड्डों से सीधे जापान में चला गया और सम्पूर्ण युद्ध में चीनी क्षेत्र को महत्त्व दिया जाने लगा। यह सैनिक संक्रिया द्वारा महाद्वीप की विशाल चीनी सेनाओं को क्षतिहीन करने तथा महाद्वीप से जापान की हवाई शक्ति के विशाखन को, जहाँ तक सम्भव हो सके, विनष्ट अथवा अवरोधित करने के रूप में किया गया। इससे जनरल चेनाल्ट की चौदहवीं हवाई शक्ति को निर्मित करना तथा पर्याप्त रूप में उसकी पूर्ति करना सम्भव हो सका, जिससे जापानी संस्थापनों तथा जापानी नौपरिवहन के विरुद्ध आक्रमणात्मक हवाई संक्रिया आरम्भ करना भी सुगम हो गया। चौदहवें हवाई दस्ते ने १९४४ में जापानी वढ़ाव रोकने का प्रयत्न करके चीनी सेनाओं को सामरिक संरक्षण भी प्रदान किया। चीन-स्थित अड्डों से संचालित यह संघर्षशील युद्ध इतना सफल रहा कि १९४४ में इन अड्डों को विनष्ट करने के निमित्त जापानी लोग आक्रमणात्मक कार्रवाई करने के लिए विवश हो गये। इसमें वे सफल भी हुए और अन्त में उन्होंने चांगशा को अधिकृत कर लिया तथा अपने वास्तविक कब्जे के क्षेत्र को भीतर इतना बढ़ाया कि क्वीलिन तथा लिउचाउ, दोनों महत्त्वपूर्ण हवाई अड्डे, उसके भीतर आ गये। इसकी पूर्ति बड़े विलम्ब से हुई, जिससे जापानी मंचूरिया से इन्डोचीन तथा दक्षिणी प्रदेश तक समुद्र संचार व्यवस्था के स्थान पर, जो पनडुब्बियों तथा हवाई आक्रमण से विच्छन्न हो गयी थी, संतोषप्रद थल-व्यवस्था कायम न कर सके।

जापानी पूर्ति-व्यवस्था के विरुद्ध चीन के संक्रिया-अड्डों के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त जापान के मुख्य द्वीप-समूहों पर बीसवीं बमबाज कमान द्वारा चीन से लम्बी मारवाली बमबाजी आरम्भ की गयी। संरक्षण तथा पूर्त्ति की कठिनाइयों के कारण, जापानियों से गुआम तथा सैगान जीत लेने के उपरान्त, जापान के विरुद्ध हवाई संक्रिया का अड्डा चीन से हटाकर मैरियाना लाना पड़ा।

अपनी महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलताओं के अभाव में, जब उनके मित्र देश दूसरे क्षेत्रों में सफलतापूर्वक युद्ध-संचालन कर रहे थे, १९४३ में अथवा उसके पश्चात् चीनी लोग अपना मनोबल खोते जा रहे थे। अन्तर्निहित कठिनाइयों के बावजूद अपने युद्ध-क्षेत्र में सहपूर्ति की कमी तथा दूसरे क्षेत्रों में कठिन स्थिति आने पर स्वीकृत सह-पूर्ति के विशाखन के कारण ऐसा अनुभव होने लगा था कि सम्पूर्ण युद्ध-प्रयास में चीन अपेक्षाकृत

रूप में महत्त्वहीन समझा जाने लगा है। यदि आरम्भ में ही परिणाम न निकाला गया होता तथा यदि जनरलइसिमो च्यांग-काई-शेक निरन्तर इस बात पर जोर न देते रहते कि जापान संयुक्त-राष्ट्र की उत्कृष्ट विभव-शक्ति से ही पराजित किया जायगा, तो जापान से समझौते का प्रयत्न किया जाता, जिससे चीन युद्ध से हटा दिया गया होता। इस परिणाम तथा १९४३ और १९४४ में उसके सत्यापन के आरम्भ के कारण चीन युद्ध में बना रहा। परन्तु इससे तथा इसके साथ उन बातों से, जो चीनी युद्ध-क्षेत्र की उपेक्षा का प्रमाण समझी जाती थीं, यह भावना उत्पन्न हो गयी थी कि मित्र राष्ट्रों के प्रयत्न द्वारा यह प्रतिरोधी युद्ध चीन के लिए जीता जायगा, जिससे युद्ध-प्रयासों में बृहद् रूप से निमग्न होने की अपेक्षा अन्य बातों पर जोर देना अनावश्यक समझा गया। परिणाम यह हुआ कि चीनी लोगों का, जो औरों की अपेक्षा कहीं अधिक समय तक युद्ध में लगे रहे तथा जो पूर्णतः युद्ध से थक चुके थे, उनके मनोबल तथा वहाँ के कर्मचारियों के आचरण का स्तर गिर गया। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि इस भावना से कम्यूनिस्ट-कुमिन्तांग सम्बन्ध का तीव्रतापूर्वक ह्रास भी होने लगा। इसके पूर्व चतुर्थ सेना के सम्बन्ध में आपत्ति की जाने लगी थी। युद्ध के अन्तिम वर्षों में जापानी शत्रुओं के विरुद्ध दोनों क्षेत्रों में न्यूनतम सहयोग था। च्यांग-काई-शेक ने अपनी कुछ सर्वोत्तम सेनाओं को जापान-विरोधी सैनिक संक्रिया से हटाकर कुमिंतांग तथा कम्यूनिस्ट चीन के बीच अवरोध स्थापित करने तथा उसे जारी रखने के लिए नियुक्त कर दिया था। कम्यूनिस्टों की छापामार संक्रिया, समान रूप तथा मात्रा में, कुमिंतांग के विरुद्ध स्थानीय सरकारें स्थापित करने तथा जापानियों को खदेड़ने में लगायी गयी। युद्ध काल में समझौते के निमित्त निरन्तर किये गये प्रयत्न असफल रहे। अतः जापान के विरुद्ध युद्ध समाप्त हो जाने पर गृहयुद्ध आरम्भ कर देने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। तथापि वास्तव में आर्थिक स्थिति गिरने के कारण ही स्वतंत्र चीन में मनोबल भी गिरने लगा और उसका प्रमाण भी मिला।

देश के विभाजन ने सामान्य आन्तरिक-विनिमय-व्यवस्था को भंग कर दिया। औद्योगिक उत्पादन-क्षेत्र जापान के अधिकार में चला गया था तथा अन्ततः, सहपूर्ति के बाहरी साधन भी विच्छिन्न हो चुके थे। इस प्रकार १९४१ के पश्चात् हर प्रकार के पदार्थों का अभाव बढ़ता गया, जिसकी स्थिति १९३७-१९४१ की घटनाओं के कारण पहले ही से असंतोषप्रद थी। इसका अवश्यम्भावी परिणाम मुद्रा-स्फीति के रूप में प्रकट हुआ। सरकार ने इसे युद्ध-प्रयत्नों के हित अथवा व्यक्तिगत कल्याण के कारण नियंत्रित नहीं किया। इसके बजाय वर्तमान स्थिति के कारण बहुत-से अधिकारियों ने अपनी शक्ति का उपयोग करके अपने निजी-हितों की उन्नति की। दोनों ओर के अधिकारियों की दृष्टि-उपेक्षा से 'अधिकृत' चीन से 'स्वतंत्र' चीन में माल के तस्कर व्यापार के कारण

व्यापारी तथा अधिकारी दोनों ही धनी हो गये। चीन में वायु-मार्ग द्वारा लाये गये सामानों के वितरण तथा प्रयोग के नियंत्रण का अधिकार प्राप्त कर लेना और भी अधिक लाभ-प्रद था। युद्ध-कार्यों के लिए कठोर सरकारी तत्त्वाधान में किये गये आयात तथा तस्कर व्यापार द्वारा लाये गये माल भी निजी व्यापार की दिशा में जाने लगे। मुनाफ़ा-खोरी से एकत्रित की गयी अधिकांश सम्पत्ति अवैध थी, अतः वह कर से बच गयी तथा युद्ध का भार बढ़ी हुई मात्रा में कृषकों को वहन करना पड़ा। नकद रूप में जमा किये गये करों की पर्याप्त मात्रा कर-संग्राहकों द्वारा कर-संग्रह के व्यय की पूर्ति में रोक ली गयी। बारम्बार चांगशा की ओर तथा इस प्रकार चावल क्षेत्रों पर फसल कटने के समय जापानी आक्रमण के कारण हुई खाद्य-सामग्रियों की कमी ने खाद्यान्नों के अभाव तथा मूल्य-वृद्धि में योग दिया। यद्यपि आलोचक यह बतलाने में असमर्थ थे कि सभी प्रकार के खाद्यान्नों तथा अन्य पदार्थों के वर्धमान अभाव को अपने नितान्त अपर्याप्त प्रशासनिक तंत्र एवम् अपूर्ण वित्तीय साधनों द्वारा सरकार मूल्य-वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए क्या करती, पर उसकी आलोचना तो बराबर होनी ही थी।[१८] आलोचना को रोकने के लिए आवश्यक जाँच-पड़ताल तथा पुलिस के नियंत्रणों में तीव्रता लायी गयी। ऐसे वायु-मण्डल में, जिसमें वास्तविक समाचार प्राप्त करने के अभाव के कारण जनश्रुति तथा गप्प का बोलबाला था, भ्रष्टाचार की कोई भी ऐसी उच्चतम या निम्नतम कहानी न थी, जो विश्वास के परे हो। निर्लिप्त देश-भक्ति की वह अग्नि, जो प्रतिरोधात्मक युद्ध की त्याग-भावना से प्रज्वलित हुई थी तथा जो १९३९–१९४१ में प्रतिरक्षाहीन चुंकिंग की बमबारी के समय प्रचण्डतम रूप में धधक पड़ी थी, आसन्न विपत्ति के कम हो जाने पर शांत हो गयी।[१९]

१९४४ में चीन के बाहर उसकी आन्तरिक स्थिति का व्यापक ज्ञान होने के पूर्व, जापानी आक्रमण के चीनी प्रतिरोध की दीर्घावधि के कारण स्वयं चीन, उसके निवासियों तथा उसके नेतृत्व ने विशिष्ट रूप से एक प्रतीकात्मक महत्त्व प्राप्त कर लिया था। यह स्वीकार कर लिया गया था कि पर्ल हार्बर के पूर्व किसी भी समय यदि चीन जापान के साथ ऐसी शर्तों पर शान्ति-समझौता कर लिये होता, जो उसे जापानी संरक्षित राज्य में परिवर्तित कर देता तथा जिससे उसकी जन-शक्ति और साधन विकसित करके जापानी ध्येय की पूर्ति में लगाये गये होते, तो समस्त संसार की स्थिति कुछ और ही हुई होती। इसके अतिरिक्त केवल इसी प्रकार जापान उस युद्ध को पश्चिम के विरुद्ध पूर्व के युद्ध में परिणत कर सका होता। जैसी स्थिति थी, उसमें जापान ने 'आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद' के विरुद्ध एशिया के प्रतिरक्षक के रूप में अपनी भूमिका प्रभावोत्पादक ढंग से प्रदर्शित की।

इन सम्भावनाओं को कम करने तथा चीन को उसकी दीर्घकालिक प्रतिरक्षा के अनुसार मान्यता प्रदान करने के निमित्त संयुक्त -राज्य तथा ब्रिटेन ने अन्ततः ऐसी कार्रवाई की, जिसने चीन के साथ उनके सन्धि, समझौते को समानता के स्तर पर ला दिया। ९ अक्तूबर, १९४२ को उन्होंने चीन में राज्य-क्षेत्र के अतिरिक्त अधिकारों की समाप्ति के निमित्त तुरन्त समझौता करने के लिए अपनी स्वीकृति घोषित की।[२०] ११ जनवरी, १९४३ को एक ओर चीन तथा दूसरी ओर संयुक्त-राज्य तथा ब्रिटेन के बीच संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये तथा इस प्रकार चीन में क्षेत्र के अतिरिक्त अधिकारों और विशेष सुविधाओं की इतिश्री हो गयी। समानता के सिद्धान्त ने चीन को महान् शक्ति के रूप में वह स्थिति प्रदान की, जो इसके पूर्व उसे कभी भी नहीं मिली थी। इस प्रकार जब संयुक्त-राष्ट्र-संघ स्थापित हुआ, तो चीन को सुरक्षा-परिषद् में स्थायी स्थान उसी निषेधाधिकार के साथ प्राप्त हुआ, जो संयुक्त-राज्य, सोवियत् संघ, ब्रिटेन तथा फ्रान्स को मिला था। इस तथ्य तथा उसके साथ संयुक्त-राष्ट्र की युद्ध-परिषद् में स्थान (जो पूर्ण समानता के स्तर से थोड़ा कम था) मिलने के कारण चीनी सरकार की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गयी। और अन्त में कैरो-सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया कि युद्ध तब तब तक चलता रहेगा, जब तक जापान बिना शर्त आत्म-समर्पण न कर दे तथा १८९४ में और उसके बाद का विजित चीनी राज्य क्षेत्र चीन को लौटा न दे।

अन्य प्रकार के सम्बन्धों की भी एक कड़ी है, जिसकी जाँच १९४५ के पश्चात् विकसित होनेवाली स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह प्रारम्भिक रूप से अमेरिकी नीति के क्षेत्रान्तर्गत है।

"आग्ल अमेरिकी विशाल युद्ध-नीति में पहले जर्मनी के विरुद्ध युद्ध आरम्भ हुआ था। द्वितीय स्थान प्रशान्त के उस पार जापान के द्वीप-साम्राज्य की ओर एक साथ होनेवाले महान् जल, वायु तथा स्थल-युद्ध-अभियान को मिला।[२१] चीन-बर्मा-भारत युद्ध-क्षेत्र को तीसरा स्थान दिया गया था। तथापि, अपनी युद्धनीतिक एवम् राजनीतिक सार्थकता में संसार का यह भाग बड़ी महत्त्वपूर्ण स्थिति में था।" चीन की इस युद्धनीतिक तथा राजनीतिक सार्थकता के कारण चीनी मोर्चे को सक्रिय रखने के निमित्त हर सम्भव प्रयत्न करना आवश्यक था। अतः अमेरिकी सरकार ने, पर्लहार्बर के युद्ध के थोड़े ही समय पश्चात्, अपने सैनिक मिशन को सशक्त किया तथा चीन में इसका प्रभाव बढ़ाने के लिए जनरल जोसेफ डब्ल्यू० स्टिलवेल को चीन-बर्मा-भारत-क्षेत्र में जिन कार्यों के निमित्त भेजा, वे थे—"(१) चीन के लिए संयुक्त-राज्य की सभी प्रतिरक्षा-साहाय्य-सम्बन्धी कार्यों का नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण, (२) जनरलइसिमो के आधीन चीन में रहनेवाली संयुक्त-राज्य की सभी सेनाओं तथा उन चीनी सेनाओं का जो उन्हें सौंपी

जायँ—कमान सँभालना, (३) चीन में होनेवाली प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-परिषद् में संयुक्त-राज्य सरकार का प्रतिनिधित्व करना तथा जनरलइसिमो के सेना-प्रधान (चीफ आफ स्टाफ) के रूप में कार्य करना, (४) चीन में बर्मा रोड को सुधारना, उसका अनुरक्षण करना तथा उस पर नियंत्रण रखना।"[३२]

जापानियों द्वारा बर्मा से बहिष्कृत किये जाने के पश्चात् स्टिलवेल चीन के थल-संचरण-व्यवस्था को पुनर्मुक्त करने के लिए ऊपरी बर्मा की पुनर्विजय में लग गये थे। इसे उन्होंने "केन्द्रीय सैनिक उद्देश्य" की पूर्ति के लिए आवश्यक प्राथमिक कार्रवाई समझी, जो चीनी सेनाओं को शक्तिशाली बनाने तथा एशिया में जापानियों के ऊपर उनकी शक्ति का दबाव डालने में निहित था।[३३] अन्त में उन्होंने अक्तूबर, १९४४ में अपने वापस बुलाये जाने के समय तक थल-संचार-व्यवस्था की पुनर्मुक्ति सम्बन्धी अपने प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक स्थिति उत्पन्न कर ली, परन्तु यह स्थिति उन्हें जनरलइसिमो और अंग्रेजों पर निरन्तर दबाव डालने तथा इन दोनों के साथ स्टिलवेल की नियुक्ति के समय चीन में अमेरिकी वायु सेना अफसर के रूप में नियुक्त जनरल चेनाल्ट के साथ पर्याप्त मतभेद होने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकी थी।

स्टिलवेल तथा जनरलइसिमो के बीच मतभेद इस बात को लेकर था, कि प्रशान्त युद्ध में चीन को किस रूप में अपना कार्य सम्पन्न करना चाहिए। स्टिलवेल अमेरिकी सहायता का उपयोग इस प्रकार करना चाहते थे, जिससे आक्रमणात्मक थल-संक्रिया में चीन की सारी सेना का दबाव जापानियों पर पड़े। इसकी पूर्ति के लिए वे इस निर्णय पर पहुँच चुके थे कि अमेरिकी सैनिक नेतृत्व के अधीन चीनी सेनाओं का पुनःप्रशिक्षण आवश्यक है। उन्हें चीनी कमान की उच्चस्तरीय सैन्य क्षमता में कम विश्वास था। जैसा उन्हें दृष्टिगत हुआ था, वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिन बातों की इससे आगे आवश्यकता पड़ती, वे थीं—(१) कि वे राष्ट्रीय सेनाएँ, जो जापानियों के विरुद्ध की जाने वाली सैनिक संक्रिया से हटाकर कम्यूनिस्टों के विरुद्ध कुमिंतांग की स्थिति सँभालने के लिए लगायी गयी थीं, जापानियों के विरुद्ध प्रयुक्त की जायँ, (२) कि इसी प्रकार कम्यूनिस्ट सेनाएँ भी प्रयुक्त की जायँ तथा इस कार्य में उन्हें तदनुरूप सहायता पहुँचायी जाय। उन्हें अमेरिकी कमान में समाविष्ट किया जाय। इस प्रकार स्टिलवेल के विचार जो कार्य पूर्णतया चीन को करना था, जिसके अन्तर्गत जापान को चीनी सैनिक संक्रिया द्वारा आत्म-समर्पण कराया गया होता, वह समर्पण-कार्य केन्द्रीय तथा दक्षिण पश्चिम प्रशान्त से पहुँचनेवाली अमेरिकी संक्रिया द्वारा सम्पन्न हुआ। यह उस कार्य से भी भिन्न था, जिसकी कल्पना जनरल चेनाल्ट ने की थी। उसने चीन की कल्पना एक ऐसे अड्डे के रूप में की, जहाँ से न केवल जापानी नौपरिवहन, वरन् गृह-द्वीप समूहों पर भी हवाई

आक्रमण किये जा सकें। थल सेना की सहायता बिना ही हवाई शक्ति के प्रयोग द्वारा युद्ध के निर्णय की सम्भावना में अपने विश्वास के कारण, जिसे वाशिंगटन में भी पर्याप्ति बल प्राप्त था, चेनाल्ट ने यह तर्क रखा कि चीन में वायु-मार्ग द्वारा प्रेषित होनेवाली सामग्रियों की सहपूर्ति का पर्याप्त भाग उसकी हवाई सेना के उपयोग के लिए मिलना चाहिए।

जनरलइसिमो, स्टिलवेल की अपेक्षा चेनॉल्ट का युद्धनीतिक विचार स्वीकार करने के लिए अधिक उत्सुक थे, क्योंकि इसम चीनी थल सेना के व्यापक प्रयोग के बिना ही अमेरिकी-चीनी आक्रात्मक संक्रिया संयुक्त थी। यदि आँग्ल-अमेरिकन युद्ध-नीति-योजना के अन्तर्गत चीन-बर्मा-भारत-युद्धक्षेत्र को अथवा चीनी युद्ध-क्षेत्र को अग्रता मिली होती तथा यदि सामग्रियों की सहपूर्ति से सम्बन्धित वायदों अथवा बर्मा-आक्रमण में अंग्रेजों की सहायता के वायदों को पूरा किया गया होता, तो चुंकिंग में स्टिलवेल की स्थिति अधिक दृढ़ हुई होती। परन्तु सभी सैनिक योजनाओं तथा कार्रवाईयों ने इसी विचार की पुष्टि की कि किसी भी दशा में आक्रमणार्थ चीन को प्राथमिक अड्डे के रूप में प्रयोग किये बिना ही युद्ध में विजय प्राप्त करनी थी। अतः जनरलइसिमो आन्तरिक राजनीति पर विशेष ध्यान दे रहे थे, जिसे बिना सुनिश्चित किये वे युद्ध में अधिकाधिक संलग्न होना नहीं चाहते थे। आपत्काल के अतिरिक्त अपनी सेना कम्युनिस्ट मोर्चे से हटाकर जापानियों के विरुद्ध लगाते हुए चीनी सरकार कम्युनिस्टों के सम्मुख अपनी स्थिति निर्बल नहीं करना चाहती थी, न ही वह कम्युनिस्ट सेना को समस्त चीन में युद्ध-संक्रिया की अनुमति ही देना चाहती थी, वह इसकी स्वीकृति कम्युनिस्ट सेना को अमेरिकी कमान के आधीन करने पर भी नहीं देना चाहती थी। दूसरे शब्दों में यथार्थतः यह विश्वास करते हुए कि किसी भी दशा में युद्ध में तो विजय प्राप्त होगी ही, च्यांग ने अपने विचारों में युद्धोत्तर-आन्तरिक राजनीति को अग्रता दी।

यद्यपि जनरलइसिमों ने अमेरिकी सरकार के कार्यों को युद्ध सम्बन्धी विचारों पर आधारित करने का प्रयत्न किया, परन्तु स्वयं अमेरिकी सरकार ने राजनीतिक विचारों को ही प्रधानता दी। राजदूतावास ने, उसके वापस बुलाये जाने तक, यह विचार करते हुए स्टिलवेल का ही समर्थन किया कि "हमारी (अमेरिकन सरकार की) दिलचस्पी इसी में है कि चीन की उस आन्तरिक समस्या का शीघ्र ही हल हो जाय, जिसके कारण चीन की शस्त्र सज्जित सेनाएँ जापान के विरुद्ध युद्ध करने के स्थान पर आपस में ही एक दूसरे का सामना करने के लिए सन्नद्ध हैं।" अतः उस समय के सैनिक तथा सामग्रियों की सहपूर्ति के प्रश्नों को अलग रखकर उसने राष्ट्रीय सरकार तथा येनान के बीच समझौता कराकर कम्युनिस्ट प्रश्नों का राजनीतिक हल ढूँढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। कम-से-कम युद्ध-काल में च्यांग ने इस प्रश्न का सैनिक हल तो नहीं, किन्तु राजनीतिक हल ढूँढ़ने के

लिए वचन दिया था, परन्तु वे चाहते थे, कि–"संयुक्त-राज्य, कम्युनिस्टों को पारस्परिक मतभेद का समाधान करने तथा चीन की राष्ट्रीय सरकार के आधीन समर्पण करने के लिए कहे।" उन्होंने राजदूत से कहा था, कि—"चीनी कम्युनिस्टों के कारण प्रादुर्भूत घरेलू समस्या पर संयुक्त-राज्य द्वारा चीन को सम्पूर्ण सहायता तथा समर्थन दिया जाना चाहिए। यह कहते हुए कि—चीन कम्युनिस्टों से अपना मतभेद निपटा ले—अमेरिकी सरकार कम्युनिस्टों के दुर्दमनत्व को उग्रतर वना रही है।"[२४]

यद्यपि च्यांग-काई-शेक के आग्रह पर जनरल स्टिलवेल वापस वुला लिये गये, परन्तु आन्तरिक समस्या को सुलझाने के निमित्त पारस्परिक समझौते की अमेरिकी नीति वही रही। राष्ट्रवादियों के गिरते हुए मनोबल और कार्य-कौशल तथा कम्युनिस्टों की बढ़ती हुई शक्ति[२५] के सामान्य दृष्टिकोण दोनों ने, जिसकी सूचना निरन्तर वाशिंगटन को दी जाती रही, इस आवश्यकता पर वल दिया कि कुमितांग के साथ कम्युनिस्ट दल संयुक्त सरकार स्थापित कर ले। इस पद्धति को चीन की एकता तथा सत्यनिष्ठा करने तथा कम्युनिस्टों के सम्भावित नियंत्रण प्राप्त कर लेने की पूर्वाशा को ध्यान में रखकर अपनायी गया था, जब कि उस समय संयुक्त राज्य का कुमितांग के साथ स्पष्टतः वहुत प्रगाढ़ सम्बन्ध था, जैसा कि वहुत पहले, १५ नवम्बर १९४४ को, कहा गया था, कि—

"यह ज्ञात करने के लिए कि हम किस पक्ष का समर्थन करें, हमें इन विचारों को ध्यान में रखना पड़ेगा कि चीन की शक्ति च्यांग के पास से कम्युनिस्टों के हाथ में जाने ही वाली है—यदि रूसी उत्तरी चीन तथा मंचूरिया में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो हम कम्युनिस्टों को पूर्णतः अपने पक्ष में नहीं ला सकते, परन्तु सामग्रियों की सहपूर्ति तथा युद्धोत्तर सहायता द्वारा सोवियत नियंत्रण से उसे स्वतंत्र रखने की दिशा तथा चीनी राष्ट्रीयता के पक्ष में हम पर्याप्त प्रभाव डालने की प्रत्याशा कर सकते हैं।[२६]

कम्युनिस्टों के पक्ष में वास्तव में ऐसा कोई विकल्प नहीं रखा गया, क्योंकि राजदूत हर्ले, जो जनरल स्टिलवेल के वापस बुलाये जाने के उपरान्त तथा जनरल मार्शल, जो युद्ध-समाप्ति के पश्चात् नियुक्त हुए थे, दोनों को ही सर्वप्रथम कुमितांग का—स्वयं सरकार ही जिसके नियंत्रण में थी, ध्यान रखना था तथा कम्युनिस्टों के पास तक उक्त चीनी सरकार के माध्यम से ही पहुँचना था। तथापि, कम्युनिस्ट दल की स्थिति अमेरिका द्वारा उसे चीनी शक्ति का प्रतियोगी स्वीकार कर लेने के कारण, जिसके साथ च्यांग-काई-शेक को इसलिए वार्ता करनी थी कि कम्युनिस्ट सरकार में सम्मिलित किये जा सकें, सुदृढ़ हो गयी। सरकार के पुनर्निमाण की शर्त पर येनान और चुंकिंग के बीच समझौता कराने का हर्ले का प्रयत्न सफल नहीं हुआ। तथापि, उससे एक ऐसी नीति निर्धारित हो गयी जिसे विजय-दिवस के पश्चात् व्यवहार में लाने के लिए संयुक्त-राज्य प्रयत्न करता रहा।

(६) बृहत्तर पूर्वेशियाई सह-समृद्धि-क्षेत्र

यहाँ दक्षिण-पूर्व एशिया तथा, दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त के युद्धों की घटनाओं का इसके अतिरिक्त कि उनका परिणाम स्थायी था, विस्तारपूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है। ऐसे परिणाम जापानी नीति के कुछ पहलुओं के कारण निकले। इनकी तथा इनके प्रयोग की अवहेलना नहीं की जा सकती।

जापान का युद्धोद्देश्य था बृहत्तर पूर्वेशिया में एक आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था की स्थापना—एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था, जो जहाँ तक शेष संसार का सम्बन्ध था, उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्णतया सीमित आधार पर कर सके और इस प्रकार उसे यूरोप तथा अमेरिका पर आश्रित न होना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त उक्त क्षेत्र के लोगों को यह स्वीकार कर लेने के लिए तैयार करना पड़ता कि जापानी उनके मुक्तिदाता हैं, जिनको राजनीतिक दृष्टि से सहयोग प्रदान करना तथा जिनके निदेशन में आर्थिक रूप में कार्य करना स्वयं अपने ही हित की बात होगी।

उक्त परिस्थिति ने उस क्षेत्र के अधिकांश भाग में अस्थायी रूप में ही सही, जापानियों के लिए मुक्तिदाता की भूमिका प्राप्त करने में सरलता उत्पन्न कर दी। यह और भी सरल होता यदि मंचूरिया तथा चीन के नये ऐतिहासिक कार्यवृत्त दूसरे प्रकार के हुए होते। तथापि, चीन तथा मंचूरिया में जापानी अधिकार का आरोपण तथा उसकी छद्मपोशी एवम् आरोपण की पद्धति का सम्भवतः समुद्र पार चीनियों के अपेक्षाकृत बड़े समुदायों के अतिरिक्त व्यापक रूप से दक्षिणी प्रदेश में प्रचार नहीं हुआ था।

दक्षिणी प्रदेश, पूर्वी-एशिया का औपनिवेशिक क्षेत्र था। यहीं पर श्वेत मालिकों ने अश्वेत-मूल-निवासियों पर, उनका तथा उनके भूमि-साधनों का अपने हित में शोषण करते हुए, बहुत समय तक शासन किया था। वह चित्र अभी बहुत कम धुँधला पड़ सका था, क्योंकि बहुत मामलों में शोषण के यन्त्र देशी शासक ही थे अथवा साम्राज्यिक देश की नीति, शोषण के अतिरिक्त देश के विकास की ओर उक्त नीति में मन्द परिवर्तन के साथ चल रही थी। यह परिवर्तन उन्नीसवीं शती के मुकाबले बीसवीं शती में स्वास्थ्य-शिक्षा, संचार-व्यवस्था के सुधार तथा साथ ही उत्पादन प्रणाली के विकास के लिए प्रदत्त बजट में बढ़े हुए अनुपात में, यद्यपि अभी वह भी पर्याप्त रूप में कम ही था, प्रदर्शित किया गया था। परन्तु यूरोपीय शासन तथा यूरोप के लोगों का उसके द्वारा अत्यधिक हित होना और श्वेतों की श्रेष्ठता को दृढ़तापूर्वक बनाये रहने की स्थिति तो अभी बनी ही हुई थी।

पर यूरोप के लोगों की श्रेष्ठता का सिद्धान्त तो उसी समय निर्बल हो गया, जब जापान ने १९०४–१९०५ के युद्ध में रूस को सफलतापूर्वक चुनौती दी तथा प्रथम विश्व-

युद्ध के पश्चात् जब महान् शक्ति के रूप में जापान की प्रतिष्ठा स्वीकार कर ली गयी। राष्ट्रवादी तथा साम्राज्य-विरोधी रूप में चीनी आन्दोलन की सफलताओं का चीन के भीतर तथा उसके बाहर एक ही परिणाम हुआ। जापानियों के कारण चीन में जिस हास्यास्पद स्थिति का सामना १९३७ में व्यक्तिगत रूप में पश्चिम वालों को करना पड़ा, कुछ अंशतः उसका निर्माण उस सुगम स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए किया गया था, जिसमें एक पूर्व देश का निवासी पश्चिम के निवासी के समक्ष अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकता था। हांगकांग, कारेगिदर और मुख्यतः सिंगापुर जैसे पश्चिमी अड्डों के पतन में, उनकी प्रतिरक्षा में भीषण निर्बलता के साथ, पश्चिमी प्रतिष्ठा को और भी कम कर दिया।

उपनिवेशवादी शक्तियों की स्थिति की निर्बलता मुख्यतः उस समय प्रकट हुई, जब वे अपनी अस्वीकृति अथवा अयोग्यता के कारण फिलीपाइन्स के बाहर जापानी आक्रामकों के विरुद्ध देशी निवासियों को उनके देश के रक्षार्थ एकत्रित न कर सके और मुख्यतः उस स्थिति में जब पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों ने उपनिवेश की रक्षा में अपने को अक्षम सिद्ध कर दिया था। उनकी इस निर्बलता का उपयोग जापानियों ने अपने को मुक्तिदाता के रूप में प्रगट करते हुए किया। उस भूमिका में, उन्होंने युद्धबन्दियों तथा नागरिक नजरबन्दों के साथ किये जानेवाले व्यवहार द्वारा, यद्यपि वह व्यवहार युद्ध बन्दियों तथा नागरिक नजरबन्दों के साथ अनेक शिविरों में एक जैसा नहीं था, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने तथा यूरोप वालों की प्रतिष्ठा को विनष्ट करने का प्रयत्न किया।

औपनिवेशिक क्षेत्र का उनके यूरोपीय मालिकों से उद्धार करने के पश्चात् जापानियों के सम्मुख चरम समस्या अपने विजयी तथा शोषण रूप को छद्म वेश में रखने की थी। जापान की तात्कालिक समस्या युद्ध-अर्थ-व्यवस्था की पूर्ति की थी।

जापानी नियंत्रण का पहला चरण प्रत्यक्ष सैनिक शासन स्थापित करना था। उन परिस्थितियों में यह कार्य उसके मुक्तिदाता के रूप में अपने को प्रगट करने के कार्य, के प्रतिकूल नहीं था, क्योंकि उस समय तत्सम्बन्धी क्षेत्रों में व्यवस्था स्थापित करने तथा प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई करने का प्रश्न उपस्थित था। सैनिक शासन की आड़ में माल के वर्तमान स्टाक जब्त कर लिये गये। तत्पश्चात् उनका जापान भेजा जाना आरम्भ हो गया। इससे जापान के भण्डार में ऐसी वस्तुओं, जैसे—टिन, पेट्रोल के पदार्थ, रबर, कुनैन आदि का ढेर लगाना आरम्भ हो गया और इनके भुगतान के लिए मार्ग ढूँढ़ने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी। परन्तु इस आधार पर सहपूर्ति उन्हीं उत्पादित सामग्रियों तक सीमित थी, जिन्हें जापानी सैनिक अधिकार स्थापित होने के पूर्व अंगरेज, डच तथा अमेरिकी सेनाओं ने विनष्ट नहीं किया था। इसके बाद सामग्रियों की सहपूर्ति प्रथमतः

उत्पादन के पुनःसंस्थापन पर ही अवलम्बित थी। इसके दूसरे चरण में उन क्षेत्रों की खानों, तैल-कूपों और खनिज क्षेत्रों के उत्पादनों को हस्तगत करने तथा औपनिवेशिक देशों से उन्हें जापान के नियंत्रण में लाकर जापानी उपयोग के लिए वहाँ भेजने की उनकी योग्यता पर निर्भर करती थी।

जापान की नौ-सेना पर मित्र राष्ट्रों की पनडुब्बियों तथा वायुयानों के आक्रमण ने, जो पूर्वानुमानित गति से भी अधिक शीघ्रतापूर्वक किया गया, बृहत्तर पूर्वेशिया के उक्त संग्रह-क्षेत्रों से जापान के निमित्त युद्ध कार्यों में निर्वाह के लिए भी उत्पादन प्राप्त करने की सम्भावना कम करके अन्त में उसे पूर्णतः विनष्ट कर दिया। विनष्ट नौसेना के स्थान पर जापान के बाहर बननेवाले काष्ठ पोतों को लाने से आंशिक रूप में भी उसकी आवश्यकता पूर्ति न हो सकी। परिणामस्वरूप युद्ध के अन्तिम वर्ष में, जापान शीघ्रतापूर्वक घटते हुए स्वदेशीभाण्डार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विवश हो गया। गृह-द्वीप-समूहों पर आक्रमण के समय तेल तथा गैसोलिन को बनाये रखने की आवश्यकता ने जापान की आन्तरिक सीमा-रक्षा में शेष हवाई तथा नौसेना का उन्मुक्त प्रयोग भी असम्भव कर दिया।

इन युद्ध-परिस्थितियों ने बृहत्तर पूर्वेशिया की अर्थ-व्यवस्था का पुनर्गठन तथा इस प्रकार सहसमृद्धि-क्षेत्र का निर्माण करना जापान के लिए असम्भव हो गया। उस क्षेत्र का प्रत्येक देश पर्याप्त सीमा तक अपने ही साधनों से अपनी पूर्ति करने के लिए विवश था, जिसके परिणामस्वरूप इन देशों को किसी संयुक्त अर्थ-व्यवस्था के आधार पर संगठित न कर उन्हें पृथक्-पृथक् ही रखना पड़ा। इस प्रकार जापान फिलीपाइन्स को उसकी चीनी, क्रोम धातुक, तम्बाकू, तथा गरी के विनिमय में, जैसा कि संयुक्त-राज्य ने पहले किया था, माल भेजने के योग्य न रहा। बर्मा के पास चावल था, परन्तु उसके बचे चावल के विनिमय में माल देने के लिए उसे कोई देश तैयार नहीं दिखाई पड़ रहा था। इन्डोनेशिया के विनिमय-क्षेत्र में जापान--यूरोप तथा अमेरिका का स्थान नहीं ग्रहण कर सका। इन देशों में स्वतंत्र आधार पर उत्पादन की परम्परागत पद्धति में परिवर्तन करने के प्रयास में उक्त क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था का और भी अधिक विस्थापन हुआ। इस प्रकार जापान के मुक्तियुद्ध से बृहत्तर पूर्वेशिया में "सह-समृद्धि" के स्थान पर "सह-निर्धनता" का सर्जन हुआ।

उन्मुक्त सैनिक-शोषण तथा साधन-हरण की आरम्भिक अवधि के तदनन्तर राजनीतिक शासन की विधि अपनायी जाने लगी। यह विधि--जिसका प्रतिपालन प्रत्येक देश में विभिन्न परिस्थितियों में किया गया था, मंचूरिया तथा अधिकृत चीन में पहले ही अपनायी जा चुकी थी। फिलिपाइन्स तथा बर्मा में, जहाँ पर्याप्त रूप से विकसित

राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा स्वायत्त शासन का अनुभव किया जा चुका था, स्वतंत्र सरकारें उतनी शीघ्रता से स्थापित की गयीं जितनी शीघ्रता से जापानी परामर्शदाताओं द्वारा परिभाषित जापानी आदर्शों के अनुसार शासन करने के योग्य व्यक्ति मिले तथा उन्होंने इस कार्य में अपनी स्वीकृति प्रदान की। मलाया में असैनिक प्रशासकों द्वारा मलायाई राज्यों के संघ के लिए प्रत्यक्ष प्रशासन की स्थापना की गयी, जिसे सैनिक कमान के आधीन काम करना था, जिसके अन्तर्गत जलसंधि क्षेत्र भी सम्मिलित कर लिये गये थे। १९४३ में एक प्रकार के स्वायत्त शासन के लिए वचन दिया गया और उसके पश्चात् मलायावासियों की सलाहकारिणी-परिषद् स्थापित हुई तथा १९४४ में शासन करनेवाले सुल्तानों में परस्पर परामर्श भी हुआ।

जब युद्ध की लहरें जापान के विरुद्ध इतने निर्णयात्मक रूप में प्रवाहित हुईं, तो नीदरलैण्ड द्वीप-समूहों में तोजो सरकार के स्थान पर एडमिरल कोइसो की सरकार स्थापित हुई और प्रत्यक्ष सैनिक नियंत्रण की नीति में संशोधन हुआ। १९४४ के सितम्बर में इन्डोनेशिया को चरम स्वतन्त्रता प्रदान करने का वचन किया गया। परन्तु विजेताओं द्वारा सैनिक शासन का वास्तविक संशोधन १९४३ की अक्तूबर में किया गया, जब देशी नेता सुकर्णो के नेतृत्व में एक सलाहकार परिषद् की स्थापना हुई।

केवल युद्ध के प्रभाव के कारण ही इण्डोचीन और जापान के सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ। जैसा पहले कहा गया है, फ्रांस के पतन के पश्चात् फ्रांसीसी अधिकारियों ने विची के निदेशन में कार्य किया। इससे जापान को सभी आवश्यक रियायतें मिल गयीं, जिनमें यूरोपीय शासन से विमुक्त किये बिना ही देश में सेना रखने का अधिकार भी सम्मिलित था। अपने फ़्रांसीसी सहयोगियों पर उत्तरोत्तर संदेह बढ़ने के कारण जापान ने १९४५ के आरम्भ में (५ वीं मार्च को) उपनिवेश को अपने नियंत्रण में कर लिया। युद्ध के अन्तिम वर्ष के शेष महीनों में जापानियों ने फ्रांसीसियों के स्थान पर स्थानीय राष्ट्रवादी प्रशासकों को स्थापित कर दिया। मुक्तिदाताओं के अधीन ही मुक्ति एवं सहयोजन का कार्य किया गया, किन्तु समयानुकूल इसका लाभ केवल मुक्तिप्राप्त राष्ट्रवादी-आन्दोलन को ही प्राप्त हुआ, क्योंकि वियतनाम के नेता, जो शक्ति ग्रहण करने के योग्य सिद्ध हुए थे, समान रूप से जापानियों तथा फ़्रांसीसियों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध थे।

यदि जापान ने युद्ध में विजय प्राप्त की होती, तो इस बात पर कम विश्वास किया जा सकता था, कि 'सह-समृद्धि क्षेत्र' के देशों में से कोई भी उसकी वचन-बद्धता के अनुसार स्वायत्त शासन अथवा स्वतन्त्रता का उपभोग करने पाता, अपवादस्वरूप इसके वे शासक अवश्य लाभान्वित हुए होते, जो जापान के लिए इस कारण सह्य थे कि वे टोकियो के

निर्देशन पर कार्य करते थे। वास्तव में यदि सैद्धान्तिक रूप में राजनीतिक स्वतंत्रता मिल भी जाती, तो उसे जापान के प्रारम्भिक आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति में हस्तक्षेप करने की अनुमति न मिलती। यह तथ्य फिलिपाइन्स तथा बर्मा जैसे देशों में नयी सरकार की स्थापना के समय वहाँ के लोगों की सम्पत्ति न लेने की असफलता से प्रकट हो जाता है। जापान ने ऐसे लोगों को ही सहयोगी के रूप में निर्वाचित किया, जिन पर उसने अपने स्थान पर काम करने के लिए विश्वसनीय समझा था, तथा जिनसे यह आशा थी कि वे शान्ति एवम् व्यवस्था कायम रखने के साथ-साथ जापानी शक्ति की न्यूनतम सहायता से उत्पादन का पुनःप्रवर्तन भी कर सकेंगे। युद्ध-स्थिति के आधार पर इस रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती थी, जिससे राष्ट्रवादी अपने सहयोगियों को अपना पिछलग्गू समझें और यह मान लें कि अल्प काल में दीर्घकालिक उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त उन्हें इन तर्कों से सहमत होना न्यायसंगत लगे। परन्तु कोरिया, मंचूरिया तथा चीन से जापान के पूर्व सम्बन्ध की अवहेलना नहीं की जा सकती, जिससे यह संकेत मिलता है कि यदि उसे शक्ति मिली होती तो इनके सम्बन्ध में वह क्या करता। इसके अतिरिक्त हर विजित देश में विजेता के रूप में जापानियों के व्यवहार, और मुक्ति-दाता के रूप में उनके कथन से उनके वास्तविक कार्य पूर्णतः भिन्न थे। यदि उनकी उक्ति अथवा प्रचार तथा कार्यों में यह विषमता न होती, तो जब युद्ध अपनी प्रतिरक्षात्मक स्थिति में बर्मा, फिलिपाइनस और जापान में आया, उस समय उसका प्रतिफलित स्वरूप कुछ और ही हुआ होता।

पुनर्वीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता प्रदान करने (बर्मा—१ अगस्त, १९४३, फिलीपाइन्स—१५ अक्तूबर, १९४३), तथा जापान में सलाहकार के रूप में भाग लेने के समय (इन्डोनेशिया—१५ अक्तूबर, १९४३, मलाया—१९४३–१९४४, इन्डोचीन—१९४५) का निर्माण प्रतिरक्षा के भार को हल्का करने की इच्छा से उन लोगों को तदनुरूप अधिकार हस्तान्तरित करने के लिए किया गया था, जो जापान के पक्ष की अपेक्षा अपनी स्वतंत्रता के लिए अधिक उत्साह के साथ युद्ध करते। इस कल्पना के अनुसार अमेरिकियों, अंग्रेजों तथा डचों का लौटना आक्रामकों का लौटना समझा जाता, न कि उन्हें जापानियों के चंगुल से छुड़ाने वाले मुक्तिदाताओं के रूप में समझा गया होता। आवश्यक कार्रवाई में विलम्ब, परन्तु अधिकार करते समय मुख्यतः जापा-नियों के परस्पर-विरोध व्यवहार के कारण नयी नीति से प्राप्त होने वाला परिणाम सीमित हो गया। फिलिपाइनों की सक्रिय छापामार संक्रियाओं की सहायता से अमेरिकी ऐसे मुक्तिदाताओं के रूप में फिलिपाइन्स में लौट आये, जिन्होंने जापानी अधिकार होने तथा उनके द्वारा स्वतंत्रता प्रदान किये जाने के पूर्व ही राष्ट्र-मंडल-तंत्र के माध्यम से

उस द्वीपसमूह को स्वतंत्रता के मार्ग पर अग्रसर किया था। जापानियों की तुलना में अंग्रेजों तथा डचों को ऐसे स्वामियों की ख्याति मिली, जो अधिक हितकारी हों। अंग्रेजों तथा डचों की अपने उपनिवेशों में वापसी तथा इन्डोचीन में फ्रांसीसी नियंत्रण की पुनःस्थापना—राष्ट्रवादी भावनाओं की प्रचंड वृद्धि के कारण जो जापानी अधिकार के समय जापानियों द्वारा स्वतंत्रता तथा स्वायत्त शासन देने के प्रचार से उत्पन्न हुई थी, काफी कठिन हो गयी। जापानी नीति के महत्त्वपूर्ण प्रभाव युद्ध काल में तो नहीं, किन्तु युद्धोपरान्त दीख पड़े।

मंचुकुआन पद्धति नियंत्रण के एक दूसरे भाग को, जो दक्षिणी प्रदेश के देशों में लागू किया गया था—"सांस्कृतिक साम्राज्यवाद" का नाम दिया जा सकता है। जापान की केवल एकदलीय पद्धति फिलीपाइन्स में 'कार्लवापी' की स्थापना करके तथा बर्मा में 'बृहत्तर बर्मा संघ' के माध्यम से लागू की गयी थी। दोनों ही संघ कठपुतली सरकार की भाँति तथा उसी के आधार पर जापान के प्रति लोगों का समर्थन विकसित एवम् संगठित करने का कार्य करते थे। नियंत्रण-कार्यों के लिए "जापानी पड़ोस संघ" के प्रतिरूपों को भी संगठित करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु कुछ समय बाद अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जापानी भाषा तथा जापानी संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन पर बल दिया गया। चुने-चुने विद्यार्थी, शिक्षक तथा पत्रकार पर्यटन के लिए जापान ले जाये गये। जापान का ध्येय उन्हें वहाँ की दशाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कराना नहीं, वरन् उन्हें वहाँ की संस्कृति से प्रभावित कराना तथा चीन एवम् पश्चिमी देशों से उन्हें दूर कर जापानी संस्कृति की दिशा में स्थायी रूप से उन्मुख करना था।

पूर्वेशिया के देशों में, जहाँ सार्वजनिक शिक्षा की पद्धति थी, वहाँ पाठशालाओं को केवल जापानी भाषा की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही उपयोग में नहीं लाया गया, वरन् उनके द्वारा जापानी विचारों एवम् मूल्यों का प्रसारण भी किया गया। समस्त "सह-समृद्धि-क्षेत्र" में देशी प्रेस जापानी प्रचार के यन्त्र के रूप में सामूहिक संचार के अन्य माध्यमों, जैसे—रेडियो, सिनेमा तथा रंगमंच की तरह प्रयोग में लाये जा रहे थे। विविध सेन्सरी प्रतिबन्धों के कारण प्रतिरोधी विचारों के—केवल उनके लघु लहरी रेडियो द्वारा प्रसारित होने के अतिरिक्त, अन्य साधनों से स्पष्ट होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी। राजनीतिक, धार्मिक प्रभाव के रूप में द्वितीय केन्द्र राजकीय धार्मिक मठों (स्टेट शिन्टो) की स्थापना की गयी। बर्मा तथा थाइलैण्ड जैसे बौद्ध धर्मावलम्बी देशों में "बौद्ध धर्म को राजनीतिक शक्ति के रूप में, पुनःसंचालित करने तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध-जापान से जोड़ने का प्रयत्न किया गया। मुसलिम देशों में जापान, धर्म के संरक्षक तथा परिपोषक के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि, १९२६ के

पश्चात् जापान में ईसाई चर्चों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था, तथापि ईसाई धर्म अपने यूरोपीय तथा पश्चिमीपन के कारण जापान के सांस्कृतिक प्रक्रम की सूत्री में न आ सका था।"

बृहत्तर-पूर्वेशिया के लोगों के रुख तथा विचार की पुनरनुस्थापन के प्रयत्न में जापान को जितनी सफलता मिली, उसका स्पष्ट मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। फिलीपाइन्स जैसे देशों की अपेक्षा, जहाँ बाह्य जगत् कम-से-कम अनुपात में आन्तर्भौम सम्बन्ध स्थापित किया गया था, उन देशों में इसका अधिक प्रभाव पड़ा, जो जापान के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों से पूर्णतः विलग हो चुके थे। सम्भवतः समय की कमी के कारण क्षेत्र के निदेशन-केन्द्रों पर अपने साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध अथवा क्षेत्रीय चेतना जागृत करने में जापान को कम सफलता मिल पायी। नवम्बर, १९४३ के "बृहत्तर पूर्वेशिया सम्मेलन" जैसे सम्मेलनों का कुछ प्रचार-मूल्य अवश्य रहा, परन्तु उनके सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीयता को प्रादेशिकता की ओर ले जाने में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिली। आँग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद के नाम पर पश्चिम की कीर्ति विनष्ट करने के प्रयत्न में निश्चय ही पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी। संयुक्त राष्ट्रों की ओर से चीन के युद्ध में भाग लेने तथा ब्रिटेन के विरुद्ध भारत के विद्रोह न करने के कारण जापान बृहत्तर-पूर्वेशिया में इस युद्ध को पश्चिम के विरुद्ध पूर्व देश का विद्रोह अर्थात् 'जातीय-युद्ध' कहने में असमर्थ रहा। परन्तु जैसा पहले बतलाया जा चुका है जापान के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अभियान का फल यह हुआ कि बाहरी नियंत्रण से विमुक्ति चाहने वालों की संख्या बढ़ गयी, राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए पश्चिमवासियों के विरुद्ध सफलतापूर्वक शक्ति प्रयोग किये जाने की संभावना उत्पन्न हो गयी तथा राष्ट्रवादी नेताओं का १९४१ के पूर्व वाली यथास्थिति पर न लौटने का निश्चय और भी दृढ़ हो गया।

सत्ताईसवाँ अध्याय

युद्धोत्तर चीन

(१) सैनिक निर्णयों का राजनीतिक आशय

जापानी आत्म-समर्पण के उपरान्त बृहत्तर पूर्व-एशिया की स्थापना के सिद्धान्त के स्थान पर इसे क्षेत्रीय, राजनीतिक और आर्थिक इकाइयों में अलग-अलग विभक्त रखने का पुराना सिद्धान्त पुनः अपनाया गया। परिणामतः युद्धोत्तर घटनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए इन देशों को केवल एक क्षेत्र के अन्तर्गत ग्रहण करने की जगह, अलग-अलग क्षेत्रों में स्थित देशों के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। तथापि भविष्य के स्वरूप को, एक सम्पूर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि से, युद्ध के निर्णयों एवं युद्ध के मैत्री-संगठनों के आधार पर निश्चित किये जाने की भविष्यवाणी की गयी। सबसे पहले इन्हीं विषयों पर विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि यही उस रूपरेखा का निर्धारण करने वाले हैं, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश में युद्ध के पश्चात् विकास होने की आशा की जाती थी।

जिस समय जापान ने पोट्सडैम की घोषणा को अपने बिना शर्त आत्म-समर्पण के आधार के रूप में ग्रहण किया, उस समय अमेरिकी शक्ति पूर्णतया जापान पर केन्द्रीभूत थी। सैनिक जनरल श्री डैगलस मैक आर्थर को पैसिफिक में स्थित संयुक्त-राज्य की सम्पूर्ण सेनाओं का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया था और एडमिरल निमिज को सम्पूर्ण नौ-सेना की कमान सँम्हालते रहने का दायित्व दिया गया था। गोकि फिलीपाइन में बचे-खुचे दुश्मनों का सफाया करने की सैनिक कार्रवाई अभी चल ही रही थी, जब पहले से नियुक्त दक्षिण-पश्चिम पैसिफिक कमान जापान पर आक्रमण करने की योजना बनाने में अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए थी, जिसे आत्म-समर्पण के पूर्व ही पूरा कर लेने की उससे आशा की गयी थी। चीन में, जहाँ जापानियों ने केवल १९४४ और १९४५ में अपनी सफल आक्रमक कार्रवाई की थी, उसके बाद ही १९४५ के अन्त में जनरल स्टिलवेल को वापस बुला लिया गया, जो संयुक्त-राज्य द्वारा अपनी अक्षमता स्वीकार करने का द्योतक था, जिसके कारण ऐसी स्थिति में तत्क्षण जापान के विरुद्ध कार्रवाई करने के निमित्त चीन को प्रधान आधार बनाकर उसके सैनिक प्रयासों

को पुनः सुदृढ़ और पुनर्निदेशित किया गया। स्टिलवेल की वापसी पर चीन-वर्मा-भारत का संयुक्त क्षेत्र——चीन-क्षेत्र और भारत-वर्मा-क्षेत्र में विभाजित कर दिया गया। चीन युद्ध-क्षेत्र में जनरल वेडमेयर (जनरल स्टिलवेल के बाद कमान ग्रहण करने वाले जनरल) को जेनरलइसिमी-च्यांग-काई-शेक की सहायता के लिए सेनाध्यक्ष और उस क्षेत्र की अमेरिकी सैनिक सेनाओं के कमाण्डर के रूप में नियुक्त किया गया। अमेरिकी निर्देशन में चीनी सेनाओं का प्रशिक्षण, सैनिक सामग्रियों की और अधिक मात्रा में सहपूर्ति करने के साथ-साथ चलता रहा, जो सहपूर्ति विशेषतया स्थल-मार्गों के खुल जाने के पश्चात् निरन्तर बढ़ायी जाने वाली हवाई सहपूर्ति में सहायक सिद्ध हुई। अन्य जगहों में भी सुरक्षात्मक कार्रवाइयों को सुदृढ़ करने के कारण उन सेनाओं ने जापान के विगत आक्रमण के समय हारे हुए क्षेत्र पर पुनः नियंत्रण प्राप्त कर लिया, जिससे जनरल चेनाल्ट को मित्र-राष्ट्रों की इच्छा के अनुसार युद्धनीतिक आक्रामक कार्रवाई करने की आवश्यकता पड़ने पर उस समय अपना हवाई आक्रमण चालू रखने और समुद्री किनारों पर चीनी अड्डों का प्रयोग करने की स्थिति प्राप्त हो गयी। तथापि, बिना आक्रमण के जापान द्वारा पराजय स्वीकार करने के कारण, राष्ट्रीय सरकार की सेनाओं को अमेरिकी सैनिक कार्रवाइयों के सहयोजन में चीन में जापान द्वारा दखल किये गये क्षेत्रों से जापानी सेनाओं को निकाल बाहर करने के लिए आक्रमण करने की अपनी क्षमता का प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

चीन-वर्मा-भारत के युद्ध-क्षेत्रों के विभाजन से दक्षिण-पूर्व एशिया से जापानियों का सफाया करने का उत्तरदायित्व प्रधान रूप से ब्रिटेन पर पड़ा था। भारत में प्रशिक्षित और जनरल स्टिलवेल की कमान में नियंत्रित चीन सेनाएँ अमेरिकी सहायता से जुलाई, १९४४ के अन्त तक उत्तरी वर्मा से माइत्किना तक जापानियों को बाहर निकाल चुकी थीं, अतः इससे भारत और चीन के बीच का स्थल-मार्ग पुनः खुल गया था। किन्तु जनरल स्टिलवेल की वापसी पर दो युद्ध-क्षेत्रों के विभाजन के बाद बाकी वर्मा को पुनः जीतने का कार्य ब्रिटिश नियंत्रण के तत्त्वावधान में किया गया, गोकि इसमें अमेरिकी सहायता भी प्रदान की गयी थी। यह आशा की गयी थी कि (ब्रिटिश) दक्षिण-पूर्वी एशियाई कमान, युद्ध के शेष कार्यों की समाप्ति के लिए बनायी गयी पुनर्योजना के अनुरूप वर्मा से चलकर थाईलैण्ड (श्याम), मलाया और नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समूह तक जापानियों को निकाल बाहर करने का कार्य पूरा करेगी। फिलीपाइन्स की मुक्ति और दक्षिण-पूर्वी एशियाई कमान द्वारा जापान पर आक्रमण करने की योजना और उसके कार्यान्वियन के कारण औपनिवेशिक क्षेत्रों में जापानियों को निकालने में सीधे अमेरिकी सेना के युद्ध में भाग लेने की सम्भावना कम हो गयी, जिसके कारण ऐसी कार्रवाईयों में ब्रिटिश भूमिका

का विस्तार हुआ। कमान के इस परिवर्तन से यह संकेत मिला कि चाहे जान बूझ कर या यों ही संयुक्तराज्य ने इन क्षेत्रों में औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा भावी राजनीतिक व्यवस्था के निर्णय के प्रति अपनी सहमति प्रकट की थी। सैनिक आधार पर किये गये निर्णय से यहाँ या अन्य स्थानों पर भी राजनीतिक प्रभाव पड़ना स्वयं सिद्ध था।

(२) पैसिफिक युद्ध में रूस का प्रवेश

आक्रमण करके जापान द्वारा आत्म-समर्पण कराने की आवश्यकता की आशा में, विश्व-युद्ध के पैसिफिक क्षेत्र में रूस को भी सम्मिलित करने के प्रयत्न को विशेष राजनीतिक महत्त्व दिया गया था। क्योंकि स्टालिन ने पहले इस बात का संकेत दे दिया था कि उपयुक्त समय आने पर रूस जापान के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों के प्रयत्न में सम्मिलित होगा, फिर भी रूस, जापानी आत्मसमर्पण के समय तक अपनी तटस्थता बनाये रहा। युद्ध के काफी समय तक संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन रूस के इस तर्क से सहमत थे कि जापान के विरुद्ध युद्ध में उपयुक्त समय के पूर्व उसके सम्मिलित होने से लाभ के बजाय हानि अधिक होगी। इस तर्क के समर्थन में यह कहा गया था कि उपयुक्त समय से पूर्व जापान के विरुद्ध उसके युद्ध-संलग्न होने से कम-से-कम रूस के मेरिटाइम प्रान्त पर जापान को कब्जा करने का बहाना मिल जायगा और बाद में पूरे सुदूर दक्षिण रूस में भी उसके लिए अपने अधिकार का विस्तार करना संभव हो सकेगा, क्योंकि रूस की शक्ति पूरी तरह नाजियों का सामना करने और नाजियों पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने प्रयास बढ़ाने के लिए लगी हुई थी, इसके कारण सुदूर पूर्व के रूसी क्षेत्र में उसकी शक्ति पर्याप्त रूप से कम कर दी गयी थी। जापान की क्वानतुंग सेना लगभग युद्ध की समाप्ति के समय तक वहाँ स्थित और उपलब्ध रूसी सेनाओं को पराजित करने या जापान पर सफल आक्रमण होने के समय भी उनका सामना करने में समर्थ समझी जाती थी। रूसी भी इस तर्क से पूरी तरह सहमत नहीं थे कि बृहत्तर पूर्व-एशिया की सुरक्षा के लिए क्वानतुंग सेना की कुछ सर्वोत्कृष्ट टुकड़ियों को वहाँ से हटाकर उनके स्थान पर कुछ अन्य प्रशिक्षित रिजर्व फोर्स के सैनिक लगाये गये हैं और बकाया बचे सैनिक बहुत पहले से सीमा-सुरक्षा की ड्यूटी पर तैनात हैं। परिणामस्वरूप रूस द्वारा अपनी तटस्थता की नीति को प्रदर्शित करने के अनुसार, जो पूर्ण नहीं थी, अपने क्षेत्र का जापानियों को हवाई अड्डे की सीमित सुविधा के लिए दिया जाना स्वीकार्य समझा गया था। इस नीति का पालन इस सीमा तक किया गया कि चीन के साथ हुए सम्मेलन में रूस को अलग रखा गया। संयुक्त राष्ट्र का 'चार्टर' तैयार करने के लिए जिस आधार पर विचार-विमर्श होना था, उसके लिए मास्को द्वारा स्वीकृति की घोषणा के लिए यदि आवश्यकता पड़े, तो चीन से इस सम्बन्ध

में अलग से विचार-विमर्श करना तय किया गया था। गोकि डुम्बार्टन ओक्स में, चीन को संयुक्त-राष्ट्रसंघ में सन्निहित शक्तियों में प्रधान शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था, फिर भी राष्ट्रसंघ के चार्टर पर अमेरिका और ब्रिटेन के साथ रूस के विचार-विमर्श के समय चीन को सम्मिलित न करते हुए, अलग से उससे इस सम्बन्ध में परामर्श करने का निर्णय किया गया था। कैरो-सम्मेलन में (राज्यों के प्रधानों के एक मात्र सम्मेलन में जिसमें चीनियों ने भाग लिया था) किसी रूसी प्रतिनिधि ने भाग नहीं लिया। इसके बाद तेहरान में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें मार्शल स्टालिन ने घोषणा की कि—"सोवियत-संघ, जापान के विरुद्ध युद्ध में तभी सम्मिलित होगा, जब एक बार जर्मनी को पूरी तरह पराजित कर लिया जायगा।"[1]

फिर भी याल्टा-सम्मेलन में अन्ततः वे निर्णय हो सके, जिनके आधार पर रूस को पैसिफिक युद्ध में भाग लेना था। तथापि, जिस प्रकार, जिस सीमा और जिन शर्तों पर रूस को इस युद्ध में भाग लेना था, उन पर बाद में कई महीनों तक विचार-विमर्श होता रहा। ये मुख्यतया सैनिक पक्ष से सम्बद्ध थे, जिनमें रूस के युद्ध में भाग लेने के समय, उसकी सेना की 'साइज' और क्षेत्र तथा साथ ही संयुक्त-राज्य से सोवियत सेना को प्राप्त होने वाली सामग्रियों की सहपूर्ति की सहायता आदि पर परामर्श किया गया था।[2] इसके अतिरिक्त १५ अक्तूबर को स्टालिन ने इस बात का भी संकेत किया था कि इस सम्बन्ध में एक राजनीतिक समझौता करने की भी आवश्यकता है, "क्योंकि रूसी यह जानना चाहेंगे कि वे किस लिए युद्ध कर रहे हैं और जापान के विरुद्ध उनका कुछ दावा भी है।" किन्तु राजदूत हरीमैन दिसम्बर के पहले स्टालिन से रूस की इच्छाओं का विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त कर सके थे। स्टालिन के साथ दिसम्बर में हुई अपनी वार्ता की 'रिपोर्ट' राष्ट्रपति रूजवेल्ट को देते हुए हरीमैन ने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया कि—"यदि रूस के युद्ध में भाग लेने के पूर्व सोवियत और चीनी सरकारों के बीच कोई समझौता[3] नहीं हो जाता, तो सोवियत सेनाएँ उत्तर में कम्युनिस्ट सेनाओं की सहायता और समर्थन करेंगी और जिन क्षेत्रों को लाल सेनाएँ मुक्त करेंगी, उन पर वे कम्युनिस्टों का प्रशासन स्थापित कर सकेंगे।" परिणामतः इससे स्पष्ट है कि फरवरी, १९४५ के याल्टा-सम्मेलन के पूर्व रूस के पैसिफिक-युद्ध में सम्मिलित होने की शर्तों और उससे उत्पन्न होने वाले कुछ खतरों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श होता रहा।

सम्मेलन में सोवियत सरकार ने जर्मनी के आत्म-समर्पण के दो या तीन महीनों बाद जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होना स्वीकार किया। इस निर्णय से ऐसा अनुभव किया गया कि इस अवकाश के बीच सोवियत संघ सुदूर पूर्व में आवश्यक सामग्रियों का संग्रह और सेना का आवश्यक विन्यास करने के लिए समय पा जायगा। इसके बदले

अन्य मित्र-राष्ट्रों ने बाहरी मंगोलिया (मंगोलियाई जनवादी गणतंत्र) की यथास्थिति बनाये रखना स्वीकार किया। १९०४ के बाद रूसी-जापानी युद्ध में जारवादी रूस के जिन अधिकारों का अपहरण कर लिया गया था, सोवियत संघ को वापस दिलाना स्वीकार किया गया। अतः सोवियत संघ को सरवालिन के आधे दक्षिणी भाग और इसके सन्निकट के द्वीपों को पुनः प्राप्त करना था, डायरेन के व्यापारिक बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीय करण करना था और पोर्ट आर्थर को नौ-सैनिक अड्डे के लिए सोवियत संघ को पट्टे पर देना था। यह भी तय किया गया कि मंचूरिया से गुजरने वाली दो प्रमुख रेलवे लाइनों का परिचालन एक संयुक्त सोवियत-चीनी कम्पनी द्वारा किया जायगा, फिर भी, इसमें सोवियत संघ के प्रधान हितों को अनुरक्षित रखने पर ध्यान दिया जायेगा।[४] किन्तु सम्मेलन इस बात से सहमत हुआ था कि मंचूरिया में चीन की पूर्ण प्रभुसत्ता बनी रहेगी। इनके अतिरिक्त १९०४ में जापानियों के विश्वासघाती हमलों से रूस के पूर्व अपहृत अधिकारों की पुनःप्राप्ति के लिए युद्ध के अन्त में कुरिलीज को रूस को हस्तान्तरित करना भी स्वीकार किया गया।[५] चर्चिल और रूजवेल्ट ने रूस की ये शर्तें पूरी करने की प्रतिज्ञा की। चूँकि इससे एक दूसरा मित्र-राष्ट्र—चीन प्रभावित हो रहा था, इसलिए रूजवेल्ट ने "मार्शल स्टालिन के परामर्श" पर इनको च्यांग-काई-शेक द्वारा स्वीकार कराने के लिए आवश्यक प्रयत्न किया। 'परामर्श' करने का यह तात्पर्य था कि वाशिंगटन इन शर्तों के सम्बन्ध में चीन को परामर्श देगा, किन्तु तब जब स्टालिन इसके लिए उपयुक्त समय की घोषणा करेंगे। एक और बचाव के लिए समझौते में यह व्यवस्था की गयी कि —"तीन महान् देशों के प्रधानों ने सोवियत संघ के इन दावों को जापान की पराजय के पश्चात् पूरा करना निस्संदेह स्वीकार कर लिया है।"[६]

इसके बाद पैसिफिक युद्ध में रूसी आगमन का रास्ता साफ करने के लिए ५ अप्रैल, १९४५ को रूसस्थित जापानी राजदूत को यह लिखते हुए, एक नोट दिया गया कि— "उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में और (तटस्थता) संधि की तीसरी धारा के अनुसार, जिसमें संधि के लागू होने के बाद से पाँच वर्ष पूरे होने के एक साल पहले इसका परित्याग करने की व्यवस्था की गयी थी, सोवियत सरकार १३ अप्रैल, १९४१ को की गयी संधि का परित्याग करने की जापानी सरकार से घोषणा करती है।" रूस द्वारा इस नीयत का संकेत दिये जाने और ऐटम बम के प्रथम प्रयोग से भी पूर्व जापान ने सोवियत सरकार से, युद्ध को समाप्त करने के लिए उससे मध्यस्थता कराने की दृष्टि से सम्पर्क स्थापित किया था। उस समय रूस ने इसे इनकार कर दिया था, किन्तु जापान की इस कमजोरी का संकेत, सोवियत संघ ने अमेरिकियों या अंग्रेजों को नहीं दिया था। फिर भी जुलाई तक जापानी, रूसियों के माध्यम से बिना शर्त आत्म-समर्पण की अपेक्षा शान्ति-

समझौता कराना अधिक लाभप्रद समझते हुए, उससे इसे पूरा कराने की आशा कर रहे थे।

इस समय से लेकर जापानियों द्वारा आत्म-समर्पण की शर्तें स्वीकार किये जाने के समय तक, जब २६ जुलाई को पोट्सडम में जापानियों को आत्म-समर्पण के लिए स्वीकार्य शर्तों की घोषणा की गयी थी, घटनाएँ बहुत तेजी के साथ घटने लगी थीं। रूस के लिए यह प्राथमिक महत्त्व का प्रश्न था कि उसके युद्ध में सम्मिलित होने के पूर्व चीन के साथ एक समझौता किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ विलम्ब के बाद वार्ता आरम्भ की गयी थी, जिसके सम्बन्ध में स्टालिन की यह इच्छा थी कि रूस के अभिप्राय की सूचना, जहाँ तक सम्भव हो, अन्तिम क्षण तक चुंकिंग द्वारा जापान तक न पहुँचने पाये। जून में वार्ता शुरू होने पर इसको समय के भीतर, जब वह अभी चल ही रही थी, तभी चीन द्वारा उसकी शर्तों को स्वीकार कराने का आश्वासन देते हुए, शीघ्रता से इसे समाप्त करने के लिए जोर दिया गया, ताकि रूस के लिए युद्ध में सम्मिलित होना सम्भव हो सके। वास्तव में 'मित्रता और विश्वास की संधि' का सत्यांकन १४ अगस्त को ही हुआ, जब ८ अगस्त को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसके दो दिन बाद हिरोशिमा पर एटम बम का विस्फोटन हुआ, जिसके बाद ही १० अगस्त को जापान ने बिना शर्त आत्म-समर्पण की पोट्सडम-घोषणा की शर्तें स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की, बशर्ते उन शर्तों में साम्राजिक प्रभुसत्ता के विशेषाधिकार निहित न हों। मित्र-राष्ट्रों का साम्राज्यिक संस्थापन के सम्बन्ध में विचार १५ अगस्त तक पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया गया था, अतः बिना शर्त आत्मसमर्पण को स्वीकारने की घोषणा कर शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयों को तदनुरूप समाप्त करने का कार्यारम्भ किया जा सकता था। फिर भी, आत्म-समर्पण के सम्बन्ध में औपचारिक लिखापढ़ी २ सितम्बर तक के लिए टाल दी गयी। इससे सोवियत सेनाओं को मंचूरिया में तीन सप्ताह तक सैनिक कार्रवाइयाँ करने का अवसर दिया। जिन परिस्थितियों ने क्वान्तुंग सेना की दृढ़ता-शक्ति का ह्रास किया, उससे रूस को पूरे मंचूरिया पर अपनी सेना का अधिकार करने और उत्तरी कोरिया (३८ वें समानान्तर के उत्तर), का जो क्षेत्र उन्हें जापानी सेनाओं से आत्म-समर्पण कराने के लिए नियत किया गया था, तेजी से बढ़ने का मौका मिला। अतः अल्पतम प्रयास से चीन और कोरिया में रूस की शक्ति, बोक्सर-विद्रोह के समय की उसकी शक्ति से भी कहीं अधिक सुदृढ़ हो गयी। युद्ध में रूस के सम्मिलित होने के बाद जापानियों ने जिस तेजी के साथ आत्म-समर्पण किया, उससे रूस ने यह दावा किया कि इसमें उसका सम्मिलित होना युद्ध की समाप्ति की दृष्टि से विशेष रूप से निर्णायक रहा, गोकि उन्हें युद्ध में सम्मिलित होने के समय

स्वयं इसका ज्ञान था कि जापानी युद्ध को और चलाने में असमर्थ होने के कारण शान्ति-स्थापन चाहते हैं। अतः सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध प्रयुक्त सफल अमेरिकी शक्ति का फायदा उठाया।

रूस को छोड़कर संयुक्त-राज्य, ब्रिटेन और चीन जापानियों के शीघ्र आत्म-समर्पण से जिसके लिए अभी कोई तैयारी नहीं की गयी थी, विशेषतया प्रभावित हुए, जो इस बात का प्रमाण है कि युद्ध की समाप्ति के संदर्भ में सिवाय इसके कोई राज-नीतिक तैयारी भी नहीं की गयी थी कि युद्ध चालू रखने की योजना का किस प्रकार सफल कार्यान्वियन किया जाय, जिससे जापानियों को बिना शर्त आत्म-समर्पण करने के लिए विवश किया जा सके। इस सम्बन्ध मे जो परिकल्पनाएँ की गयी थीं, वे चार प्रकार की थीं। पहली परिकल्पना यह थी कि औपनिवेशिक क्षेत्रों में १९४१ के पूर्व की यथास्थिति स्थापित की जायगी, किन्तु युद्ध के बीच औपनिवेशिक शासक देशों ने जिस प्रकार के नये उद्देश्यों का आकलन किया है, उनके अनुरूप इन प्रदेशों में उनकी नीति कार्यान्वित होगी। संयुक्त-राज्य ने यह स्पष्ट कर दिया था कि औपनिवेशिक शासकों द्वारा उपनिवेशों में स्वायत्त शासन के अधिकार की स्थापना और विस्तार का वह समादर करेगा और फिलीपाइन के सम्बन्ध में इसके द्वीप-समूहों को स्वाधीन करने का अपना निश्चय उसने दुहराया था। दूसरी परिकल्पना यह थी कि जापान प्रधानतया केवल अमेरिकी शस्त्रों से पराजित ही नहीं किया जायगा, वरन् इसके परिणामस्वरूप जापान के प्रति नीति-निर्धारण का भी विशेष उत्तरदायित्व अमेरिका पर ही होगा। तीसरी परिकल्पना यह थी कि युद्ध की समाप्ति पर चीन सुदूर पूर्व का एक प्रधान देश होगा और उसे उन क्षेत्रों का नियंत्रण प्राप्त होगा, जो प्रथम चीनी-जापानी युद्ध के आरम्भ में उसके अधिकार में थे। फिर भी इस स्थिति में तीन संशोधन किये जायँगे—(१) कोरिया समयानुसार चीन से तथा अन्य राज्यों से भी स्वतंत्र हो जायगा, और (२) चीन प्रभुसत्ता की दृष्टि से मंचूरिया को भी अपने अन्तर्गत रखेगा, जब कि रूस चीन के साथ पोर्टआर्थर का नौ-सैनिक अड्डे के रूप में प्रयोग कर सकेगा, जिस पर रूसी सेना का नियंत्रण होगा, गोकि वहाँ चीनी नागरिक प्रशासन ही लागू किया जायगा। डायरन एक अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह होगा, जो सभी राष्ट्रों के व्यापारिक कार्यों के लिये उपलब्ध होगा, किन्तु इसके उपयोग में रूस को विशेष प्रमुखता प्राप्त होगी, पहले चीन की जो पूर्वी और दक्षिणी मंचूरियाई रेलें थीं, वे चीन और रूस के संयुक्त प्रशासन में होंगी, किन्तु इसमें चीन प्रधान हिस्सेदार होगा और बाहरी मंगोलिया—चीन से अलग एक स्वाधीन प्रदेश होगा। चौथी परिकल्पना यह थी कि सुदूर पूर्व के सम्बन्ध में और

पूरे संसार के अन्य भागों के सम्बन्ध में भी प्रमुख राष्ट्रों में परस्पर आस्था और विश्वास के आधार पर सहयोग बना रहेगा।

अन्तिम परिकल्पना दो प्रकार अभिव्यक्त की गयी थी। प्रमुख रूप से चीन के लिए यह सोचा गया था कि चीन-रूस में १९४५ में एक संधि लिखी जाय, जिसके अनुसार रूस चीन के पुनर्निर्माण में अपनी सम्पूर्ण सहायता केवल राष्ट्रीय (क्यूमिन्तांग) सरकार के माध्यम से ही प्रदान करे। सामान्यतया प्रधान राष्ट्रों में शान्तिकालीन सहयोग की भावना के आधार पर ही संयुक्त राष्ट्र का संगठन करने की बात सोची गयी। राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार, सुरक्षा-परिषद् में चीन को एक स्थायी प्रतिनि-निधित्व (स्थान) प्राप्त हुआ और उसे भी अन्य प्रधान राष्ट्रों की भाँति ही अपने निषेधा-धिकार (विटो) के प्रयोग का अधिकार दिया गया था। इसमें गैर-स्वायत्त-शासन क्षेत्रों को, जो भूतपूर्व शत्रु-क्षेत्र नहीं थे, औपनिवेशिक सरकार के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मान बनाते हुए, उन्हें न्याय-प्रणाली के अन्तर्गत रखा गया। और इसमें अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए पैसिफिक-क्रिया-विधि का प्रयोग लागू करने की भी व्यवस्था की गयी, जो विधि-प्रधान शक्तियों के पारस्परिक समझौते के आधार पर ही अपनायी जा सकती थीं।

(३) जापान के सैनिक दखल की समाप्ति

इनमें चीन के सम्बन्ध में की गयी परिकल्पना अन्य की अपेक्षा विशेष मान्य नहीं सिद्ध हुई। इसकी आन्तरिक एकता, स्थिरता और व्यवस्था, जो सुदूर पूर्व में उसे प्रधान देश के रूप में जापान के स्थान पर अपने को स्थित करने और उस क्षेत्र की राज-नीति में संयुक्त-राज्य, रूस और ब्रिटेन के समान भाग लेने के लिए आवश्यक थी, जापानी आत्म-समर्पण के समय और उसके बाद अर्धदशी तक पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो सकी थी। जापानी आत्म-समर्पण के समय इसे जो स्थिति प्रदान की गयी थी, उससे यह आशा की जाती थी कि उक्त परिकल्पनाओं के आधार पर इसे पूर्ण वैधता प्राप्त हो जायगी। इस आशा के विपरीत चीन तेजी के साथ युद्ध-पूर्व की स्थिति में पहुँचकर पुनः एक समस्यात्मक देश बन गया।

विजय-दिवस तक चीन तीन भागों में हो गया था। कुमिंतांग का नियंत्रण दक्षिण-पश्चिमी प्रान्तों में बना रहा। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा नियंत्रित थे और पूर्वी चीन अभी भी जापानियों के कब्जे में था। फिर भी उत्तरी चीन के जापानी क्षेत्र में बहुत-से कम्युनिस्ट प्रतिघाती फैले हुए थे और इनमें कुछ केन्द्रीय और दक्षिणी चीन में भी विद्यमान थे। जापानियों के दखल में स्थित क्षेत्रों से उन्हें निकालने

की तैयारी में कम्युनिस्ट छापामार युद्ध के माध्यम से राष्ट्रवादियों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल थे, अतः वे जापानियों द्वारा और कुमितांग के समक्ष अपने प्रभाव का विस्तार करने में भी समर्थ थे।

जापान द्वारा आत्म-समर्पण की शर्तें स्वीकार किये जाने के पश्चात्, उनमें अधिकार में आये क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की तत्काल समस्या उपस्थित हुई। इसका उत्तरदायित्व, स्वाभाविक रूप से चीनी सरकार को दिया गया, क्योंकि इसमें चीनी क्षेत्रों में नियंत्रण की पुनःप्राप्ति करने की समस्या सन्निहित थी। इसमें केवल एक अपवाद मंचूरिया के सम्बन्ध में था, जहाँ से जापानियों को हटाकर रूसियों ने उसे अपने कब्जे में किया था, किन्तु इस सम्बन्ध में यह तय किया गया था कि जापान के साथ युद्ध-विराम-संधि होने के बाद तीन महीनों के भीतर रूसी अपनी सेनाएँ वहाँ से हटा लेंगे। तथापि, अधिकृत चीन के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं और जिन्होंने एक समस्या पैदा कर दी, वे जापानियों से सम्बद्ध नहीं थीं। चीनी कम्युनिस्टों ने उत्तरी चीन में जापानियों से आत्म-समर्पण कराना चाहा, जहाँ वे पहले से ही जापानियों के विरुद्ध च्यांग-काई-शेक की सेना और अधिकारियों से कहीं अधिक सन्निकटता के साथ संलग्न थे। जेनरल-इसिमो ने उनको यह अधिकार देने से इनकार किया। फिर भी, उसके पास उत्तरी चीन में जापानियों से आत्म-समर्पण कराने के लिए अपनी सेनाओं को आगे बढ़ाने की सुविधाओं की कमी थी, जिसमें उसे केवल संयुक्त-राज्य से ही सहायता प्राप्त हो सकती थी। इस आधार पर कि जब तक चीन से जापानी सैनिकों को निःशस्त्र कर उन्हें उनके देश को वापस नहीं लौटा दिया जायगा और इस प्रकार उन पर चीनी अधिकार स्थापित नहीं कर दिया जायगा, तब तक अमेरिका की युद्धसम्बन्धी जिम्मेदारियाँ पूरी नहीं समझी जायँगी, इसलिए संयुक्त राज्य ने चीन में अपनी हवाई, स्थल और समुद्री परिवहन-व्यवस्था (जो चीनी सरकार की ऐसी व्यवस्थाओं से अधिक थी) चीन में इस उद्देश्य से बनाये रखी थी कि च्यांग आवश्यकतानुसार जापान द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में इसके उत्तर और दक्षिण दोनों ओर अपने अधिकारियों और अपनी सेनाओं को भेज सकें। इस सहायता से वे उत्तर चीन के प्रधान शहरों और रेल-लाइनों पर कम्युनिस्टों का अधिकार रोकने में समर्थ हुए, किन्तु इससे गृह-युद्ध की धमकी दी गयी, क्योंकि इस कार्य में उनकी सेनाओं की कम्युनिस्टों की सेनाओं से मुठभेड़ हुई, जो पहले से ग्रामीण क्षेत्रों में घुसी हुई थीं। इसने संयुक्त-राज्य को भी इस आन्तरिक संघर्ष से सम्बद्ध किया, जिसका कम्युनिस्टों ने यह कहते हुए विरोध किया कि वह राष्ट्रीय सरकार की ओर से उनके विरुद्ध हस्तक्षेप कर रहा है।

सामान्य युद्ध-सहायता को चालू रखने की अमेरिका की सरकारी नीति के अनुसार

चीन के घरेलू मामलों में उसके हस्तक्षेप करने के उद्देश्य का खंडन किया गया था। उनके अनुसार सहायता मान्य सरकार को और उसके माध्यम से दी गयी थी और वह भी जापानी नियंत्रण-क्षेत्रों से जापानियों को हटाकर उन पर अधिकार प्राप्त करने के सीमित उद्देश्य से दी जाती थी, जिसे हस्तक्षेप का कार्य नहीं समझा जा सकता। तिसपर भी, अमेरिकी सैनिक अधिकारी और उनकी दखल करने वाली सेनाएँ दो संघर्षरत विरोधियों के बीच बड़ी असंतोषप्रद स्थिति में पड़ गयी थीं। गृह-युद्ध शुरू हुआ। संयुक्त-राज्य में भी कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखने वालों ने ऐसी स्थिति में आवाज उठायी और माँग की कि चीन से प्रत्येक अमेरिकी सिपाही को तत्क्षण हटा लिया जाय। इसका उसी तीव्रता के साथ राष्ट्रीय सरकार के प्रति सहानुभूति रखने वालों ने विरोध किया और उनका यह विश्वास था कि मास्को, चीन पर अपना तत्क्षण अधिकार स्थापित करने और वहाँ से राष्ट्रीय सरकार को उलट देने के लिए चीनी कम्युनिस्ट सेनाओं का उपयोग कर रहा है।[७]

इस दोहरे दबाव में, ज्यों ही जापानी सेनाएँ मुख्यतया अपने स्वदेश लौटा दी गयीं, संयुक्त-राज्य ने चीन से अपनी अधिकतर सेनाएँ वापस कर लीं, किन्तु चीन को अनेक प्रकार की गैर-सैनिक सहायता देकर और उनके लिए सैनिक-प्रशिक्षण-योजना तैयार कर इस उदार साधन द्वारा तथा साथ ही बची हुई सैनिक-सामग्रियाँ बेचकर या उधार देकर संयुक्त-राज्य उन्हें सैनिक सहायता भी देता रहा। यह सहायता (जिसकी—१९४९ में सभी प्रकार की सहायता में दी गयी धन-राशि का योग २० खरब डालर था) संयुक्त-राज्य को राष्ट्रीय सरकार से संलग्न सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी, अतः इसके विपक्ष में कम्युनिस्टों तथा कुमिन्तांग-तंत्र के अन्य विरोधियों की शत्रुता निरन्तर बढ़ती गयी। फिर भी, यह कम्युनिस्टों के विरुद्ध उत्तरी चीन और मंचूरिया में राष्ट्रीय सरकार को सुदृढ़ करने के लिए अपर्याप्त थी। प्रभावप्रद रूप में, कुमिन्तांग-सरकार का अमेरिका द्वारा सक्रिय समर्थन किये जाने में कमी करने से उनका हस्तक्षेप नकारात्मक ही था, जो कम्युनिस्टों के लिए लाभप्रद हुआ, क्योंकि अमेरिकी सहायता के बल पर ही सरकारी सेनाएँ अपने को अधिक समर्थ सिद्ध कर सकती थीं। १९४५ के बाद इसने जो भी मार्ग अपनाया, उसे दूसरे शब्दों में चीन के गृह-युद्ध में संयुक्त-राज्य का हस्तक्षेप कहकर, उसे दोषी ठहराना था।

चीन के सम्बन्ध में अमेरिका की युद्धोत्तर नीति की घोषणा राष्ट्रपति ट्रूमन ने १५ दिसम्बर, १९४५ को की, जब उन्होंने जनरल मार्शल को अपने विशेष प्रतिनिधि के रूप में चीन के राजदूत का पद प्रदान करने के साथ वहाँ नियुक्त करने की घोषणा की।

उन्होंने कहा, कि—"संयुक्त-राज्य सरकार का यह विश्वास है कि संसार की शान्ति के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वारा एक सुदृढ़ संयुक्त और लोकतंत्रीय चीन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त करना सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। संयुक्त-राज्य चीन की राष्ट्रीय सरकार को मान्यता देती है और भविष्य में भी उसी को ही मान्यता देती रहेगी और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसके साथ सहयोग करेगी।" अतः संयुक्त-राज्य ने उस समय राजनीतिक समस्या का आकलन करते हुए, राष्ट्रीय सरकार का आधार विस्तृत कर गृह-युद्ध के स्थान पर लोकतंत्रीय साधनों को अपना कर, उसका समाधान करना उपयुक्त समझा। उसने इसके समाधान के लिए एक पार्टी के अधिनायकवाद की जगह, तदनुरूप स्थित रूपरेखा के अन्तर्गत एक सहयोजित (कई पार्टियों को मिलाकर) सरकार के संगठन को गृह-युद्ध समाप्त करने का साधन मानकर संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना की दिशा में उन्मुख होना आवश्यक समझा। क्रियात्मक रूप से, इसके लिए च्यांग और कम्युनिस्ट नेताओं में मूल समझौते की आवश्यकता पड़ी, यथा—(१) सहयोजित सरकार में कम्युनिस्टों द्वारा भाग लेने की सीमा, और (२) राष्ट्रवादी और कम्युनिस्ट सेनाओं को मिलाकर एक राष्ट्रीय सेना के रूप में उन्हें संगठित करते हुए, उन्हें पूर्णतया चीन की सरकार के निदेशन में रखने का प्रश्न उपस्थित हुआ। सैद्धान्तिक रूप से १९३७ में जापानियों के विरुद्ध अपने को स्थित रखने के लिए युद्ध में मैत्रीपूर्ण संगठन किया गया था। फिर भी, इस मैत्री-संगठन को कार्यान्वित करने में कम्युनिस्टों ने अपने क्षेत्रों और सेनाओं पर अपना नियंत्रण पूरी तरह बनाये रखा। कुमिन्तांग और कम्युनिस्ट—दोनों क्षेत्रों की पूर्णतया न तो एक सरकार ही बन सकी थी और न तो कुमिन्तांग और लाल सेनाओं को मिलाकर एक राष्ट्रीय सेना का ही संगठन किया जा सका था।

जापान के विरुद्ध लम्बे युद्ध-प्रयासों में, विशेषतया चौथी सैनिक टुकड़ी की घटना होने पर, यह देखा गया चुंकिंग और येनान सरकारों के सम्बन्ध उस सीमा तक ढीले हो गये हैं कि दोनों क्षेत्रों में उनका क्रिया-कलाप ठप पड़ गया है। इससे जनता की राजनीतिक परिषद के कार्य-कलाप और प्रभाव में कमी आ गयी थी, जिसमें चुंकिंग-सरकार में सलाहकार की हैसियत से कम्युनिस्टों का बहुत ही सीमित प्रतिनिधित्व था। चीन में स्टिलवेल मिशन को पूरी तरह सफल न हो पाने का यह भी एक प्रधान कारण था, क्योंकि च्यांग, स्टिलवेल की इस माँग के अनुसार कार्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि सारी चीनी सेनाओं का प्रयोग केवल जापानियों के विरुद्ध किया जाय। इससे च्यांग की सेनाओं को जापानी मोर्चे पर भेजने से उत्तर और पूर्वी केन्द्रीय चीन में कम्युनिस्ट कार्रवाइयों को नियंत्रित रूप से चालू रहने का मौका मिल जाता और कम्युनिस्ट क्षेत्रों में कुमितांग द्वारा कम्युनिस्टों के समक्ष अवरोध उत्पन्न करने की क्षमता कम हो जाती।

(४) हर्ले मिशन

जब जेनरलइसिमो द्वारा स्टिलवेल को हठात् वापस बुला लिया गया और उसके बाद जब १९४४ के आरम्भ में उसके और राजदूत दोनों के स्थान पर जनरल वेडेमियर और जनरल पैट्रिक हर्ले को नियुक्त किया गया, तो जनरल हर्ले ने जेनरलइसिमो और कम्युनिस्टों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया, जिसमें वह असफल रहा, जब कि राष्ट्रपति के व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में उसे—"च्यांग और जनरल जोसफ स्टिलवेल के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाते हुए स्टिलवेल के निदेशन में स्थित चीनी सेनाओं पर उसके अनुभवजन्य कमान की कार्यवाइयों को सुविधाजनक बनाने का प्रयास करना था।" राजदूत के रूप में चीन में अपने मिशन और संयुक्त-राज्य की नीति के सम्बन्ध में, उनके विचार से उन्हें निम्नलिखित कार्य करना था—(१) राष्ट्रीय सरकार को टूटने से बचाना, (२) च्यांग-काई-शेक को चीनी गणतंत्र के राष्ट्रपति और जेनरल-इसिमो की सेनाओं के अध्यक्ष के रूप में बनाये रखना, (३) जेनरलइसिमो और अमेरिकी कमाण्डर के बीच सहयोग पूर्ण सम्बन्ध रखना (४) चीन में युद्ध-सामग्रियों का उत्पादन बढ़ाना और उसकी आर्थिक गिरावट को रोकना, और (५) जापान को पराजित करने के लिए समस्त चीनी सेनाओं का एकीकरण करना। (चुंकिंग जाते हुए रूस में विचार-विमर्श के आधार पर उसने जेनरलइसिमो को चीनी कम्युनिस्टों और सोवियत संघ के सम्बन्धों पर पुनः आश्वासन देने में अपने को समर्थ समझा, ताकि) वे अब यह अनुभव कर सकें कि चीन की एक राजनीतिक पार्टी के रूप में स्थित कम्युनिस्ट पार्टी से वे बिना विदेशी हस्तक्षेप के समझौता कर सकते हैं। च्यांग-काई-शेक ने अब यह स्वीकार कर लिया था कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी से समझौता करके वे जापान के विरुद्ध चीनी सेनाओं को एक साथ संगठित कर सकते हैं और इससे चीन में गृह-युद्ध को टाला जा सकता है।[८]

कुमिंतांग और कम्युनिस्टों के बीच सीधी वार्ता आरम्भ कराने के लिए मध्यस्थ की हैसियत से राजदूत हर्ले ७ नवम्बर, १९४४ को हवाई जहाज द्वारा येनान गये, जहाँ उन्होंने सीधे माओत्से तुंग से सम्पर्क स्थापित किया। वहाँ से वे चीन की राष्ट्रीय सरकार, चीन के कुमिंतांग और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच समझौते का एक पंचसूत्रीय मसौदा लेकर पुनः चुंकिंग वापस आये, जिसमें—जैसा आगे देखा गया, कम्युनिस्टों ने समझौते के लिए कम-से-कम शर्तें रखी थीं। इसका शीर्षक ही ऐसा था, जिसमें राष्ट्रीय सरकार और कुमिंतांग के बीच सावधानी के साथ भेद किया गया था और उनकी शर्तों में उन बातों का संकेत दिया गया था, जो उनके बाद की वार्ताओं में भी बराबर

दुहरायी गयी थीं—कि वे "सहयोजित सरकार" की स्थापना के आधार पर समझौता करने को प्रस्तुत हैं, किन्तु ऐसा समझौता वे तभी करना चाहते हैं, जब सरकार सचमुच प्रभावपूर्ण अधिकार रखे, न कि वह केवल कुमिंगतांग के पूर्ण नियंत्रण में ही बनी रहे। जब ऐसा हो जायगा और जब कुमितांग के समान अन्य पार्टियों द्वारा इसे संवैधानिक समर्थन प्राप्त हो जायगा और जब सभी पार्टियों को दूरे देश में अपना प्रचार करने के लिए आवश्यक 'गारन्टी' दे दी जायगी, तो कम्युनिस्ट अपनी सेनाओं को राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में लाने को तैयार हो जायँगे। सरकार द्वारा २२ नवम्बर को इस पर एक त्रिसूत्रीय प्रति-प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाने पर जनरल चाउ-एन-लाई ने यह स्पष्ट कर दिया था, कि—"इन समझौतों में उन्हें एक मौलिक कठिनाई का अनुभव हो रहा है कि कुमितांग एक पार्टी का शासन चाहते हुए एक लोकतंत्रीय सहयोजित सरकार का प्रस्ताव मानने के इच्छुक नहीं हैं।"[९] इसके बाद राष्ट्रीय सरकार के तीन और प्रस्ताओं का सिंहावलोकन करते हुए जनरल चाओ ने कम्युनिस्टों की स्थिति और स्पष्ट रूप में रखी, कि—"कम्युनिस्ट पार्टी अपनी सेनाओं की कमान कुमितांग पार्टी को नहीं देगी, गोकि वह अपनी सेनाओं की कमान राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत रखने के लिए इस शर्त पर प्रस्तुत है कि कुमितांग पार्टी द्वारा एकाकी सरकार को समाप्त कर उसके स्थान पर सभी पार्टियों के प्रतिनिधियों द्वारा एक सम्मिलित प्रशासन की स्थापना की जाय।"[१०]

इसके समान ही जेनरलइसिमों का, त्रिसूत्रीय प्रति-प्रस्तावों में निहित हठपूर्ण विचार भी २२ नवम्बर, १९४४ को जनरल चाऊ-एन-लाई को प्रेषित कर दिया गया था। इन तथा अन्य प्रस्तावों के संदर्भ में राष्ट्रीय सरकार कम्युनिस्टों से वार्ता करने की रियायत बरत रही थी, क्योंकि कम्युनिस्ट स्वयं अपनी एक सरकार के रूप में संगठित न होने के कारण समान आधार पर स्थित माने जाने की अपेक्षा एक असंतुष्ट सैनिक अंग के रूप में समझे गये थे। राष्ट्रीय सरकार कम्युनिस्ट सेनाओं के साथ, उनके राष्ट्रीय सेना-संगठन को मानने और इसमें सम्मिलित होने के उपरान्त समान रूप से व्यवहार करने का वचन देने को प्रस्तुत थी और वह चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को भी इस शर्त पर एक वैध पार्टी के रूप में मान्यता प्रदान करने को तैयार थी, यदि वे रक्षा-युद्ध चालू रखने में और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण में राष्ट्रीयकरण को अपना पूरा समर्थन प्रदान करें और 'राष्ट्रीय सैनिक परिषद्'[११] के माध्यम से वे अपनी सम्पूर्ण सेनाओं का नियंत्रण राष्ट्रीय सरकार के हवाले कर दें। राष्ट्रीय सरकार कुछ उच्चस्तरीय पदों पर कम्युनिस्टों को नियुक्त कर उन्हें 'राष्ट्रीय सैनिक-परिषद्' की सहायता प्रदान करेगी। सरकार के संगठन की समस्या के सम्बन्ध में, त्रिसूत्रीय योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि राष्ट्रीय सरकार के तीन प्रमुख सिद्धान्तों की पूर्ति का अन्तिम लक्ष्य लोकतांत्रिक सरकार की प्रगति और

विकास के निमित्त तदनुरूप नीतियों को कार्यान्वित करते हुए एक राष्ट्रीय-सरकार की स्थापना करना है। उसके बाद ही च्यांग ने इस प्रस्तावों के अनुसार कार्यकारी युनान में कम्युनिस्ट तथा अन्य पार्टियों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए उसका पुनस्संगठन करना चाहा और उन्होंने एक कम्युनिस्ट और एक अमेरिकी अफसर को राष्ट्रीय सेना के एक अफसर के साथ इस उद्देश्य से नियुक्त करने की इच्छा व्यक्त की, जो मिलकर चीनी कम्युनिस्ट सेनाओं के पुनस्संगठन, उसके लिए वांछित उपकरणों और सहपूर्ति सामग्रियों की व्यवस्था करने के लिए अपनी सिफारिशें जेनरलइसिमो के अनुमोदन के निमित्त प्रस्तुत करें, साथ ही उन्होंने जापान के विरुद्ध[12] युद्ध चलने की अवधि में चीनी कम्युनिस्ट सेनाओं के आसन्न कमाण्डर के रूप में एक अमेरिकी सैनिक अफसर को नियुक्त करना चाहा। अतः यह स्पष्ट हो गया कि जब कम्युनिस्ट कुमितांग की एकाकी पार्टी के नियंत्रण में संगठित सरकार की स्थापना के प्रश्न को लेकर समझौता नहीं करेंगे, तो उसके साथ ही जेनरलइसिमो भी इस तरह की परिकल्पनाओं को स्वीकार नहीं करेंगे, जो पूर्णतया कुमितांग के निर्णय के आधार पर न होकर कोई पूर्व प्रतिक्रिया प्रत्युत्पन्न करें, जिसमें उसके संरक्षण की अवधि समाप्त करते हुए किसी संवैधानिक सरकार की स्थापना की जाय।

चूँकि राजदूत हर्ले इस दृष्टिकोण से आबद्ध थे कि अमेरिकी नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय सरकार की स्थिति और जेनरलइसिमो की शक्ति सुदृढ़ करना है, इसलिए उसकी अन्तिम व्याख्या के अनुसार वे केवल सरकार द्वारा स्वीकृत सीमा के अन्दर ही अपना कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में वे जेनरलइसिमो को यह सलाह दे सकते हैं कि— कम्युनिस्ट सेनाओं[13] पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए राजनीतिक रियायत दे सकते हैं और संक्रान्ति-काल को कम कर सकते हैं। किन्तु वे सलाह देने की सीमा से आगे बढ़कर कोई कार्यवाई नहीं कर सकते। जेनरलइसिमो को अमेरिकी सुझावों को मानने के लिए उपयुक्त दबाव देने का यही साधन था कि यदि वे अमेरिकी प्रस्तावों से सहमत नहीं होते, तो चीन को दी जाने वाली सभी प्रकार की अमेरिकी सहायता समाप्त कर दी जाय। यदि सहायता वापस लेने के प्रस्ताव के बाद वे दृढ़ होते, तो इसका प्रभाव राष्ट्रीय सरकार और जेनरलइसिमो दोनों की स्थिति कमजोर करने पर पड़ता। यदि उन्होंने अमेरिकी सहायता प्राप्त करने के लिए इसे मान लिया होता, तो भी इसका प्रभाव उन्हें कमजोर सिद्ध करने पर पड़ता, क्योंकि ऐसी स्थिति में वे विदेशी दबाव के सामने अपना समर्पण कर देते। चूँकि इस समय कम्युनिस्ट तत्क्षण काफी दृढ़ स्थिति में आ गये थे, इसलिए वे अपनी मूल माँग में कोई संशोधन करने को तैयार नहीं थे और चूँकि अमेरिकी उन पर अपना प्रभावपूर्ण दबाव डालने की स्थिति में भी नहीं थे, इसलिए राजदूत हर्ले केवल

वार्ता कराने और उसे चालू रखने के अतिरिक्त कुछ करने में असमर्थ रहे, अतः वे तत्क्षण गृह-युद्ध शुरू होने के विरुद्ध भी कुछ कर पाने में असमर्थ थे। राजदूत हर्ले द्वारा २६ नवम्बर, १९४५ को त्याग-पत्र दिये जाने के बाद भी राष्ट्रीय सरकार (या कुमिंतांग) और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच राजनीतिक और सैनिक दोनों प्रश्नों पर समझौता-वार्ता द्वारा गृह-युद्ध बचाने के निमित्त प्रयास होता रहा, किन्तु बाद में राष्ट्रीय सरकार में सुधार और पुनस्संगठन करते हुए च्यांगकाई शेक का नेतृत्व बनाये रखते हुए राष्ट्रीय सरकार को टूटने से बचाने पर विशेष जोर देना स्थगित कर दिया गया।

नीति में इस परिवर्तन से, क्रमशः इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाने लगा, जैसा चुंकिंग में १९४३ में तथा उसके बाद भी व्यक्त किया गया था, कि राष्ट्रीय (कुमिन्तांग) सरकार प्रतिक्रियावादी हो गयी है और अब इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं रह गया है और चीनी कम्युनिस्ट विशेष समर्थन शक्ति के रूप में स्थित हो गये हैं, जो देश पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कुमिगतांग को चुनौती दे रहे हैं। यह बात कही जाने लगी थी कि यदि गृह-युद्ध छिड़ता है, तो कम्युनिस्ट निस्संदेह विजयी होंगे, क्योंकि विदेशी शक्तियाँ, जिनमें संयुक्त-राज्य भी सम्मिलित हैं, जो सरकार का समर्थन करतीं, वे सरकार की संगठन सम्बन्धी कमजोरियों को पूरी करने में कोई सम्भव सहायता नहीं दे सकती थीं।

"इस अनुपयुक्त द्विविधाजनक स्थिति में", संयुक्त-राज्य को शान्तिप्रद प्रक्रिया से चीन में नयी शक्तियों के नये मैत्रीपूर्ण सहयोजन के समंजन द्वारा गृह-युद्ध का विनाश रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए वांछित साधन केवल यही था कि कुमिंतांग के संगठन में सुधार कर उसे दृढ़ता के साथ स्थित किया जाय, ताकि यह सहयोजित सरकार का एक सशक्त अंग बना रहे। यदि इसमें सफलता नहीं मिलती, तो हमें (अमेरिकियों को) कुमिन्तांग के साथ अपनी संलग्नता को यथासम्भव कम कर देना चाहिए और कम्युनिस्टों के साथ, जो चीन का नियंत्रण करने वाली मजबूत पार्टी के रूप में संगठित है, कुछ सहयोग करना आरम्भ करना चाहिए और उन्हें आगे स्वतंत्र स्थिति में संयुक्त-राज्य से मैत्री रखने के लिए प्रभावित करना चाहिए।"[१४]

यह दृष्टिकोण, जो उसके (जनरल हर्ले के) अपने मत और नीति के प्रतिकूल था और जिसने एक दूसरे प्रकार की नीति और समाधान उपस्थित किया था, उसी के संदर्भ में जनरल हर्ले ने यह विचार व्यक्त किया कि विदेशी सेवा में लगे अधिकारियों ने ही उसके मिशन के साथ गुप्तघात किया है। अतः मार्शल मिशन के समय तक, संयुक्त-राज्य ऐसी स्थिति में था, जब राष्ट्रपति ने जनरल मार्शल को जेनरलइसिमो से निःसंकोच यह कह देने के लिए, अधिकृत किया था कि—"उन्हें यह सोच कर कार्य करना चाहिए कि

गृह-युद्ध के बीच विभक्त और कमजोर चीन को वास्तविक रूप से निर्धन स्थान मानकर उक्त आशय के संदर्भ में अमेरिकी सहायता देने के लिए उपयुक्त नहीं समझा जा सकता और सरकार में देश की अन्य पार्टियों को सम्मिलित करके लोकतांत्रिक पद्धति के विस्तृत आधार पर इसे संगठित करते हुए देश में एकता और शान्ति स्थापित की जानी चाहिए।"[१५]

"यह स्वीकार किया जाता है कि इसके लिए एक पार्टी के राजनीतिक संरक्षण में संशोधन करने की आवश्यकता पड़ेगी।" इसमें च्यांग द्वारा उस स्थिति को स्वीकार करने की समस्या भी सन्निहित थी, जिसे आरम्भ में कम्युनिस्टों ने स्वीकार किया था, किन्तु उन्होंने (जेनरलइसिमो ने) अस्वीकृत कर दिया था। परिणामतः उन्होंने कुमिंतांग के तत्त्वावधान में एक राजनीतिक सलाहकार-सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया, जो संरक्षण की समाप्ति के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करे। कम्युनिस्टों ने ११ अक्तूबर, १९४५ को इस राजनीतिक सलाहकार-सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया था।[१६]

(५) अमेरिकी मध्यस्थता

अतः जिस समय जनरल हर्ले ने राजदूत पद से त्याग-पत्र दिया, उस समय चीन की प्रधान आन्तरिक समस्या का असैनिक समाधान प्राप्त करने के लिए कुमिंतांग और कम्युनिस्टों के तत्कालीन सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। वार्ता—"राष्ट्रीय-सरकार और कयुनिस्ट विचार-विमर्श के संक्षिप्त आलेख—" में निहित सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर एक समझौते के स्तर तक पहुँच गयी थी, जो चुकिंग में ११ अक्टूबर को जारी भी की गयी थी। दूसरी ओर उत्तर चीन और मंचूरिया पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कुमिंतांग और कम्युनिस्टों में संघर्ष पहले से ही शुरू हो गया था। सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी के सशस्त्र सैनिकों के बीच बराबर अधिकाधिक झगड़े होने लगे थे। कम्युनिस्टों द्वारा, राष्ट्रीय सरकार की—जापानियों और चीनियों की कठपुतली सेनाओं से आत्म-समर्पण कराने के सम्बन्ध में जारी किये गये आदेशों को न मानने और कम्युनिस्टों द्वारा शत्रुओं की सामग्रियों और उनके जाने पर उनके क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित करने के लिए उनके ऐसे आत्म-समर्पण को स्वयं कार्यान्वित कराने के कारण ही आपस में ये झगड़े हो रहे थे। ये झगड़े तथा साथ ही और क्षेत्रों में भी ऐसे झगड़े इतने बढ़ गये थे कि योग्य पर्यवेक्षकों ने शान्तिप्रद समझौते की संभावना को संदेहास्पद समझ लिया था।[१७]

इन परिस्थितियों में आन्तरिक संघर्ष सुलझाने के लिए अमेरिका द्वारा दूसरी बार प्रयत्न आरम्भ किया गया था, जब सेना के जनरल सी० मार्शल को राष्ट्रपति ट्रूमन ने दिसम्बर, १९४५ में सरकारी मिशन पर चीन भेजा। अपनी बड़ी ख्याति के साथ चीन

में आये जनरल मार्शल से यह आशा की गयी थी कि वे एक सैनिक संधि कराने में समर्थ होंगे और इसके बाद एक अस्थायी सम्मिलित सरकार की भी स्थापना करा सकेंगे, जो पूरे चीन[१८] में एक अधिकार सम्पन्न लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना के लिए निश्चित मौलिक निर्णयों का पर्यवेक्षण और कार्यान्वियन करने के लिए तदनुरूप सिद्धान्त स्थिर करने का कार्य आगे बढ़ा सकेगी।[१९]

मार्शल के आगमन की आशा में, किन्तु साथ ही ११ अक्तूबर के समझौते को लागू करने और च्यांग की वचन-बद्धता के अनुसार युद्ध की समाप्ति के एक वर्ष के अन्दर 'संरक्षण-अवधि' का अन्त करने के लिए शुरू किये गये अभियान की सहपूर्ति के उद्देश्य से चीनी सरकार ने अमेरिकी उद्देश्यों को पूरा करने की दृष्टि से 'जनता के सलाहकार-सम्मेलन' का संगठन करने के निमित्त कार्रवाई शुरू कर दी थी। यह कार्रवाई करने के निमित्त कम्युनिस्टों से वार्ता करने और उनका उक्त सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार करने के लिए उनसे समझौता करने की आवश्यकता थी।

१० जनवरी, १९४६ को इस सम्मेलन का शुभारम्भ हुआ और यह २१ जनवरी तक चलता रहा, जिसमें कुमितांग के ९, कम्युनिस्ट पार्टी के ७ और अन्य छोटी पार्टियों और गैर-पार्टी हितों के २२ प्रतिनिधियों को सम्मिलित कर जनता के सलाहकार सम्मेलन का संगठन किया गया था। अपने सम्मेलन की समाप्ति पर 'जनता के सलाहकार सम्मेलन' ने सभी तत्कालीन समस्याओं पर समझौते की घोषणा की। इसके एक प्रकाशित प्रस्ताव में स्थायी विधान का मसौदा तैयार करने के लिए ५ मई को राष्ट्रीय एसेम्बली का सम्मेलन करने तथा साथ ही ४० सदस्यों की 'राष्ट्रीय परिषद्' की एक 'अन्तरिम सहयोजित सरकार' की स्थापना करने की व्यवस्था की गयी थी, जिनमें ४० में से आधे सदस्य कुमितांग और आधे अन्य पार्टियों एवं समुदाय से लिये जाने की घोषणा की गयी थी। च्यांग को, परिषद् के निर्णयों पर निषेधाधिकार प्राप्त था, जिसे अमान्य करार देने के लिए $\frac{3}{5}$ मतों की आवश्यकता थी। एक और प्रस्ताव में यह व्यवस्था की गयी थी कि जापानियों से मुक्त किये गये उन क्षेत्रों में, जहाँ प्रशासकीय नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कुमितांग और कम्युनिस्टों में संघर्ष हो रहे थे, यथास्थिति बनाये रखी जानी चाहिए। जब तक राष्ट्रीय सरकार की पुनःस्थापना न हो जाय और सैनिक-शक्तियों का पुनस्संगठन और उनके आकार में यथारूप कमी न कर दी जाय, तब तक यथास्थिति बनाये रखने का निर्णय किया गया था। कुमितांग और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक सैनिक उप-समिति स्थापित करने के लिए सीधा समझौता हुआ था, जिसके अनुसार जनरल मार्शल को सैनिक पुनर्गठन की विस्तृत रूपरेखा बनाने के लिए सलाहकार के रूप में नियुक्त करने का भी निर्णय किया गया था।

'जनता के सलाहकार सम्मेलन' का आयोजन होने के पहले ही जनरल मार्शल एक संधि-समझौता कराने और उस पर १० जनवरी को हस्ताक्षर कराने में सफल हुए थे। इस समझौते से तत्कालीन सैनिक संघर्ष का अन्त करने और यथास्थिति स्थापित करने के निमित्त उपर्युक्त समझौता करने के लिए मार्ग प्रस्तुत करने में सफलता मिली। इसके अनुसार दोनों ओर की सेनाओं को अपनी स्थिति में स्थित रहना था। कम्युनिस्टों ने संचार-साधनों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया और मंचूरिया पर सरकार द्वारा पुनः कब्जा करने का अधिकार स्वीकार किया। संधि की शर्तें जहाँ भी सम्भव हुआ, युद्ध-क्षेत्रों में समझौते को कार्यान्वित करने के लिए प्रेषित की गयीं। इन संधि-दलों ने वास्तव में राष्ट्रवादी सेनाओं को रोकने का कार्य किया, जो उस समय अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सैनिक कार्रवाई में संलग्न हो आक्रमण कर रही थीं। संधि ने ही स्वयं, कम्युनिस्टों को पुनः अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और आक्रमण के लिए समर्थ होने का समय प्रदान किया।

तथापि, यदि इस संधि-समझौते को दोनों पार्टियों ने विश्वास के साथ पूरी तरह कार्यान्वित किया होता, तो भी इससे मौलिक समस्या का समाधान नहीं हुआ होता, गोकि समस्या को सुलझाने के लिए यह इसकी एक प्राथमिक आवश्यकता थी। राजनीतिक रूप से समस्या के दो भाग थे। एक तो अस्थायी सरकार का निर्माण, जो तत्कालीन एकाकी पार्टी की सरकार के स्थान पर कार्य करे। दूसरा प्रश्न सरकार की संतोषजनक स्थायी रूपरेखा का, उसकी स्थापना के लिए निर्धारण करने का था। संयुक्त-राज्य के दृष्टिकोण में दोनों के लिए लोकतंत्र की स्थापना का प्रयत्न करना अनिवार्य था। समस्या का सैनिक पक्ष पार्टियों की अलग-अलग सेनाएँ बनी रहने के कारण उपस्थित हुआ था जिन्हें मिलाकर एक राष्ट्रीय सेना का वास्तविक रूप में संगठन करना और गृह-युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रत सेना के विशाल आकार को कम करते हुए उसे केवल उतनी ही संख्या में रखना था, जितनी चीन की आन्तरिक व्यवस्था और उसके अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक हों। कुमिन्तांग नेता, कम्युनिस्ट सेनाओं को घटाकर उन्हें राष्ट्रीय सेना के अन्तर्गत (जो स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण और आदेश पर आधृत होंगी) रखने के लिए जोर डाल रहे थे, यह वे सामान्य समझौते की शर्तों के अतिरिक्त कोई राजनीतिक समस्या का समझौता होने के पूर्व या उसी के साथ करा लेने पर जोर दे रहे थे। किन्तु कम्युनिस्ट, जब तक राजनीतिक समस्या का समाधान न हो जाय और उसे कार्यान्वित भी न कर लिया जाय, तब तक अपनी सेनाओं पर से अपना नियंत्रण खोना नहीं चाहते थे। जो राजनीतिक समाधान स्वीकार करने के लिए वे इच्छुक थे, उसके अनुसार वे चाहते थे कि उनकी पार्टी को एक अल्पमत पार्टी मानकर उसे अन्य असंतुष्ट दलों

और कुमिन्तांग के साथ एक राजनीतिक पार्टी की वैधता प्रदान करने की गारंटी दी जाय और उन्हें प्रकाशन, मंच और रेडियो आदि की स्वतंत्रता दी जाय, जिससे वे पूरे चीन में कुमिन्तांग के साथ अपना प्रचार करने में समर्थ हों। ऐसा समझौता करने के लिए उनके दृष्टिकोण से कम-से-कम उस समय के लिए उन्हें ऐसी सेनाओं पर नियंत्रण रखने दिया जाय, जिसके कारण कुमिन्तांग—पर्यवेक्षकों को समझौता करने की विवशता मालूम पड़े और साथ ही कार्यकारी और संवैधानिक पक्ष में सहयोजित-सरकार के अन्दर उन्हें कुछ प्रमुख मंत्रालयों पर अधिकार प्रदान किया जाय।

मौलिक तरीकों से समझौता कराने के मार्ग में उपस्थित बाधाएँ तोड़ने में जनरल मार्शल की प्रतिष्ठा भी समर्थ सिद्ध नहीं हुई। उनकी अमेरिका के राज्य-सचिव के रूप में नियुक्ति होने के बाद वापस बुलाये जाने पर वार्ता भंग हो गयी और बिना औपचारिक घोषणा के सभी जगह पुनः गृह-युद्ध आरम्भ होने लगा।

संयुक्त राज्य में लौटने पर ७ जनवरी, १९४७ को जनरल मार्शल ने एक वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने अपने मिशन की असफलता के निम्नलिखित अनुमानित कारणों पर स्पष्टतया प्रकाश डाला—

"शान्ति स्थापना में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि कुमिन्तांग और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक संदेह करते हैं।

एक ओर जब सरकारी पक्ष के नेता कम्युनिस्ट प्रारूप की सरकार स्थापित करने के दृढ़ विरोधी हैं, दूसरी ओर कम्युनिस्ट खुलकर यह कहते हैं कि वे मार्क्सवादी हैं और चीन में कम्युनिस्ट-विधि की सरकार स्थापित करने के इच्छुक हैं, गोकि पहले वे अमेरिकी या ब्रिटिश विधि की लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना के माध्यम से इसके लिए प्रयत्न करना चाहते हैं।[२०]

सरकारी पक्ष के नेताओं का अपना दृढ़ मत है कि विगत जनवरी में 'जनता के सलाहकार-सम्मेलन' द्वारा प्रस्तावित सरकार में सम्मिलित होना कम्युनिस्टों ने अपने ध्वंसात्मक उद्देश्य से ही स्वीकार किया है। मुझे विश्वास है कि कम्युनिस्टों ने यह अनुभव किया है कि सरकार 'जनता के सलाहकार-सम्मेलन' द्वारा प्रस्तावित सरकार की स्थापना करने की स्वीकृति देने में पूरी ईमानदार नहीं है और सैनिक दबाव और गुप्त पुलिस कार्रवाइयों द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी को मिटाना चाहती है।"

अतः जिस वर्ष (१९४६) युद्ध-विराम-संधि करते हुए आन्तरिक समस्याओं के शान्तिप्रद राजनीतिक समाधान के लिए उपाय ढूँढ़ते हुए इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किये गये, उस वर्ष के अन्त तक ही वे पूर्णतया असंगत सिद्ध हो गये। मार्शल-मिशन ने

कुमिंतांग और कम्युनिस्टों के बीच मध्यस्थता करने और दोनों पार्टियों को साथ लाकर उनकी एक सरकार बनाने के अमेरिकी प्रस्ताव का इसी के बाद से अन्त कर दिया।

(६) संरक्षण की समाप्ति

'जनता के सलाहकार सम्मेलन' ने ५ मई को राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक करना तय किया था। तथापि, कम्युनिस्ट जब तक इसके संगठन के निर्धारण में अपनी कोई प्रभावजनक स्थिति न बना लें, तब तक इसमें भाग नहीं लेना चाहते थे। उन्होंने सोचा कि यह स्थिति उन्हें तभी प्राप्त हो सकती है, जब सरकारी अधिकार 'नियोजित राज्य-परिषद्' को हस्तान्तरित कर दिये जायँ, जिसके संगठन के सम्बन्ध में भी अभी समझौता होना बाकी था। कुमिंतांग द्वारा इसके विरुद्ध यह परिकल्पना की गयी थी कि राजनीतिक एकीकरण और सरकारी पुनर्गठन का कार्य राष्ट्रीय सरकार के तत्त्वावधान में सम्पन्न किया जायगा, जिसमें इसके संगठन को बदल कर कुछ वैसा ही रूप प्रदान किया जायगा, जो लोकतंत्रीकरण की अमेरिकी नीति की पूर्ति कर सके। तथापि, सरकार का विस्तार कर इसमें अन्य तत्त्वों (पार्टियों) को सम्मिलित करने से, संवैधानिक सरकार की स्थापना में कुमिंतांग का नियंत्रण कम होने की कल्पना नहीं की गयी थी। अतः इसने कम्युनिस्टों को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्रीय असेम्बली और राज्य-परिषद् में भाग लेने का सुअवसर प्रदान किया था, किन्तु यह अवसर उन्हें अन्ततः राष्ट्रीय सरकार द्वारा तय की गयी शर्तों पर ही दिया जाना था।

परिणामस्वरूप, सम्मिलित सरकार की स्थापना के पूर्व कम्युनिस्टों के साथ कोई दृढ़ समझौता हुए बिना ही, च्यांग-काई-शेक ने कम्युनिस्टों के साथ असेम्बली में भाग लेने के लिए समझौता होने की आशा से नवम्बर १९४६ में असेम्बली की बैठक करने की घोषणा कर दी थी। उन्होंने सोचा कि इससे शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयाँ समाप्त होने के बाद एक साल के भीतर संवैधानिक लोकतंत्र की स्थापना करने की उनकी घोषणा पूरी हो जायगी।

राष्ट्रीय सरकार द्वारा राष्ट्रीय असेम्बली की कुल सदस्य संख्या २,१५० निर्धारित की गयी थी। इनमें से ९५० दस वर्ष पूर्व ही निर्वाचित हो गये थे, ४०० सदस्यों को—जो दस वर्ष से निर्वाचित होने की आशा लगाये थे, उन्हें बिना निर्वाचन के चुने हुए अतिरिक्त निर्वाचित सदस्यों के रूप में चुन लिया गया था, और ७०० सदस्यों को विवाचकीय विधि से चुनने का अधिकार प्रधान राजनीतिक पार्टियों को (जिनमें २०० कुमिंतांग, १९० कम्युनिस्ट, १२० लोकतंत्रीय लीग, १०० चीनी युवक-पार्टी और ९० गैर-पार्टी-प्रमुख नागरिकों के बीच वितरित करते हुए)[२१] दे दिया गया था। कम्युनिस्टों और कुछ

अन्य दलों के सदस्यों ने असेम्बली में अपना स्थान ग्रहण नहीं किया, इसलिए उन्होंने २५ दिसम्बर, १९४६ के संविधान-निर्धारण में भी भाग नहीं लिया था। तथापि, १ फरवरी, १९४७ को इसे मान्य घोषित कर २५ दिसम्बर, १९४७ से लागू करने की भी घोषणा कर दी गयी। इसके बीच कुमिंतांग से इस राज्य-संगठन को शक्ति हस्तान्तरित करने का अवसर प्राप्त करने के लिए भी कार्रवाई की गयी। अतः अप्रैल, १९४७ में 'राज्य-परिषद्' एक शासक-समिति के रूप में स्थापित हो गयी। इसमें कुल ४० सदस्यों में ५ युयान राष्ट्रपति के पदेन नामांकित सदस्य, कुमिंतांग के १२ सदस्य, चीनी युवक-पार्टी के ४ सदस्य, सामाजिक लोकतांत्रिकी के ४ सदस्य और ४ स्वतंत्र सदस्य सम्मिलित किये गये थे। ११ जगहें कम्युनिस्टों और लोकतंत्रीय लीग के लिए सुरक्षित रखी गयीं, किन्तु उनमें कोई भी इस प्रकार के सहयोजन में सम्मिलित होने को तैयार नहीं था, क्योंकि इसने च्यांग-काई-शेक या कुमिंतांग की प्रमुखता में कोई परिवर्तन नहीं किया था। २३ अप्रैल को गैर-कुमिंतांग या कुमिंतांग सदस्यों द्वारा निर्मित मंत्रिमंडल में कोई कम्युनिस्ट नहीं आया।[२२]

नये संवैधानिक और निर्वाचनीय विधि के अनुसार युयान के लिए जनवरी, १९४८ में निर्वाचन कराये गये और मार्च के अन्त में राष्ट्रीय असेम्बली की नयी प्रणाली का औपचारिक समारम्भ करने के लिए बैठक आयोजित की गयी। इसका प्रधान कार्य उस समय राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन कराना था। जैसा अनुमानित था, च्यांग-काई-शेक छः वर्षों की संवैधानिक अवधि के लिए राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। जेनरल-इसिमो के व्यक्त विरोध पर भी जनरल ली-सुँग-जेन, काफी तीव्र प्रतिरोध के बाद सुधार करने की योजना के उद्देश्य की घोषणा करने के बल पर उपराष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

नये संविधान में (अध्याय २, धारा ७ से २४ तक) जनता के विस्तृत अधिकारों और कर्त्तव्यों को ग्रहण किया गया था, जिसका चीन की तत्कालीन अवस्था के संदर्भ में कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इसमें (धारा २५) सम्पूर्ण जन-संगठन की ओर से राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करने के लिए एक राष्ट्रीय असेम्बली की व्यवस्था की गयी थी, तथापि—जिसको क्रियात्मक रूप से राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का निर्वाचन कराने, नियंत्रक-युयान के निर्णय पर उन्हें हटाने या वापस बुलाने और युयान के विधानांग द्वारा प्रेषित प्रस्तावों के अनुसार संविधान में संशोधन या परिवर्तन करने के सीमिति अधिकार दिये गये थे। इसके अध्याय ४ की ३५ से ५२ तक की धाराओं में राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के विस्तृत अधिकारों की व्याख्या की गयी थी। इसमें कार्यकारी और वैधानिक युयान के माध्यम से सरकार की कार्यकारी और वैधानिक शाखाओं के संगठन और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी व्याख्या की गयी थी। इसके अतिरिक्त न्यायाधिकरण,

परीक्षा और नियंत्रक यूयान की भी अलग व्यवस्था की गयी थी। अतः इस प्रकार डा० सुनयात सेन की सरकार में पाँच नियंत्रक प्रणाली की स्थापना की गयी। नियंत्रण का क्षेत्रीय बटवारा अध्याय १० और ११ के अन्तर्गत किया गया है। अध्याय ११ (धारा १२९ से १३६ तक) में डा० सुन की सरकार के सम्बन्ध में लोकतंत्रीय प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए निर्वाचन, निष्कासन, प्रयास और जनमत-संग्रह आदि की भी व्याख्या की गयी है। राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेश-नीति, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा और शिक्षा एवं संस्कृति के सम्बन्ध में मौलिक राष्ट्रीय नीति की भी व्याख्या १४ वें अध्याय (धारा) १३७ से १६९ तक में की गयी है। अन्तिम अध्याय में संविधान के लागू करने और उसमें संशोधन करने की व्यवस्था की गयी है।

संवैधानिक सरकार की रूपरेखा १९४८ में तैयार की गयी थी, किन्तु तत्कालीन सरकारी प्रबन्ध में सामान्यतया कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अमेरिकी मध्यस्थता की असफलता के बाद ही १९४७ तक गृह-युद्ध काफी बड़े पैमाने पर व्याप्त हो गया था। च्यांग-काई-शेक ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध में छः महीनों में ही विजय प्राप्त करने की सरकार के उद्देश्यों की घोषणा की। आरम्भ में कुमिंतांग को सफलता मिली, जिसके साथ उन्होंने कम्युनिस्टों के प्रधान युद्ध-केन्द्र (राजधानी) येनान पर कब्जा कर लिया, किन्तु उसके बाद ही कम्युनिस्टों ने भयंकर प्रत्यारोपी आक्रमण शुरू किया। क्रमशः कम्युनिस्टों की सैनिक शक्ति बढ़ती गयी, जब कि कुमितांग की शक्ति क्षीण होती गयी। मंचूरिया पर कम्युनिस्टों की विजय स्वीकार की गयी, जब (नवम्बर १९४८) में मुक्डेन को खाली करने का आदेश हुआ। दिसम्बर में हुसूकाउ में सरकारी, सेनाओं ने विनाश के बाद कम्युनिस्टों की सेनाएँ यांगत्जे नदी तक पहुँच गयीं।

(७) कम्युनिस्टों द्वारा सैनिक सत्तारोह

राष्ट्रपति च्यांग की राजनीतिक और सैनिक विफलता के कारण उनके घोर विरोध ने उन्हें अन्ततः समझौता वार्ता द्वारा सैनिक संघर्ष समाप्त करने के लिए झुकने को विवश किया। चूँकि यह स्पष्ट था कि कम्युनिस्ट उनके साथ वार्ता करना नहीं चाहेंगे, इसलिए उन्होंने जनवरी, १९४८ में राष्ट्रपति-पद से त्याग-पत्र दे दिया और इस प्रकार उन्होंने वार्ता करने का कार्य तत्कालीन उपराष्ट्रपति ली सुंग जेन को—जो च्यांग के त्याग-पत्र के बाद कार्यकारी राष्ट्रपति हुए, दे दिया।[२४]

तथापि, सीधे तथा मध्यस्थों के माध्यम से होने वाली समझौता वार्ता अन्त में विफल हो गयी। १४ जनवरी, १९४९ को कम्युनिस्टों ने वार्ता के लिए अपनी शर्तें पेश कीं। इसमें च्यांग-काई-शेक और ली सुंग जेन को कार्यच्युत करने, एक पारस्परिक युद्ध-विराम-

संधि स्वीकार करने, एक नया संविधान बनाने, कम्युनिस्ट सेना और उनकी राजनीतिक एवं भूमि-प्रणाली को स्वीकार करने, नौकरशाही पूँजीवाद का सफाया करने, युद्ध के अपराधियों को दण्ड देने, बिना प्रतिक्रियावादियों को शामिल किये सम्मिलित सरकार की स्थापना करने और विदेशी शक्तियों के साथ हुई 'धोखापूर्ण संधियों' को अमान्य करने की शर्तें रखी गयीं। इन शर्तों का वास्तविक अर्थ कुमिंतांग द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण कराना था, इसलिए वार्ता केवल उनमें संशोधन करने और उनको कार्यान्वित करने की शर्तें बदलने पर ही की जा सकती थी। कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति द्वारा शान्ति-समझौता की तिथि पहली अप्रैल को निश्चित करते हुए यह स्पष्ट बता दिया गया था कि इन शर्तों में कोई विशेष संशोधन नहीं किया जायगा। फिर भी, ३ मार्च को राष्ट्रवादी प्रधानमंत्री सुन फो ने राष्ट्रीय सरकार और कम्युनिस्टों के बीच समान आधार पर वार्ता करने के लिए कम्युनिस्टों की स्वीकृति की घोषणा कर दी। निश्चित शर्तों में युद्ध-अपराधियों की श्रेणी के अन्तर्गत च्यांग-काई-शेक, टी० वी० सुंग, एच० एच० कुंग और चेन-बन्धुओं के परिवार के सदस्यों को दण्ड न देने की छूट देते हुए उनमें संशोधन किया जा सकता था, किन्तु अन्य बीस विषयों को सन्निहित करते हुए, जो शान्ति-समझौते का मसौदा तैयार किया था, और जो नानकिंग सरकार को दिया गया था, उसमें कोई संशोधन करना स्वीकार नहीं किया गया, जिससे कुमिंतांग नेताओं ने उसे १९ अप्रैल को अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि यह वार्ता के लिए प्रस्तुत प्रस्ताव न होकर वास्तव में उनसे (कुमिंतांग-नेताओं से) आत्म-समर्पण करने की माँग के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

राष्ट्रीय सरकार की सैनिक स्थिति इतनी बुरी तरह गिरती जा रही थी, कि उनकी माँग पर कम्युनिस्ट उनसे समझौता करने की किसी वास्तविक विवशता का अनुभव नहीं कर रहे थे। राष्ट्रीय सरकार द्वारा विदेशी समर्थन, यहाँ तक कि उनका नैतिक समर्थन और उनकी मध्यस्थता प्राप्त करने के लिए पहले किये गये सारे प्रयत्न विफल हो गये थे, इसलिए कम्युनिस्टों को अब केवल कुमिंतांग सेनाओं का ही सामना करना था, क्योंकि वे किसी भी प्रकार के राजनीतिक दबाव में नहीं थे। उनके, मध्य जनवरी में टीन्ससिन और पीपिंग पर कब्जा करने से और उन्हें यांगत्जे की ओर बढ़ने से रोकने में राष्ट्रवादी सेनाओं के विफल होने से, राष्ट्रीय सरकार की उनसे समझौता करने के लिए सौदेबाजी करने की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गयी थी, जो कम्युनिस्टों को उक्त सफलता न मिलने के पूर्व की स्थिति में इतनी क्षीण न समझी गयी होती। और यह संकेत प्राप्त होने के बाद कि इसके विपक्ष में कुमिंतांग कोई दृढ़ सैनिक कार्रवाई नहीं कर पायेगा और सैनिक पक्ष में वह अपनी इस असमर्थता का अनुसमर्थन भी करेगा—अब आगे

शान्ति-वार्ता करने की आवश्यकता की भी परिकल्पना नहीं की जा रही थी। परिणाम स्वरूप कम्युनिस्टों की ओर से वार्ता करने की बात केवल आत्म-समर्पण की स्थिति को अपने लिए और अनुकूल बनाने की दृष्टि से या अपनी सेनाओं को यांगत्जे के पार पहुँचाने के लिए अपनी सैनिक शक्ति सुदृढ़ करने की दृष्टि से वांछित समय प्राप्त करने के लिए ही की जा सकती थी। अतः अपनी अप्रैल की वार्ता में (५ अप्रैल को) उन्होंने कार्यकारी राष्ट्रपति ली-सुंग जन से च्यांग और अमेरिकी साम्राज्यवादियों से सम्बन्ध-विच्छेद करने और उनकी (कम्युनिस्टों से) सेनाओं को निर्विरोध यांगत्जे के पार जाने की स्वीकृति देने के लिए कहा और उसके साथ ही उन्हें चेतावनी दी कि वे किसी शान्ति-समझौते की चिन्ता किये बिना यांगत्जे के पार जाने का इरादा रखते हैं और जब वार्ता चल रही थी और जब उन्होंने ली को तीन दिन के भीतर कम्युनिस्ट सेनाओं को यांगत्जे पार करना स्वीकारने और नदी के दक्षिणी किनारे पर दस पुल-शीर्षों की स्थापना करने का अन्तिमेत्थम् दिया था, उसके पहले ही उन्होंने यांगत्जे के उत्तर स्थित राष्ट्रीय पुलशीर्षों पर वास्तव में आक्रमण भी कर दिया। १९ अप्रैल को उनके आत्म-समर्पण के अन्तिम अन्तिमेत्थम् को जब कुमितांग द्वारा अस्वीकृत कर लिया गया, तो कम्युनिस्ट मध्यचीन में स्थित हौंकाउ में कैण्टन पर अधिकार करते हुए यांगत्जे के निचले प्रदेश में नानकिंग और शंघाई पर तेजी के साथ बढ़े।

राष्ट्रवादी कमाण्डरों द्वारा याँगत्जे के दक्षिण या उत्तर-पश्चिम में अपनी सुरक्षा की कोई दृढ़ कार्रवाई सम्पन्न न होने से ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के विदेश-मंत्रियों ने १७ सितम्बर को अलग-अलग, किन्तु एक ही प्रकार की प्रेस-विज्ञप्ति जारी करते हुए कहा कि उनकी सरकारों को चीन में कोई ऐसा समर्थ राष्ट्रवादी दल नहीं दिखाई दिया, जिसे समर्थन दिये जाने के योग्य समझा गया होता। यह प्रतिक्रिया केवल सैनिक स्थिति के संदर्भ में ही नहीं व्यक्त की गयी थी, वरन् कुमितांग और इसके नेताओं के सम्बन्ध में, जिन्हें चीन में कम्युनिस्टों और गैर-कुमितांग समुदायों या कुमितांग विरोधियों ने काफी अरसे से विकीर्ण कर रखा था, ऐसे विचार अमेरिकी सरकार और जनता को अमेरिकी अधिकारियों, पत्रकारों और प्रचारकों द्वारा युद्ध की समाप्ति के पहले ही बताये जा चुके थे। राज्य-सचिव एचेसन ने चीन के सम्बन्ध में १९४० के ग्रीष्म में जारी किये गये 'चीनी श्वेत-पत्रक' के साथ अपने संलग्न पत्र में अमेरिकी सरकार द्वारा स्वीकृत यह दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था कि कुमितांग-नेतृत्व भ्रष्ट और प्रभावहीन है और किसी प्रकार के समर्थन के योग्य नहीं है। किन्तु चीन के सम्बन्ध में इसके एक या दूसरे रूप में पहले क्रमशः व्यक्त विचार और सूत्र चीन में नैतिक शक्ति जगाने और चीनी बुद्धिवादियों में यह धारणा विकसित करने के आधार की भाँति परिचारित या स्थापित किये

गये थे, जिससे वे यह स्वीकार करें कि चीन का सरकारी तंत्र संतोषप्रद स्थिति में नहीं रह गया है। इस प्रकार के दृष्टिकोण के प्रचार से यह निश्चित था कि कोई भी कार्रवाई इसी के आधार पर संभव होगी। पार्टी के नेतृत्व की इस सामान्य अवमानना ने यह भी निश्चित कर दिया कि च्यांग के अस्थायी अवकाश-ग्रहण के बाद सरकार की मान्यता के लिए किये गये प्रयास से राष्ट्रवादी आन्तरिक या विदेशी समर्थन प्राप्त कर अपने को दक्षिणी चीन में स्थित रखने में समर्थ नहीं हो पायेंगे।

परिणामतः कुमितांग के विरुद्ध इस प्रकार के विचारों की तीव्रता उनके कम्युनिस्टों के समक्ष कमजोर सिद्ध होने के कारण आयी थी। युद्ध के तत्क्षण बाद के वर्षों में कुमिंगतांग राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने की समस्या का समाधान करने में बुरी तरह विफल हुए थे। राष्ट्रीय सरकार के सामने कम्युनिस्टों का सामना करने की समस्या से भी बड़ी और जटिल समस्याएँ उपस्थित हुई थीं, क्योंकि उसे कम-से-कम देश के भूतपूर्व संचार-साधनों को पुनःस्थापित कर लेना था, जो अधुनातन विकासों से युक्त पहले से इसके क्षेत्रों में स्थित थीं, जब कि अधिक पुरातन और अविकसित कम्युनिस्ट क्षेत्रों में इनका पहले से ही अभाव था। इसे नागरिक समुदायों के आर्थिक जीवन को पुनःस्थापित करना था और नगर तथा गाँवों के बीच सम्बन्ध स्थिर करने का पुनः प्रयास करना था, जिसकी जिम्मेदारी युद्ध के तत्क्षण बाद कम्युनिस्टों पर नहीं आयी थी, क्योंकि उस समय उनके अधिकार-क्षेत्र में प्रमुख नगर या शहर नहीं स्थित थे। केवल उत्पादन की वृद्धि का और नगर एवं गाँवों में पुनः विनिमय-सम्बन्ध की सुविधा देकर ही बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति का सामना किया जा सकता था और आर्थिक जीवन को पुनः सुदृढ़ आधार पर स्थिर किया जा सकता था। किन्तु गृह-युद्ध के चलते इस सम्बन्ध में कोई ठोस कार्य करना बिलकुल असम्भव था। सरकार का नियंत्रण करने के दायित्व के नाते और इसके समर्थन की तत्कालीन स्थिति के संदर्भ में, उसे शहरों पर अपनी सैनिक शक्ति सुदृढ़ रखते हुए उनकी आर्थिक व्यवस्था को भी बनाये रखना था। राष्ट्रीय सरकार के रूप में समर्थित होने के लिए मंचूरिया पर सैनिक साधनों से नियंत्रण स्थापित करने की इसकी सैनिक सलाह को नानकिंग ने नहीं माना। इसके साथ ही कम्युनिस्टों के समक्ष उसकी सेना का विस्तार इस प्रकार क्षीण था कि इससे वह कम्युनिस्टों को निर्णयात्मक रूप में अपने पंजे में लेकर विनष्ट करने की स्थिति में नहीं थी। जब राष्ट्रवादी सेनाएँ नगरों और सहपूर्ति-मार्गों की सुरक्षात्मक कार्रवाई में संलग्न थीं, कम्युनिस्टों ने इनके विरुद्ध छापामार आक्रमण की वही विधि अपनायी थी, जो उन्होंने १९४६ से १९४८ तक उत्तरी चीन में जापानियों के विरुद्ध सफलतापूर्वक प्रयुक्त की थी। संचार-साधनों को भंग करके वे न केवल मंचूरिया और उत्तरी चीन के शहरों में राष्ट्रवादी सेनाओं की

सहपूर्ति की स्थिति कमजोर कर रहे थे और इससे अन्ततः उन्हें हार मानने को विवश कर रहे थे, बल्कि वे पूर्वी चीन में युद्ध-पूर्व में स्थित रेल-व्यवस्था की पुनःस्थापना में जान-बूझ कर बाधा डालकर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को भी क्षीण कर रहे थे। बिना सामान्य संचार-साधनों के सरकार के लिए शहरों और गाँवों के बीच आवश्यक विनिमय की पुनःस्थापना करना असम्भव था। इसके साथ ही आवश्यक आर्थिक पुनःस्थापना करने में असफल होने का दोष भी कुमिंतांग पर ही लगाया जाता था। इन समर-तंत्रों का परिणाम यह हुआ, कि—(१) इनसे राष्ट्रीय सरकार की प्रभावपूर्ण सैनिक शक्ति का क्षय हुआ, (२) परिणामतः इनसे कम्युनिस्ट सेनाओं की शक्ति की तदनुरूप समान अनुपात में वृद्धि हुई और (३) कुमिंतांग को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सफल अधिकरण के रूप में कुख्याति मिली। युद्ध के बाद राष्ट्रीय सरकार की पुनर्निर्माण योजनाएँ उद्योगीकरण की नींव दृढ़ करने की थीं और इस पर उन्होंने कृषकों की उन्नति और उनके पुनर्विस्थापन से अधिक ध्यान दिया था। उद्योगीकरण की योजना के कार्यान्वयन से लम्बी अवधि के बाद कृषकों की अवस्था में सुधार हो सकता था। उत्पादन और वितरण-प्रक्रियाओं को सफलतापूर्वक पुनःस्थापित कर, यदि १९३६ के स्तर तक पहुँचाया जा सका होता, तो इससे मुद्रास्फीति पर नियंत्रण रखा जा सकता था और कृषकों को कम-से-कम युद्ध के पूर्व के स्तर पर अपना जीवन-यापन करने की स्थिति प्राप्त करायी जा सकती थी। गोकि इससे उनकी स्थिति में कोई विशेष प्रगति न हुई होती। परिणामतः कुमिंतांग, गरीब कृषकों और काश्तकारों की स्थिति सुधारने के लिए सीधी कार्रवाई करने के निमित्त किसी उन्नत कार्यक्रम का संचालन करने में असफल रहे। बिना इसके कारणों पर विचार किये यह कहा जा सकता है कि सुधार कार्यक्रम की दृष्टि से इनकी यह विफलता, जिसमें कम्युनिस्टों के साथ इनकी सीधी स्पर्धा थी और साथ ही नगरों में उत्पादन बढ़ाने और शहर-गाँव के बीच विनिमय की व्यवस्था पुनर्जीवित करने में भी इनकी असमर्थता ने इनकी कार्य-सम्पादन-क्षमता कमजोर कर दी और वे अब पूर्णतया केवल अपनी उच्च सैनिक शक्ति के आधार पर ही शासन चला सकते थे। और वह सैनिक शक्ति भी देश की प्रगतिशील आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर आधारित न होकर, उसकी क्षीणतर हो रही अर्थ-व्यवस्था पर आधारित थी। सैनिक तंत्र को बराबर बनाये रखने के लिए देश की आर्थिक पुनःस्थापना से अधिक जोर अमेरिकी सहायता पर दिया गया था।

किन्तु कुमिंतांग की शासक पार्टी के रूप में मौलिक कमजोरी यह थी कि उसके विपक्ष में यह भावना फैल गयी थी और बढ़ती जा रही थी कि उसका शीर्षस्थ सरकारी कार्य-कलाप बहुत अधिक भ्रष्ट और अक्षम है और उसका यह भ्रष्टाचार और अक्षमता बराबर बढ़ रही है। पहले जैसा चुँकिंग में अपने पद का प्रयोग या तो शक्ति या सम्पत्ति

या दोनों प्राप्त करने के निमित्त व्यक्तिगत स्वार्थ-संवर्धन के लिए किया जाता था, वैसा अवनानकिंग में भी और संवर्धित रूप में होने लगा था। मुद्रा-स्फीति बढ़ने पर सम्भवतः अधिकाधिक ईमानदार सरकारी कर्मचारी भी अपनी सरकारी आय से अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ नहीं निभा सकते थे। इस कारण सहपूर्ति सामग्रियाँ, जो जनता के उपयोग के लिए थीं, वे भी निजी व्यापार साधनों में प्रयुक्त होने लगी थीं। तथापि, इन कमजोरियों के कारणों की कोई भी व्याख्या देश को स्थिर रखने और कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध करने में सफलता प्राप्त करने के लिए सरकार में आवश्यक विश्वास पुनर्जागृत नहीं कर सकी। जो लोग देश का शोषण करने वाले समझे जा रहे थे, वे गृह-युद्ध में, पहले से ही त्रस्त और निराश जनता से और त्याग करने की माँग करने की अपनी क्षमता खो चुके थे।

तथापि, कम्युनिस्टों की सफलता का कारण उनकी बढ़ती हुई शक्ति और साथ ही साथ कुमितांग की शक्ति का उसी अनुपात में निरन्तर क्षीण होते जाना था। यह पार्टी, युद्ध के बाद नेताओं का समर्थ नेतृत्व प्राप्त करने का सम्मान अर्जित कर चुकी थी। वास्तव में इस दृष्टिकोण का भी काफी प्रचार हो गया था कि कम्युनिस्ट नेताओं द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए न होकर सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। इसका उदाहरण उनके द्वारा कृषकों की स्थिति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में परिलक्षित हुआ था। इसके अनुसार भू-स्वामित्व में विशेषतया उन भू-स्वामी जमींदारों के मामले में संशोधन किया गया, जो जमीन की खुदकाश्त नहीं करते थे, कृषि-कार्य में पहले से प्रयुक्त न होने वाली भूमि का कृषि-कार्यों के लिए प्रयोग किया गया और खेतिहरों द्वारा भूमि का प्रयोग करने पर दी जाने वाली लगान की दर और पैदावार के हिस्से में कमी की गयी। ये कार्यक्रम और उनका कार्यान्वयन इस प्रकार किया गया था कि कम्युनिस्टों की पार्टी को, जिसने अपनी भूमि-सुधार-नीति को रूस की भाँति निजी अधिकारों में स्थित जमीन को सामूहिक कृषि कार्य में लाने की प्रणाली अपनाने के स्थान पर भूमि में तत्कालीन स्वामित्व-प्रणाली के अन्तर्गत ही सुधार करने का प्रयत्न करने वाला समझा गया था।[२५]

गोकि कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार और तत्सम्बन्धी नीतियों में पार्टी-संगठन का एक अधिकार स्थापित करने का प्रयास किया, इसने अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत गाँवों में एक नयी लोकतांत्रिक पद्धति स्थापित की, जिसमें शासन-परिषद् में स्वयं पार्टी के लिए केवल एक तिहाई जगहें सीमित कर गैर-पार्टी तत्त्वों को प्रशासकीय उत्तरदायित्व देते हुए, उनका सहयोग प्राप्त किया गया। सम्भवतः सारे निर्णय पार्टी द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार ही किये जाते थे, किन्तु उस नीति को कार्यान्वित करने के तरीकों और

साधनों पर विचार-विमर्श किया जाता था। एक पूर्वनिश्चित और स्वीकृत कार्यक्रम के साथ एक संगठित राजनीतिक दल के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी के विचार सामुदायिक संगठन द्वारा स्वयं अपने लिए निर्धारित विचारों के रूप में स्वीकार्य समझे जाते थे। किन्तु चूंकि सरकार में कुछ गैर-पार्टी सदस्यों को उक्त कार्यों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से सम्मिलित किया गया था, इसलिए इसकी शासन-विधि द्वारा कृषकों से लाल सेनाओं के लिए सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ और इससे कुमितांग और कम्युनिस्ट तंत्र के अन्तर की व्याख्या करने में सहायता मिली। यह अन्तर कम्युनिस्ट सेनाओं के अच्छे अनुशासन से भी अभिव्यक्त हुआ था। कुमिगतांग सैनिकों या उनके प्रान्तीय कर-अधिकारियों की अपेक्षा कम्युनिस्टों ने अपने तत्कालीन आदेशों के अनुसार कृषकों के भू-स्वामित्व अधिकार को अधिक मान्यता प्रदान की। आवश्यक सामग्रियों को, लूटने की बजाय, अन्य सहपूर्ति-साधनों से प्राप्त किया गया। अतः गाँवों में कम्युनिस्टों की सेनाओं के साथ कृषकों का सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग के रूप में स्थापित हुआ था, जब कि कुमितांग की सेनाओं का उनके साथ व्यवहार कुछ विशिष्ट मामलों में ही सामान्यतया पूर्व युद्ध सामन्तों के व्यवहार से अलग था। स्वाभाविक रूप से कम्युनिस्टों ने देश का भीतरी और विदेशों का भी समर्थन प्राप्त करने के लिए एक 'नये लोकतंत्र' और भूमि-सुधार की विनम्र विधि का प्रचार किया।

तथापि, उन्हें सैनिक कार्य-विधि से आक्रमण करने की सामर्थ्य विशेष रूप से चीन के बाहर—मुख्यतया मंचूरिया में विकसित घटनाओं से प्राप्त हुई। याल्टा-समझौता और युद्ध-विराम-संधि के बाद, इसकी शर्तों को पूरा करने के लिए चीनी-रूसी-समझौता होने पर बाहरी मंगोलिया को (उसकी तत्कालीन स्थिति के बदले) चीन से स्वतंत्र करना स्वीकार किया गया था। रूसियों ने भी सिकियांग प्रान्त में अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ली थी, जहाँ चीनी-जापानी युद्ध-काल में उनका काफी प्रभाव और सम्बन्ध स्थापित हो गया था। और जैसा पहले बताया गया है, पैसिफिक युद्ध के अन्तिम दिनों में रूसियों ने मंचूरिया पर कब्जा कर लिया था। सैनिकों को हटाये जाने का जो कार्य उन्हें दिसम्बर, १९४५ तक पूरा करना था, वह उन्होंने स्थगित कर दिया था, क्योंकि मंचूरिया में गैर-सरकारी सेनाओं के रहते वहाँ चीनी (सरकार की) सेनाओं का प्रशासन स्थापित करना कठिन हो गया था। परिणामस्वरूप 'तास' के कथनानुसार सोवियत सरकार ने सोवियत सेनाओं को वहाँ से वापस बुलाने का कार्य चीन की सहमति पर एक महीने के लिए स्थगित कर दिया था, जिसको चीनी सरकार ने काफी संतोष के साथ मान भी लिया था।[२६]

रूस द्वारा अपनी सेनाओं का कार्य पूरा किये जाने से पहले मंचूरिया में जापानी सत्तारोहण के समय स्थापित किये गये विस्तृत औद्योगिक उपकरणों का उन्होंने वास्तव

में अपहरण कर लिया था। रूसियों द्वारा सेनाओं का हटाया जाना सामरिक लूट की तरह सम्पन्न हुआ, जिसका दोष जापानियों पर, उनकी देश-प्रत्यावर्तन की कार्य-पूर्ति के समय की गयी कार्रवाइयों पर नहीं लगाया जा सकता। इसलिए यदि चीन की राष्ट्रीय सरकार मंचूरिया पर अपना अधिकार करने में समर्थ भी हो गयी होती; तो जैसा वह सोच रही थी कि इसे चीनी अर्थ-व्यवस्था को पुनर्निर्मित करने के लिए एक प्रधान आद्योगिक आधार के रूप में प्रयुक्त करेगी, सम्भवतः वैसा करने की अब मंचूरिया की स्थिति ही नहीं रही थी, जो स्थिति किसी शत्रु ने नहीं, वरन् उस मित्र-राष्ट्र ने पैदा की थी, जिसने संधि के अनुसार केवल राष्ट्रीय सरकार के माध्यम से चीन के युद्धोत्तर पुनर्निर्माण में सहायता देने की अपनी नीयत व्यक्त की थी।[२७]

राष्ट्रीय सरकार की सेनाएँ मंचूरिया में उस समय तक लायी जा सकती थीं, किन्तु वहाँ तक आने का मार्ग कम्युनिस्टों ने अवरुद्ध कर रखा था। रूसियों ने संधि की मूल व्याख्या के अन्तर्गत राष्ट्रवादियों को जो वचन दिया था, उसमें उन्होंने चीनी कम्युनिस्ट इकाइयों, यथा—सशस्त्र और संगठित व्यक्तियों के दलों को स्वीकार नहीं किया था। फिर भी, पश्चिम और दक्षिण की ओर से निःशस्त्र कम्युनिस्ट नागरिकों को बड़ी संख्या में वहाँ आने की स्वीकृति प्रदान की गयी थी। ऐसी भी घटनाएँ हुईं, जब सैनिक टुकड़ियाँ कुमितांग-ध्वज लिये मंचूरिया के दक्षिणी शहरों में प्रविष्ट हुईं और जब खैवारोव्स्क में रूसी रेडियो ने सीमित क्षेत्रों पर अधिकार के लिए चीनी सेनाओं के आगमन की घोषणा की, तो उन्होंने उसके बाद ही कुमितांग ध्वज फेंक कर उसकी जगह लाल तारे का फहराता ध्वज ग्रहण कर लिया। इन निःशस्त्र कम्युनिस्ट सेनाओं ने उन जापानी शस्त्रों से अपने को सुसज्जित कर लिया, जो रूसियों द्वारा अपने उपयोग के लिए हटाये जाने के बाद बच गये थे। परिणामस्वरूप कुमितांग सेनाओं को मंचूरिया में केवल स्थल-मार्गों से प्रवेश करने में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, क्योंकि रूसियों के नियंत्रण में स्थित बन्दरगाहों से उन्हें आने का बहुत ही सीमित अधिकार दिया गया था। मंचूरिया के लिए युद्ध होने पर कम्युनिस्टों को अपने लिए शस्त्र और उनके उपकरण बदलने की सुविधा उत्तरी मंचूरिया और साइबेरिया से प्राप्त हुई जहाँ रूसियों ने कुछ लूटी हुई आयुध-शाला-संयंत्र-सुविधाएँ पुनः स्थापित कर ली थीं। शस्त्र-सहपूर्ति का दूसरा साधन उन्हें चीन की सरकारी सेनाओं के आत्म-समर्पण के बाद अमेरिकी शस्त्रों को प्राप्त करने से भी उपलब्ध हो गया था। मंचूरिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद वे उत्तरी चीन की कम्युनिस्ट सेनाओं की आवश्यकताओं की भी सहपूर्ति करने लगे, जिससे उधर के कम्युनिस्टों को भी उत्कृष्ट शस्त्र-सामग्रियाँ प्राप्त हुईं और कुमितांग सेनाओं की उन उत्कृष्ट शस्त्र-सामग्रियों का सामना करने में वे समर्थ हुए, जिनके कारण ही कम्युनिस्ट अपनी

युद्ध-कालीन छापामार लड़ाई जारी रखने के लिए विवश थे और जिनके कारण ही बड़े शहर उनकी पहुँच के बाहर थे।

१९४५ के बाद के वर्षों में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत संघ के बीच स्थापित सम्बन्ध स्पष्ट रूप में दृष्टिगत हुए। १९४९ तक इसे केवल भूमि-सुधार करने वाली पार्टी मानते हुए मात्र चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन के एक उपकरण के रूप में स्थित कम्युनिस्ट पार्टी के बजाय, इसे रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक हिस्सा मानना अधिक उपयुक्त समझा गया। इसके कारण और कुमितांग को अमेरिका द्वारा बराबर सम्भव सहायता दिये जाने के कारण चीन के गृह-युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ। चीनी समष्टिवाद और सोवियत संघ के बीच निकट का कार्यकारी संबंध स्थापित न होने की बात कहते हुए, चीनी कम्युनिस्टों ने देश की राष्ट्रीय भावना का लाभ उठाते हुए अपने विस्तृत प्रचार-माध्यमों में इस भावना का विस्तार किया कि १९४५ के बाद अमेरिका द्वारा राष्ट्रीय सरकार को जो सहायता दी गयी है, वह स्पष्ट रूप से अमेरिकी पूँजीवाद का प्रमाण है।

फिर भी, जैसा ऊपर बताया गया है, १९४९ तक यागंत्जे का उत्तर स्थित चीन, कम्युनिस्ट-सेनाओं द्वारा कुमितांग के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया था और इसे चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अन्तर्गत स्थित समझ लिया गया था। कम्युनिस्टों को कुछ सफलता, गैर-कम्युनिस्ट (भूतपूर्व कुमितांग) कमाण्डरों को अपने भीतर आत्मसात् कर लेने से भी प्राप्त हुई थी। अतः उत्तर चीन में भी प्रशासकीय अधिकार कुछ स्थानों पर उन लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रहा था, जो विचार-परिवर्तन के कारण नहीं, बल्कि परिस्थितियों से बाध्य होकर कम्युनिस्टों से आ मिले थे। विभिन्न तत्त्वों का इस प्रकार का अवमिश्रण भी वैसा ही था, जैसा १९२५ से १९२८ के बीच कुमितांग के अन्तर्गत देश के तीव्र एकीकरण के समय देखा गया था, जब उसके एकीकरण की घोषणा की गयी थी। इस एकीकरण के तत्कालीन स्वरूप के अनुसार घोषणा होने के बाद कुमितांग को अपना प्रभावपूर्ण अधिकार बनाये रखने और उसे विकसित करने के लिए बराबर संघर्ष करना पड़ा था। इसका प्रभाव यह पड़ा था कि पार्टी के नागरिक साधनों के बदले सैनिक साधनों का प्रयोग करने पर जोर दिया गया था। समय बीतने के साथ-साथ देश को क्रान्तिकारी रूप से संयोजित करने में पार्टी का उत्साह कम करने का यह एक प्रधान कारण था। फिर भी, कम्युनिस्टों ने कुमितांग द्वारा अपने शासन के अन्तिम दिनों में अपनाये गये प्रचार-साधन की अपेक्षा, अपने अनुभव के आधार पर कहीं अधिक कुशल प्रचार-विधि अपनायी थी और वे काफी समय से स्वयं कम्युनिस्ट प्रक्रिया के सिद्धान्तबोधन में निपुण हो गये थे। इसके साथ अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रचार को एक समर्थ साधन के

रूप में प्रयुक्त करने की उनकी स्वीकृत विधि के अनुसार उनके संगठन में नये भर्ती किये गये लोगों को सिद्धान्त-बोधन कराने पर विशेष ध्यान दिया जाता था, जिसके कारण उन्हें, विशेषतया बुद्धिवादियों का समर्थन प्राप्त करने के सम्बन्ध में, कुमितांग द्वारा नानकिंग-सरकार की स्थापना के समय अपनाये गये प्रचार-साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई।

कम्युनिस्टों द्वारा स्थापित मौलिक संगठन-विधि प्रादेशिक प्रारूप पर स्थित थी। सितम्बर, १९४९ तक उन्होंने छः पूर्णतया मुक्त क्षेत्रों—उत्तर-पूर्वी चीन (मंचूरिया),[२८] उत्तरी-पश्चिमी चीन, उत्तरी चीन, मध्य चीन, पूर्वी चीन और दक्षिणी चीन का निर्माण कर लिया था। इस नयी विधि के प्रयोग के साथ मुख्य चीन के इन प्रदेशों के विशिष्ट प्रशासकीय जिलों को पुरानी प्रान्तीय पद्धति के आधार पर स्थित किया गया था। प्रादेशिक सरकार की सामान्य योजना उत्तरी चीन में कार्यान्वित की गयी थी, जो कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा कुमितांग के नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त किया गया प्रथम क्षेत्र था। इसमें एक-एक बृहत् 'प्रतिनिधि-सभा' की स्थापना करने की व्यवस्था की गयी थी, जिसका प्रधान कार्य उत्तरी चीन के 'अस्थायी सरकारी आयोग' का निर्वाचन कराना था, जो वास्तविक शासनाधिकार का पूर्व अंग था। अतः प्रादेशिक सरकार स्थापित करने की योजना इस प्रकार बनायी गयी थी, जिसमें सरकारी नियंत्रण की बागडोर शीर्षस्थ अधिकार में रखते हुए, उस अधिकार को क्रमशः निचले स्तरों तक फैलाया जा सके। फिर भी, मुख्य चीन में निदेशन का अधिकार औपचारिक सरकार के हाथों में न रहकर, कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन के हाथों में ही था। गोकि मंचूरिया को छः मुक्त प्रदेशों में स्थान दिया गया था, फिर भी इसकी सामान्य कार्यविधि के, माओत्से तुंग के नेतृत्व में स्थित कार्याधिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की अपेक्षा, विशेष रूप से सोवियत संघ के निकट आसन्न सम्पर्क में होने के कारण, चीनी कम्युनिस्ट नेतृत्व के नियंत्रण में इसे विशेष स्वायत्तता देने के लिए इसके सामान्य प्रशासकीय स्वरूप में संशोधन किया गया था।[२९]

इन राजनीतिक और प्रशासकीय व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चीन में किसी ऐसी कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना नहीं हो सकी थी, जो विदेशी शक्तियों से अपनी मान्यता की माँग करे या आशा करे। १९ जून, को 'नव चीनी केन्द्रीय समाचार एजेन्सी' द्वारा चीन के लिए एक 'लोकतांत्रिक सम्मिलित सरकार' का संगठन करने के निमित्त जनता के 'नये सलाहकार-सम्मेलन' की रूपरेखा के सम्बन्ध में घोषणा कर, इस दिशा में अभियान शुरू करने का संकेत मिला। यह रूपरेखा जनता के सलाहकार-सम्मेलन की नयी प्रारूपण-समिति की पाँच दिन की बैठक के बाद तय की गयी थी, जिसका निर्माण कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किया गया था और जिसने पार्टी-प्रतिनिधियों के साथ गैर-पार्टी-प्रतिनिधियों को

भी सम्मिलित करते हुए अपने कार्यकारी सम्मेलन में 'चीनी जनता के नये राजनीतिक सलाहकार सम्मेलन' की एक कम्युनिस्ट योजना स्वीकार की, जिसके अनुसार उक्त सम्मेलन का संगठन कुमिंतांग द्वारा जनता के सलाहकार-सम्मेलन का स्थान ग्रहण करने के लिए कम्युनिस्टों के साथ जन-प्रतिनिधियों के सलाहकार मोर्चे के रूप में किया गया था। इसके प्रतिनिधियों में कुमिंतांग के प्रतिक्रियावादियों को स्थान न देने का निर्णय किया गया था, जिसका तात्पर्य यह था कि कोई व्यक्ति या दल जो अपने दृष्टिकोण के कारण कम्युनिस्ट नेताओं को स्वीकार्य न हो, उसे इसमें सहयोजित न किया जाय। अतः कम्युनिस्टों द्वारा घोषित जनता का 'नया कम्युनिस्ट सलाहकार-सम्मेलन' भी, कुमिंतांग के सलाहकार-सम्मेलन की तुलना में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से किसी प्रकार विस्तृत नहीं था। जनता के 'पुराने राजनीतिक सलाहकार-सम्मेलन' की अपेक्षा अनेक कार्य-वितरणों में इसने उससे भी अधिक गोपनीय विधि से कार्य सम्पादन किया। पुराने सम्मेलन का उद्देश्य कुमिंतांग और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के बीच शान्तिपूर्ण सम्वन्ध स्थापित करने का था, जब कि 'जनता के नये कम्युनिस्ट सलाहकार-सम्मेलन' का उद्देश्य कम्युनिस्टों के साथ सहृदय व्यवहार रखने वालों को मिलाकर एक ऐसी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने का था, जो एक पार्टी की सरकार की बजाय एक सम्मिलित सरकार की तरह प्रतीत हो।

जनता के 'नये कम्युनिस्ट सलाहकार सम्मेलन' द्वारा किये गये निर्णयों की घोषणा १ अक्तूबर को की गयी, जो कि १८ सितम्बर को यह कहा जा चुका था, कि––'पीकिंग में अभी-अभी समाप्त हुए राजनीतिक सलाहकार-सम्मेलन की तीन दिनों की आरम्भिक बैठक ने 'जनता की केन्द्रीय सरकार और राजनीतिक सलाहकार-सम्मेलन' के[३०] लिए संगठन-विधि के एक मसौदे का अनुमोदन किया है', और माओत्से तुंग ने भी २१ सितम्बर को चीन के नये जनवादी गणराज्य की स्थापना की घोषणा कर दी थी। २ अक्टूबर को सोवियत संघ ने इस नये तंत्र को चीन की सरकार के रूप में मान्यता दी और उसके बाद ही रूसी-सोवियत-संघ के निदेश पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कार्रवाई करने वाले अन्य राज्यों ने भी इसे ऐसी मान्यता प्रदान की और तदनुरूप रूस ने कैन्टन स्थित पूर्व-मान्यता-प्राप्त राष्ट्रीय सरकार से औपचारिक रूप से अपने समस्त सम्वन्ध भंग कर दिया। राष्ट्रीय सरकार ने पहले ही संयुक्त-राष्ट्र-संघ की साधारण सभा के सामने चीन के गृह-युद्ध में, रूसियों द्वारा कम्युनिस्टों की सहायता करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करने की शिकायत प्रस्तुत की थी।

जिस समय इस सरकारी स्वरूप की स्थापना के विस्तार पर कार्रवाई की जा रही थी, उस समय इसके साथ ही कम्युनिस्ट सेनाएँ अपने नियंत्रण का क्षेत्र बराबर बढ़ाती

हुई उस सीमा तक पहुँच गयी थीं, जब, नवम्बर, १९४९ के अन्त तक राष्ट्रीय सरकार की स्थिति क्वांगसी प्रान्त से स्जेचुआन तक के बीच सीमित हो गयी, जहाँ से चुंकिंग पर आक्रमण की धमकी देते हुए युनेन से हैनान द्वीपों और च्यांग-काई-शेक के व्यक्तिगत नियंत्रण में स्थित फारमोसा के द्वीप-समूहों तक भी बढ़ने की मंशा व्यक्त की जा रही थी। सिकियांग प्रान्त पर सितम्बर की समाप्ति के पूर्व कम्युनिस्ट-तंत्र स्थापित हो गया था और उसके साथ ही निगंसिआ पर कब्जा करने से कम्युनिस्टों की स्थिति भीतरी मंगोलिया में भी दृढ़ हो गयी थी। कुमितांग और गैर-कम्युनिस्ट नियंत्रण के इन क्षेत्रों पर कम्युनिस्टों का प्रसार जारी रहा। गोकि अभी मुख्य चीन में कम्युनिस्टों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का कार्य चल ही रहा था, जिसे अभी पूरा करना था, फिर भी मार्च, १९५० तक राष्ट्रवादियों के पास केवल फारमोसा और हैनान के द्वीप समूह ही बचे थे, जिनमें जून तक हैनान पर भी उनका नियंत्रण समाप्त हो गया।

जब कम्युनिस्टों ने अधिकार स्थापित कर लिया, तो उन्होंने भी, जैसा पहले कुमितांग ने भी वचन दिया था, चीन के आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के लिए एक क्रान्तिकारी योजना अपना कर जनता की स्थिति सुधारने का वचन दिया। ऐसे सुधार का मार्ग चीन में १९११ में मंचुओं के पतन के बाद स्थापित गणराज्य की स्थापना के समय से ही पूर्व तंत्रों द्वारा अपनाया गया था, जिसमें से प्रत्येक ने पुरातन परम्परा किसी-न-किसी रूप में समाप्त करने का कार्य किया था। सन्यात सेन की योजना के आधार पर कुमितांग ने आर्थिक और सामाजिक मूल्यों की परम्परागत प्रणाली से अलग प्रयास करने का विशेष प्रयत्न करना चाहा था। किन्तु, उसके बाद पश्चिमी राष्ट्रों के साथ चीन के ऐसे संधि सम्बन्ध स्थापित हुए, जिससे इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन राष्ट्रों को इन कार्यों में विधि-सम्मत समान अधिकार देकर, उनके सहयोग से चीन को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखते हुए, उसकी आन्तरिक टूटती शक्ति को सुदृढ़ कर, उसे एक संगठित इकाई में स्थिर करने का कार्य किया गया, जिसकी ओर वह निरन्तर प्रवृत्त रहा। परन्तु अन्ततः उसका परिणाम यह हुआ कि चीन पर कम्युनिस्टों को अपना अधिकार स्थापित करने में सहायता मिली। राष्ट्रीय सुरक्षा कार्यों में पहले से व्यस्त रहने और चीन में अपनी शक्ति सुदृढ़ करने में लगे रहने के कारण उन्हें (राष्ट्रवादियों को) आन्तरिक सुधार-कार्य करने में सफलता नहीं मिल सकी। डा० सुन द्वारा अपनाये सुधार-मार्ग पर आगे बढ़ने में विफल होने के कारण, जैसा ऊपर बताया गया है, विशेष रूप से बुद्धिवादियों में इसकी सरकार को स्वीकृत सरकारी उपकरण के रूप में स्थित मानने के प्रति निराशाजनक भावना पैदा हुई। इस दृष्टि

से कुमितांग के प्रति जागृत निराशाजनक भावना ने कम्युनिस्टों को अपना अधिकार स्थापित करने में सहायता प्रदान की।

जब राष्ट्रीय सरकार की सेनाएँ यांगत्जे में अपने को दृढ़ रखने में असमर्थ हुईं, तो राष्ट्रवादी सरकार का केन्द्र फारमोसा (तैवान) में स्थानान्तरित हो गया, जहाँ पहले भी जापानी आक्रमण के समय चीनी प्रशासन का केन्द्र स्थापित किया गया था। उसके बाद से कुमितांग और कम्युनिस्ट दोनों फारमोसा को चीन का एक प्रान्त समझते थे। परिणामस्वरूप इसे केवल फारमोसा की सरकार न समझकर जेनरलइसिमो च्यांग-काई-शेक द्वारा अपने को बनाये रखने के उद्देश्य से उनके नियंत्रण में स्थित प्रधान राष्ट्रीय चीनी सरकार के रूप में समझा गया। और जैसा केन्द्रीय जनवादी सरकार ने इसे फारमोसा से भी च्युत करने का उद्देश्य बनाया, इसका (राष्ट्रीय सरकार का) भी अन्तिम उद्देश्य पूरे चीन पर अपना अधिकार पुनः स्थापित करने का रहा है।

संयुक्त-राज्य ने कम्युनिस्ट तंत्र को मान्यता देना अस्वीकार करते हुए चीन की सरकार के रूप में फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी सरकार से अपना सम्बन्ध रखा, जब गृह-युद्ध के संदर्भ में फारमोसा पर कम्युनिस्टों के आक्रमण की भी उन्हें संभावना थी। परिणामतः जब जनवरी, १९५० में चीनी कम्युनिस्टों द्वारा इस पर आक्रमण का स्पष्ट भय दिखाई पड़ा, तो राष्ट्रपति ट्रूमन ने इस मामले में दखल न देने और राष्ट्रीय सरकार को कोई सैनिक सहायता न देने की घोषणा की।

इस बात के स्पष्ट संकेत मिल रहे थे कि यदि कम्युनिस्टों ने उस समय या उसके बाद के महीनों में फारमोसा के विरुद्ध आक्रमण किया होता, तो वे सफलीभूत भी हो गये होते। चीन की मुख्य भूमि छोड़कर वहाँ गये राष्ट्रीय सरकार के सैनिक उस समय बिना अमेरिकी सहायता के उस द्वीप की रक्षा करने में असमर्थ थे। हेनान के सम्बन्ध में भी च्यांग ने घोषणा की थी कि उसे अन्तिम दम तक बचाया जायगा, पर जैसा वहाँ हुआ, उसी तरह की स्थिति फारमोसा में भी हुई होती, क्योंकि उसकी जो सेनाएँ पूरी तरह शस्त्र-सज्जित नहीं थीं और जिनका मनोबल भी गिर गया था, शायद ही आक्रमण का सामना करने में सक्षम होतीं।

फिर भी, उस समय फारमोसा पर आक्रमण नहीं हुआ और कोरियाई युद्ध ने स्थित परिवर्तित कर दी। संयुक्त-राज्य ने इस युद्ध-काल में फारमोसा की तटस्थ स्थित बनाये रखने की घोषणा की ओर उसने पहले रोक दी गयी सैनिक सहायता पुनः जारी की गयी और राष्ट्रीय सरकार को उसकी चीन की मुख्य भूमि से आयी अनुशासन-हीन सेना को कम्युनिस्ट-चीन के आक्रमण से द्वीप को सुरक्षित रखने के निमित्त एक दृढ़ सैनिक शक्ति के रूप में संगठित करने की दृष्टि से राष्ट्रीय सरकार के सहायतार्थ

एक 'सैनिक सहायता-सलाहकार-दल' की स्थापना की गयी, जिससे अमेरिका ने राष्ट्रीय सरकार को सहायता न प्रदान करने की अपनी पुरानी नीति में परिवर्तन किया। कोरियाई युद्ध-विराम-संधि और इंडो-चीन की युद्ध-विराम-संधि के समय तक यह कार्य सफलतापूर्वक पूरा कर लिया गया था।

सुरक्षात्मक शक्ति आगे और सुदृढ़ एवं उन्नत की गयी जब संयुक्त-राज्य ने राष्ट्रीय सरकार के साथ एक द्विदेशीय संधि की। संयुक्त राज्य केवल फारमोसा और उसके निकटवर्ती पेसकैडर्स द्वीपसमूहों की रक्षा करने के लिए ही सीमित रूप से वचनबद्ध था। वह राष्ट्रीय सरकार को, जिसका उद्देश्य चीन की मुख्य भूमि पर पुनः अधिकार स्थापित करने और जनवादी गणतंत्र को विनष्ट करने का रहा है, साधारणतया समर्थन प्रदान करने के लिए वचनबद्ध नहीं रहा।

फारमोसा पर अपनी उन्नत सैनिक और आर्थिक स्थिति की स्थापना कर लेने पर भी राष्ट्रीय सरकार बिना बाहरी सहायता के अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने में अभी भी साधन और शक्ति की दृष्टि से अक्षम ही बनी हुई है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया

(१) एशिया में राष्ट्रीयता का अभ्युदय

यह पहले ही बताया जा चुका है कि युद्ध की घटनाओं के विकास के कारण जापानियों के लिए विशाल एशिया में क्षेत्रीयता की अवधारणा का प्रभावपूर्ण ढंग से बीजारोपण और संगठन करना असम्भव हो गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया और दक्षिण-पश्चिम-पैसिफिक क्षेत्र तथा फिलीपाइन्स के यूरोपीय उपनिवेशों पर जापानी कब्जे के फलस्वरूप राष्ट्रीयता और उपनिवेश-विरोधी भावनाओं का विकास हुआ। युद्ध के पूर्व इन भावनाओं को, विशेष रूप से फिलिपाइन में, जहाँ स्वाधीनता-आन्दोलन पर्याप्त रूप से छिड़ गया था और बर्मा में, जहाँ ब्रिटिश नीति के अनुसार उसे स्वामित्व-पद (डोमिनियन पद) देने का अभियान चल रहा था, समाप्त करना शुरू हो गया था। जापानी नीति और उसकी कार्रवाइयों के प्रभाव से बहुत-कुछ यह सुनिश्चित हो गया था कि पहले से शुरू किये गये ये अभियान चलते रहेंगे, जिसके लिए यह जरूरी नहीं था कि वे शासक-देश के नियंत्रण के अन्तर्गत अपनी गति निश्चित करें।

युद्ध-काल में इस तथ्य को अच्छी तरह समझा नहीं गया था, फिर भी उपनिवेशवादी शक्तियाँ न्यूनाधिक इसे समझने लगी थीं और अनुभव करने लगी थीं कि १९४१ की यथास्थिति इन देशों को उनकी निजी सरकार, स्वायत्तता या स्वाधीनता देकर परिवर्तित करनी पड़ेगी। इस परिवर्तन के निमित्त निम्नलिखित दो प्रधान कारणों से कोई औपचारिक वचन नहीं दिये गये थे—एक तो युद्ध के पश्चात् वास्तविक स्थिति क्या होगी, इसको ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण कोई वचन देना बुद्धि-संगत नहीं समझा जा सका, और दूसरे यह अनुमान लगाया गया कि उपनिवेशवादी शक्तियों के शासन को, जापान की तुलना में हितकारी समझते हुए, उनका स्वागत किया जायगा और तदनुरूप ही युद्ध-पूर्व सम्बन्धों में सुधार या परिवर्तन करने की विधि और उसके स्वरूप आदि पर विचार किया जा सकेगा। इसका अपवाद संयुक्त-राज्य के उस वचन में दिखाई पड़ा, जिसमें उसने, यदि युद्ध की परिस्थितियाँ अनुकूल

हों, तो फिलिपाइन्स को स्वतन्त्रता देने की माँग पूरी करने का निश्चय व्यक्त किया था और रानी विल्हेलमिना ने भी (७ दिसम्बर, १९४२ को) अपने वक्तव्य में नीदरलैण्ड और नीदरलैण्ड द्वीपसमूहों के बीच नये तरह के सम्बन्ध स्थापित करने का वचन दिया था। फिर भी इन एकाध अपवादों के होते हुए भी कि निर्णय का वास्तविक अधिकार अभी उपनिवेशवादी शक्तियों के हाथों में ही था, जापानी नीति के कार्यान्वियन से, प्रादुर्भूत स्थानीय परिस्थितियों के संदर्भ में पारस्परिक सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं किया जा सका, जिसने स्थानीय राष्ट्रीयता की भावना को और मजबूत किया और उसे अभिव्यक्त करने का साधन प्रस्तुत किया। इस प्रकार के अनुमानों को, प्रत्येक उपनिवेश में युद्धोपरान्त हुए परिवर्तनों की जाँच करने पर ही पूरी तरह समझा जा सकता है।

(२) इंडो-चीन

इंडोचीन ही एक ऐसा औपनिवेशिक क्षेत्र था, जहाँ से जापानी उपनिवेशवादी शक्ति को तत्क्षण पूरी तरह नहीं हटा पाये थे। फ्रांस की पराजय पर, गवर्नर डिकाक्स ने विची-सरकार का अधिकार मान लिया और जापानियों की माँग के अनुसार अपने को स्थिर करते हुए वहाँ उन्होंने फ्रांस की स्थिति बनाये रखी, फिर भी इसमें, वे जर्मनी के दबाव पर विची-सरकार और जापानी-सरकार के बीच सीधे किये गये समझौते का अनुपालन कर रहे थे। ३० अगस्त, १९४० के मूल समझौते ने जापान को न केवल फ्रांसीसी इंडो-चीन के बीच से आने-जाने की राह प्राप्त करने का अधिकार और उसके सामरिक आधारों का प्रयोग करने का ही अधिकार प्रदान किया, वरन् इसने सुदूर पूर्व के आर्थिक और राजनीतिक अधिकार, दोनों क्षेत्रों में भी जापान के मूल हितों को स्थापित करना स्वीकार किया।[1] टोन्किग में चुँकिग-सरकार के विरुद्ध अपनी कार्रवाइयों को स्पष्टतया सुगम बनाने के लिए, अपनी इस स्थिति की स्थापना से जापानी बढ़कर इंडोचीन में उस स्थिति तक पहुँच गये, जहाँ पैसिफिक-युद्ध के आरम्भ होने पर पूरा उपनिवेश उनके प्रभाव में था और जहाँ उनकी सैनिक स्थिति इस प्रकार की थी कि दक्षिणी इंडो-चीनी सामरिक आधारों से वे ब्रिटिश और डच उपनिवेशों पर दक्षिण दिशा से आक्रमण कर सकते थे। उनकी राजनीतिक स्थिति की शक्ति का प्रभावशाली संकेत तब मिला, जब थाईलैण्ड और इंडोचीन के बीच मध्यस्थ बनकर उन्होंने कम्बोडिया और लाओस के चार प्रान्तों को थाईलैण्ड को हस्तान्तरित करने की शर्त दबाव डालकर स्वीकार कराने में सफलता प्राप्त की। इससे पहले फ्रांस द्वारा लिये गये उस क्षेत्र को पुनः प्राप्त करने के लिए जापानी प्रोत्साहन पर थाईलैण्ड (श्याम) द्वारा आरम्भ किये गये युद्ध का निपटारा हो गया।

जापानियों के साथ फ्रांसीसी अधिकारियों के इस सहयोग ने विजय-दिवस के थोड़े समय पूर्व तक फ्रांसीसी शासन के और बने रहने के मिथ्या प्रचार से पूरे उपनिवेश में फ्रांस के सम्मान को उसी तरह गिरा दिया, जिस तरह जापानियों द्वारा सरळता से सिंगापुर जीत लेने पर ब्रिटेन का सम्मान गिर गया था। यूरोपीय उपनिवेशवादी तंत्र द्वारा वास्तव में टोकियो से निदेश ग्रहण करने, यहाँ तक कि उपनिवेश पर सैनिक दखल में भी उसकी उपमति लेने का तथ्य ऐसा था, जिससे चाहे अस्थायी रूप से ही सही, पूर्व और पश्चिम में एक नया सम्बन्ध स्थापित होने का संकेत मिला।

इससे यह समझना कठिन नहीं रह गया कि चीनी-विरोधी फ्रांसीसियों को चुंकिंग तक पहुँचने में देशी लोगों का गुप्त रूप से सहयोग मिला था और न यही समझना कठिन था कि इंडोचीन में एक जापान-विरोधी गुप्त अभियान भी विकसित हो चुका था।

इंडो-चीनी राष्ट्रीयता

युद्ध के समय इंडो-चीनी राष्ट्रीयता के जागरण से ही यह गुप्त (भूमिगत) आन्दोलन शुरू हुआ था। परिणामतः यह आन्दोलन पूरी तरह केवल जापान और विची-विरोधी न होकर वस्तुतः उपनिवेशवाद के विरुद्ध प्रेरित किया गया था। इस राष्ट्रीयता का उदय मुख्यतया फ्रांस की पूर्व बनावटी नीति की विरोधी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। यह विशेषतः अनाम और टोंकिंग में प्रकट हुआ। १९०४–१९०५ में रूस पर जापानी विजय और फ्रांस द्वारा अनामवासियों को प्रथम विश्व-युद्ध में मजदूरों और सिपाहियों के रूप में इस्तेमाल करने से तथा चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन के विकास से प्रोत्साहित हुआ था। जिन बुद्धिवादियों ने इसका नेतृत्व किया, वे फ्रांसीसी उदारवादी परम्परा में शिक्षित हुए थे। "गोकि फ्रांस कभी नहीं चाहता था कि इस प्रकार का देशज राष्ट्रीय आन्दोलन उसकी प्रभुता नष्ट कर दे, किन्तु फ्रांसीसी संस्थाओं में १७८९ से ही ऐसी उदार भावना व्याप्त हो गयी थी कि उन्होंने अचैतन्य रूप से देश-प्रेम को और पराधीन जनता के राजनीतिक स्वाधीनता-प्रेम को बढ़ावा दिया,"[२] जो शिक्षा के माध्यम से इन भावनाओं से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त करने लगी थी। किन्तु अनामी परम्परावाद, जो मूल रूप से चीनी था, फ्रांस के सीधे शासन चलाने के प्रयत्न में सुधार कराने और उसके स्थान पर अनाम और टोंकिंग की देशी संस्थाओं के माध्यम से अपरोक्ष सरकार का शासन स्थापित कराने में समर्थ हुआ। अतः फ्रांसीसी राजनीतिक भावनाओं पर अनामी बुद्धिवादियों के नये बौद्धिक जागरण द्वारा सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त अपनाया गया। उपनिवेशवादी सरकार के कार्यों में इन आदर्शों के प्रति

विभेद की भावना प्रकट होने के कारण, बुद्धिवादी राष्ट्रीय नागरिक, फ्रांसीसी तंत्र और उसके समन्वयवादी दृष्टिकोण के समर्थक नहीं रह सके।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन के पर्याप्त शक्ति प्राप्त न कर पाने के अनेक कारण थे। इस प्रकार की शक्ति की कमी का एक प्रधान कारण यह था कि इंडोचीन की जनता में एकरूपता (सजातीयता) नहीं थी। अनामी—जो देश के एकमात्र प्रबल तत्त्व थे, उनकी संख्या १ करोड़ ६० लाख थी, जब कि इंडोचीन की कुल जनसंख्या २ करोड़ ३० लाख थी और अनामियों का उस देश की कुल उपलब्ध भूमि के केवल ११ प्रतिशत (२८५,००० वर्ग मील) क्षेत्र पर अधिकार था।

"इसके अतिरिक्त जिस भूमि पर उनका अधिकार था, वह अद्भुत स्थिति और आकार में है। यह उत्तर में टोंकिंग डेल्टा से कोचीन-चीन के किनारे तक ७५० मील की दूरी में फैली हुई है। इसके उत्तरी छोर में ५,८०० वर्ग मील भूमि पड़ती है और इसके दक्षिणी छोर में लगभग २०,००० वर्ग मील भूमि पड़ती है, किन्तु इन दोनों छोरों के बीच यह भूमि बहुत पतली पट्टी के आकार में स्थित है। अनाम के कुछ हिस्सों में जो क्षेत्र वास्तविक रूप में अनामी है, वह केवल कुछ किलोमीटर चौड़ा है और जिसमें समुद्री किनारे के कुछ मछुआ गाँव हैं, जिसके कुछ दूर पीछे पुराने लैगून (समुद्रकच्छ) हैं, जिनमें अब कुछ गाँव बस गये हैं और कुछ चावल के खेत बना लिये गये हैं, इसके बाद पहाड़ पड़ता है, जहाँ तक अनामी पहुँच नहीं पाये और जिस पर कुछ दूर के बाद मोइयों के छोटे-छोटे गाँव ही पहली बार दिखाई पड़े थे। कुछ भागों में अनामी क्षेत्र एक पतले गलियारे की तरह है, अन्य जगहों, जैसे—दूसरे कुछ पहाड़ी दर्रों में अनामी बिलकुल नहीं मिलते।"[३]

अतः टोंकिंग के दक्षिण से चलकर अनामियों ने समुद्री किनारे के मैदानों पर कब्जा किया, किन्तु वे तट से दूरस्थ प्रदेशों, जैसे—कोचीन-चीन तक नहीं जा सके। साथ ही प्रशासनिक दृष्टि से इस क्षेत्र को भी विभाजित कर दिया गया था। पहला फ्रांसीसी शासन कोचीन-चीन में स्थापित हुआ था, जो एक उपनिवेश के रूप में संगठित हुआ और उस पर और टोंकिंग के संरक्षण की अपेक्षा, फ्रांस के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभाव में रहा और दो अन्य संरक्षित प्रदेशों में—जिनमें फ्रांसीसी इंडो-चीन, कम्बोडिया और लाओस स्थित हैं, जनसंख्या अनामियों की नहीं थी और जहाँ के निवासी चीनी संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति से अधिक प्रभावित थे। ये दोनों संरक्षित प्रदेश थाई-अतिक्रमण के समय और साथ ही अनामी प्रभाव के विस्तार से बचने के लिए फ्रांस की सहायता की अपेक्षा रखते थे। अतः अनामी राष्ट्रीयता कम्बोडिया और लाओस में प्रविष्ट नहीं हो पायी और अनाम या टोंकिंग की अपेक्षा उस उपनिवेश, कोचीन-चीन

में कम दृढ़ता से स्थिर हो पायी। इसके अतिरिक्त युद्ध के पूर्व यह विभिन्न उद्देश्यों वाली अनेक राजनीतिक पार्टियों में विभक्त हो गयी थी। जिनमें एक पार्टी का (फाम-प्युन्हाउ टोंकिंग पार्टी) उद्देश्य—"फ्रांस से अलग होने का नहीं था और जो केवल संवैधानिक सुधार चाहती थी। इसके अलावा युवक अनामियों की एक क्रांतिकारी पार्टी थी, जिसने राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों को १९२८ तक एक साथ संगठित रखा, जिसके बाद कम्युनिस्ट अलग हो गये। इसके अलावा एक राष्ट्रवादी अनामियों की पार्टी थी, जो कैन्टोनी दल के निकट सम्बन्ध में आतंकवादी विचारों की थी—और अन्तिम तथा सबसे प्रमुख पार्टी थी। न्गुएन-आइ-को के नेतृत्व में स्थापित अनामी पार्टी, जो पूरी तरह संगठित थी और जिसकी कैन्टन और मास्को में आस्था थी।"[४]

इनमें से किसी पार्टी को केवल आर्थिक संकट के समय के अतिरिक्त और कभी जन-समुदाय का समर्थन नहीं प्राप्त हुआ था। अनामी जन-समुदाय शायद सैद्धान्तिक मतों से विशेष प्रभावित नहीं होता, किन्तु जीवन के कष्ट के विरुद्ध, व्यवस्था के किसी भी परिवर्तन के लिए किये जानेवाले प्रचार को ग्रहण करने में वे सहायक हो सकते हैं, जिसमें उन्हें किसी तरह की क्षति उठाने की नहीं, बल्कि केवल लाभ प्राप्त करने की सम्भावना निहित हो।[५] किन्तु आर्थिक असमानता की दृष्टि से, चीनियों को भी—(जिनकी संख्या लगभग ४००,००० थी), विशेष रूप से कोचीन-चीन और कम्बोडिया में, जहाँ उनकी कुल संख्या के ८५ प्रतिशत लोग पाये जाते थे, फ्रांसीसीयों की भाँति ही लक्ष्य बनाया गया था। आर्थिक मामलों में मध्यस्थों की तरह बने होने और यूरोपीय शासकों और देशी किसानों तथा मजदूरों के बीच भी मध्यस्थ की स्थिति रखने के नाते, वे शासकों के समर्थक समझे जाते थे, जिसके कारण अनामी और चीनी राष्ट्रीयता के बीच निकट सम्बन्ध विकसित होने की सम्भावना कम हो गयी थी।

जब जापान की पराजय निश्चित हो गयी, तो जापानियों ने (९ मार्च, १९४५ को) एडमिरल डेकाक्स का समर्थन करना बन्द कर दिया और उन्होंने अनाम के सम्राट् की अध्यक्षता में संगठित बाओ डाइ कठपुतली सरकार को अधिकार दे दिया। इस सरकार के अधिकार के विरुद्ध राष्ट्रवादियों ने तत्क्षण संघर्ष आरम्भ कर दिया, जो जापान और विची के नियंत्रण में स्थित उपनिवेश-तंत्र—दोनों के खिलाफ अपना गुप्त विरोध चला रहे थे। प्रमुख राष्ट्रवादी नेता और कम्युनिष्ट हो-चि० मिन्ह के नेतृत्व में—"वियतमिन या वियतनाम स्वतंत्र लीग"[६] के रूप में संगठित राष्ट्रवादियों ने अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण के तुरन्त बाद ही जापान द्वारा समर्थित सरकार को अधिकारच्युत कर दिया। बाओ डाइ ने २५ अगस्त को अपने

पद का अधित्याग कर दिया। और २ सितम्बर को राष्ट्रवादियों द्वारा वियतनामी गणतंत्र की स्वाधीनता की घोषणा जारी की गयी।

फ्रांस की युद्धोत्तर नीति

फिर भी, फ्रांस इंडो-चीन से हटना नहीं चाहता था। फ्रांसीसी सरकार ने इस अनुमान से कि कहीं संयुक्त-राज्य, युद्ध-पूर्व के औपनिवेशिक तंत्र के स्थान पर न्यास-धारी अधिकरण (ट्रस्टीशिप) की स्थापना का प्रस्ताव न रखे और विची की नीति की प्रतिक्रिया देखते हुए—जापान द्वारा 'डिकाक्स' को हटाये जाने और जापान के आत्मसमर्पण की अवधि के बीच—एक नये औपनिवेशिक तंत्र की स्थापना की योजना का प्रारूप तैयार किया। उसने जैसा प्रारूप तैयार किया था और जैसा इसे नये फ्रांसीसी संविधान में स्वीकृत किया गया था उसके अनुसार इसे फ्रांसीसी साम्राज्यिक देशों और उपनिवेशों के संग (एकीकरण) के अन्तर्गत संगठित करना था। इस एकीकरण के अन्तर्गत चार संक्षिप्त राज्यों और कोचीन-चीन के उपनिवेश को मिलाकर इंडो-चीन का एक संघ बनाने की योजना थी।

"संघ के अन्तर्गत किसी संघीय कार्यालय से कोई इंडो-चीनी अपनी जाति, धर्म या राष्ट्रीय मौलिकता के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकेगा। पहले इसके सभी प्रधान सोपानक फ्रांसीसी थे, जब इसके अधिकतर निचले पद भी सामान्यतया गोरे कार्य-कर्मियों को, जो फ्रांस से ही आये थे, दिये गये थे। इंडो-चीनी संघ और फ्रांसीसी संघ की उभय नागरिकता पूरे साम्राज्य में इंडो-चीनियों को नौकरियाँ प्रदान करने का दरवाजा खोल देगी, गोकि विदेशी मामले और सुरक्षा सम्बन्धी विषय फ्रांसीसी अनु-रक्षण में ही रखना था, फिर भी संघ के पास अपनी सेना रखने की व्यवस्था होगी, जो इंडो-चीनियों और संघ के अन्य बाहरी नागरिकों, दोनों के लिए समान रूप से सहायक होगी। इंडो-चीनियों को सभी पक्षों में अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अभ्युत्थान के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होगा। अब तक वह देश आर्थिक रूप से फ्रांस के साथ सम्बद्ध था और सुदूर पूर्व के देशों के स्वाभाविक सम्बन्धों से वंचित था, पर उसे अब चीन आदि अन्य गैर-फ्रांसीसी क्षेत्रों से भी निकट का सम्बन्ध बढ़ाना है। फ्रांस के अन्तर्गत रहते हुए, इंडोचीन को पहली बार प्रकाशन और समान संगठन की स्वतंत्रता मिलने वाली थी।"[७]

चूँकि यह कार्यक्रम स्वाधीनता के अभाव में या वास्तविक रूप से स्वायत्तता के भी अभाव में सफल नहीं हो सका, इसलिए इसको लागू करने के लिए युद्ध के बाद की स्थिति पर फ्रांस का उपयुक्त नियंत्रण आवश्यक था। उस नियंत्रण की सम्भावना मूल

रूप में जापान द्वारा इण्डो-चीनी सरकार को अधिकार सौंपने के बाद और कम हो गयीं। जापानी समर्पण के बाद टोंकिंग, अनाम और कोचीन-चीन में वियतनामी गणतंत्र की पूर्व घोषित स्थापना के लिए उन्हें समर्थ करने की दृष्टि से मित्र-राष्ट्रों की सेना को जापानियों का स्थान ग्रहण करने के लिए पहुँचने में बहुत अधिक समय लगा, इसलिए भी वह सम्भावना और कम हो गयी थी। मित्र-राष्ट्रों की जो सेनाएँ आरम्भ में जापानियों से आत्म-समर्पण कराने के लिए पहुँचीं उनमें उत्तर में ब्रिटेन की सेना और दक्षिण में चीन की सेनाएँ आयी थीं, इनमें फ्रांस की कोई सेना नहीं थी। सैगान में पहुँचने वाली ब्रिटिश सेना ने नजरबन्द फ्रांसीसी सेना को मुक्त किया, उन्हें शस्त्र-सज्जित किया और नगर का अधिकार फ्रांसीसियों को हस्तान्तरित कर दिया। इस क्रम में वियतनामी तंत्र सैगान से बलपूर्वक हटा दिया गया। इसमें रक्त-रंजित छापामार (गोरिल्ला) युद्ध हुआ, जो पहले सैगान में और उसके बाद फैलते हुए सैगान डेल्टा और पूरे कोचीन-चीन में व्याप्त हो गया। वियतनामी छापामारों के विरुद्ध ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की सेनाएँ लगायी गयी थीं। विप्लव के बाद फ्रांसीसियों ने फ्रांसीसी सरकार की २३ मार्च, १९४५ की घोषणा के आधार पर 'वियतमिन' से समझौता वार्ता करने का प्रस्ताव किया, किन्तु यह स्वाधीनता के लिए वियतनामियों द्वारा की गयी माँग की दृष्टि से अपर्याप्त होते हुए अस्वीकृत कर दिया गया।[८] फिर भी सैगान में १९४५ के अन्त तक पूरा फ्रांसीसी नियंत्रण स्थापित हो गया था, जब ब्रिटिश सेनाएँ वापस बुला ली गयीं थीं, क्योंकि उस समय तक जापानियों का पूरी तरह निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था और इस प्रकार ब्रिटेन का उद्देश्य पूरा हो गया था, यह फ्रांसीसी अधिकारियों के समर्थन के निमित पूरी तरह सुसज्जित और पर्याप्त संख्या में फ्रांसीसी सेनाओं के आगमन से ही सम्भव हो सका।

सोरहवें समानान्तर के उत्तर में स्थिति कुछ और प्रकार की हो गयी थी, जहाँ जापानियों के आत्म-समर्पण की कार्रवाई चीनियों द्वारा सम्पन्न हुई थी, वहाँ चीनियों ने वियतनामी सरकार के कार्यों में यहाँ तक कि निर्वाचन कराने और वहाँ एक संसद की स्थापना में भी, कोई बाधा नहीं पहुँचायी थी।

चीनियों ने अपनी इस स्थिति का लाभ उठाते हुए फ्रांसीसियों को इण्डो-चीन और चीन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की शर्तों को बदलने के लिए बाध्य किया। २८ फरवरी, १९४६ को संधि पर हस्ताक्षर किया गया, उसमें चीनी नागरिकों को वे अधिकार, सुविधाएँ और छूट देने का वचन दिया गया था, जो उन्हें इण्डोचीन में परम्परा के अनुसार पहले ही प्राप्त था, चीनी नागरिकों को यात्रा, निवास, व्यापारिक एवं औद्योगिक और खनिज उद्योग सम्बन्धी कार्यों तथा वास्तविक सम्पत्तियों को रखने

और प्राप्त करने के सम्बन्ध में विशेष प्रकार का अधिकार दिया गया था, जो इण्डो-चीनी नागरिकों को मिलनेवाले अधिकारों के समान था और कानून सम्बन्धी और न्याय के प्रशासन सम्बन्धी मामलों में भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार करने की व्यवस्था की गयी थी, जैसी व्यवस्था फ्रांसीसी नागरिकों के लिए प्रचलित थी। इस समझौते में इसके अलावा यह भी तय किया गया था कि चीनी आयात-कर-नियंत्रण में आवश्यक सुविधाओं के साथ चीन की आयात और निर्यात सेवाओं के लिए हाइफोंग में एक विशेष क्षेत्र की स्थापना की जाय और चीन और इण्डोचीन के बीच व्यापारिक विनिमय करने के लिए अधिकतम सुविधाजनक राष्ट्रीय व्यवहार देने के आधार पर एक व्यापारिक समझौता किया जाय। अन्त में इसमें इन्डो-चीन और युन्नान रेलवे की चीन में पुनःस्थापना करने की भी व्यवस्था की गयी थी, इस समझौते के तय होने के पश्चात् चीनी सेनाएँ अपने सैनिक अधिकरण से वापस कर ली गयी और उन्होंने वियतनामी गणतंत्र के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ में नयी समस्याओं का समंजन फ्रांसीसियों पर छोड़ दिया।

इन्डो-चीन के उत्तरी भाग में चीनी सेनाओं का स्थान ग्रहण करने के लिए, फ्रांसीसी सेनाओं को शान्तिपूर्वक प्रवेश करने की सुविधा प्रदान करने के निमित्त ६ मार्च, १९४६ को फ्रांस और वियतनाम के बीच एक समझौता हुआ। इस हनोई समझौते से फ्रांस ने वियतनामी गणतंत्र को स्वतंत्र राज्य के रूप में मान्यता प्रदान की, जिसकी अपनी सरकार, संसद, सेना और अर्थ-व्यवस्था होगी और जो (राज्य) इण्डो-चीनी संघ और फ्रांसीसी संघ का एक भाग होगा।[१] वियतनाम के क्षेत्रीय विस्तार (जिसमें कोचीन-चीन भी शामिल होगा) का निर्णय लोकमत के आधार पर किया जाने वाला था। आगे यह भी अनुमान लगाया जाता था कि अनुकूल परिस्थिति आने पर वियतनाम और विदेशी राज्यों के साथ राजनयिक सम्बन्धों पर विशेष रूप से कार्रवाई करने के लिए, इन्डो-चीन की भावी हैसियत और उसके आर्थिक और सांस्कृतिक हितों के सम्बन्ध में वार्ता शुरू की जायगी। इस समझौते के आधार पर फ्रांसीसी सेनाएँ बिना प्रतिरोध के टोंकिंग में प्रवेश करने में समर्थ हो सकीं। समझौता-वार्ता के समय परिणामतः उस क्षेत्र के उत्तर में हनोई और दक्षिण में सैगान पर फ्रांस का नियंत्रण था, जिस समय गणतंत्र ने अपने अधिकार का दावा किया था, अतः प्रवेश करने के लिए उसे ऐसे स्थल (बन्दरगाह) का प्रयोग करना था—जिसका अपनी सेना का विकास होने पर प्रयोग करने के लिए आवश्यकता आने पर अपने नियंत्रण को हिन्टरलैण्ड तक बढ़ाना पड़ सकता था।

बहुत जल्दी यह पता लग गया कि ६ मार्च के समझौते का फ्रांसीसियों और वियत-

नामी नेताओं ने समान अर्थ नहीं लगाया था। उन मूल विवादास्पद विषयों की १९४६ के बसन्त में डालटा में हुए सम्मेलन में और ग्रीष्म में फान्टनेब्ल्यू में हुए सम्मेलन में व्याख्या की गयी थी। एक ओर इन विषयों में एक विषय वियतनाम के सम्बन्ध के स्वरूप-निर्धारण का था और दूसरी ओर कम्बोडिया और लाओस के सम्बन्ध के स्वरूप निर्धारण का था। वियतनाम की धारणा के अनुसार संघ केवल तीन स्वाधीन राज्यों तक ही सीमित था, जिसके अन्तर्गत आर्थिक नीतियों में सहयोग की सीमा निर्धारित की गयी थी, जैसे इसमें आयात-कर की व्यवस्था और मुद्रा-प्रचलन के मामले सन्निहित थे। दूसरी ओर फ्रांसीसियों के लिए संघ का अर्थ यह था कि तत्सम्बन्धी नीति के अनुसार निकट सहयोग की स्थापना फ्रांसीसी उच्चायुक्त द्वारा की जानी थी, जिसमें यह न केवल फ्रांस का और फ्रांसीसी विचारों का प्रतिनिधित्व करेगा, बल्कि उस इण्डो-चीनी संघ का भी प्रतिनिधित्व करेगा, जिसका वह अध्यक्ष होगा। इन मूल मतभेदों के होते हुए भी तत्कालीन निर्णय-विधि के अनुसार १४ सितम्बर, १९४६ को फांटनेब्ल्यू में एक समझौते पर हस्ताक्षर किया गया। इसने पूरे इंडो-चीन में एक वैधानिक मुद्रा चलाने की व्यवस्था की। अलग-अलग राज्यों के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक सम्मिलित आयोग का संगठन किया गया, इसे मुद्रा-प्रचलन के लिए इंडो-चीन के बैंक के स्थान पर एक अलग अधिकरण की स्थापना करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने का कार्य सौंपा गया, जिसे आयातकर और विदेशी व्यापार के समन्वय का कार्य भी करना था। एक इंडो-चीनी आयात-शुल्क-संघ भी बनाया जानेवाला था, और कोई अन्तर्देशीय आयात-शुल्क-प्रतिबन्ध न लगाये जाने का प्रश्न भी विचाराधीन था। एक अलग संगठित की जाने वाली समिति को वियतनाम और इंडो-चीनी संघ और फ्रांसीसी संध तथा देशों के बीच संचार-साधनों की पुनःस्थापना करने और उनका विकास करने के सम्बन्ध में अध्ययन करना था। वियतनामियों द्वारा विदेशों में अपने राजनयिक प्रतिनिधित्व पर जोर दिये जाने पर एक "फ्रैंको-वियतनामी-आयोग" बनाया गया था, जिसे निकटवर्ती देशों में प्राकृतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति करने और विदेशी प्रादूतों से वियतनाम का सम्बन्ध स्थिर करने का कार्य दिया जाना था।[१०]

वियतनाम और फ्रांस के बीच दूसरा प्रमुख विभेद—वियतनाम में कोचीन-चीन को सम्मिलित करने के प्रश्न पर था, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि यह विभेद उसके गणतंत्र की सीमा निर्धारित करने के विषय में था। मार्च के समझौते में इस प्रश्न पर लोकमत-संग्रह की व्यवस्था के होते हुए भी फ्रांस ने कोचीन-चीन में एक सर्वशक्ति सम्पन्न सरकार का संगठन किया, जिसे फ्रांसीसी आदेशों के अनुसार कार्य करना था। चूंकि उन्होंने पहले से ही प्रभावपूर्ण ढंग से कम्बोडिया और लाओस पर अधिकार

स्थापित कर लिया था, इसलिए इण्डोचीन के युद्धपूर्व के पाँच भागों में से तीन भागों को उच्चायुक्त की अध्यक्षता में संगठित संघ के अन्तर्गत मिलाया जा सका। इन कार्रवाइयों से फ्रांसीसियों के लिए कोचीन-चीन की एक अनामी सरकार को सैनिक समर्थन देना सम्भव हो सका और न केवल राष्ट्रवादी, बल्कि विचारों में कम्युनिस्ट हो-ची-मिन्ह की अध्यक्षता में संगठित "वियेतमिन्ह" के स्थान पर इसे स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

वियतनाम की अस्थायी केन्द्रीय सरकार बाओ-डाइ, जिसने अनाम और टोंकिंग के युद्ध-पूर्व के संरक्षित राज्यों और कोचीन-चीन उपनिवेश पर अपना अधिकार स्थापित किया था, वियतमिन्ह पार्टी द्वारा नियंत्रित और "वियमिन्ह" के रूप में प्रसिद्धि-प्राप्त वियतनाम ने लोकतांत्रिक गणराज्य के साथ संघर्ष होने पर अपनी स्थापना के बाद फ्रांस द्वारा एक सहयोजिक राज्य के रूप में समर्थन प्राप्त कर सका। इस बाओ-डाइ सरकार ने १९४८ और १९४९ में सहयोजित राज्य के रूप में वियतनाम और फ्रांस के सम्बन्धों की शर्तों पर समझौता वार्ता की। इन सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों को (६ जून, १९४८ की) "एलांग की खाड़ी के समझौते" के अन्तर्गत सन्निहित किया गया था। बाओ-डाइ द्वारा ८ मार्च, १९४८ को पेरिस में हुए समझौते ने, जिसे "एलीसी के समझौते" के नाम से पुकारा जाता है, सामान्यतया "एलांग" की खाड़ी के समझौते" की संभावित प्रतिक्रिया को मानते हुए, इसे और विस्तृत रूप प्रदान किया और इसे और बड़े संदर्भों में ग्रहण किया। अतः १९५० में (२ फरवरी को) फ्रांसीसी संसद द्वारा इन समझौतों के स्वीकार किये जाने के पश्चात् फ्रांसीसी संघ के पूर्व संगठन के अन्तर्गत इंडो-चीनी-संघ के सिद्धान्त के स्थान पर इंडो-चीन के लिए स्वतंत्र राज्यों (वियत नाम, कम्बोडिया और लाओस) के संगठन का सिद्धान्त स्थापित हो गया था, जिसमें एक राज्य दूसरे राज्य के साथ और उनमें प्रत्येक राज्य अलग से फ्रांस के साथ संघबद्ध हुआ था। इसे यह रूप इसलिए दिया गया था ताकि इससे यह प्रतीत हो कि आन्तरिक प्रश्न स्वतंत्रता में बाधक नहीं है। इसमें राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों का भेद स्पष्ट करते हुए 'वियत-मिन्ह' के सम्बन्ध में कम्युनिस्टों के व्यवहार पर ध्यान देने के मामले में प्रकाश डाला गया था, जिससे इंडो-चीन का संघर्ष पूरी तरह औपनिवेशिक युद्ध न होकर विस्तृत संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद के रूप में समझा जा सके। यह ठीक उसी समय चीन की मुख्य भूमि पर कम्युनिस्टों द्वारा वहाँ की राष्ट्रीय सरकार के ऊपर विजय प्राप्त करने और कोरिया के मामले में कम्युनिस्ट चीन के हस्तक्षेप के कारण और आसान हो गया। चीन में कम्युनिस्टों की विजय ने "वियतमिन्ह' को कम्युनिस्टों के नियंत्रण में स्थित राज्य के साथ क्षेत्रीय सम्पर्क स्थापित करने में सफलता प्रदान की,

जिससे उसे वियतनाम-राज्य के गैर-कम्युनिस्टों या कम्युनिस्ट विरोधियों के विरुद्ध सहायता मिल सकी। मतभेद की इस स्थिति ने हो-ची-मिन्ह-सरकार को पीकिंग और मास्को द्वारा मान्यता प्राप्त होने और वियतनाम के "सहयोजित" राज्य को संयुक्त-राज्य और अन्य पश्चिमी राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त होने के कारण स्थायी रूप धारण कर लिया। फिर भी भारत, इंडोनेशिया और अन्य एशियाई तटस्थ राज्यों ने बाओ-डाइ-तंत्र को मान्यता प्रदान करने से इनकार किया, क्योंकि इन्होंने इसे उपनिवेशवाद के अन्तर्गत स्थापित तंत्र समझा, अतः इसे वास्तविक रूप से स्वाधीन नहीं माना।

संयुक्त राज्य और इंडोचीन में संघर्ष

१९४६ के बाद फ्रांस, इंडोचीन के प्रश्न का कोई समाधान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुआ, इसके एक प्रमुख कारण के रूप में इस समस्या को सुलझाने में फ्रांस की नीयत और उसके प्रयत्नों पर संदेह किया जाता है, फिर भी, यह पर्याप्त स्पष्ट था कि फ्रांसीसी साधन इंडो-चीन में विद्रोह को यथावत् दबाने और उसके आन्तरिक पुनर्निर्माण की समस्या को सुलझाने में पूरी तरह समर्थ नहीं हुआ। फ्रांस उस समय अमेरिकी सहायता पर चल रहा था और १९५० तक संयुक्त-राज्य, जो इंडोचीन में राष्ट्रीयता के विपक्ष में उपनिवेशवाद का समर्थन करना नहीं चाहता था, फ्रांस में—उसकी सेना और आर्थिक साधनों को इंडो-चीन में विद्रोह दबाने के लिए भेजे जाने पर—उसकी पूर्ति अमेरिका द्वारा प्राप्त सहपूर्ति साधनों से किये जाने का विरोध करता रहा। किन्तु १९५० के बाद वाशिंगटन ने इंडो-चीन में चल रहे युद्ध को सोवियत संघ के विरुद्ध सामान्य संघर्ष का एक पक्ष मानना शुरू किया। परिणामस्वरूप संयुक्त-राज्य ने फ्रांस को दी जाने वाली सहायता के प्रति दूसरा रुख अपनाया और इंडो-चीन में फ्रांसीसियों को वांछित सहायता देना आरम्भ किया। कोरिया में युद्ध-विराम-संधि-वार्ता के समय, चीन के समर्थन पर—जिसने कोरियाई युद्ध में हस्तक्षेप किया था, हो-ची-मिन्ह द्वारा इंडोचीन में छेड़ा गया युद्ध, अमेरिकी दृष्टि से कोरिया के युद्ध के सन्दर्भ में इस सीमा तक देखा जाने लगा, कि वाशिंगटन में नये अमेरिकी (आइजन हावर)—प्रशासन को यह घोषणा करनी पड़ी कि वास्तविक रूप से कोरिया में किसी ऐसे समाधान को स्वीकार नहीं किया जायगा, जिसमें आगे "वियतमिन्ह" को चीनी कम्युनिस्टों द्वारा समर्थन न दिये जाने का आश्वासन नहीं होगा। इन शर्तों के अनुसार संयुक्त-राज्य, दोनों—फ्रांस और इन्डोचीन के सहयोजित राज्यों को, उस क्षेत्र में चीनी अभियान को सफल होने से रोकने के लिए, सीधी सहायता देने को तैयार हुआ, जिसके लिए वह पहले तैयार नहीं था।

"एशिया में अतिक्रमण और एशियाई समष्टिवाद की विस्तारवादी प्रवृत्ति का सहसा पता लगने पर कोरियाई युद्ध ने अमेरिकी निर्णय को तेजी से लागू करने में सहायता की। २७ जून को राष्ट्रपति ट्रूमन ने घोषणा की कि इंडोचीन को अतिक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए आर्थिक और सैनिक सहायता प्रदान की जायगी। "फ्रैन्को-अमेरिकी-वार्ता" के समय शस्त्र और अन्य सामग्रियों की व्यवस्था करने के लिए कार्यक्रम बनाये गये। इस सम्बन्ध में सबसे नाजुक और विचारणीय प्रश्न यह था कि अमेरिकी सहायता का सीधा लाभ इंडो-चीन स्थित फ्रांसीसी सेना और फ्रांसीसी प्रशासन को मिलना चाहिए, या यह अभी भी वहाँ के अप्रौढ़ वियतनामी सैनिक तंत्र को दिया जाना चाहिए। गोकि वियतनामी राष्ट्रवादी, अमेरिकी सहायता स्वयं सीधे प्राप्त करने के बहुत इच्छुक थे, परन्तु सावधानी के साथ क्रियात्मक रूप में विचार करने पर इस मामले में एक समझौतावादी समाधान निकालना पड़ा, जिसके अनुसार आर्थिक सहायता सीधे सहयोजित राज्यों को प्रदान की गयी, जब कि सैनिक सहायता के मामले में यह तय किया गया कि यह इंडो-चीन में फ्रांसीसी सेना के अनुभवी सेनापतियों के माध्यम से अमेरिकी सैनिक मिशन की सहायता द्वारा दी जायगी।"

जैसा आगे सिद्ध हुआ, यह निर्णय विलम्ब से लिया गया था। युद्ध-विराम-संधि के समय कोरिया में सैनिक समाधान ने चीनियों को वियतमिन्ह-तंत्र की सहायता में वृद्धि करने के लिए प्रेरित किया, ताकि वे अपनी सैनिक कार्रवाइयों का क्षेत्र और सीमा बढ़ाने में समर्थ हो सकें। लाओस और कम्बोडिया में पहले से छापामार युद्ध करने वालों के समर्थन में सेनाएँ भेजी गयीं और वियतनाम में फ्रान्सीसियों पर सेना का दबाव और बढ़ाया गया। इस दबाव ने फ्रान्सीसियों द्वारा सुरक्षात्मक जिम्मेदारियाँ वियतनाम पर डालने की पूर्व निश्चित योजना में बाधा उपस्थित की, क्योंकि वियतनामी सेनाओं की पर्याप्त भरती करने, उनमें अफसरों की नियुक्ति करने, सेना को शस्त्र-सज्जित करने और उसे प्रशिक्षित करने का उस स्थिति में पर्याप्त अवसर नहीं था। अतः 'वियतमिन्ह' के विरुद्ध अपने को तथा सहयोजित राज्यों को सुरक्षित करने के लिए फ्रान्स के पास केवल अपने सैनिक प्रयासों को बढ़ाने का ही उपाय शेष था। इसे करने के लिए भी वह तभी तैयार था, जब उसे संयुक्त-राज्य से पूरा समर्थन मिलने का आश्वासन प्राप्त हो। ये आश्वासन उसे अब तक पूरी तरह नहीं प्राप्त हो सके थे।

जेनेवा-युद्ध-विराम-संधि

इन परिस्थितियों में फ्रान्स ने इस बात पर जोर दिया कि १९५४ में वास्तव में कोरियाई समस्या के समाधान के लिए आयोजित जेनेवा-सम्मेलन के विचारणीय

विषयों में वियतनाम में युद्ध-विराम-सन्धि का प्रश्न भी रखा जाना चाहिए। जेनेवा की वार्ता में एक समझौता हुआ, जिससे वियतनाम का लगभग १७ वें समानान्तर पर विभाजन कर, इसके उत्तर का क्षेत्र जिसमें लाल नदी का डेल्टा, हनोई और हैइफ़ांग का बन्दरगाह सम्मिलित था, "वियतमिन्ह—सरकार" को दिया गया। विभाजन-रेखा के दक्षिण का वियतनामी भाग फ्रान्सीसियों द्वारा समर्थित वियतनाम सरकार के नियंत्रण में छोड़ दिया गया। लाओस और कम्बोडिया की सरकारें यथावत रहने दी गयीं; किन्तु उन्हें तटस्थ राज्यों के रूप में स्थित करते हुए, केवल अपनी सुरक्षा के लिए सीमित संख्या में आवश्यक सेना रखने की स्वीकृति देने का निर्णय किया गया था।

यह विभाजन, जैसा कोरिया में भी किया गया था, सैनिक समस्या के केवल एक अस्थायी समाधान के रूप में था। इसके बाद यह तय किया गया था कि दो वर्षों के भीतर पूरे वियतनाम में निर्वाचन कराये जायेंगे। ये निर्वाचन युद्ध-विराम-संधि का पर्यवेक्षण करने के उद्देश्य से संगठित तटस्थ-समिति की देख-रेख में किया जानेवाला था। समिति के सदस्य—पोलैण्ड, भारत और कनाडा थे, जिनमें प्रत्येक सदस्य को किसी निर्णय पर अपना निषेधाधिकार प्रयुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। वास्तव में इसका तात्पर्य यह हुआ कि समिति प्रभावपूर्ण ढंग से अपनी जिम्मेदारियों का पालन करने की स्थिति में नहीं थी। इन युद्ध-विराम-संधियों पर हस्ताक्षर करनेवाले राज्यों ने इनको कार्यान्वित करने का निश्चय किया था। संयुक्त-राज्य ने संधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था, किन्तु वाशिंगटन ने इन्हें सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया था और इन्हें अस्थिर होने से बचाने के लिए सैनिक कारंवाई न करने का वचन दिया था।

समझौते कम्युनिस्ट चीन की ठोस विजय के द्योतक थे। शत्रुता की समाप्ति के निर्णय ने 'वियतमिन्ह" और इसके माध्यम से चीन को न केवल दक्षिणी वियतनाम में वरन् कम्बोडिया और लाओस में भी विजय की अन्य विधियों—प्रचार, अन्तःसंचरण और उच्छेदन आदि को, जिनमें वे बहुत अधिक निपुण थे, अपनाने का अवसर प्रदान किया। संयुक्त-राज्य अपने समष्टिवादी अवरोध के प्रयत्न को कार्यान्वित करने के लिए सुरक्षा का नया मार्ग ढूंढ़ने को बाध्य हुआ।

इस समय तक संयुक्त-राज्य सुदूरपूर्व-क्षेत्र में उभयपक्षी सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए वचन देने के अतिरिक्त कोई और प्रस्ताव मानने से पीछे हट गया था। वाशिंगटन ने जापान के साथ शान्ति-सन्धि के अपने प्रस्तावों की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड, फिलीपाइन्स और जापान के साथ अलग से सुरक्षा-समझौता करना तय किया था। संयुक्त-राज्य दक्षिण कोरिया की रक्षा करने के लिए भी वचनबद्ध था। फिर भी, जब इंडो-चीन में स्थिति बिगड़ी, तो इसका रुख बदल गया और जेनेवा-

सम्मेलन के बाद संयुक्त-राज्य ने इस बात पर जोर दिया कि दक्षिण-पूर्वीएशिया में कम्यु-निस्ट शक्ति के और विस्तार को रोकने के लिए आपस में सुरक्षा-विधियाँ निश्चित करने के उद्देश्य से एक सम्मेलन किया जाना चाहिए। ऐसे सम्मेलन के लिए प्रस्तुत अमेरिकी प्रस्ताव भारत, लंका, बर्मा और इंडोनेशिया द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। परिणामतः फिलीपाइन्स की ग्रीष्मकालीन राजधानी बैंगुइ में आयोजित सम्मेलन में केवल तीन एशियाई देश—पाकिस्तान, थाईलैण्ड और फिलीपाइन्स गणतंत्र ही सम्मि-लित हुए। इन्होंने, संयुक्त-राज्य, ब्रिटेन, फ्रांस आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के साथ मनिला-संधि पर हस्ताक्षर किया, जिसने दक्षिण-पूर्व-एशियाई-संधि-संगठन (सीटो) की स्थापना की। इस समझौते में संयुक्त सैनिक कार्रवाई की कोई अपरिहार्य शर्त नहीं रखी गयी थी और न इसका कोई औपचारिक संगठन था, केवल थाईलैण्ड पर परामर्श करने के लिए हस्ताक्षरकर्ता राज्यों के मंत्रियों की एक सलाहकार समिति के अतिरिक्त इसका एक सचिवालय बंकाक में स्थापित किया गया था। १९५५ के बाद प्रति वर्ष केवल विचार-विमर्श करने के उद्देश्य से इस संगठन में सम्मिलित विदेश-मंत्रियों की बैठक होती रही।

चूँकि वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया व्याख्या के अनुसार "सीटो" के सीधे सैनिक सहयोग के क्षेत्र के बाहर पड़ते थे, इसलिए इस प्रकार एक नयी सामूहिक सुरक्षा-विधि का उन देशों के लिए कोई खास महत्त्व नहीं था। दक्षिण वियतनाम के विकास में अमेरिकी सैनिक, आर्थिक और तकनीकी सहायता विशेष प्रभावशाली सिद्ध हुई, जो १९५५ से १९५८ के बीच प्रति वर्ष कुल २५ करोड़ स्टर्लिंग की थी। यह सहायता सरकारी अधिकारियों की सिब्बन्दी और पुनःस्थापन एवं पुनर्निर्माण की अत्याधिक आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक थी। इस तरह की सहायता लाओस और कम्बोडिया को भी दी गयी थी।

दक्षिणी वियतनाम में डिम-तंत्र

वियतनाम में १९५५ तक "बाओ डाइ" फ्रान्स के सहयोग से अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए राज्य के प्रधान बने रहे। जिनेवा-सम्मेलन के आरम्भ में और परिस्थितियों के निम्नतर और खराब होते जाने के कारण बाओ-डाइ ने (१६ जून, १९५९ को) नाओ-डिन-डिम को, उनकी इस माँग की पूर्ति करते हुए कि प्रधान मंत्री के रूप में उन्हें शासन का पूर्ण अधिकार दिया जाय, प्रधान मंत्री नियुक्त किया। देश के सभी गैर-कम्युनिस्ट तत्त्वों के पूर्ण विश्वास के साथ सशक्त राष्ट्रवादी डिम को दीर्घकालीन गृह-युद्ध और देश के विभाजन की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध-विराम-संधि के अन्तर्गत,

जिस पर उन्होंने हस्ताक्षर नहीं किया था, उनकी सरकार को उत्तरी भाग के शासन से वंचित किया गया और उन्हें १९५६ में पूरे देश में निर्वाचन कराने की आवश्यकताओं का सामना करना पड़ा।

निर्वाचन ने—जिसे वास्तव में स्वतंत्र रूप में सम्पन्न करने का स्वांग किया गया था, इंडो-चीन में उसी प्रकार की समस्या पैदा की, जैसी समस्या १९४७ में कोरिया में उत्पन्न हुई थी। उत्तरी वियतनाम हो-ची-मिन्ह की एकाश्य सत्तावादी कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण में था। यदि वह पार्टी मतदान की शर्तों को तय करने में समर्थ होती, तो उत्तर में निर्वाचन का फल भविष्य में उसके अनुरूप होता। दक्षिणी भाग की पार्टियाँ १७ वें समानान्तर के उत्तर में निर्वाचन का सामना करने की स्थिति में नहीं थीं, जब कि कम्युनिस्ट पार्टी अच्छी तरह दक्षिण में भी निर्वाचन का सामना करने की स्थिति में थी। अतः यह संभावना की जाती थी कि निर्वाचन के परिणामस्वरूप पूरे देश में "वियतमिन्ह" का अधिकार हो जायगा। विशेषरूप से इस संभावना के कारण ही प्रधान-मन्त्री डिम ने, जब तक संभव हो, जेनेवा-सम्मेलन की उन शर्तों के अनुसार निर्वाचन कराना स्थगित करना चाहा, जिन्हें पूरी करने में उन्होंने अपने को किसी प्रकार भी बाध्य नहीं समझा था, क्योंकि ऐसी शर्तों को उनकी सरकार ने स्वीकार नहीं किया था। शुरू में उन्हें बड़ी सावधानी बरतनी थी, क्योंकि उन आन्तरीय राज्यों ने, जिन्होंने युद्ध-विराम-संधि की शर्तों को पूरा करने का वादा किया था, सैद्धान्तिक रूप से इस पर विशेष बल दिया। जुलाई, १९५७ में, जब वियतनाम के लोकतांत्रिक गणराज्य (उत्तरी भाग) के उपराष्ट्रपति ने स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा वियतनाम के एकीकरण के लिए उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम के बीच विचार-विमर्श का प्रस्ताव रखा, तो डिम-सरकार ने अपने को इस प्रस्ताव को न मानने में पूर्णतया समर्थ पाया। एकीकरण की शर्तों पर समझौता होना, १९५८ के अन्त तक—कोरिया की भाँति वियतनाम के लिए भी शीघ्र सम्भव नहीं प्रतीत हुआ।

फिर भी, उस समय तक—१९५४ में उत्तरी भाग में स्थित सरकार की तुलना में देश के दक्षिणी भाग में डिम सरकार द्वारा कहीं अधिक राजनीतिक स्थिरता स्थापित की गयी थी। डिम ने पहली बार प्रधान-मंत्रित्व सम्हालने पर दक्षिण वियतनाम में गंभीर सशस्त्र विरोध का सामना करने के साथ-साथ उत्तरी भाग की सरकार के संघर्ष का भी सामना किया। उनकी कठिनाइयाँ अपने निर्णयों के विरुद्ध, राज्य के प्रधान बाओ-डाइ की सम्भावित अपील के कारण बढ़ गयी। "बाओ डाई" की कार्य-विधि फ्रान्स के प्रभाव में या कुछ हद तक फ्रान्स की सहायता से संपादित होती थी। इसको दूर करने में डिम-सरकार को अमेरिकी सहायता प्राप्त हुई, जिसके अनुसार उसने "बाओ डाइ" पर,

प्रधान सेनापति को, जो सरकार से असन्तुष्ट रहनेवालों में प्रमुख थे, फ्रांन्स भेजने के लिए दबाव डाला, ताकि वह स्थानीय मामलों से दूर हट जाय। अमेरिका द्वारा फ्रान्स के माध्यम से वियतनाम को सहायता न भेजकर, उसे सीधे सहायता देने के उसके निर्णय ने "डिम-सरकार" को और मजबूत बना दिया। अमेरिकी सहायता से डिम ने—आगे अन्य साम्प्रदायिक वर्गों पर भी—जिनमें प्रत्येक के पास अपनी सेना थी, जिससे उन्होंने देश के अनेक भागों में सरकार के अधिकारों के विरुद्ध कार्य करने का प्रयास किया था, अपना अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। डिम ने इस प्रकार स्थानीय विरोधों को दबाने के बाद "बाओ-डाइ"के नाममात्र के प्रभाव को दूर करने के लिए कदम उठाया। उसके जोर देने पर"साम्राज्यिक परिवार के परिषद्" ने सम्राट् को राज्य के प्रधान पद से च्युत कर दिया। इसके बाद डिम ने स्वयं वहाँ के गणतंत्र के राष्ट्रपति का पद प्राप्त किया। इस परिवर्तन ने न केवल "बाओ-डाइ" की स्थिति को प्रभावित किया, वरन् इसने इंडो-चीन में औपनिवेशिक तंत्र को भी समाप्त किया, जिससे कम्बोडिया और लाओस के साथ-साथ वियतनाम ने भी संयुक्त-राज्य और अन्य राज्यों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए और अपनी सरकारों को फ्रांस की तथा पारस्परिक निभरता से मुक्त करते हुए, आन्तरिक स्वतंत्रता के साथ अपने अधिकारों का प्रयोग करना आरम्भ किया।

३. थाईलैण्ड (श्याम)

इस तथ्य के बावजूद कि दक्षिण-पूर्व-एशियाई देशों में केवल श्याम अपने को स्वाधीन देश की हैसियत में स्थित रख सका था, अपनी 'भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से वह औपनिवेशिक क्षेत्र के देशों के मध्य में स्थित था, जिसके पश्चिम-उत्तर में उसके पड़ोसी देश—इंडोचीन, पूर्व और उत्तर-पूर्व में ब्रिटिश बर्मा और दक्षिण में ब्रिटिश मलाया स्थित थे। फ्रान्सीसी और ब्रिटिश-क्षेत्र के बीच अपनी इस मध्यवर्ती स्थिति में—उसे अपनी स्वाधीनता बनाये रखने में ऐतिहासिक रूप से अपनी परावलम्बी स्थिति को—फ्रान्स और ब्रिटेन के विरोधी रुखों में संतुलन के साथ स्थिर रखना था। अपनी स्वतंत्रता बनाये रखते हुए भी श्याम को अपने मलाया प्रान्त का कुछ भाग ब्रिटेन को और कम्बोडिया और लाओस के सीमा-प्रान्तों का कुछ भाग फ्रांन्स को देकर क्षति उठानी पड़ी थी। जापान की सत्ता-वृद्धि के समय इस क्षेत्र का काफी हिस्सा उसे अस्थायी रूप में पुनः प्राप्त हो गया था, जो जापान की पराजय के बाद पुनः उससे छिन गया। अतः अपने आधुनिक स्वरूप में श्याम के क्षेत्र में लगभग २००,००० वर्ग मील की सीमा सम्मिलित है। इस प्रकार यह इंडो-चीनी प्रायद्वीप के एक तिहाई के बराबर है और इस भू-खंड के कुल पांच प्रमुख जल-स्रोतों में केवल "मेनम" स्रोत उसके पास है, गोकि अपने पड़ोसियों के दो और जल-

स्रोतों मेकांग और सालविन में भी उसको हिस्सा मिला है। देश की चार प्रमुख नदियों––मेपिंग, मेवांग, मेयम और मेनम का भी उसके भू-भाग में जाल बिछा हुआ है, जो ऊपरी भू-भाग और समुद्र के बीच सुगम संचार की सुविधा प्रदान करती हैं।[११]

"देश की कुल जन-संख्या लगभग १.६ करोड़ है। इनमें १.३ करोड़ से कुछ अधिक लोग थाई हैं या अपने को थाई मानते हैं, उनका मूल स्रोत चाहे जो भी हो। लगभग १६,००,००० चीनी या चीनी-थाई हैं, जिनकी निष्ठा-भक्ति प्रधान रूप से चीन के प्रति है। ३,००,००० और ४,००,००० मलाया पश्चिमी समुद्र तट के दक्षिणी छोर में सतुल के नीचे और पूर्वी समुद्र तट पर सोंखला में रहते हैं।"[१२]

श्याम की स्वतंत्रता को बनाये रखने का दूसरा कारण इसके शासकों की नीति से स्पष्ट होता है, जब पश्चिमी शक्तियों के मुकाबले चीन की कमजोरी प्रकट हुई, तो इसकी चीन के प्रति स्थिर मूल भावना में परिवर्तन हुआ। एशियाई विधि का इसका एकाधिपत्य-शासन परिवर्तित होकर "प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता" की ओर प्रवृत्त हुआ और देश को पश्चिमी आधार पर ढालने के गंभीर प्रयत्न किये गये। शासन को अच्छी तरह "प्रबुद्ध" कर लिया गया था और किसी भी प्रकार आन्तरिक परिस्थितियों में विभेद रोकने के लिए, जैसे बार-बार विदेशी हस्तक्षेप की शरण लेने से बचने के लिए संभव प्रयास किये गये थे।" थाईलैण्ड अपनी समुन्नत राजनयिक राजमर्मज्ञता से क्रमशः अपनी सर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति से मुक्त होने और अपनी एशियाई सामन्तवादी पद्धति को आधुनिक रूप देने में समर्थ हुआ और अनेक प्रकार से यह आदर्श राज्य बन गया, जिसकी प्रायः सभी राज्यों से औपचारिक मित्रता थी और अपनी सीमा में केवल चीन के साथ ही उसका सामान्य-सा विभेद था। किन्तु १९३२ की क्रान्ति में इस देश में एक और अधिक उग्र श्रेष्ठ राष्ट्रवादी नीति प्रगट हुई।[१३]

थाई राष्ट्रीयता

१९३२ की क्रान्ति या विप्लव पश्चिमी आचार में प्रशिक्षित बुद्धिवादियों द्वारा राज्य के भीतर वास्तविक रूप से अपने प्रमुख प्रभाव को स्थापित करने की इच्छा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ था। चूँकि इसका प्रादुर्भाव शासकों की प्रबुद्ध नीति के परिणामस्वरूप हुआ था, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनके सुधारों ने ऐसी परिस्थिति पैदा की, जो बाद में उन्हीं को निकाल बाहर करने में सहायक हुई।[१४] १९३२ में नियंत्रण की स्थापना के बाद संवैधानिक विधि की सरकार चलाई गयी, जो मूलरूप से अंग्रेजी प्रणाली के लोकतंत्र द्वारा प्रेषित थी। नियंत्रण-दलों के आन्तरिक संघर्ष ने सरकार के भीतर से उदारवादी और उसके मूलभूत तत्त्वों को शीघ्रता से समाप्त करना आरम्भ

किया। १९३३ की इस सैनिक क्रान्ति के बाद, १९३५ में सम्राट् प्रजाधिपोक के राज-त्याग पर एक अवयस्क श्री आनराडा महिडाल को अधिकार मिला, जो उस समय स्विट-जरलैंड में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, परिणामतः उसके बाद भाषण और प्रकाशन (प्रेस) स्वातंत्र्य पर रोक लगा दी गयी और १९३८ में लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों के स्थान पर प्रभुताप्रदत्तता की प्रवृति प्रधान हो गयी। फिर भी, इसका यह अर्थ नहीं कि अनुदारवादी आधार पर एक स्थायी आन्तरिक नीति ग्रहण की गयी। १९३२ के बाद भी सुधार की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया जाता रहा, जैसा पूर्ण एकाधिपत्य (एक राज-शासन) के समय में किया गया था। १९३३–३४ के बाद तीन वर्षों की अवधि में शिक्षा के मामले में तिगुनी प्रगति हुई और पूरी जनसंख्या के ३० प्रतिशत लोग साक्षर हो गये। जन-स्वास्थ्य के सम्बन्ध में इसी प्रकार की प्रगति हुई। संचार-साधन, मोटर के संचालन के लिए सड़कों का निर्माण कर बढ़ाया गया। कृषि के सम्बन्ध में सरकार ने सहकारी समितियाँ और सिंचाई-प्रायोजनाओं पर विशेष बल दिया। सरकार की भूमि और श्रम-सम्बन्धी नीति का लक्ष्य कृषि कार्य में लगे खेतिहर वर्ग का उत्थान करना, अनेक रूपों में कृषि की प्रगति करना और एक थाई मध्यवर्ग का निर्माण करना था।[१५]

पूरा आन्तरिक विकास कार्यक्रम इस अर्थ में राष्ट्रीय था कि इसका उद्देश्य राज्य को सबल बनाना और इस प्रकार इसकी स्वाधीनता को सुरक्षित करने का था, किन्तु राष्ट्रीयता की एक नयी अभिव्यक्ति ने एक थाई मध्यवर्ग की स्थापना भी की। चीनी काफी बड़ी संख्या में देश के प्रमुख व्यापारी थे। थाई विशेष रूप से कृषि में, सरकारी कारबार में और अन्य धन्धों में लगे हुए थे, अतः चीनियों ने थाइयों को व्यापार और टिन तथा रबर उद्योग से निष्कासित करने के बजाय एक आर्थिक शून्यता भरने का कार्य किया था। इस प्रकार एक आवश्यक कार्य करने के कारण इन चीनियों को तब तक सहन करना आवश्यक था, जब तक कि आर्थिक जीवन पर उनका नियंत्रण पूरी तरह बना हुआ था। केवल १९११ में उन्हें प्रतिव्यक्ति कर के भुगतान के मामले में अन्य विदेशियों के समान माना गया।

"इस करके विरुद्ध चीनियों की हड़ताल हुई, जिसने देश के आर्थिक जीवन को अवरुद्ध कर दिया। इसने पहली बार श्यामियों को इस तथ्य से अवगत कराया कि किस सीमा तक देश के व्यापार में चीनियों का नियंत्रण व्याप्त है और इस समय से और उसके बाद श्यामियों ने न केवल अपने देशवासियों को व्यापार उद्योग और व्यवसाय में घुसने के लिए प्रोत्साहित किया, बल्कि उन्होंने वैधानिक रूप से चीनी प्रवासियों को आने और पहले से देश में रहनेवाले चीनियों में घुल-मिल जाने पर रोक लगायी और व्यापार तथा उद्योग के ऐसे विकास (चीनियों द्वारा किये जानेवाले विकास) को सीमित किया।"[१६]

थाइयों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के संदर्भ में देखा जाय, तो १९३२ तक चीनियों के विरुद्ध अभियान का विस्तार और उसकी सफलता सीमित ही रही। फिर भी, उसके बाद की दशी में "लुआंग प्रैडिस्ट मनुधेर्ग" के दृष्टिकोण के अनुसार यह स्पष्टतया स्वीकार किया गया कि—"थाई कृषकों की गरीबी का प्रधान कारण, थाइयों का कोई व्यापारिक वर्ग न होना है",—लुग प्रैडिस्ट यह विश्वास करते थे कि व्यापार से विदेशियों के बलात् निष्कासन से एक शून्यता आ जायगी, जो व्यापारिक क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से थाइयों का शोषण करेगी।[17] केवल १९३९ के बाद, जब सैनिक एकाधिकार में सरकार ने देश पर अपने पूर्ण अधिकार की स्थापना की, तो थाईलैण्ड के आर्थिक जीवन से चीनियों को निष्कासित करने का दृढ़ कार्यक्रम बनाया गया, गोकि राष्ट्रवादियों द्वारा सरकार को और अधिक समर्थन प्राप्त होने के पूर्व यह मामला और अधिक गंभीर था।

थाईलैण्ड में जापान

श्याम में १९३० के लगभग उदित नयी उग्र राष्ट्रीयता ने उसके विदेशी नीति-निर्धारण के समय उसे सुदुर पूर्व के नये सशक्त देश जापान की ओर प्रेरित किया। पश्चिमी शक्तियों की "लीग" (राष्ट्र-संघ) के माध्यम से १९३१-३२ में जापान को मंचूरिया में रोकने में प्राप्त असफलता ने श्याम को पुनः अपनी पुरानी ऐतिहासिक नीति अपनाने को वाध्य किया, जिसके अनुसार विविध शक्तियों के बीच वह अपनी स्थिति को सन्तुलित करता आया था, और जिसमें वह उस शक्ति से अधिक सम्बद्ध हो जाता था, जिसे वह इन शक्तियों में अधिक समर्थ समझता था। श्याम की सरकार ने स्थिति के मूल्यांकन द्वारा जापानी प्रधानता में जापान के प्रति प्रस्तावित निन्दा-प्रस्ताव में भाग नहीं लिया। उसके वाद जापान के साथ उसका सम्बन्ध निकटतर हो गया। आन्तरिक कार्यक्रम के मामले में, जापान के साथ स्थापित इस नये सम्बन्ध के कारण जापानियों के लिए थाईलैण्ड के व्यापार और उद्योग में चीनियों का स्थान ग्रहण करना सम्भव हो सका, अतः १९३८ के वाद उसे और सवल चीन-विरोधी नीति अपनाने का भी रास्ता मिल गया, क्योंकि मई, १९३८ की व्यापारिक संधि में—"जापानियों को घर, कारखानों, माल-गोदामों, कब्रगाहों और अनुदान-संस्थाओं का पट्टा कराने में श्याम-वासियों के समान ही अधिकार दिये गये थे।"[18]

अतः चीनियों के निष्कासन के उपरान्त व्यापार और उद्योग में प्रादुर्भूत रिक्तता को स्वयं थाइयों द्वारा भरने के स्थान पर, उसे अंशतः जापानी व्यापारियों और जापानी सामानों द्वारा भरना शुरू हुआ।

विदेशी मामलों में जून, १९४० में जापान के साथ एक मित्र-संधि पर हस्ताक्षर

किया गया, जिसका दिसम्बर में अनुसमर्थन हुआ। यूरोप में फ्रान्स की पराजय के बाद इसने इंडोचीन में जापान के अभियान का साथ दिया और श्याम (१९३९ में थाईलैण्ड के रूप में नया नामकरण) ने १९ वीं शताब्दी के अन्त में फ्रान्स द्वारा पहले लिये गये चार प्रान्तों को पुनः लौटाने की माँग की। इसमें सम्मिलित लोगों में कुछ थाई और कुछ कम्बोडियाई थे और थाईलैंड के रूप में उसका नया नामकरण पूरे थाई प्रदेश को राज्य की सीमा के अन्तर्गत सम्मिलित करने की कामना से किया गया था।[३३] फिर भी, १९४० में इंडो-चीन के संदर्भ में जैसा वह था, यह एक कमजोर स्थिति थी, जब जापान के साथ इस नये सम्बन्ध की स्थापना से--थाईलैण्ड को ऐसे समय सूदुर पूर्व की सबसे सशक्त शक्ति (जापान) ने उसे अपनी माँग पर जोर देने में समर्थन प्रदान किया, जब स्वयं जापान दक्षिण की ओर चीन के विरुद्ध अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए बढ़ रहा था, किन्तु आगे परिस्थितियों में जो प्रगति हुई, इसने ७ दिसम्बर, १९४१ के बाद की कार्रवाइयों के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया।

सूदूर पूर्व का सर्वशक्तिमान् देश होने की इस नयी स्थिति में जापान ने श्याम और फ्रान्सीसी इंडोचीन के बीच मध्यस्थता करने के निमित्त अपनी सेवाएँ प्रदान करने का प्रस्ताव किया और उन्हें एक समझौता करने के लिए बाध्य किया, जिस समझौते ने उस विवादास्पद क्षेत्र का हिस्सा श्याम को प्रदान कराया, जिसे प्राप्त करने के लिए वह विशेष रूप से लालायित था। इस मित्रतापूर्ण मध्यस्थता ने जापान और थाईलैण्ड का सम्बन्ध और दृढ़ कर दिया, जिससे इसके साथ इंडो-चीन में जापान को भी अपनी नयी स्थिति स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। इंडोचीन में प्रमुखता प्राप्त करने की इस स्थिति ने जापान को थाईलैण्ड की सीमाओं पर अपनी शक्ति और क्षमता का प्रयोग करने का अवसर दिया और इस प्रकार ८ दिसम्बर, १९४७ की माँग के अनुसार यदि आवश्यक हुआ, तो थाईलैण्ड से होकर मलाया पर आक्रमण करने के लिए जापानी सेनाएँ ले जाने का उसे मार्ग मिल गया। जापन की इस माँग पर थाई-सरकार ने लगभग ५ घंटे तक विचार-विमर्श किया, जिस समय जापानियों के सम्मुख एक सांकेतिक प्रतिरोध व्यक्त किया गया। इसके बाद जापान की माँग स्वीकार की गयी और तदनन्तर थाईलैण्ड ने (२१ दिसम्बर, १९४१ को) जापान के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किया। इसके थोड़े समय बाद ही ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गयी थी। संयुक्त-राज्य ने अपने को युद्ध-स्थिति में मानते हुए इसकी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, बल्कि उसने थाई अधिकारियों से अपना सम्बन्ध बनाये रखा, विशेष रूप से वाशिंगटन में स्थित उसके मंत्री से उसका सम्बन्ध बना रहा, जिसने जापानी दबाव में कार्य करनेवाली अपनी सरकार के निर्णय को मानना अस्वीकार कर दिया था।

युद्ध-काल में थाईलैण्ड युद्ध-पूर्व के एक सैनिक नेता, लुंग-पिबुल-स्रोंगराम के निदेश में जापान का एक कठपुतली राज्य था। जनवादी पार्टी के नेता-लुंक प्रेडिट सरकारी सदस्य के पद पर बने रहे, जब कि उन्होंने जापानी माँग को स्वीकार करने का विरोध किया था और युद्ध की घोषणा करने के पक्ष में अपना मत नहीं दिया था। उनके नेतृत्व में आन्तरिक सुरक्षा का आन्दोलन संगठित किया गया था, जो युद्धकालीन राष्ट्र-संघ के लिए उसकी सैनिक कार्रवाइयों में और युद्ध की समाप्ति के निमित्त देश में किये जाने वाले आन्तरिक अन्तर्ध्वंश में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। अतः थाईलैण्ड और फिलीपाइन्स-सूदुर पूर्व के ये दो देश ऐसे थे, जो जापान के आधिपत्य में थे, जिनकी सरकारें एक प्रकार से निष्कासित कर दी गयी थीं और जिन्होंने प्रधानतया आन्तरिक सुरक्षा-आन्दोलन भी शुरू किया था।

युद्धोत्तर थाईलैंड

जब जापानी आत्म-समर्पण के साथ युद्ध समाप्त हुआ, तो ब्रिटेन ने, जिसने थाईलैण्ड (जिसका पुराना नाम श्याम सन् १९४९ तक चला, फिर इसे आधिकारिक रूप से थाई-लैण्ड का नाम दिया गया) के साथ युद्ध किया था, जापान की आत्म-समर्पण की कार्रवाइयाँ पूरी करायीं; क्योंकि सैनिक कार्रवाइयों का वह क्षेत्र सूदुर पूर्व एशियाई कमान के नियंत्रण में लाया गया था। युद्ध की समाप्ति पर श्याम के प्रति किये जानेवाले व्यवहार के सम्बन्ध में संयुक्त-राज्य, ब्रिटेन और चीन के बीच कोई पूर्व समझौता नहीं हुआ था, और ब्रिटेन ने जापानियों के निष्कासन के पश्चात् श्याम के अधिकारियों के सम्मुख अनेकानेक असम्भावित माँगे प्रस्तुत की थीं। ब्रिटेन ने पूरे श्याम के नागरिक प्रशासन को ब्रिटिश अधिकार में रखने पर जोर दिया और यह दबाव डाला कि पूरा श्यामी निर्यात ब्रिटिश-सरकार के नियंत्रण में रहे और जब तक श्याम संयुक्त-राष्ट्र संघ की सदस्यता पाने के योग्य नहीं हो जाता या नहीं पा जाता, उसके लिए ऐसी स्थिति बनायी रखी जाय, अर्थात् श्याम पर ब्रिटिश संरक्षण बना रहे। श्याम के जन-नेताओं ने तो इन माँगों का घोर विरोध किया ही, चीनी सरकार ने भी इनको अनुपयुक्त माना और संयुक्त-राज्य ने भी बहुत खुलकर नहीं, फिर भी समान रूप से इसे असंगत बताया [२०]। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटेन ने तत्क्षण अपनी स्थिति में सुधार किया और एक संधि-वार्ता (१ जनवरी, १९४६ को) आरम्भ की। यह वार्ता ब्रिटेन ने लुआंग प्रैडिट की अध्यक्षता में संगठित नयी सरकार के साथ की थी, जिससे ७ वीं दिसम्बर, १९४१ तक उसके पास जो क्षेत्र और अधिकार थे, उसे पुनः वापस मिल गये और उक्त सरकार ने ब्रिटिश-प्रजा की क्षति और नुकसान की पूर्ति करनी स्वीकार की। [२१] इसका मतलब यह हुआ कि युद्ध-काल में जापान ने

मलाया के जिन प्रान्तों को श्याम को हस्तान्तरित किया था, वे पुनः ब्रिटिश नियंत्रण में आ गये। संधि ने ब्रिटेन के हवाई अधिकारों को, जो युद्ध के पूर्व उसे प्राप्त थे, पुनः उसे प्रदान किया और उसने श्याम पर पुनः यह शर्त लगायी कि बिना ब्रिटिश अनुमोदन के वह क्रासं-इस्थमस के आर-पार नहर काटने की सहमति न दे। ब्रिटेन ने इसके बदले अपनी ओर से भारतवर्ष के साथ श्याम को संयुक्त- राज्य में सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखा। यह २८ अप्रैल, १९४७ को बिना किसी विरोध के सम्पन्न हो गया। अतः युद्ध की समाप्ति पर श्याम में युद्ध-पूर्व—१९३२ की ब्रिटिश प्रधानता, श्याम की प्रभुसत्ता की सुरक्षा के साथ पुनः स्थापित हो गयी।

युद्ध की समाप्ति ने १९३२ के संविधान को पुनः प्रवर्तन और उसमें परिवर्तन करने का प्रश्न उपस्थित किया। सम्राट आनन्दा महिडाल (जिसका ९ जून, १९४६ को वध कर दिया गया था और जिसके स्थान पर कुमिफान एडुराडेट को अधिकार मिला था, पर जो १९५० तक अपना अध्ययन चालू रखने के लिए स्विटजरलैण्ड में ही रहे) को पुनः सीमित एकाधिकार दिया गया। एकसदनी विधान-मंडल के स्थान पर एक द्विसदनी सभा का संगठन किया गया। जिस सभा की पूरी सदस्यता का निर्वाचन किया जाना स्वीकार किया गया, जिसमें पहले की तरह इसके आधे सदस्यों को नियुक्त करने की व्यवस्था नहीं रखी गयी और जिसमें नये संविधान की शर्तों के अनुसार दोनों सभाओं को निर्वाचन से संगठित करना तय किया गया। अतः १९३२ की क्रान्ति का लोकतांत्रिक आवेग संवैधानिक रूप से १९४६ में प्रगट हुआ।

फिर भी, इन राजनैतिक अभियानों के होते हुए भी श्याम अस्थिरता और असंगठन की परिस्थितियों से मुक्त नहीं हुआ, जो पूरे विश्व में युद्ध के उपरान्त आ गयी थीं। जैसा और जगह हुआ, श्याम में भी युद्ध में आत्म-समर्पण के तत्क्षण बाद खाद्य और उपभोक्ताओं के लिए अन्य अनिवार्य सामग्रियों में कमी की कष्टदायक समस्या उपस्थित हो गयी थी। आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए सरकार ने राष्ट्रीय-अर्थ के नियंत्रण की योजना कार्यान्वित करने का प्रयास प्रारम्भ किया। परिस्थितियों के अनुसार श्याम में, जो संसार में चावल उगानेवाला एक प्रमुख क्षेत्र है, चावल की "राशनिंग" करने की आवश्यकता पड़ी। यह निर्णय उस समय किया गया, जिस समय ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य के साथ एक त्रिपक्षीय समझौता किया गया था, जिसके अनुसार ८० स्टर्लिंग प्रति टन[३३] की निश्चित दर पर चावल का निर्यात करने के लिए देश के भीतर इसके उपयोग पर नियंत्रण लगाना पड़ा था। ये उपाय या अन्य उपाय भी देश की गंभीर आर्थिक गिरावट रोकने में असफल रहे।

सोंगराम द्वारा पुनः अधिकार-प्राप्ति

इस आर्थिक स्थिति के साथ ही अधिकार-प्राप्त राजनीतिक दल के व्यवहार के प्रति, असन्तोष की भावना ने नवम्बर, १९४७ में सफल सशस्त्र क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसकी योजना युद्धकालीन नेता फील्ड मार्शल लाउंग फिबुल सोंगराम ने बनायी थी, जिसने १९४६ के अन्त तक सक्रिय राजनीतिक जीवन आरम्भ करने के लिए अच्छी तरह अपने को पुनःस्थापित कर लिया था। गोकि क्रान्ति की योजना फिबुल ने बनायी थी, किन्तु इसका तत्क्षण परिणाम यह हुआ कि इसके बाद शासन अधिकार उदार-वादी नागरिक नेताओं के हाथ आ गया। परिणामतः नयी सरकार कुआंग अफाइयांग की अध्यक्षता में संगठित हुई, जो लोकतांत्रिक नेता के रूप में ख्यात था और जो पहले भी प्रधान मंत्री के रूप में कार्य कर चुका था।

व्याप्त असंतोष दूर करने की दृष्टि से नयी सरकार ने एक परिवर्तित संविधान लागू किया, जिसमें—१९३२ में, उस समय के संविधान के अन्तर्गत सम्राट की जैसी स्थिति थी, उसे पुनःस्थापित करने की व्यवस्था की गयीं। नये निर्वाचन कराने का भी वचन दिया गया, जो जनवरी, १९४८ में सम्पन्न भी हुआ। चूंकि निर्वाचन में नागरिकों की अपेक्षा सैनिकों के सहयोजित तत्त्वों को बहुमत प्राप्त हुआ, इसलिए फिबुल ने सोचा कि या तो वह अधिकार प्राप्त करने के लिए अगले निर्वाचन की प्रतीक्षा करे या पुनः वह सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ही सरकार को उलटने की योजना बनाये। उसने दूसरी विधि अपनाते हुए ८ अप्रैल, १९४८ को अफियांग-सरकार को हटा कर अपने नेतृत्व में दूसरी सरकार स्थापित की। १९५७ तक वह सरकार में, और सरकार के निर्णयों पर अपना प्रमुख रूप से प्रभाव बनाये रखने में सफल हुआ, जिसके बाद वह भी उसी विधि से हटा दिया गया, जो विधि उसने स्वयं अधिकार हस्तगत करने के लिए अपनायी थी। ऐसा विदेशी और आन्तरिक दोनों मामलों की नीतियों पर तीन प्रमुख सेनानायकों के बीच मतभेद होने के कारण हुआ। इसके अलावा भी सरकार ने निर्वाचन में जो विधि अपनायी थी, उसके प्रति भी क्षोभ व्याप्त हो गया था। "अहिंसक क्रान्ति" फील्ड मार्शल सरित थानारट के नेतृत्व में की गयी थी, जो उन तीन प्रधान शासकों में था, अन्य दो ने (फिबुल और पुलिस के प्रधान जनरल फाउ ने) देश छोड़ दिया और जनरल सरित ने नाई-पोटे सरासिन के माध्यम से, उसे अस्थायी रूप से प्रधानमंत्री बनाते हुए, शासन किया। १९५७ में हुए नये निर्वाचन के बाद थनन किथिकचरान प्रधानमंत्री हुए, और नजरल सरित अभी भी पृष्ठभूमि में बने रहे।

फिबुल शासन की दशी में अंशतः अमेरिकी सहायता से आर्थिक स्थिति में हुई प्रगति

ने थाईलैण्ड को उस क्षेत्र के देशों में अनुशासित, स्थिर और उनकी समता में एक सम्पन्न देश बनने में सहायता पहुँचायी। १९४६–१९४७ की फसल से लेकर आगे वहाँ का चावल उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर पर और कभी उससे भी अधिक होने लगा, जिससे बचत का निर्यात करना सम्भव हो सका। युद्ध के बाद रबर और टिन की माँग ने––विशेषतः संयुक्त-राज्य द्वारा अपने तत्कालीन उपभोग और उसे अपने गोदाम में संग्रहीत करने के लिए की जानेवाली माँग ने इन वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि की। थाईलैण्ड के पटुए की विदेशी माँग ने भी उसके निर्यात-व्यापार का संतुलन काफी उन्नत रखा।

थाईलैण्ड और चीनी

उस क्षेत्र की राजनीति और साथ ही सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मामले में थाईलैण्ड ने साधारण रूप से उन्हीं के साथ अपने को मित्रवत् सम्बद्ध रखा, जिनकी ओर संयुक्त-राज्य था। इसका कारण एक तो देश की उन्नति के लिए प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता और दूसरे उसके साथ सीधे व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना थी। थाई बन्दरगाहों से रबर और टिन का संयुक्त-राज्य के लिए सीधा निर्यात होता था और विश्व-व्यापार के तत्कालीन माध्यम से माल भेजने की विधि के अनुसार उसे सिंगापुर से होकर नहीं भेजा जाता था, जिसके कारण उस देश के आर्थिक जीवन पर अमेरिकी प्रभाव बढ़ता गया और उसी अनुपात में ब्रिटेन का प्रभाव कम होता गया। किन्तु चीन की मुख्य भूमि पर कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकारों की स्थापना ने थाईलैण्ड की विदेश नीति के निर्धारण को बहुत कुछ प्रभावित किया।

आरम्भ से ही कम्युनिस्टों की जनवादी सरकार ने थाईलैण्ड की बड़ी चीनी जनसंख्या को, थाईलैण्ड की सरकार पर चीनी प्रभाव आरोपित करने के माध्यम के रूप में माना था। कम्युनिस्ट चीन की १९४९ के अन्त और १९५० के आरम्भ की कार्रवाइयाँ–– वास्तव में थाई राष्ट्रवादियों की कार्रवाइयों की प्रतिक्रिया में की गयी कार्रवाइयों के रूप में मानी गयीं, जिन्होंने देश के अल्पसंख्यक चीनियों पर बुरा प्रभाव डाला, क्योंकि वे मुख्य रूप से उनके विरुद्ध ही की गयी थीं। तिस पर भी, इस बात के संकेत मिले कि थाईलैण्ड की सरकार इस तथ्य से अवगत थी कि चीनी अल्पसंख्यकों के प्रति थाई-सरकार के ऐसे व्यवहार के विरुद्ध सशक्त चीन को थाईलैण्ड के मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो जायगा। अतः इन चीनियों की थाईलैण्ड में उपस्थिति ने––उनके समर्थन में–– कम्युनिस्ट चीन द्वारा कार्रवाई करने का भय पैदा किया, जिसके कारण प्रधानमंत्री फिबुल ने १९४९ के बाद संयुक्त-राज्य की भाँति ही कम्युनिस्ट विरोधी नीति अपनायी, गोकि उन्होंने फिलीपाइन्स, फारमोसा और कोरिया के कम्युनिस्ट विरोधी एशियाई

संगठन में सम्मिलित होने का प्रस्ताव तब तक नहीं स्वीकार किया, जब तक संयुक्त-राज्य ने इस प्रकार की कार्रवाई के लिए "सीटो" के निर्माण का प्रस्ताव नहीं प्रस्तुत किया। दक्षिण कोरिया पर, उत्तरी कोरिया का आक्रमण होने पर—कोरियाई युद्ध में में चीनी हस्तक्षेप ने दोहरा उद्देश्य सिद्ध किया। एक तो, इससे थाईलैण्ड में तुरन्त चीनी दबाव कम हुआ और दूसरे इससे थाईलैण्ड ने चीन के विरुद्ध संयुक्त-राज्य से अपनी मित्रता बढ़ाते हुए कोरिया में अपनी सेनाएँ भेजीं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के एक भाग के रूप में उसकी सेनाओं ने कोरिया में चीनियों और साथ ही उत्तरी कोरिया-इयों के विरुद्ध युद्ध किया। दक्षिण में कम्युनिस्ट चीन के स्पष्ट या परोक्ष दबाव ने थाईलैण्ड की विदेश-नीति को प्रभावित किया और उसकी सरकार ने "सीटो" की सदस्यता ग्रहण की। इंडो-चीन की युद्ध-विराम-संधि के साथ दक्षिणी वियतनाम की कमजोरी के कारण चीन के प्रभाव में थाईलैण्ड की सीमा या कम-से-कम उसके निकट—"वियतमिन्ह" की अधिकार-स्थापना का भय पैदा किया। "शीत-युद्ध" में अमेरिकी वचनबद्धता ने कोई खास मदद नहीं की, क्योंकि परिस्थितियों के संदर्भ में संयुक्त-राज्य ने यह स्वीकार किया था कि वह थाईलैण्ड को अपने पड़ोसी राज्यों से, जब तक वे चीन की परोक्ष मदद पायेंगे, अपनी रक्षा करने के लिए आवश्यक सैनिक सहायता देगा। अतः वह कम्बोडिया के समक्ष सीमा पर हुई घटनाओं के समय अपनी शक्ति की सुरक्षा और सम्वर्धन करने में सफल हुआ। इसके अलावा भी, संयुक्त-राज्य से उसके मैत्रीपूर्ण गठबन्धन ने उसे फिलीपाइन्स, लाओस और राष्ट्रवादी चीन के साथ और अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता पहुँचायी, जब कि ऐसे सामान्य तटस्थ राष्ट्रों से, जैसे—बर्मा से, जिसके सामने उत्तर में अपनी सीमा के पूरी तरह स्थिर न होने के कारण, सीमा-सम्बन्धी समस्या थी, सम्बन्ध जोड़ना भी उसके लिए असम्भव नहीं था। अतः थाईलैण्ड ने, राष्ट्र-वादियों की उन सेनाओं को उनके देश वापस लौटाने के लिए बर्मा द्वारा किये जा रहे प्रयत्नों का समर्थन किया, जो सेनाएँ कम्युनिस्टों द्वारा चीन से भगायी जाने पर बर्मा से लगी सीमा पर विश्राम करने के लिए आयी थीं। थाईलैण्ड ने बर्मा की उस समय भी यथासम्भव सहायता की, जब राष्ट्रवादियों की उक्त सेनाओं के स्थान पर सीमा पर कम्युनिस्ट सेनाएँ लगायी जाने लगीं, जो शरण पाने नहीं आयी थीं, वरन् जो चीन के पक्ष में सीमा-निर्णय कराने के उद्देश्य से वहाँ स्थित की गयी थीं। मलाया के साथ भी सीमा के दोनों ओर कम्युनिस्टों के छापामार हमले रोकने में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से सहयोग-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनायी गयी।

अतः तत्सम्बन्धी आन्तरिक दृढ़ता की अवधि में बाहरी स्थितियों के कारण विदेशी मामलों में कार्रवाइयाँ करने के लिए लगातार ऐसे सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता पड़ी।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में, विशेष रूप से संयुक्त-राष्ट्र के मामलों में थाईलैण्ड की नयी भूमिका के प्ररिणामस्वरूप १९५६ में संयुक्त-राष्ट्र संघ की साधारण सभा की अध्यक्षता थाईलैण्ड के विदेश-मंत्री नारथिप (प्रिन्स वान) को प्राप्त हुई, साथ ही थाईलैन्ड ने "सीटो" सम्बन्धी मामलों में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सक्रियता का परिचय दिया।

(४) बर्मा

बर्मा पश्चिम में भारतवर्ष और पूर्व में चीन और थाईलैण्ड के बीच बसा हुआ, २६१७८९ वर्ग मील के क्षेत्र और २ करोड़ जनसंख्या का देश था।[२३] इसकी कुल जन-संख्या के ६६ प्रतिशत लोग वर्मी थे, बकाया में सीमा के लोग—शान कारेन, कचिन, चिन, नागा तथा अन्य थे, जिनके अतिरिक्त विदेशियों में—१०,००,००० भारतीय, २,००,००० से से कुछ कम चीनी, १९,००० ऐंग्लो-बर्मी और ११,००० से कुछ अधिक यूरोपीय थे। यहाँ के ८० प्रतिशत लोग, सभी बर्मिओं को मिलाकर बौद्ध थे, भारतीय जन-संख्या में अधिकतर हिन्दू, ४ प्रतिशत मुसलमान और २ प्रतिशत से थोड़े अधिक लोग ईसाई थे।

१८८६ से पूरा देश, ब्रिटिश-राज्य में रहा। प्रशासनिक दृष्टि से १९०७ में इसे भारतवर्ष का एक हिस्सा बनाया गया था और १९३७ तक यह एक भारतीय प्रान्त की भाँति था। इस अवधि में सरकार में जो-जो प्रधान परिवर्तन हुए, वे १९२३ में मान्टेगु चेम्सफोर्ड सुधार को बर्मा में लागू करने पर हुए थे। उस समय तक सरकारी प्रक्रिया में बर्मियों को सम्मिलित नहीं किया जाता था, १९२२ में "बर्मा-कौंसिल" में केवल २ निर्वाचित सदस्य होते थे,[२४] किन्तु वे भी प्रधान रूप से यूरोपीय हितों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि शासक देश के लाभ के लिए बर्मा का विकास केवल एक शोषित उपनिवेश के रूप में किया गया था। इसका कृषि-उत्पादन मुख्य रूप से चावल था, जिसके लिए पूरे कृषि-उत्पादन-क्षेत्र का ७० प्रतिशत क्षेत्र धान के उत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जाता था। युद्ध के पूर्व के कुल ६० लाख टन चावल उत्पादन में से लगभग आधा विदेश, विशेष रूप से भारतवर्ष भेजा जाता था, जो इसके अन्य प्रमुख अकृषि पदार्थों, जैसे—पेट्रोलियम का भी प्रमुख बाजार था, जिसका बर्मा में उत्पादन १९२९–१९३९ की दशी में २५ करोड़, गैलन प्रति वर्ष था। ये तथा साथ ही अन्य उत्पादक पदार्थ, जैसे—टीक की लड़की (जो बर्मा का एक प्रधान निर्यात साधन था) इस तरह बाहर भेजी जाती थी, जिससे इस उद्योग के भाग्यवान् हिस्सेदारों को खास फायदा हो सके और उनके लाभांश के अलावा भी भविष्य में और लाभ पाने के लिए पूंजीगत उपकरणों की प्राप्ति के निमित्त मूल्य-निर्धारित किया जा सके। यह सब लगभग

१०० साल के ब्रिटिश शासन का प्रतिफल था, जो शासनविधि-सम्मत था और जिसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता उपलब्ध थी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विधि (कानून) की सीमा में लाभ प्राप्त करने का अवसर प्राप्त था। जिसका उद्देश्य सम्पत्ति और व्यक्ति दोनों की स्वतंत्रता की रक्षा करना था और जिसमें सबको लाभ प्राप्त करने का अवसर प्राप्त था। ब्रिटिश शासन में बर्मा के विकास से सम्बद्ध लोगों को ईमानदारी और प्रतिष्ठा से अपने कार्य करने का अधिकार दिया गया था।[२५]

किन्तु फिर भी बर्मी प्रधान रूप में थे, जो ऐसे कृषक-विकास से सम्बद्ध नहीं थे। विकास की इस अवधि में वे भारतीय ऋणदाताओं के ऋणी हो गये थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि १९३८ तक १३ प्रधान चावल उत्पादक जिलों के २५ प्रतिशत चावल के खेत ऋणदाताओं (चेट्टियर्स) के हाथ में चले गये थे। (ये चेट्टियर्स मद्रास प्रान्त के पारिवारिक बैंकिंग पेशे के हिन्दू होते थे)। थाइयों और अनामियों की भाँति, बर्मी भी उद्योग और वाणिज्य की ओर विशेष आकृष्ट नहीं हुए थे और न तो वे कृषि की नयी पूँजीवादी विधि को अपनाने के अभ्यस्त ही थे। किन्तु जब कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में परिश्रमी और कार्य-तत्पर चीनियों ने पूँजीवादी कार्यों में यूरोपियों का स्थान ग्रहण किया था, जिससे उन्होंने वहाँ के आदि निवासियों की शत्रुता भी अर्जित की थी, बर्मा में यह कार्य भारतीयों ने किया और जिनके प्रति बर्मियों की कुख्याति के फलस्वरूप वहाँ राष्ट्रीयता जागृत हुई, जो विश्व-युद्ध के उपरान्त अच्छी तरह प्रगट हुई।[२६] जैसा पहले बताया गया है, इसका पहला परिणाम यह हुआ कि द्वैध शासन की भारतीय योजना द्वारा सरकारी कार्यों में बर्मियों को सम्मिलित करना शुरू किया गया। १९३५ में बर्मा के विभाजन का निर्णय इस दिशा में किया गया एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। बर्मा ने अब तक भारतवर्ष के एक प्रान्त के रूप में कार्य किया था, इसलिए इस विभाजन ने जन-भावना को प्रभावित किया और साथ ही उनके सम्मुख आर्थिक और प्रशासकीय कठिनाइयों का प्रश्न भी उपस्थित किया। बर्मी सरकार के (१९३५ के) अधिनियम के अन्तर्गत, जो १९३७ में लागू किया गया, एक द्विसदनी संसद की स्थापना की गयी, जिसने निर्वाचन के आधार पर अधिकांश सदस्यता प्राप्त करने की व्यवस्था की और जिसे रक्षा, विदेशी मामले, धार्मिक संघ-सम्बन्धी मामले (जो केवल लगभग १ दर्जन पादड़ियों के अनुरक्षण से सम्बद्ध थे), विभाजित क्षेत्रों और मुद्रा-नीति को छोड़कर बर्मा के प्रशासन के अन्य मामले का नियंत्रण करना था। इनमें मुद्रा-नीति का सम्बन्ध वास्तविक सिक्के और बाहरी ऋण से सम्बद्ध था, न कि बजट से,[२७] ये प्रमुख (अपवाद) अधिकार केवल गवर्नर को प्राप्त थे जिसको विस्तृत आपत्कालीन अधिकार भी दिये गये थे।

बर्मी राष्ट्रीयता

"इन अपवादों के बावजूद भी, इस अधिनियम ने बर्मियों को, भारतीयों की तुलना में, अपनी सरकार और अन्ततः स्वशासन-पद प्राप्त करने में पर्याप्त रूप से आगे बढ़ाया। ऐसा करने से सम्भवतः पूर्ण स्वाधिकार प्राप्त करने की इच्छा और माँग बढ़ गयी और विधान-सभा और मंत्रि-परिषद् में अपने पूर्ण अधिकार की माँग के माध्यम से यह इच्छा पूरी तरह अभिव्यक्त भी हुई। फिर भी, यह सब अभी अप्रौढ़ और प्रादेशिक लोगों के लिए अपने कार्यों का पूरा उत्तरदायित्व प्राप्त करने के निमित्त वांछित तैयारी के बिना संभव नहीं था। १९२३ के पूर्व उनका सरकार के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया गया था, वह अभी व्यवस्थापकीय स्तर के नीचे था। सामान्य प्रशासन के दैनिक कार्यों में बर्मियों को सम्मिलित करना अति अनिवार्य था, और इस मामले में उन्होंने सहायक पदों, जैसे—क्लर्क, मैजिस्ट्रेटों और न्यायाधीशों (जजों) का कार्य-भार सम्भाला भी था। देश की शिक्षा-प्रणाली, अंग्रेजी के बर्मा में आने पर, पहली बार परम्परानुगत विधि से आरम्भ की गयी थी और ब्रिटेन के शासकों द्वारा इस प्रकार निदेशित की गयी थी जिससे नौकरियों में सहायक कार्यों, प्रधानतः क्लर्कों के लिए लोग उलब्ध हो सकें।

"चूँकि बर्मियों को इंजीनियरों और डाक्टरों की श्रेणी में नियुक्ति का अवसर प्राप्त नहीं था, इसलिए शिक्षा में वैज्ञानिक शिक्षण की उपेक्षा की गयी थी। शिक्षा पर गत युद्ध-पूर्व पंचवर्षीय रिपोर्ट के अनुसार केवल सात बर्मियों ने प्राकृतिक विज्ञान में, अन्य चार ने औषधि में और दो ने इंजीनियरी में उपाधियाँ प्राप्त की थीं। इसी प्रकार चूँकि बर्मियों के लिए उद्योग और व्यापार में भी प्रवेश करने का सुअवसर उपलब्ध नहीं हुआ था, इसलिए अर्थ-शास्त्र के अध्ययन की भी उपेक्षा की गयी थी। नयी शिक्षा-पद्धति ने भी आधुनिक विश्व की क्रियाविधि के अनुरूप कार्य करने का अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से बर्मियों को कोई भीतरी ज्ञान नहीं प्रदान किया था। १९२० से प्रति वर्ष औसतन आधे दर्जन बर्मियों को अनेक विशिष्ट अध्ययनों के लिए इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा, किन्तु उनमें से अधिकतर सरकारी नौकरियों में लगा दिये जाते थे। कार्यालय-कर्मियों और वकीलों को छोड़ कर दो दर्जन से अधिक ऐसे बर्मी नहीं थे, जो बर्मा के बाहर विश्व की स्थितियों का कोई ज्ञान रखते हों।"

और बर्मियों को बाहरी संसार का बहुत कम ज्ञान था ही, उन्हें आधुनिक बर्मा का सम्भवतः और कम ज्ञान था, क्योंकि शिक्षा-पद्धति में आन्तरिक समस्याओं को समझने के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं कराया जाता था, जो आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के कारण, नये जागरण-संदर्भों में प्रादुर्भूत हुआ था। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त जनता को सरकार

की आलोचना करने की स्वतंत्रता दी गयी थी,[२८] किन्तु उनके पास तर्कसंगत आलोचना के लिए आवश्यक सामग्री का अभाव था, गोकि उन्हें ऐसी आलोचना में सम्मिलित होने का पर्याप्त अवसर प्राप्त था और इस प्रकार उन्हें व्यावसायिक राजनीतिक नेतागिरी अपनाने की प्रक्रिया उपलब्ध थी, जो विशेष रूप से १९३७ के बाद ही उन्हें सरकारी कार्य-संचालन का कुछ अनुभव प्रदान कर सकी।

१९३७ में नयी विधान-सभा के प्रतिनिधियों के निर्वाचन के समय यह ज्ञात हुआ कि बर्मा में लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना संयुक्त पार्टियों के प्रतिनिधियों के संगठन से ही की जा सकती है, जिसमें राष्ट्रीयता के आधार पर पार्टी संगठन विशेष रूप से व्यक्तिनिष्ठ ही था। पार्टियों का आधिक्य बर्मी राजनीति का एक विशेष लक्षण था और १९३७ के बाद बना प्रत्येक मंत्रिमंडल पार्टियों के संयुक्त प्रतिनिधित्व से ही संगठित किया गया था। सभी बर्मी राजनीतिज्ञ राष्ट्रवादी होने का दावा करते थे, किन्तु उनमें कार्यक्रम या कार्य-विधि की एकता नहीं थी। जब पहले विधान-मंडल में १३२ सदस्य निर्वाचित हुए, तो यह कहा गया कि उसमें १३२ राजनीतिक पार्टियाँ भी थीं। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि आरम्भ से ही गवर्नर को अपने विशेषाधिकार द्वारा इसके कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़ता था। इसका यह भी परिणाम हुआ, जैसा १९४२ में स्पष्ट हुआ— कि "बर्मी राजनीतिज्ञ सुयोग्य सरकार संगठित नहीं कर सके।"[२९] इसके परिणामस्वरूप युद्ध-काल में शिमला में स्थापित बर्मी-सरकार के भविष्य के बारे में सोचा जाने लगा। जिसे देश से निष्कासित कर दिया गया था।

बर्मा में युद्ध का प्रभाव

युद्ध ने स्वतः परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन किया, जिन्हें आरम्भ में ब्रिटिश लोगों ने पूरी तरह उपयुक्त नहीं माना। प्रथमतः परिस्थितियों और बर्मा में तीव्रगामी जापानी विजय ने ब्रिटिश-मान इतना कम कर दिया कि जापानियों के व्यवहार के बावजूद भी उनके लिए १९२७–१९४१ की अपनी पुरानी स्थिति प्राप्त करना असम्भव हो गया। इसके अलावा, युद्ध की समाप्ति होने पर एक नया नेतृत्व पनपा, जिसने बर्मा में जापान-विरोधी आन्दोलन संचालित कर पर्याप्त अनुभव, आस्था और आधिकार की भावना प्राप्त कर ली थी।

बर्मा में जापानी आक्रमण की—थाकिन पार्टी के ब्रिटेन-विरोधी अतिवादियों ने, जिन्होंने आरम्भ में पूर्ण स्वाधीनता की माँग पर जोर दिया था, सहायता की थी। उन्होंने एक छोटी आजाद सेना (लगभग ४००० व्यक्तिओं की) बनायी थी, जिन्होंने जापान के सशस्त्र आक्रमण के समय "स्वाधीन बर्मी प्रशासन" संगठित किया था। पर इन्होंने

इतनी उग्रता और अव्यवस्था के साथ कार्य किया कि जापानियों ने शीघ्र ही उन्हें दबा दिया और देश पर सैनिक शासन स्थापित कर दिया।[३०] इस सैनिक शासन ने बाहरी रूप से १ अगस्त, १९४२ को "एक पूर्व प्रधान मंत्री डा० बा माव के नेतृत्व में, जो आक्रमण के समय राजद्रोह का अपराध-दंड भोगने के बाद मुक्त हुए थे,[३१] संगठित बर्मी कार्यकारी समिति को शासन अधिकार हस्तान्तरित कर दिया। एक वर्ष के बाद स्वतंत्रता की औपचारिक स्वीकृति मिलने पर भी, यह विशेष रूप से स्पष्ट हो गया था कि संयुक्त सरकार को अपने कार्य-सम्पादन में अति अल्प स्वाधीनता उपलब्ध थी और इसके तत्त्वावधान में बर्मा का जापानी उद्देश्य से उपयोग किया जाता था। जैसा और जगहों में हुआ था, जापानी प्रचार, जो आक्रमण के पूर्व पर्याप्त सफल भी हुआ था, वास्तविक रूप से जापान के व्यवहार के अनुरूप नहीं था, क्योंकि उन्होंने प्रचार कुछ किया था, कर कुछ और रहे थे। परिणामतः उन बर्मियों में से भी अनेक, जिन्होंने आक्रमण के समय जापानियों के साथ उसमें हिस्सा लिया था, बाद में जापान-विरोधी-संगठन में सम्मिलित हुए, जो "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग' के नाम से संगठित किया गया था।

"फासिस्ट-विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" उस तरह के बर्मी राजनीतिक संगठनों से से बिलकुल अलग था, जैसा ब्रिटिश शासकों ने अपने शासन-काल में देखा था। यह एक नया और विभिन्न संगठन था। जापान को बिना आउंग शान और बाकी अन्य "तीस बहादुरों" की सहायता के बर्मा पर इतनी जल्दी अधिकार प्राप्त करने में सफलता न मिली होती, यदि यही लोग अब जापानियों को बाहर निकालने के अभियान के लिए संगठित हो रहे थे। अनेक दल इस कार्य में संलग्न थे, जिनमें प्रमुख रूप से "पीपुल्स रिवोल्युशनरी फ्रन्ट" (जनवादी क्रान्तिकारी मोर्चा) के कम्युनिस्ट मेजर जनरल आउंग शान की कमान में संगठित बर्मी सुरक्षा सैनिक विशेष सफल सिद्ध हुए थे। अगस्त, १९४४ में इन क्रान्तिकारी दलों ने मिलकर "फासिस्ट-विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग"[३२] संगठित की थी।

इस तथ्य के संदर्भ में कि "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" के एक अंग के रूप में उसके पास अपनी सेना थी, ब्रिटिश शासन की पुनः स्थापना पर पहली बार ब्रिटिश शासकों को एक ऐसे राजनीतिक दल का सामना करना पड़ा था, जिसके पास अपनी एक संगठित शक्ति थी।

(जब ब्रिटिश पुनः शासन ग्रहण करने के लिए लौटे) उस भूमि की—इस समय की और तीन वर्ष पूर्व की, जब वे वहाँ से हटाये गये थे, परिस्थितियों में बड़ा अन्तर हो गया था। तब वे अनेक चीजों में, जो किसी राष्ट्र की वास्तविक सम्पदाएँ होती हैं, पर्याप्त सम्पन्न हो गये थे,—अब तीन वर्षों से कुछ अधिक अवधि में उन्होंने अपनी पूर्व योजना को विनष्ट पाया था। उन तीन वर्षों में देश पर दो बार आक्रमण हो चुका था।

ब्रिटिश और जापानी सेनाओं ने पूरे बर्मा में अनेक प्रकार युद्ध किया था और अपनी शक्ति स्थापना और बदले के लिए इस भूमि को युद्ध से आक्रान्त किया था। खानें, तैल-क्षेत्र और कृषि-भूमि जानबूझ कर नष्ट की गयी थीं और व्यवस्थापक तथा तकनीकज्ञ, जो सभी विदेशी थे और श्रमिक जिनमें भी अधिकांश विदेशी थे, भागकर भारतवर्ष में चले गये थे। कृषि-कार्य अलाभकर हो गया था और चावल का उत्पादन जिसका ३० लाख टन से भी अधिक हिस्सा प्रति वर्ष विदेशों को भेजा जाता था, अब इतना कम हो गया था कि वह केवल शूकरों के चुगने के लिए ही पर्याप्त समझा जा सकता था। देश की उत्पादन-क्षमता गिरकर उसकी पहले की क्षमता की केवल एक तिहाई रह गयी थी। नैतिक गिरावट इस वस्तुगत गिरावट से भी कहीं अधिक थी। तीन वर्षों तक बर्मी युवक, जो नगरों और शहरों में नागरिक जीवन व्यतीत करन को शिक्षा ग्रहण करते होते, केवल उत्तेजक किन्तु अपरिश्रमशील छापामार युद्ध में संलग्न थे, जिन्हें इसमें किसी नियमित सैनिक अनुशासन का भी प्रशिक्षण नहीं मिल सका था।[३३]

युद्धोत्तर सरकार

रंगून पर पुनः अधिकार स्थापित करने के बाद बर्मा में युद्धोत्तर स्थिति की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ब्रिटिश योजना की घोषणा—मई, १९४५ में की गयी, ये योजनाएँ बर्मा-सरकार द्वारा भारत में (शिमला-सरकार द्वारा) बनायी गयी थीं और उन्हें उक्त तिथि की राजाज्ञा में सम्मिलित किया गया था। विस्तृत रूप में, जैसा बताया गया था, इसका उद्देश्य युद्ध-पूर्व की स्थिति को शीघ्रातिशीघ्र पुनःस्थापित करना था। सबसे पहले बर्मा में गवर्नर का सीधा शासन स्थापित करने का विचार किया गया था, जिसमें शीघ्रातिशीघ्र गैर-सरकारी कार्य-कर्मियों की सहायता प्राप्त करना तय किया गया। यदि सम्भव हुआ तो १९३५ के अधिनियम के अनुसार तीन वर्षों के भीतर निर्वाचन करके सरकार को पुनः संगठित करने का निर्णय भी किया गया था, इसके बाद राजनीतिक पार्टियों को, एक संविधान बनाने के लिए स्वीकृति देने की योजना थी, जिसके बाद यह तय किया गया था कि देश में अपना स्वामित्व (डोमिनियन) स्थापित करने के लिए वार्ता आरम्भ की जा सकेगी। आर्थिक पक्ष में 'शिमला-सरकार' ने उत्पादन बढ़ाने और यथाशीघ्र स्पर्धायुक्त व्यापार की स्थिति में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से अनेक प्रायोजनाएँ बनायी थीं।

जापानियों से मुक्ति प्राप्त करने के बाद बर्मा-निवासियों ने ब्रिटिश सेना का स्वागत किया। कोई यह शिकायत नहीं कर सकता कि "विजय-दिवस"[३४] के तदनन्तर युद्ध की समाप्ति पर—मार्च, १९४५ में जापानियों के विरुद्ध अभियान शुरू होने पर, बर्मियों ने अपना पूरा और प्रभावपूर्ण सहयोग नहीं दिया। किन्तु ये आरम्भिक रुख बाद में

परिवर्तित हो गये। सैनिक शासन के समय, प्रशासन एक नागरिक सत्ताधारी परिषद् (बर्मी-परिषद्–८) के हाथ में था, जिसमें केवल पुनः लौटे हुए ब्रिटिश नागरिकों और उन कार्याधिकारी बर्मियों को सम्मिलित किया गया था, जो जापानी दखल के तीन वर्षों के समय देश से निष्कासित रहे। इसमें उन कर्मियों के अधिकारियों और उनकी सेवाओं की अवहेलना की गयी, जैसे "फासिस्ट-विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" के नेताओं की, जिन्होंने देश नहीं छोड़ा था और यहाँ रहते हुए जापानियों के विरुद्ध संघर्ष किया था। परिणामस्वरूप स्थिति में वास्तविक सुधार नहीं हुआ, जब गवर्नर सर डोरमन स्मिथ के लौटने पर—यह अनुभव किया गया कि, "राजाज्ञा की शर्तों के अनुसार अन्तरिम अवधि में उन्हें अपने पूर्ण अधिकारों का प्रयोग करना है और १९३७ की स्थिति की पुनः स्थापाना होने पर ही वर्मा की भावी स्थिति पर विचार किया जा सकता है।" सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने वाले प्रधान रूप से "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स लीग" के नेता थे, जिन्होंने ब्रिटिश शासकों द्वारा रखी शर्तों पर––उनके साथ सहयोग करना––अमान्य कर दिया। "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" की शक्ति प्रथमतः उनकी एकता और जन-सहयोग के कारण पर्याप्त समृद्ध थी और उनके शक्ति-संवर्धन का दूसरा कारण यह था कि वे सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने में सक्षम थे और अन्ततः उनके पास सैनिक शक्ति भी थी।[३५] अपनी एकता बनाये रखने की उनकी क्षमता और अपने समर्थकों के कार्यों का निदेशन, जो उन्होंने विशेष रूप से वर्मी राजनीति में लौटे हुए उन लोगों के विरुद्ध प्रदर्शित किया था, जो युद्ध-पूर्व की अपनी अधिकार-शक्ति अर्जित करने के इच्छुक थे, ऐसा था—जिसको देखते हुए नये गवर्नर सर हवर्ट रेस ने ३१ अगस्त, १९४६ में ११ सदस्यों की एक कार्य-कारिणी समिति संगठित की, जिसमें ६ सदस्य––"फासिस्ट-विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" के थे और ५ अन्य पार्टियों से लिये गये थे। उसके बाद जो वार्ता की गयी, उसके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश सरकार और बर्मा के गवर्नर की कार्यकारी समिति के प्रतिनिधि-मंडल (फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग के नेता आउंग शान के नेतृत्त्व में) का लंदन में एक सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन पर ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने २० दिसम्बर, १९४६ को यह वक्तव्य जारी किया, कि––"बर्मा को राष्ट्र मंडल (कामनवेल्थ) की सदस्यता या स्वतंत्रता, जो वह चाहता था, शीघ्रातिशीघ्र और अत्यधिक सुविधाजनक संभव साधन द्वारा प्रदान की जायगी।" अतः इस सम्मेलन ने १९४५ के राज-पत्र में निहित नीति से अलग ऐसी व्यवस्था प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की, जिससे उसके राष्ट्रीय उद्देश्य––"स्वाधीनता प्राप्ति का लक्ष्य" पूरा हो सके। जनवरी, १९४७ में इस विषय में अन्तिम निर्णय हो सका, जिसमें १९३५ के अधिनियम के अनुसार विधानांग के स्थान पर एक निर्वाचन द्वारा संगठित विधान-परिषद् की स्थापना करने पर जोर दिया

गया। इसमें यह भी तय किया गया था कि जब तक इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती और उसके आधार पर एक संगठित सरकार की स्थापना नहीं कर ली जाती, १९३५ के अधिनियम के अनुसार एक संक्रान्तिकालीन विधान-परिषद् बनाकर उसमें विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों में से १८० सदस्यों को सरकार द्वारा नामांकित करते हुए गवर्नर की कार्यकारी परिषद् की स्थापना हो, जिसका एक उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) बर्मी सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए लन्दन में रखा गया। ब्रिटिश सरकार संयुक्त-राष्ट्र-संघ में बर्मा को सदस्यता दिलाने के प्रस्ताव का भी यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र समर्थन करने के पक्ष में थी और वह उस देश के इच्छानुसार बर्मी प्रतिनिधियों का और देशों से राजनयिक विनिमय स्थापित करने के निमित्त विदेशी सरकारों से निवेदन करने को इच्छुक थी। सीमा-क्षेत्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति का संगठन किया गया था, जिस समिति ने उन सीमावर्ती क्षेत्रों का बर्मा के साथ एक संघ बनाने का प्रस्ताव किया।

इस समझौते से, फिर भी, बर्मी राष्ट्रवादियों की तत्क्षण और अनिर्णीत स्वतंत्रता की माँग पूरी नहीं हो पायी। आउंग शान ने काफी अरसे तक इसकी स्वीकृति के प्रति अपना विरोध प्रकट किया और वे देश का नेतृत्व करते हुए कम्युनिस्टों और अन्य गैर-कम्युनिस्ट तत्त्वों का भी दृढ़तापूर्वक सामना करने में समर्थ रहे।[३६] परिणामस्वरूप अप्रैल में निर्वाचन हुए, जिनमें "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम पार्टी" को बहुत अधिक बहुमत प्राप्त हुआ। नया संविधान २४ सितम्बर, १९४७ को लागू किया गया और १७ अक्तूबर को ब्रिटेन के साथ हुई संधि जनवरी १९४८ में लागू हुई, जब बर्मा की स्वाधीनता को पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई।

नये राज्य के संविधान में संसद के संयुक्त सदनों के गुप्त मताधिकार के आधार पर पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित एक राष्ट्रपति की, प्रतिनिधियों के सदन के उपप्रधानों के सदन के बहुमत के प्रति उत्तरदायी एक मंत्रिमंडल की, जिसे राष्ट्रपति के साथ कार्यभारी अधिकारों का उपयोग करना था, विविध जातियों के सदन द्वारा एक उच्च सभा की—(जिसमें देशी जातियों के पास कुल १२५ जगहों में ७२ जगहें प्राप्त थीं), एक निर्वाचन उपप्रधानों के सदन की, जो सरकारी तंत्र का सबसे मजबूत अंग था और एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की गयी।

निर्वाचनों के बाद और नये संविधान की पूर्ति के पहले १९ जुलाई, १९४७ को आउंग शान और कार्यकारी परिषद् के ६ और सदस्यों की यू शा के नेतृत्व में संगठित विरोधी दलों के एजेन्टों द्वारा हत्या की जाने पर बर्मा की राजनीतिक स्थिति बदल गयी। इसका उद्देश्य सरकार को उलटने की तैयारी के लिए देश में आतंक फैलाने का था।[३७] संविधान को अपनाने

और स्वाधीनता की घोषणा में जैसी शर्तें रखी गयी थीं, उनके संदर्भ में इस कार्रवाई से वांछित परिणाम नहीं मिला, गोकि इसने "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम पार्टी" के कुछ योग्यतम और पर्याप्त अनुभवी नेताओं को अवश्य हटा दिया। आउंग शान के उत्तराधिकारी के रूप में थाकिन नू ने प्रधान मंत्री के रूप में स्वीकृत मत के अनुसार सरकार और पार्टी दोनों का नियंत्रण सम्हाला।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के कारण वह केन्द्रीय प्रश्न, जिस पर राजनीतिक नेताओं का कार्य आवृत था, सुलझ चुका था। पणिामस्वरूप नयी सरकार का जल्दी या देर से विरोध होना स्वाभाविक था। विरोध के एक सूत्र का पता १९४५ के अन्त में लगा, जब यह १९४६ में "सम्पूर्ण बर्मी राष्ट्रीय कांग्रेस" (आल बर्मा नेशनल कांग्रेस) में प्रकट हुआ था और जब कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी स्थिति इस प्रकार बनानी शुरू की थी कि नवम्बर, १९४६ में बर्मी कम्युनिस्ट पार्टी को "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" द्वारा निष्कासित कर दिया गया था। इसके पूर्व कम्युनिस्ट नेताओं के आन्तरिक विभेद भी ऐसे हो गये थे कि उनके कारण आपस में संघर्ष हुआ और बर्मी कम्युनिस्ट पार्टी और "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम लीग" दोनों के विरोधी दल के रूप में "वर्मा की कम्युनिस्ट पार्टी" का उदय हुआ। चूँकि सरकारी पार्टी का कार्यक्रम देश की आर्थिक पुनःस्थापना में समाजवादी दृष्टिकोण अपनाने का था, इसलिए इसके विपक्ष में एक दक्षिणमार्गी विरोध का उदित होना भी स्वाभाविक था। तीसरी कठिनाई संविधान के अपनाने के बाद हुई, जो करेन जनता के रुख में प्रकट हुई, जिनके प्रतिनिधियों ने बर्मा के साथ अपने संघ को स्वीकार किया था, किन्तु जो उस निर्णय के प्रतिफल को पूरी तरह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी और जो सरकार के अन्तर्गत कम्युनिस्ट प्रभाव का भी विरोध करती थी।

युद्धोत्तर राजनीति

नयी सरकार को पहले कुछ सालों में इन कम्युनिस्टों के विरुद्ध अपनी शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करना पड़ा, जिन्होंने इसे पद च्युत करने का प्रयत्न किया था। देश की हिंसक परम्परा के अनुसार यह एक प्रधान समस्या थी और यह कुछ ऐसा रूप ग्रहण कर रही थी कि जन-भावना का विकास भी तदनुरूप उत्तेजना के साथ हो रहा था, जिसमें नियम और कानून के प्रति वांछित निष्ठा का अभाव आता जा रहा था। गोकि १९५० के अन्त तक कम्युनिस्टों और करेन लोगों ने सरकारी अधिकार की उपेक्षा की थी, किन्तु सरकार की स्थिति आगे चलकर पर्याप्त रूप से मजबूत हो गयी थी। पूरे देश में विद्रोही दल भंग कर दिये गये थे और वे छोटे-छोटे दलों में छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे। अन्तर्विद्रोही कमजोर कर दिये गये थे, किन्तु वे मूलतः विनष्ट नहीं हुए थे। इन छोटे दलों का पता लगाकार उन्हें समूल नष्ट करना कठिन था। वे टीक के जंगलों,

इरावदी डेल्टा के कुछ उत्कृष्टतम चावल उत्पादन-क्षेत्रों, टिन-खदानों और टेनासिरिय में रबर के वृक्षारोपणों को क्षत-विक्षत करते रहे।

१९५२ तक सरकार परिस्थिति पर पूरी तरह नियंत्रण करने में समर्थ हो गयी थी, जिससे संक्रान्ति काल में अपने वैधानिक अधिकारों का प्रयोग करने वाली विधान-सभा को भंग कर संविधान के अनुसार निर्वाचन कराना संभव हो सका। ये निर्वाचन १९५१ के अन्त से फरवरी, १९५२ तक पूरे किये गये, जिनमें "फासिस्ट-विरोधी पीपुल्स फ्रीडम पार्टी", को उपप्रधानों के सदनों में पूर्ण बहुमत (कुल २३५ जगहों में ८० प्रतिशत जगहें) प्राप्त हुआ और इस प्रकार उस पार्टी का देश पर पुनः अधिकार स्थापित हुआ। अप्रैल, १९५६ के निर्वाचनों में इस पार्टी का बहुमत बना रहा, गोकि "राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे" (कम्युनिस्टों) ने भी सदन में जगहें पायीं और वह प्रधान विरोधी पार्टी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। "फासिस्ट विरोधी पीपुल्स फ्रीडम पार्टी" के बहुमत में श्री ऊ.नू स्वाधीनता के बाद प्रथम प्रधान मंत्री चुने गये और १९५६ तक अपने पद से त्यागपत्र देने तक इस पद पर बने रहे। फिर भी इनके (त्यागपत्र) के उपरान्त भी उनकी शक्ति कम नहीं हुई थी, क्योंकि उन्होंने अपना स्थान ग्रहण करने के लिए प्रधान मंत्री और उनके मंत्रिमंडल के सदस्य को स्वयं नामांकित किया। ऊ नू ने फिर मार्च, १९५७ को प्रधान मंत्री का पद ग्रहण किया, किन्तु पुनः सितम्बर १९५८ में त्यागपत्र देते हुए अपने स्थान पर जनरल नी विन को प्रधान मंत्री नियुक्त किया।

स्वतंत्रता की इस प्रथम दशी में ऊ नू सरकार द्वारा अपनायी गयी आन्तरिक नीति को सामान्यतया समाजवादी नीति कहा जा सकता है। इनके समय में संचार-साधनों का राष्ट्रीयकरण किया गया, क्योंकि उसे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का मौलिक आधार माना जाता था। क्षति-पूर्ति की भुगतान सम्पत्ति के मूल स्वामियों को, जो मुख्य रूप से ब्रिटिश और भारतीय थे, किया गया। दोनों—ब्रिटेन और भारत इसे परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त मानते हुए इस नीति के कार्यान्वयन से सहमत थे। ब्रिटेन ने वास्तव में इस नीति को कार्यान्वित करने में सहायता भी पहुँचायी। कोलम्बो-योजना, संयुक्त-राष्ट्र-संघ और संयुक्त-राज्य की सहायता से सरकार ने शक्ति अर्जित करते हुए अपनी कुछ परियोजनाएँ भी पूरी कीं और देश की आन्तरिक संघर्षशील स्थिति में जहाँ तक सम्भव हुआ, इसने आर्थिक क्षति पूरी करने का प्रयास किया। विदेशी मुद्रा-व्यवस्था की शर्तें पूरी करने के समझौते के साथ ब्रिटेन के बर्मा से हटने पर उसे सामन्तवाद या उपनिवेशवाद के प्रश्नों के विवाद से हट कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने में आसानी हुई।

विदेशी सम्बन्ध

तिस पर भी, बर्मा—थाईलैण्ड की भाँति अपने को संयुक्त-राज्य या ब्रिटेन के साथ

सम्बद्ध नहीं करना चाहता था। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि इसकी विदेशी नीति भारत की तटस्थतावादी नीति की भाँति एशियाई मामलों में भारत के नेतृत्व को स्वीकार किये विना, जिससे उसके साम्राज्यवाद के आरोपित होने का भय था, स्थिर की गयी थी। अतः बर्मा ने १९५४ के कोलम्बो-सम्मेलन में भाग लिया, जिसमें अप्रैल, १९५५ में एशियाई अफ्रीकी देशों का बाँदुंग-सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया गया था। पहले बर्मा ने जनवादी चीनी गणराज्य की केन्द्रीय जनवादी सरकार को (दिसम्बर, १९४९) में मान्यता प्रदान की थी और उसके प्रतिनिधियों का जून, १९५० में आदान-प्रदान भी हुआ था। बर्मा की सरकार ने भी भारत-सरकार की भाँति जापान की शान्ति-सन्धि पर अन्य कारणों के अतिरिक्त जापानी भूमि पर विदेशी (अमेरिकी) सेना के बने रहने के कारण हस्ताक्षर करना अस्वीकृत कर दिया था। फिर भी, ५ नवम्बर, १९५४ को जापान के साथ एक अलग शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर किया गया, जिसमें जापान ने देश-वापसी की क्षति के भुगतान के लिए वस्तुगत और तकनीकी सहायता के रूप में २५ करोड़ स्टर्लिंग देना स्वीकार किया। और अन्ततः बर्मा ने बागुइयो (मनीला) सम्मेलन में भाग लेने का निमंत्रण और "सीटो" में सम्मिलित होने का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया।

दूसरी ओर बर्मा ने कोरिया में—सैनिक अतिक्रमण रोकने के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रयास के साथ सहयोग करते हुए अपनी सेना भी भेजी थी और चीन के साथ सैनिक सामानों का व्यापार करना बन्द कर दिया था। इसके बाद समय आने पर उसने चीन से खदेड़े गये राष्ट्रवादी चीनियों और राष्ट्रीय सैनिकों को अपने क्षेत्र में शरण लेने पर उनके विरुद्ध तत्क्षण कोई कार्रवाई नहीं की थी। किन्तु बाद में जब इन शरणार्थी चीनियों ने अपने को सीमा पर स्थिर करना आरम्भ किया, तो उसके लिए यह सहन करना कठिन हो गया और उसने उन्हें वहाँ से हटाने के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ से माँग की। १९५३ में इन शरणार्थियों को वहाँ से हटाने का कार्य का पर्यवेक्षण करने के लिए एकत्रित राष्ट्रीय सैनिक समिति बनायी गयी, जिसमें थाईलैण्ड, संयुक्त-राज्य और राष्ट्रवादी चीन को सम्मिलित किया गया। इस समिति के पर्यवेक्षण में सैनिक शरणार्थियों को वहाँ से हटाने का कार्य १९५४ में पूरा करते हुए बर्मा से सभी छापामारों को, जिन्हें निष्कासित करने पर जोर दिया गया था, हटा दिया गया। फिर भी वहाँ लगभग ६००० कम्युनिस्ट विरोधी चीनी बच गये। उनको हटाने के लिए भी १९५४ में राष्ट्र-संघ से बार-बार माँग की जाती रही। फिर १९५६ में जब बर्मा की सीमा पर कम्युनिस्ट सेनाएँ देखी गयीं, यह प्रश्न स्थगित कर दिया गया। चीन का यह कार्य चीन के पक्ष में सीमा निर्धारण का प्रश्न हल करने के उद्देश्य से किया गया था। कम्युनिस्ट सेनाओं

को वापस करने के लिए १९५६ और १९५७ में वार्ता चलती रहीं, जब सीमा के पुनर्निधारण की शर्तों पर समझौता किया गया।

सरकार के सामने सबसे गम्भीर समस्या देश में आवश्यकता से अधिक बचे हुए चावल को, जिसका उत्पादन युद्ध के पहले के स्तर पर पहुँच गया था, लाभ के साथ बेचने के सम्बन्ध में थी। देश की अर्थ-व्यवस्था में चावल के उत्पादन का प्रधान स्थान था, और इसके कृषि-कार्य में लगी कुल १.७ करोड़ एकड़ भूमिमें से एक करोड़ एकड़ भूमि पर पैदा किया जाता था। युद्ध के बाद की स्थितिमें में, १९५१ में सरकार को इस चावल बचत को विश्व-बाजार में ऊँचे मूल्य पर बेचने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ा। सामान्य बाजार में इसे लाभप्रद मूल्य पर बेचने की समस्या, इसका और देशों में उत्पादन बढ़ने के कारण बड़ी जटिल हो गयी, अतः इसका दाम और गिर गया, यह कठिनाई संयुक्त-राज्य द्वारा कुछ एशियाई देशों को संकट दूर करने के लिए अपने कृषि-उत्पादनों को बाजार भाव से भी कम मूल्य पर बेचने के कारण और बढ़ गयी थी। परिणामस्वरूप बर्मा के लिए सीधे विनिमय आधार पर माल के लिए निस्तारण के लिए कम्युनिस्ट देशों के साथ अधिकाधिक व्यवहार करना पड़ा। अतः १९५५ में सोवियट संघ ने दो लाख टन चावल खरीदना और उसके बदले औद्योगिक उपकरण देना स्वीकार किया। ऐसे ही समझौते कम्युनिस्ट चीन, पोलैण्ड, हंगेरी, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवेकिया और रूमानिया के साथ भी किये गये। इन समझौतों से बर्मा अपने विदेशी व्यापार की अधिकाधिक परिसम्पतियाँ निश्चित दर पर कम्युनिस्ट चीन को देने के लिए बचनबद्ध था, जिससे इसने शीघ्रही यह पाया कि स्टर्लिंग और डालर क्षेत्र के देशों से आवश्यक क्रय के लिए अर्थ-व्यवस्था करना उसके लिए बहुत कठिन हो गया है। विश्व बाजार में चावल के मूल्य में वृद्धि होने पर भी बर्मा पूर्व समझौतों के कारण अपने चावल का कम मूल्य पर विनिमय करने के लिए वचनबद्ध था, अन्यथा उसे इसका बढ़ा हुआ मूल्य प्राप्त हुआ होता। बर्मा की विशेष रूप से उपभोज्य पदार्थों की आवश्यकताएँ चावल के बदले में देने में कम्युनिस्ट देश असफल रहे, जिससे पूर्व विनिमय-व्यवस्था के विरुद्ध पर्याप्त असंतोष जागृत हुआ।

परिणामतः १९५७ में आर्थिक समस्या सुलझाने के लिए पुनः गैर-कम्युनिस्ट देशों के साथ थोड़ा-बहुत व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना शुरू किया गया। इसके लिए संयुक्त-राज्य से चार करोड़ स्टर्लिंग ऋण लिया गया और इसी प्रकार का ऋण भारत ने भी उसे दिया। इसमें रुचि लेने वाले कुछ और देशों ने भी विश्व-बैंक पर बर्मा को उधार-खाते की सुविधा प्रदान की। पूर्व-घोषित आठ वर्षीय योजना के स्थान पर

एक चार वर्षीय योजना बनायी गयी। इस योजना में कुछ सरकारी उद्योगों के स्थान पर निजी उद्योगों की पुनःस्थापना करने की व्यवस्था की गयी।

(५) मलाया

ब्रिटिश-मलाया द्वीप, थाईलैण्ड और बर्मा के दक्षिण, उस ओर बसा हुआ है, जिसे युद्ध के पूर्व नीदरलैण्ड पूर्वी द्वीप-समुह (इण्डोनेशिया) के नाम से पुकारा जाता था। अतः यह इण्डोनेशिया और दक्षिणी पूर्वी एशिया के महाद्वीपीय क्षेत्रों को जोड़ता है। इस भौगोलिक स्थिति में वह अपनी परम्परागत संस्कृति से एक सम्पन्न देश है, क्योंकि मलाया और इण्डोनेशिया दोनों में स्थित मलयाई जनता प्रधानतः मुसलमान है।

जापानी दखल के पहले दीर्घकालीन ब्रिटिश-शासन के कारण यहाँ परोक्ष और अपरोक्ष दोनों तरह की शासन-पद्धतियों का अनुसरण किया गया, इसमें पहली पद्धति का प्रयोग साम्राज्यिक उपनिवेश और दूसरी पद्धति का प्रयोग पाँच असंबद्ध मलायाई राज्यों और कुछ कम सीमा तक चार संघबद्ध राज्यों में किया गया। पाँच स्वतंत्र राज्यों ने प्रमुख रूप से मलायाई प्रारूप की सरकार को बनाये रखा, गोकि इसके शासकों को केवल मलायाई धर्म और धार्मिक रिवाजों के अतिरिक्त अन्य मामलों पर ब्रिटिश सलाहकारों की राय लेने की आवश्यकता पड़ती रही।[३८] इसी तरह की स्वायत्तता संघ-बद्ध राज्यों में प्रत्येक ने अपने स्वराष्ट्र सम्बन्धी मामलों में अपनायी थी, जिसके अंतर्गत शिक्षा, वन, जन-स्वास्थ्य के कुछ अंग, कृषि और इस्लामी कानून सम्मिलित थे।[३९] अन्य मामलों में उच्चायुक्त को संघीय परिषद् (फेडरल कौंसिल) के परामर्श पर कार्य करना पड़ता था। वही व्यक्ति (उच्चायुक्त) ब्रिटिश अधिकार के प्रतिनिधि के रूप में उपनिवेश का गवर्नर और संरक्षित राज्यों का उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) होता था, किन्तु पहले में सरकारी तंत्र अन्य साम्राज्यिक उपनिवेशों के समान था, जब कि दूसरे में उसके अधिकारों का प्रयोग प्रत्येक राज्य के नियुक्त सलाहकार के माध्यम से उच्चा-युक्त द्वारा किया जाता था। वह अपने परामर्श को सुल्तान के अधीन और उसके नीचे स्थापित राज्य-सत्ता के माध्यम से राज्य की नीति के रूप में परिवर्तित करता था।

युद्धपूर्व और युद्धकालीन घटनाएँ

मलाया में जिन स्थितियों का विकास हुआ, उनकी एक विशेषता उस प्रायद्वीप का जातीय स्वरूप था, जिसने ब्रिटिश शासन के तत्त्वावधान में राजनीतिक घटनाओं को भी अपने निदेश से बहुत-कुछ प्रभावित किया। मलायाई ही वहाँ के स्थायी निवासी थे, जिन्होंने इस देश को अपना आदिम देश माना था, उनके अलावा वहाँ कुछ अल्पसंख्यक——किन्तु अपनी जन-संख्या में बराबर वृद्धि करते हुए चीनी और भारतीय बसे हुए थे।

१९३७ की कुल जनसंख्या के ४२.४ प्रतिशत मलायाई थे, चीनियों की संख्या कुल जनसंख्या का ४१.३ प्रतिशत और भारतीयों की १४.८ प्रतिशत थी[४०]। साम्राज्यिक उपनिवेश में चीनी निर्णायक बहुमत में थे। केवल असंधबद्ध राज्यों में ही मलयाइयों की प्रधानता पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता था।

देश की अर्थव्यवस्था में, मलायाई—चावल-उत्पादन तथा अन्य कृषि-पेशों में छोटी सम्पत्ति वाले कृषकों और मछुओं के रूप में स्थित थे। रबर के वृक्षारोपण एवं उत्पादन, उद्योगों—जिनमें खान तथा टिन गलाने के उद्योग सम्मिलित हैं तथा अन्य और व्यापार या तो यूरोपियों या चीनियों के हाथ में थे, जिसमें अल्प मात्रा में कुछ भारतीय और जापानी भी थे, जिनमें जापानियों का लोहे की खानों पर नियंत्रण था। अतः मलाया में अंग्रजों के बाद चीनियों की ही आर्थिक स्थिति सबसे मजबूत थी।

ऐसी परिस्थितियों में यदि युद्ध के पहले मलायाइयों में सशक्त राष्ट्रीय भावना का उद्रेक हुआ होता, तो इसने चीन-विरोधी मार्ग अपनाया होता, क्योंकि वहाँ उन्हीं की संख्या और सम्बन्ध सबसे अधिक था, अंग्रेज अपने प्रधान आर्थिक प्रभाव के रहते हुए भी, मलायाइयों द्वारा (और चीनी तथा भारतीयों द्वारा भी) वास्तव में एक दूसरे की आपस में "रक्षा करने वाले" समझे जाते थे। किन्तु युद्ध ने इस देश में भी उग्र राष्ट्रीयता का उदय किया। मलयाई, पश्चिमी विचारों के अनुसार उस समय वास्तव में राजनीति से अनभिज्ञ समझे जाते थे और १९४१ के पूर्व चीनी और भारतीय मलाया में पैदा होने पर भी अपने राजनीतिक हित को अपने इस अधिवासी देश से अधिक चीन और भारत के सम्बन्ध के संदर्भ में ही देखते थे। इसके कारण और चीनियों के कारण चीन में ब्रिटेन और चीन के बीच विरोध जागृत होने के समय, कुछ ब्रिटिश विरोधी भावना पैदा हो गयी थी, किन्तु इससे मलाया में उनका न तो अराजनीतिक दृष्टिकोण बदला और न उन्होंने अपने हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से ब्रिटेन के प्रति पहले से बनी अपनी भावना कम की।

उपनिवेश और संरक्षित राज्य आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर थे, केवल अपने बाहरी रूप के कारण अपनी रक्षा हेतु उन्हें साम्राज्यिक सुरक्षा की आवश्यकता थी। और इस उद्देश्य से भी, जिसमें व्यय के एक हिस्से का भार साम्राज्यिक शासनाधीन क्षेत्र द्वारा वहन करने की आशा की जाती थी, इसलिए अन्य राज्यों ने ऐच्छिक सहायता ही प्रदान की। सुरक्षा की समस्या समुद्र की ओर से आक्रमण होने की संभावना में निहित थी, इसलिए इसके लिए सिंगापुर में केवल थोड़े-से सैनिक रखते हुए एक दृढ़ समुद्री युद्ध-अड्डा और हवाई सैनिक अड्डा बनाने में ही विशेष रूप से अर्थ-व्यय किया गया था।

दुर्भाग्यवश शायद इसी कारण, इस द्वीप पर जापानियों ने इतनी आसानी से अधिकार कर लिया था।

सुरक्षा पर व्यय का विशेष बोझ न पड़ने के कारण आय को विशेष रूप से जन-सेवाओं के विकास में खर्च करना सम्भव था। संचार-साधन समुन्नत किये गये थे, जिनके अन्तर्गत १,१८८ मील लम्बी पक्की सड़क सिंगापुर से श्याम में बंकांक तक बनायी गयी थी। जन-स्वास्थ्य और सफाई के कार्यों में भी बहुत अधिक प्रगति हुई थी। सरकारी निधि से आरम्भिक शिक्षा, जो वर्नाक्यूलर स्कूलों में मलायाइयों के लिए निःशुल्क थी, और सीमित माध्यमिक एवं उच्च (कालेज) शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी। एक बहुत अच्छा चिकित्सा-विद्यालय (मेडिकल स्कूल) खोला गया और १९२८ में एक 'रैफिल कालेज' स्थापित किया गया था, किन्तु "रैफिल कालेज" से प्राप्त सनद, अंग्रेजी विश्वविद्यालयों की स्नातकीय कक्षाओं में भरती के लिए मान्य नहीं मानी जाती थी,[१] गोकि "रैफिल" प्रशिक्षित अध्यापकों को मलाया में विद्यालयों के लिए मान्य समझा जाता था। उच्च शिक्षा के लिए कुछ चुने हुए विद्यार्थी प्रति वर्ष इंग्लैण्ड भेजे जाते थे। इन सेवाओं तथा अन्य नागरिक सेवाओं के लिए, साम्राज्यिक शासन-क्षेत्र में आय–तम्बाकू, शराब और पेट्रोलियम पर लगाये कर से, अफीम के एकाधिकार से और अन्य तरह की आय-कर सेवाओं से प्राप्त होती थी। असंघबद्ध-राज्यों में चुंगी और आबकारी कर आय के प्रधान स्रोत थे। और संघबद्ध राज्यों की आय का अतिरिक्त प्रधान स्रोत टिन और साथ ही रबर का निर्यात-कर था, जिससे असंघबद्ध राज्यों को भी पर्याप्त आय होती थी। अतः राजकीय सेवाओं की व्यवस्था ऐसे करों की आय से हो जाती थी, इसलिए मलायाई किसानों और छोटे उत्पादकों पर कर नहीं लगाया गया था। इसने अन्य उपनिवेशों की अपेक्षा इस क्षेत्र में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति को अधिक लाभप्रद सिद्ध किया था, गोकि इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मलाया में ब्रिटिश शासन को, जैसा अनेक अन्य क्षेत्रों में भी समझा गया था, विधि-सम्मत नियमों और तटस्थ प्रशासन का प्रतिरूप माना जाता था।

जिस प्रकार पटुए का निर्यात करने वाले देश बर्मा और फिलीपाइन्स की समृद्धि विदेशी परिस्थितियों पर निर्भर थी, उसी प्रकार मलाया भी अपने टिन और रबर की खपत के लिए बाहरी विश्व के बाजार पर निर्भर था। इन दोनों उद्योगों में अधिकतर पूँजी अंग्रेजों ने लगायी थी। टिन उद्योग में लगी पश्चिमी सम्पत्ति में सबसे बड़ा हिस्सा अंग्रेजों का था। गोकि इसमें अनेक यूरोपीय देशों—जिसमें फ्रांस प्रमुख था—और संयुक्त-राज्य की भी सम्पत्ति लगी हुई थी। टिन-उद्योग में एशियाई देशों की लगी सम्पत्ति विशेषतः चीनियों की थी, किन्तु कच्चे लोहे के खनिज-उत्पादन में जापानियों का

एकाधिकार था। रबर-सम्पदा का ७५ प्रतिशत यूरोपियों, १६ प्रतिशत चीनियों, ४ प्रतिशत भारतीयों और ५ प्रतिशत जापानियों तथा अन्य एशियाइयों के हाथ में था।[२] इसमें १ २,५०,००० एकड़ (यूरोपियों के अधिकार में स्थित) क्षेत्र, जो छोटे स्वामित्वों—प्रधानतः मलायाई, किन्तु चीनियों और भारतीयों के हाथ में भी था, नहीं शामिल किया गया है। टिन और रबर के लिए प्रधान बाजार संयुक्त-राज्य में था, किन्तु मलाया के लिए निःशुल्क व्यापार नीति अपनाने के बावजूद साम्राज्यिक प्राथमिकता के सिद्धान्त के अपनाने के पूर्व तक, जब तक १९३० के निकटवर्ती वर्षों में जापान ने अपने सस्ते बने जापानी सामानों से बाजार भर नहीं दिया, उसके आयात का प्रधान साधन ब्रिटेन था। युद्ध-काल में लगाये प्रतिबन्ध के पहले भी उक्त दशी में उसके अवरोधहीन (निःशुल्क) व्यापार पर जापानियों के आयात पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे।

अन्य एशियाई देशों की भाँति मलाया पर भी युद्ध का महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। इन परिणामों में एक परिणाम यहाँ की आर्थिक स्थिति को क्षत-विक्षत करने पर पड़ा था। लड़ाई में एक तो भू-स्खलन नीति अपनायी गयी थी और दूसरे जापानी दखल के बाद छापामार लड़ाई से भी बड़ी क्षति हुई थी। किन्तु संयुक्त-राज्य, ब्रिटेन और सामान्य रूप से यूरोप ने उसके टिन और रबर के लिए जिस प्रकार का बाजार प्रस्तुत किया था, वैसा बाजार उपलब्ध कराना जापान के लिए असम्भव था। और चार वर्षों तक मलाया के लिए आवश्यक सामानों का आयात करने में जापान असमर्थ था, जिसके कारण देश की अर्थ-व्यवस्था में न केवल गड़बड़ी पैदा हुई, बल्कि वह काफी गिर भी गयी। अतः युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन के सामने इस देश की आर्थिक पुनःस्थापना की पर्याप्त रूप से महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित हुई और मलाया में उत्पादन की पुनःस्थापना का बाकी संसार के लिए, इसकी विशेष स्थिति के कारण बहुत महत्त्व था।

जापानियों के सांस्कृतिक कार्यक्रम ने भी युद्ध के बाद जटिल स्थिति पैदा कर दी, जो उसके मूल निवासियों की (जापानियों) की स्थिति को सुरक्षित करने में प्रकट हुई थी। मलाया में दखल की स्थितियों ने विशेष रूप से मलायाइयों के भीतर राजनीतिक चेतना जागृत की और उनमें राजनीतिक प्रौढ़ता बढ़ायी। मलायाई राष्ट्रीयता के विकास में, नव राज्यों और एक उपनिवेश के होने के कारण जो स्थानीय बाधाएँ थीं, कम-से-कम वे जापानियों के सैनिक शासन में पूरे देश के केन्द्रीकरण के कारण बहुत कुछ कम हो गयी थीं। जापानियों द्वारा अपने दखल की समाप्ति के निकटवर्ती समय में उनके स्व-शासन की स्थापना के लिए किये गये प्रयास के कारण भी मलायाइयों में राजनीतिक आत्म-चेतना का विकास हुआ। अतः मलाया में भी, जैसा आगे सिद्ध हुआ, अंग्रेज—

युद्ध के बाद देश की राजनीतिक पुनःस्थापना की योजना बनाने में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ निर्णय नहीं ले सके।

मलायाई संगठन और संघ

अंग्रेज मलाया में सितम्बर, १९४५ के प्रारम्भ में सैनिक शक्ति के साथ पुनः प्रविष्ट हुए और उन्होंने यह सोचा था कि जापानी स्वतः आत्मसमर्पण नहीं करते, तो उन्हें निकाल बाहर करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जायगा। भू-गर्भित (गुप्त) सेना के साथ सम्पर्क स्थापित किया गया और सिविल गवर्नमेण्ट का कार्य ब्रिटिश सैनिक प्रशासन अधिकारियों को हस्तान्तरित कर दिया गया।[४३] देश को तब तक सैनिक प्रशासन में रखना था, जब तक प्रशासन-पद्धति में परिवर्तन की योजना पूरी तरह परिपक्व न हो जाय। जैसा अक्तूबर, १९४५ में घोषित किया गया था, सामान्य रूप से यह योजना बनायी गयी थी कि नव संरक्षित राज्यों और पहले के सभी साम्राज्यिक उपनिवेशों को मिलाकर एक मलायाई संघ स्थापित किया जायगा, जिसमें सिंगापुर को नहीं मिलाया जायगा और जो अलग उपनिवेश के रूप में बना रहेगा। संघ के अन्तर्गत एक सामान्य मलायाई नागरिकता की स्थापना करनी थी। अतः विभिन्न राज्यों में सरकार के मालयाई स्वरूप को समाप्त करने की अपेक्षा, मलायाई राज्यों के पृथक्करण को समाप्त करने की योजना बनायी गयी थी। ब्रिटिश-अधिकार के प्रतिनिधित्व के लिए, संघ के गवर्नर की नियुक्ति करनी थी और सिंगापुर उपनिवेश के लिए एक दूसरे व्यक्ति को वहाँ का गवर्नर नियुक्त करना था। दोनों गवर्नरों को विधान और नियुक्ति के सम्बन्ध में काफी विस्तृत अधिकार प्रदान किया जाता था, किन्तु सीमित रूप से इस योजना ने स्वायत्त-शासन के संगठन का सम्वर्धन किया, जिससे उस विधान-परिषद् का सरकारी नियंत्रण कम हो सके, जिसकी स्थापना और संगठन सुल्तान की परिषद् के रूप में गवर्नर को उन विषयों पर सलाह देने के लिए किया जाना था, जिसे गवर्नर सम्मति प्राप्त करने के लिए सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत करता था और जिसे मलायाई सलाहकार परिषद् की सिफारिश पर धार्मिक मामलों में विधान लागू करना पड़ता था।

संघ के सम्मुख सबसे प्राथमिक कार्य युद्ध-पूर्व की ब्रिटिश और अनेक सुल्तानों के बीच हुई संधियों को सुधारने का था, जिनके अनुसार संरक्षण लागू रहा। किन्तु थोड़े समय में ही, जब इसने सुल्तान के समझौते पर कार्रवाई आरम्भ की, तो संघ की योजना का मलाया में विरोध बढ़ने लगा। मलायाइयों ने विरोध करने के लिए "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" की स्थापना की। दो कारणों से मुख्यतया ये विरोध किये जा रहे थे—(१). क्योंकि नयी संधियों का मलयाई रीति और परम्परा से विरोध था

और (२) क्योंकि संघीय शर्तों से मलयाई जाति की निष्ठा और स्वाधीनता को खतरा था, विशेष रूप से मलाया में संघीय नागरिकता की व्यवस्था इसके विरुद्ध थी।

विचार-विमर्श के बाद, संघ की ब्रिटिश-योजना में मलायाई-ब्रिटिश-कार्य-समिति द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों के आधार पर सुधार किया गया। नागरिकता के सम्बन्ध में और कठोर शर्तें स्वीकृत की गयीं। ब्रिटिश अधिकारों का प्रतिनिधित्व, संघ के लिए नियुक्त गवर्नर के स्थान पर एक उच्चायुक्त द्वारा किया जाना स्वीकृत हुआ और सुल्तान की परिषद्, संघीय विधानांग और राज्य की कार्यकारिणी और विधान-सभाओं के अधिकार बढ़ाये गये। नयी योजना लागू करने के लिए सुल्तान के साथ संधि करने के निमित्त पुनः वार्ता करने की आवश्यकता पड़ी।

इस योजना का समर्थन "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" ने किया, जिसने संघ की योजना का विरोध किया था, इसके तथा सुल्तान के इस सम्बन्ध में प्रगट विचारों पर ब्रिटेन ने आगे ध्यान दिया। तथाकथित नये संवैधानिक प्रस्तावों का विरोध एक नव संगठित—"संयुक्त कार्रवाई के लिए संगठित पूर्ण मलायाई परिषद्" द्वारा किया गया, जिसमें चीनी, भारतीय और यूरोप—एशिया के अनेक दल संगठित किये गये थे। एक दूसरा विरोधी दल—"मलायाई राष्ट्रवादी पार्टी"—संयुक्त कार्रवाई के लिए संगठित परिषद् से अपनी प्रथम बैठक के बाद अलग हो गयी, किन्तु उसने संयुक्त कार्रवाई के लिए एक दूसरी मलायाई परिषद् स्थापित की, जिसने भी उसी प्रकार का कार्यक्रम अपनाया। विरोधियों ने एक "संगठित मलाया" की माँग की, जिसमें सिंगापुर को भी सम्मिलित किया जाय और जो पूरे मलाया के लिए एक निर्वाचित केन्द्रीय विधानांग द्वारा स्वायत्त शासन करे और जिसके अन्तर्गत मलाया के सभी स्थायी निवासियों को नागरिकता का अधिकार प्रदान किया जाय।[८८]

प्रमुख विभेद दो विषयों—(१) नागरिकता के प्रश्न पर और (२) स्वायत्त सरकार की स्थापना के स्वरूप पर थे। पूर्ण संघ का प्रश्न, जिसमें सिंगापुर को भी मिलाने की माँग की गयी थी, इन दोनों प्रश्नों से बहुत बड़े अंश तक सम्बद्ध था। नागरिकता का प्रश्न, भारतीयों के भारत के साथ सम्बद्ध प्रधान राजनीतिक हित के कारण स्पष्टतया अवांछनीय हो गया, क्योंकि भारत को स्वाधीनता प्राप्त होना निश्चय-सा हो गया और चीनियों की भी मलाया की राजनीति से अधिक चीनी राजनीति में रुचि जागृत हुई। इन दोनों के दलों ने अनुभव किया कि जन्म-स्थान से अधिक महत्त्व उन्हें अपने "मूल देश" के साथ स्थापित सम्बन्ध को देना है और इसलिए उन्होंने मलाया के साथ भारत और चीन के सम्बन्धों के अनुरूप पार्टी-संगठन की दिशा निर्धारित करना आरम्भ किया। अतः भारतीयों ने १९४६ के अगस्त महीने में "मलायाई भारतीय कांग्रेस" की

स्थापना की और चीनी दो दलों––कुमितांग और कम्युनिस्ट संगठनों में विभाजित हो गये। दोनों दलों ने दोहरी नागरिकता (अपने देश की भी और मलाया की भी) प्राप्त करना अधिक उपयुक्त समझा। इनमें किसीने मलाया राज्य के साथ अपने मूल सम्बन्ध को स्वीकार करना नहीं चाहा। प्रत्येक ने अपनी स्थानीय सुरक्षा चाही और जब तक इन्हें अपने हित के लिए स्थानीय राजनीतिक कार्रवाइयाँ करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, तब तक उन्होंने मलाया में किसी राजनीतिक कार्य में भाग लेना नहीं चाहा।

स्वायत्त-शासन की माँग स्वाभाविक रूप से युद्धकालीन अनुभवों के कारण और युद्ध के अन्त में फैले सामान्य वैचारिक वातावरण के कारण उदित हुई। फिर भी मलाया में यह माँग उदारवादी अल्पसंख्यकों द्वारा की गयी थी, न कि मलाया के बहु-संख्यकों द्वारा, जो "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" का प्रतिनिधित्व करते थे और जिन्होंने सुल्तान की स्थिति को सुरक्षित रखने का समर्थन किया था और संघ को स्वायत्त-सरकार के अन्तर्गत न रख कर, उसे अंग्रेजों के निदेशान्तर्गत रखना अधिक उपयुक्त माना था, चाहे उसमें स्वाधीनता पूर्णरूपेण सन्निहित हो या न हो—जो उनकी प्रधान शर्त नहीं थी। इसके विपरीत मलायाई विरोधी पार्टी में उदारवादी व्यवसायियों, विद्यार्थियों और मजदूर दलों का प्राधान्य था, जो दृढ़ इंडोनेशियाई दिक्-स्थिति से सम्बद्ध थे। इनकी योजना का लक्ष्य स्वाधीन मलाया की स्थापना करना था, जिसमें मलायाई संघ और सिंगापुर दोनों सम्मिलित हों और जिसका इंडोनेशिया के साथ सहयोग हो। यह पार्टी, ब्रिटिश-विरोधी और सुल्तान-विरोधी भी समझी गयी थी।[८५] इसने और दृढ़ स्थानीय स्वायत्त सरकार की स्थापना पर जोर दिया, जिसमें मलायाई नियंत्रण की सुरक्षा निहित हो।

निरन्तर विरोध के बावजूद भी १९४७ में स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार युद्ध के बाद मलाया की सरकार बनाने की योजना––उसे संघबद्ध करने की ही थी, जिसके अनुसार धीरे-धीरे स्वायत्त शासन की स्थापना करने का विचार किया गया था। यह स्थिति १९५३ तक बनी रही। युद्ध के बाद श्रम-संगठन की प्रगति, विचार-प्रकाशन के साधनों में वृद्धि, विरोध के आरम्भ के साथ बहुतायत से राजनीतिक पार्टियों का उदय—ये अब ऐसे संकेत थे, जिनसे प्रतीत हुआ कि औपनिवेशिक शक्तियों और शासक वर्ग के लिए सरकार की समस्या, १९४१ के पूर्व प्रायद्वीप के आरम्भिक राजनीतिक वातावरण की तुलना में निरन्तर जटिल होती गयी है। फिर भी गैर-मलायाई तथा उसके साथ-साथ स्वयं मलायाई क्षेत्रों में––नयी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में, १९४८ में पूरी तरह शान्ति स्थापित होने के पश्चात् घटना-क्रम और उसकी गंभीरता पर्याप्त परिवर्तित हुई। मलाया में रबर उत्पादन पुनः आरम्भ हुआ, किन्तु इसे सभी संश्लिष्ट

स्पर्धा का सामना करते हुए खपत के लिए पुनः बाजार में अपनी स्थिति सुदृढ़ करनी थी। और सामान्य आर्थिक पुनःसमंजन की समस्या के साथ उसके सामने ——पूर्वी एशिया में समष्टिवाद के विस्तार से प्रादुर्भूत कूटनीति के कारण उत्पन्न स्थिति में, विक्री आदेश प्राप्त करने और तदनुरूप उत्पादन बनाये रखने की भी समस्या थी। फिर भी, राजनीतिक दृष्टि से स्थिर संसार और सूदूर पूर्व के वातावरण में, मलाया में, कम-से-कम युद्ध के पहले के——अपने को सम्पन्न बनाने के साधन——पुनः प्राप्त किये जा सकते थे और इससे मलायाई संगठन की नूतन युद्धोत्तर-योजना को भी सामान्य रूप से स्वीकार किया जा सकता था।

मलाया में समष्टिवाद

संसार की राजनीतिक स्थिरता का यही प्रश्न अभी पूरी तरह हल नहीं हुआ था। मलाया में तथा साथ ही उस क्षेत्र के अन्य देशों में कम्युनिस्ट विरोध की स्थिति के कारण यह निश्चय था कि राजनीतिक और आर्थिक पुनःस्थापना के प्रयत्न के साथ बराबर अशान्ति लगी रहेगी। मलाया में अपनायी गयी दुर्नीति भय उत्पन्न करने और आर्थिक तोड़-फोड़ करने की थी, यहाँ की आन्तरिक स्थिति के कारण जन-समूह द्वारा संगठित विद्रोह करने का प्रश्न गौण था, किन्तु इसने जन-शक्ति स्थापित करने और बनाये रखने के प्रश्न को प्रभावित किया। कम्मुनिस्ट कार्रवाइयों को बाहर से, विशेष रूप से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध लोगों से——प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और यह चीन में कुमितांग की शक्ति क्षीण होने और कम्युनिस्ट सेनाओं के दक्षिण दिशा की ओर बढ़ने से और समर्थ हो गया। इसने संयुक्त राज्य और सोवियत-संघ के बीच मतभेद बढ़ाने में सहायता की, जिससे संयुक्त राज्य ने सीधे तथा विन्यास-योजना के सम्बन्ध में मलायाई उत्पादन को पुनःस्थापित करने में विशेष रुचि ली, ताकि मलाया में विद्रोहियों को दबाने के लिए मलायाई सरकार को हथियार बेचे जा सकें। संभावित शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से मलाया का वातावरण, कम्युनिस्टों के लिए और देशों की अपेक्षा अधिक अनुपयुक्त था, किन्तु उनके कार्य-कलाप मलाया की आर्थिक पुनःस्थापना को क्षत-विक्षत करने और इसके द्वारा अन्य विषयों पर भी संघर्ष जागृत करने के लिए पर्याप्त थे। कम्युनिस्ट, मलाया में ब्रिटिश सेनाओं का सामना करने में कुछ समय तक समर्थन हुए, क्योंकि उनके सैनिक केन्द्र जंगली भाग में स्थित थे, जिसका आसानी से पता पाना कठिन था और वे माओत्से तुँग की इस उक्ति के आधार पर कि कम्युनिस्टों को जन-सागर में मछली की तरह पैठकर समाहित हो जाना चाहिए, इस कार्य में सफलता से लगे रहे। कम्युनिस्ट चीन के खुलकर समर्थन न कर पाने से परिस्थिति प्रतिकूल होने

का भय हो सकता था, इसलिए उसने सम्भवतः इस प्रकार का आवरणयुक्त समर्थन प्रदान किया। इसका दूसरा कारण राष्ट्रवादी अनुभूति का उदय भी था।

राष्ट्रवादी विचारों के उदय को दृष्टि में रखते हुए कम्युनिस्टों के बढ़ते हुए आतंक को दबाने के लिए, अंग्रेजों ने राष्ट्रवाद के विकास के लिए और छूट प्रदान की, ताकि कम्युनिस्टों के विरुद्ध सम्बन्धित सैनिक शक्तियों के कार्यों में पूर्णतया स्थानीय सहयोग प्राप्त कर समस्या शीघ्रता से सुलझायी जा सके।

१९५२ तक मलाया में कम्युनिस्ट आतंक बहुत गंभीर हो गया, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने, अक्तूबर १९५१ में मलाया में नियुक्त उच्चायुक्त की हत्या होने पर उनके स्थान पर जनरल सर जेरैल्ड टेम्पर को भेजा। इस नये उच्चायुक्त की देख-रेख में इन आतंकवादियों के विरुद्ध कड़ा अभियान शुरू किया गया, जिसमें कुछ सफलता भी मिली, किन्तु इसके बाद भी उनको समूल रूप से समाप्त नहीं किया जा सका। जनरल टेम्पर के अनुसार आतंकवादी, १९५४ तक, जब उन्होंने अपने पद से अवकाश ग्रहण किया; आक्रमण के भय से जंगलों की ओर चले गये थे और इनका आत्म-समर्पण अधिक कठिन हो गया था। कम्युनिस्टों का प्रधान उद्देश्य था—"(१) अपने और सशक्त कमान के लिए युद्धाधार तैयार करना, (२) जंगलों के निकटवर्ती गाँवों और नगरों में अपना अधिकार बढ़ाना, ताकि उन्हें आवश्यक सामानों की प्राप्ति हो सके और (३) राजनीतिक दलों और श्रम-संगठनों में घुसना तथा नगरों में गुप्त संगठन बनाना।

स्वायत्त-सरकार की प्राप्ति में प्रगति

इस समय तक मलाया के सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति, वहाँ स्वायत्त-सरकार की स्थापना करने की दिशा में प्रेरित हुई थी। जनरल टेम्पर को, उनकी नियुक्ति के समय मलायाई राष्ट्र के निर्माण का कार्य निरन्तर बढ़ाने और मलायाई जनता को उनके कार्यों को सम्हालने का अधिकाधिक उत्तरदायित्व देने का आदेश दिया गया था। इसको और बढ़ाने से संघीय सरकार के लिए मलाया में कम्युनिस्ट-समस्या स्वयं सुलझाने का और अधिक प्रयत्न करना संभव हो सका। यहाँ अपनायी गयी नीति वैसी ही थी, जैसी फिलीपाइन्स में मैगसेसे की थी। अतः १९५५ में कम्युनिस्ट विद्रोहियों को इस आश्वासन के साथ क्षमा-दान दिया गया कि उन सबको, जो कम्युनिस्ट कार्य छोड़ देते हैं, समाज में अपनी साधरण स्थिति प्राप्त करने में सहायता दी जायगी और वे, जो चीन जाना चाहते हैं, उन्हें वहाँ जाने की स्वीकृति दी जायगी। किन्तु इसके बाद बहुत कम ने आत्म-समर्पण किया। परिणामतः संधिवार्ता समाप्त होते ही सैनिक-कार्रवाइयाँ शुरू हो गयीं। १९५६ और १९५७ में भी इस प्रकार की रियायत प्रदान की गयी या अन्ततः

आत्म-समर्पण न करने पर उनके विरुद्ध तलवार (शस्त्र) का प्रयोग किया गया, इसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और १९५८ तक—अर्थात् कम्युनिस्टों के विरुद्ध निरन्तर १० वर्षों तक जंगल में ऐसा संघर्ष चलाये जाने के उपरान्त, यह समस्या समाप्ति के निकट आती प्रतीत हुई। १९५८ तक इस सफलता की प्राप्ति वस्तुतः मलायाई राष्ट्र-मंडल-सरकार के विरुद्ध अभियान के कारण हुई, जिसके अन्तर्गत रियायत देने के कार्य के विस्तार के साथ शस्त्र-प्रयोग की सीमा भी बढ़ायी गयी थी और निश्चित रूप से ब्रिटेन का औपनिवेशिक शासक के रूप में नहीं, राष्ट्रमंडल के सदस्य के रूप में इसमें वांछित सहयोग प्राप्त हुआ था।

१९४६ में स्थापित मलायाई संगठन को दबाकर १९४८ में जिस संघीय प्रशासन की स्थापना हुई, उसमें ब्रिटिश शासन द्वारा एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की गयी, एक कार्यकारी परिषद् और एक संघीय विधान-मंडल की स्थापना की गयी, जिनमें संघीय विधानमंडल के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर, उन्हें सरकारी और जातीय हितों के प्रतिनिधित्व के अनुसार नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी थी। अलग-अलग जातियों के आधार पर किये गये इस विभाजन से सरकार के अधिकारों का नियंत्रण—विशेष-तया उच्चायुक्त और कार्यकारी परिषद् के अन्तर्गत आ गया।

मलायाई, राजनीतिक दृष्टि से, "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" और "राष्ट्रवादी पार्टी", में विभक्त हो गये थे, पहले ने जैसा ऊपर कहा गया है—ब्रिटिश शासकों के अन्तर्गत "संघ" की स्थापना और सुल्तान की स्थिति बनाये रखने की नीति का समर्थन किया था, जो पूर्ण स्वाधीनता के साथ मिले या उसके बिना मिले और इस प्रकार उन्होंने विख्यात स्वायत्त शासन की माँग पर विशेष बल नहीं दिया था। इसका एक प्रधान कारण अल्पसंख्यक चीनियों का भय था, जो सिंगापुर के अलग किये जाने पर भी संघ में विद्यमान थे। दूसरी ओर विरोधी राष्ट्रवादी पार्टी का लक्ष्य स्वतंत्र मलाया की स्थापना करना था। वे चाहते थे कि इसमें मलायाई राज्यों, साम्राज्यिक उपनिवेशों और सिंगापुर को शामिल किया जाय और जो मुसलमान देश इंडोनेशिया के साथ सहयोग स्थापित करें। अपने इन उद्देश्यों के कारण 'विरोधी राष्ट्रवादी पार्टी', ब्रिटिश विरोधी और सुल्तान विरोधी थी, इसमें दूसरा विरोध इस कारण भी था, क्योंकि पार्टी मलायायी अधिकारों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए स्वायत्त शासन की स्थापना पर विशेष जोर देती थी।

चीनियों और भारतीयों ने मलायाई मामलों में अधिकाधिक रुचि लेते हुए भी मलाया के पार्टी-संगठन में भारत और चीन के संबंधों का विशेष ध्यान रखा। अतः भारतीयों ने अगस्त, १९४६ में 'मलायाई भारतीय कांग्रेस' और चीनी प्रथमतः 'मलायाई

चीनी संघ' में संगठित होते हुए भी कुमितांग और कम्युनिस्ट संगठनों में विभाजित हो गये। दोनों दलों में कोई भी कुछ समय के लिए मलायाई राज्य के प्रति अपनी कोई निष्ठा रखने का इच्छुक नहीं था। दोनों ने स्थानीय सुरक्षा चाही और उनमें किसी ने भी मलाया में कोई राजनीतिक कार्य तब तक नहीं करना चाहा, जब तक नये मलायाई राष्ट्रवाद के विरुद्ध उसे अपने हितों की रक्षा करने के लिए स्थानीय राजनीतिक कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसके लिए कम्युनिस्ट आतंकवाद से सम्बद्ध चीनियों के संगठन ने विशिष्ट कार्य किया।

स्वीकृत शर्त के अनुसार "मलयाइयों को अपने कार्यों की व्यवस्था का अधिकाधिक उत्तरदायित्व देने के लिए--निर्वाचन की किसी मान्य प्रणाली की स्थापना करने की आवश्यकता पड़ी। निर्वाचन की समस्या ने नागरिकता और स्वायत्त-शासन का प्रश्न एक साथ खड़ा कर दिया। इसमें पहले प्रश्न ने मलायाई, चीनी और भारतीय जातियों के विभाजन की समस्या उठायी। आरम्भ में वार्ता के लिए अंग्रेजों ने केवल दो संगठनों से सम्बन्ध रखा, जिनमें पहला मलायाई और दूसरा चीनी था, जिन्होंने सरकार के वर्तमान रूप-विधान के अन्तर्गत सुधार करना चाहा था, न कि पूर्ण स्वाधीनता की माँग की थी या संघीय कार्यों में कोई मूलभूत परिवर्तन करना चाहा था। इन दो रूढ़िवादी संगठनों—"संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" और "मलायाई चीनी संघ" ने १९५४ के आरम्भ में लंदन में एक संयुक्त प्रतिनिधि-मंडल, औपनिवेशिक सचिव के सम्मुख विधान-परिषद् की सदस्यता के निर्वाचन में देशी कार्यकर्त्ताओं के खड़े होने का अधिकार देने और गैर-नागरिक करार दिये गये वर्गों को मतदान करने का अधिकार देने तथा विधान-परिषद् की कुल सदस्यता में ३।५ भाग की निर्वाचन द्वारा पूर्ति करने आदि के सम्बन्ध में उसके सम्मुख तदनुरूप प्रश्न उपस्थित करने के उद्देश्य से भेजा। जब कि अंग्रेजों द्वारा कुछ रियायतें प्रदान की गयीं, विधान सभा में ३।५ सदस्यों को निर्वाचन के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान करने की माँग—पूर्व प्रस्तावित निर्वाचन और नामांकित सदस्यों के संतुलन के विरोध में अस्वीकृत कर दी गयी। इसके कारण "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ "और" मलायाई चीनी संघ" दोनों ने सरकार के साथ सहयोग करना स्थगित कर दिया और अपने सभी पार्टी सदस्यों को प्रशासकीय परिषदों—नगर स्तर से लेकर विधान-सभा के स्तर तक की परिषदों—से वापस बुला लिया।

इस असहयोग की चुनौती के बावजूद ब्रिटिश अधिकारियों ने सिंगापुर और मलायाई संघ में निर्वाचन का निश्चय पूर्ववत् बनाये रखा। चूँकि निर्वाचन स्वायत्त शासन की स्थापना की दृष्टि से एक ठोस कार्य होता, इसलिए अब सभी पार्टियों ने इसकी माँग शुरू की और "मलायाई राष्ट्रीय संघ" और "मलायाई चीनी संघ" ने निर्वाचन में भाग लेने

का निश्चय किया और इसके लिए उन्होंने मैत्रीपूर्ण गठबन्धन किया, जिसमें "मलायाई भारती कांग्रेस" को भी सम्मिलित किया गया। इस सहयोजित मैत्री-संगठन का नारा इस नये विधान-परिषद् की चार वर्ष की अवधि पूरी होने पर पूर्ण स्वाधीनता देने की माँग करना था।

जुलाई, १९५५ में हुए संघीय निर्वाचन में विधान-परिषद् की कुल ९८ जगहों की ५२ निर्वाचनीय जगहों में ५१ जगहें इस सहयोजित मैत्री-संगठन को प्राप्त हुईं। इसके परिणाम-स्वरूप "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" के नेता टिंकू अब्दुल रहमान ६ मलायाई, ३ चीनी, १ भारतीय और ४ यूरोपीय सदस्यों की पुनःसंगठित सरकार के मुख्य-मंत्री हुए। यह, संविधान में पूर्व स्वीकृत सीमा के अन्तर्गत स्वायत्त सरकार के संगठन की दिशा में वास्तविक अभियान समझा गया। सहयोजित मैत्री-संगठन का उद्देश्य इसी सीमा का विस्तार करना—अर्थात् वास्तविक रूप से स्वायत्त-शासन की स्थापना का मार्ग बनाना था। उसके अभियान में और निर्वाचन के बाद दिये गये वक्तव्यों में इसका संकेत किया गया था।

राष्ट्रमंडलीय पद की प्राप्ति

टिंकू अब्दुल रहमान ने उसके बाद तुरन्त संवैधानिक परिवर्तन के लिए जोर देना शुरू किया, विशेष रूप से—उच्चायुक्त के निषेधाधिकार को बदलने की उन्होंने माँग की। सहयोजित मैत्री-संगठन की अभूतपूर्व विजय के प्रकाश में वे यह कहने की स्थिति में थे, कि—"इस समय संसार में कोई भी सरकार जनता का वैसा समर्थन पाने का दावा नहीं कर सकती, जैसा समर्थन मलायाई सहयोजित मैत्री-संगठन को प्राप्त है। यदि विधान-परिषद् में पारित विधयेक पर उच्चायुक्त अपने निषेधाधिकार का उपयोग करते हैं, तो सहयोजित संगठन जनता के लिए कार्य नहीं कर पायेगा और वह विधान-सभा छोड़ कर बाहर भी आ सकता है।" इस दबाव के साथ प्रधान मन्त्री के रूप में उन्हें अपने देश में जो समर्थन प्राप्त था, उसके बल पर रहमान ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम्युनिस्टों के आतंकवादी भय का सहारा लेते हुए तत्क्षण अपनी पूर्ण सरकार की स्थापना की माँग करते हुए कहा, कि—"ब्रिटिश सरकार को यह अनुभव करना चाहिए कि यदि वह पूर्ण अधिकार प्राप्त स्वायत्त सरकार की स्थापना करना स्वीकार नहीं करती, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वह इस देश में समष्टिवाद (कम्युनिज्म) को आमंत्रित करती है, जिनके आतंक का विगत सात वर्षों से हमने पर्याप्त अनुभव किया है।" ऐसी स्थिति में कम्युनिस्टों ने भी एशिया में उपनिवेशवाद के विरुद्ध प्रचार करने में सफलता पायी।

निर्वाचन से प्रादुर्भूत इस नयी परिस्थिति में अंग्रेज आगे और सुविधाएँ देने के इच्छुक

हुए। जनवरी, १९५६ में लंदन में हुए सम्मेलन के परिणामस्वरूप यह तय किया गया कि यदि सम्भव हुआ तो अगस्त, १९५७ में राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत मलाया को पूर्ण स्वायत्त सरकार और स्वाधीनता प्रदान की जायगी। लंदन-सम्मेलन के तुरन्त बाद स्वाधीन मलाया के लिए संविधान का मसौदा तैयार करने के निमित्त एक आयोग (रीड कमीशन) स्थापित किया गया।

रीड-आयोग ने २० फरवरी, १९५७ को संविधान के मसौदे के साथ अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। जुलाई में मलायाई विधान-परिषद् और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने प्रस्तावित संविधान अनुमोदित किया। ३१ अगस्त को मध्यरात को "मरडेका" (स्वाधीनता) की घोषणा की गयी और मलाया ने ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में एक स्वतंत्र सदस्य की हैसियत प्राप्त की। १७ सितम्बर को इस देश को राष्ट्र-संघ की सदस्यता, २६ सितम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि की सदस्यता और २४ अक्तूबर को ब्रिटेन के प्रस्ताव पर "व्यापार और शुल्क-दर के सामान्य समझौता संगठन" की सदस्यता प्राप्त हुई। ब्रिटेन के साथ निकट कार्यकारी सम्बन्ध बनाये रखने के विषय में, जिसकी उस समय आवश्यकता समझी जाती थी, एक सुरक्षा एवं पारस्परिक सहायता संधि की गयी, जिस पर १३ अक्तूबर को राजधानी कुआला लम्पुर में हस्ताक्षर हुआ। अतः १९५७ के अन्त तक यह देश अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर पूरी तरह प्रतिष्ठापित हो गया था।

संघीय राज्य के लिए बने नये संविधान में राज्य के एक प्रधान की व्यवस्था की गयी थी, जिसको पाँच वर्षों की कार्यवधि के लिए राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा चुना जाना था। २ सितम्बर को अब्दुल रहमान औपचारिक रूप में राज्य के प्रधान हुए। संविधान के निर्णय के अनुसार स्वभावतः एक संसदीय सरकार की स्थापना करनी थी। अतः संविधान में दो संसदों की व्यवस्था की गयी थी—जिनमें जातीय और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए राष्ट्र के प्रधान को १६ सदस्यों के एक "सीनेट" का भी संगठन करना था, जिनमें अलग राज्यों की विधान-सभाओं के भी २ प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाना था। इसके अतिरिक्त दूसरा संसद प्रतिनिधियों की सभा के रूप में संगठित करना था, जिसके लिए १०४ (बाद में १००) सदस्यों को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के आधार पर निर्वाचित करना था। जब तक नये निर्वाचन न हो जायँ, तब तक के लिए वर्तमान विधान-सभा को ही प्रतिनिधियों की संसदीय सभा के रूप में काम करना था। इसका अर्थ यह हुआ कि टिंकू अब्दुल रहमान (जो पहले राज्य के प्रधान थे, अब तक निर्वाचित राज्य-प्रधान से सम्बन्धित न होते हुए भी) देश के प्रधान मन्त्री बने रहे और आशा की गयी कि तब तक इस पद पर अधिकार रखने में समर्थ होंगे, जब तक देश की प्रधान पार्टियाँ सहयोजित संगठन में रहेंगी। जैसा कि एक लेखक ने कहा है—"कुछ पर्यवेक्षक यह विश्वास करते

हैं कि—स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सहयोजित मैत्री-संगठन का आगे बना रहना सन्देहास्पद है। फिर भी, संविधान पर जनता की समीक्षा का सामना करने में यह संगठन समर्थ रहा है और स्वाधीनता-प्राप्ति ही इसका अन्तिम लक्ष्य नहीं रहा। इसी के समान या इससे भी बड़ा—महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसके समक्ष था, जब सम्पन्न चीनी अपने आर्थिक हित की रक्षा के लिए, इसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे और जब मलायाइयों को आर्थिक सहायता प्रदान करने की आवश्यकता थी। यह औचित्य अभी मान्य है गोकि मलायाइयों की आवश्यकता अब कम हो चली है, जब कि चीनियों की और बढ़ गयी है। यदि सहयोजित पार्टियों का मैत्री-संगठन बना रहा, तो इसकी सदस्य पार्टियाँ उस प्रकार का महत्त्वपूर्ण समर्थन खो सकती हैं, जैसा जातीय प्रश्नों को उभाड़ने की इच्छुक पार्टियों को प्राप्त होता रहा है। "संयुक्त मलायाई राष्ट्रीय संघ" को चीनियों के साथ ऐसा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने और मलायाई जाति का बराबर समर्थन प्राप्त करने के बीच एक का चुनाव करना पड़ सकता है। चूँकि १९५९ तक निर्वाचन नहीं होने वाला है, इसलिए सरकार में इस सहयोजित मैत्री-संगठन को टूटने से रोकना सम्भव होगा, किन्तु यदि यह संगठन टूट जाता है, तो कोई ऐसी पार्टी नहीं है, जो उसके बाद प्रादुर्भूत रिक्तता को भर सके। राजनीति कोई स्पष्ट स्वरूप तब तक नहीं ग्रहण कर सकती, जब तक उपस्थित समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए राजनीतिक नेता आगे नहीं आते।"

उन्तीसवाँ अध्याय

फिलीपाइन और इंडोनेशिया

(१) फिलीपाइन

जापानी दखल के समय, वर्मा की तुलना में फिलीपाइन पूर्ण स्वायत्त-शासन और स्वराज्य की प्राप्ति की दिशा में अधिक आगे बढ़ चुका था। राष्ट्र-मंडलीय अधिनियम के अन्तर्गत फिलीपाइन की स्वाधीनता की घोषणा भविष्य में किसी अनिश्चित तिथि को न कर १९४६ में की जानी थी। परिणामस्वरूप मुक्ति के पश्चात् सरकार की स्थापना के लिए इसकी वांछित तैयारी पूरी होने के सम्बन्ध में वैसा कोई विवाद नहीं हुआ, जैसा बर्मा के सम्बन्ध में हुआ था। इसकी स्वतंत्रता की तिथि और आगे बढ़ायी जाने के साथ ही संविधान की स्थापना और सरकार के उपयुक्त स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में भी तेजी के साथ कार्य किया गया, जैसा कि फिलिपाइनों ने सरकारी और प्रशासकीय उत्तरदायित्व के सभी स्तरों पर किये जाने की कल्पना की थी। अतः १९३९ में जैसा बर्मा के सम्बन्ध में निर्णय किया गया था कि वहाँ स्वतंत्र राज्य की सरकार की व्यवस्था के लिए पर्याप्त प्रशिक्षित और अनुभवी बर्मियों की कमी है, फिलिपाइन के मामले में ऐसी बात नहीं थी। १९०५ के बाद इसके कार्यान्वियन में अनेक प्रकार के परिवर्तन के बावजूद अमरीकी नीति उस द्वीप-समूह की सरकार का 'फिलीपाइनीकरण' करने की थी, जिस के कारण वर्मा में ब्रिटिश नीति की तुलना में फिलिपाइन में प्रयुक्त अमेरिकी नीति एक बड़े और पर्याप्त कुशल प्रशासकीय वर्ग की सृष्टि करने में सफल हुई। इस सम्बन्ध में वास्तविक विभेद–फिलीपाइन के लिए राष्ट्र-मण्डलीय अधिनियिम को अपनाने और लागू करने के समय और १९३५ और १९४१ के वर्मी सरकार के अधिनियम को बर्मा में अपनाने और लागू करने के समय के अन्तर का नहीं था, बल्कि फिलीपाइन में १९१६ और १९४१ की सरकार की स्थापना के समय और बर्मा में १९३७ और १९४१ में सरकार की स्थापना के समय वहाँ के निवासियों के प्रशासनिक अनुभव का था।

(२) फिलीपाइन की संवैधानिक प्रणाली

१९३५ में अपनाये गये संविधान के अन्तर्गत, जिसमें १९४० में सुधार किया गया था और जिसे फिलीपाइन को मुक्ति प्राप्त होने पर पुनःस्थापित किया गया था, सरकार का संगठन राष्ट्रपति की शासन-प्रणाली के आधार पर किया गया था। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति चार वर्ष की अवधि के लिए चुने गये थे और उन्हें प्रथम निर्वाचन के तत्क्षण बाद होने वाले निर्वाचन में केवल एक और निर्वाचन अवधि के लिए ही पुनः निर्वाचित करने की सीमा निश्चित की गयी थी। दो विधान-सभाओं का भी सीधे निर्वाचन के आधार पर संगठन किया गया था। सीनेट का संगठन अधिक-से-अधिक ६ वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित २४ सदस्यों द्वारा किया जाना था, जिसमें एक तिहाई सदस्यों को प्रति दूसरे वर्ष चुनने का नियम निर्धारित किया गया था। प्रतिनिधियों की सदस्यता संवैधानिक रूप से १२० सदस्यों से अधिक को नहीं दी जानी थी और इसका विभाजन प्रान्तों की जनसंख्या के आधार पर किया गया था।

इसकी कार्य-समिति को विधानांग के प्रतिबन्धों से मुक्त रखते हुए जन-नीति की व्याख्या के सदन्र्भ में अमेरिकी राष्ट्रपति से अधिक संवैधानिक अधिकार दिये गये थे, क्योंकि उसे सामान्य रूप से जहाँ अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त था, वहीं सरकार के विभिन्न विभागों के लिए नियुक्त प्रधानों को किसी भी विधान सभा के समक्ष व्यक्तिगत रूप से उपस्थित कर अपने विचारों की व्याख्या प्रस्तुत कराने की भी व्यवस्था की गयी थी। दूसरी ओर संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार सीनेट और विधान-सभा प्रत्येक में से बारह-बारह सदस्यों को चुन कर एक आयोग की स्थापना करनी थी, जिसे प्रधान कार्यालयों में की जाने वाली नियुक्तियों और प्रशासनिक (कार्यकारी) विभाग के अध्यक्ष की नियुक्ति का अनुमोदन करने का अधिकार दिया गया था और विधान-सभा के नेताओं और राष्ट्रपति के बीच अधिकार प्रयोग पर विवाद उठने पर उसे वैधानिक प्रभाव के स्थिर रखने के निमित्त तदनुरूप कार्रवाई करने का अधिकार प्रदान किया गया था।

इसके द्वीपों पर जापानी आक्रमण होने के समय इसकी स्वायत्त-सरकार की संवैधानिक प्रणाली संतोषजनक कार्य-सम्पादन करने की पूर्ण क्षमता रखती थी। इसकी सबसे समर्थ और प्रधान नैशियोनलिस्टा पार्टी में शुरू में संघर्ष होने के पश्चात्, इसके निर्वाचित अध्यक्ष–मैनुएल क्वीजान, उपाध्यक्ष–सेरगिओ ओसमेना, सिनेटर-मैनुएल रोक्सास तथा अन्य नेताओं के सुदृढ़ नेतृत्व में यहाँ के राजनीतिक वर्ग की स्थापना की गयी थी। चूंकि राष्ट्रपति साधारणतया सरकार पर नियंत्रण रखने वाली पार्टी का नेता माना जाता

था, इसलिए नीति के विकास और उसके लागू करने के लिए वैधानिक नियमों के अन्तर्गत पर्याप्त प्रशासनिक निदेश स्थिर किये गये थे।

जब यह स्पष्ट हो गया कि 'औपचारिक सैनिक शक्ति द्वारा इसके द्वीपों पर किये गये जापानी आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करना कठिन है, तो राष्ट्रपति क्वीजान और उपराष्ट्रपति ओसमेना भी जनरल मैकआर्थर की तरह वहाँ से हट गये और वाशिंगटन में इसकी एक सरकार 'निष्कासित सरकार के रूप में' स्थापित की गयी थी।[1] बृसबान में स्थापित जनरल मैकआर्थर के मुख्यालय के माध्यम से इसने उस देश में सैनिक अधिकरण के समाप्तप्राय होने के पश्चात् आरम्भ किये गये छापामार आन्दोलन के साथ जहाँ तक सम्भव हुआ, सम्पर्क बनाये रखा। इस प्रकार जापानी दखल के समय भी राष्ट्र मण्डल की संवैधानिक सरकार बराबर बनी रही, गोकि युद्ध-स्थिति में संवैधानिक दृष्टि से कुछ अनियमित कार्रवाइयाँ भी उसें करनी पड़ीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने राष्ट्र-मण्डलीय अधिनियम द्वारा निश्चित तिथि को इसे स्वाधीनता प्रदान करने की प्रतिज्ञा को दुहराने के साथ इसकी तिथि युद्ध-कालीन परिस्थितियों के अनुसार आगे बढ़ाने की भी घोषणा की। संयुक्त-राज्य-कांग्रेस ने २९ जून, १९४४ के संयुक्त प्रस्ताव में इसे पूर्ण स्वाधीनता देने की प्रतिज्ञा की और राष्ट्रपति को ४ जुलाई, १९४६ के पूर्व इसकी घोषणा करने का अधिकार प्रदान किया।[2]

(३) द्वीप-समूहों की मुक्ति

द्वीप-समूहों की मुक्ति के पहले निष्कासन के समय ही राष्ट्रपति क्वीजान की मृत्यु हो गयी थी और उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति ओसमेना राष्ट्रपति हुए थे, परिणामस्वरूप इनको ही २७ फरवरी, १९४५ को अमेरिका ने सरकार का कार्यभार हस्तांतरित किया। आन्तरिक कार्यों के लिए भी औपचारिक रूप से किसी सैनिक सरकार का संगठन नहीं किया गया था, ओसमेना और राष्ट्रमण्डलीय अधिकारियों ने उसके साथ 'लैटे' में प्रवेश करने के तुरन्त बाद स्वाधीन प्रान्तों में नागरिक शासन शुरू कर दिया था।

जब कि फिलीपाइन में अमेरिकी सैनिक सरकार का संगठन ही नहीं हुआ, तो इसे सत्य नहीं माना जा सकता कि इसकी स्वाधीनता प्राप्ति के समय तक इसकी सरकार पर अमेरिकी सेना का निर्णायक प्रभाव था, क्योंकि राष्ट्र-मण्डलीय अधिकारी पूरी तरह से अमेरिकियों पर निर्भर थे और अमेरिकी सभी आवश्यक सुविधाओं के निमित्त सेना पर निर्भर थे। या तो जापानी सैन्य-संचालन के दौरान या जानबूझकर ध्वंस करने की जापानी नीति के परिणामस्वरूप अन्तर्द्वीपीय जहाजरानी और स्थल-परिवहन की सुविधाएँ विनष्ट कर दी गयी थीं। उपलब्ध हवाई जहाज, सभी प्रकार की मोटरें और समुद्री जहाज अमेरिकी सैनिक उपकरण के रूप में वहाँ विद्यमान् थे, जिनका प्रयोग राष्ट्रमण्डलीय

अधिकारी जनरल मैकआर्थर के मुख्यालय से प्राप्त निर्णय के अनुसार ही करते थे। इसी प्रकार टेलीफोन, तार और रेडियो की उपलब्ध सुविधाएँ अमेरिकी अधिकार और सैनिक नियंत्रण में थीं। सार्वजनिक सेवाओं, सरकारी और निजी भवनों, समाचार-पत्रों और रेडियो, बन्दरगाहों और जहाजी गोदामों, सड़कों और पुलों की पुनःस्थापना और पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक सामान और तकनीकज्ञ राष्ट्रमण्डलीय सरकार को तभी प्राप्त होते थे, जब उन्हें अमेरिकी सैनिक अधिकारियों द्वारा ऐसे कार्यों के लिए मुक्त किया जाता था। राष्ट्र-मण्डल की सरकार को इस तरह के पुनःस्थापन कार्यों के सम्बन्ध में अमेरिकी अधिकारियों पर निर्भर रहना ही था। इसके अतरिक्त उसे अपनी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की पुनःस्थापना और पुनर्निर्माण के लिए भी दीर्घकाल तक संयुक्त-राज्य की सहायता पर आश्रित रहना था। जैसा कि फिलीपाइन के लोगों ने अनुभव किया, उन पर और उनके देश पर युद्ध का यह विनाशकारी प्रभाव उसकी सरकार की संयुक्त राज्य के प्रति ऐसी निष्ठा होने के कारण पड़ा, न कि उनकी अन्य नीतियों के कारण, क्योंकि उन्होंने अमेरिकी समर्थन से ही फिलीपाइन को जापान के युद्ध में घसीटा। सार्वजनिक वक्तव्यों से भी फिलीपाइन ने यह विश्वास किया कि संयुक्त-राज्य भी उसके इस कथन को स्वीकार करता है और अमेरिकी सरकार ने इसी कारण युद्ध से हुई उसकी क्षति पूर्ति करना और फिलिपाइन की अर्थव्यवस्था की पुनःस्थापना करना भी स्वीकार किया है। इसके साथ ही ४ जुलाई, १९४६ के बाद राष्ट्र-मण्डल के स्थान पर कोरियाई गणतंत्र की स्थापना होने के पश्चात् संयुक्तराज्य और फिलीपाइन के बीच आर्थिक सम्बन्ध निश्चित करने की समस्या जुड़ी हुई थी। इन मूलतः प्रधान प्रश्नों पर निर्णय करने का अधिकार अमेरिकी कांग्रेस को था और वांछित पुनर्निर्माण और पुनःस्थापना का कार्य शुरू होने में इसलिए अनिवार्य रूप से विलम्ब हुआ, क्योंकि कई महीनों तक इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के बाद अमेरिकी कांग्रेस ने "फिलीपाइन की पुनःस्थापना का १९४६ का अधिनियम" और "फिलीपाइन व्यापार का १९४६ का अधिनियम" लागू किया।[३] दोनों अधिनियम एक दूसरे पर आश्रित थे, जिनमें दूसरे अधिनियम में की गयी व्यवस्था के अनुसार ही पहले अधिनियम की शर्तों के अन्तर्गत यह निर्धारित किया गया था कि तब तक ५०० स्टर्लिंग (युद्ध-क्षति के लिए) से अधिक का भुगतान न किया जाय, तब तक कि ऐसा प्रशासनिक समझौता न हो जाय, जिससे फिलीपाइन सरकार व्यापार-अधिनियम की संभावनाओं को स्वीकार न कर ले।

(४) संयुक्त राज्य के साथ आर्थिक सम्बन्ध की स्थापना

राष्ट्र-मंडल की विधि लागू किये जाने के समय जो प्रमुख समस्या इस देश के सम्मुख

उपस्थित हुई, वह द्वीप-समूहों की संयुक्त-राज्य पर अपनी पूर्ण आर्थिक निर्भरता के कारण हुई थीं, जैसा १५ फरवरी १९४६ को पाल वी. मैकनाट ने इसकी समीक्षा करते हुए अमेरिकी कांग्रेस कमेटी के सम्मुख प्रस्तुत किया था :—

"फिलीपाइन में युद्ध के पूर्व राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विकास उसके निर्यात व्यापार को पूर्णतया समृद्ध करने के कारण हुआ था। उसका ९५ प्रतिशत निर्यात व्यापार संयुक्त-राज्य के साथ हुआ, केवल चावल और मछली को छोड़कर जिनकी खपत स्थानीय उपभोग में होती है, फिलीपाइन के अन्य उत्पादन के ९८ प्रतिशत का उपयोग, जिसका १९४१ में मूल्य २६६,०००,००० स्टर्लिंग था, निर्यात व्यापार के लिए किया जाता रहा है। मैं इस सम्बन्ध में कह सकता हूँ, और मुझे कहना भी चाहिए कि हम संयुक्त-राज्य वालों ने ही इसको इस रूप में व्यवस्थित किया है। फिलीपाइन का अमेरिकी बाजार पर इस प्रकार निर्भर रहने का उत्तरदायित्व हमी लोगों पर है। हमारे व्यापारियों और राजनीतिज्ञों ने ही विगत वर्षों में फिलीपाइन को आर्थिक दृष्टि से संयुक्त-राज्य पर पूरी तरह निर्भर रहने का अवसर प्रदान किया और उनकी यह निर्भरता उस सीमा से भी अधिक रही, जिस सीमा तक शायद ही स्वयं संयुक्त-राज्य का अपना कोई प्रादेशिक राज्य भी बाकी संयुक्त-राज्य पर निर्भर हो।"[८]

राष्ट्र-मंडल के अधिनियम में की गयी व्यवस्था के अनुसार अमेरिकी बाजार पर फिलीपाइन की निर्भरता की स्थिति में इस दृष्टि से क्रमशः समंजन करना शुरू किया गया, जिससे दस वर्ष के बाद जब उसे स्वाधीनता मिले, तो उसे आर्थिक दृष्टि से किसी बड़े संकट का सामना न करना पड़े। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण फिलीपाइन और संयुक्त-राज्य के बीच जिस आर्थिक विनिमय की अमेरिका ने योजना बनायी थी, पूरी नहीं हो सकी, जिसके कारण फिलीपाइन की आर्थिक पुनःस्थापना के लिए वित्तीय सहायता देने की आवश्यकता पड़ी, ताकि वह अपने उत्पादन को इस रूप में समुन्नत कर सके कि उसके लिए आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करना सम्भव हो सके। युद्ध-पूर्व के बाजार के लिए उत्पादन की पुनःस्थापना का यह कार्य पर्याप्त समझा जा सकता था, किन्तु आर्थिक कार्यों और उनकी प्रक्रिया की पुनःस्थापना की यह विधि फिलीपाइन के लिए मन्द गति से चलने वाली समझी जायगी, क्योंकि उसे स्वाधीन राज्य के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से आर्थिक उत्पादन को और तेजी से बढ़ाना आवश्यक था।

फिर भी, अनेक कारणों से व्यापार-अधिनियम स्पष्टतया इस सम्भावना के साथ बनाया गया था कि पहले १९४१ के सम्बन्ध पुनः स्थापित होने चाहिए, उसके बाद ही क्रमशः उनमें सुधार किया जा सकेगा। १९४६ का फिलीपाइन व्यापार-अधिनियम स्वतंत्र और रियायती व्यापार के दीर्घकालिक सिद्धान्त पर आधारित था और संयुक्त-राज्य पर

फिलीपाइन की आर्थिक निर्भरता को सदा के लिए स्थापित करता था। लागू अधिनियम के अनुसार संयुक्त-राज्य को इस सीमा तक रियायत दी गयी थी कि संविधान में अमेरिकी अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए भी इसमें सुधार और परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ी।[५] व्यापारिक अधिनियम में इस प्रकार की व्यवस्था करने के लिए फिलीपाइन के संविधान में ऐसा सुधार करना पड़ा, जिससे भूमि पर अधिकार प्राप्त करने और औद्योगिक कार्य करने में अमेरिकियों को फिलीपाइनों के समान समझा जा सके। इसने अमेरिकियों को गणराज्य में ऐसी आर्थिक स्थिति प्रदान की, जैसी उन्होंने उस समय भी नहीं की थी, जब फिलीपाइन संयुक्त-राज्य पर पूर्णतया निर्भर था।

पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से की गयी इन आर्थिक परिभाषाओं के अतिरिक्त, चूँकि संयुक्त-राज्य ने भविष्य में विदेशी अतिक्रमण से द्वीप-समूहों की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व लिया था, इसलिए इसने द्वीप-समूहों के भीतर सैनिक अड्डे बनाने की माँग की। काफी वार्ता के बाद सैनिक अड्डों की संख्या और स्थिति पर समझौता हुआ, जो संयुक्त-राज्य और अमेरिकी सरकार दोनों के लिए संतोषप्रद समझा गया, गोकि इन समझौतों की कुछ शर्तों की आलोचना की गयी थी।[६] अड्डों के समझौते का अनुमोदन फिलीपाइन-कांग्रेस ने २६ मार्च, १९४७ को किया। यह ध्यान रखना चाहिए कि इन सुरक्षा-सम्बन्धी प्रबन्धों के विषय में संयुक्त-राज्य कांग्रेस ने २६ जून, १९४६ के अधिनियम से राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया कि वे—"फिलीपाइन्स-गणराज्य को अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा स्थापित करने और उसे बनाये रखने के लिए सैनिक सहायता देने और उस सरकार द्वारा भावी आवश्यकताओं की दृष्टि से सुरक्षात्मक सैनिक कार्रवाइयों में भाग लेने का उसे अवसर प्रदान करने की व्यवस्था करें।" परिणामस्वरूप सैनिक सहायता संधि पर २१ मार्च, १९४७ को संयुक्त-राज्य के राजदूत और राष्ट्रपति रोक्सास ने हस्ताक्षर किया। १९४८ में फिलीपाइन की सेना के लिए ३८ करोड़ स्टर्लिंग की अलग से व्यवस्था की गयी, जिसका आधा से अधिक हिस्सा सैनिक पुलिस (मिलिटरी पुलिस) पर व्यय करना था।[७]

(५) जापानियों के साथ गठबन्धन की समस्या

जब वाशिंगटन में पुनर्निर्माण और स्वाधीनता की शर्तें निर्धारित की जा रही थीं, उस समय मनीला में राजनीतिक गति-विधि में तीव्रता आ गयी थी। संवैधानिक तंत्र की पुनःस्थापना के लिए सरकार को पुनः विधान बनाना पड़ा। इसमें, दोनों सभाओं के अधिकांश सदस्यों का जापानियों से गठबन्धन होने के कारण कठिनाई पड़ी। २९ जून, १९४४ को फिलीपाइन सम्बन्धी दो प्रस्तावों पर हस्ताक्षर करते समय राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा

था कि—"जिन लोगों ने शत्रु के साथ गठबन्धन किया है, उनका देश के राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर अधिकार और प्रभाव दोनों अवश्य समाप्त कर देना चाहिए।"[८] इस नीति की स्पष्ट अवहेलना उस समय की गयी, जब जनरल मैकआर्थर ने मैनुएल रोक्सास को देशद्रोही सरकार के बंदी सदस्यों से पृथक् करके उसे "मुक्त किया गया"—घोषित किया और सामान्य रूप से बिना उससे कोई सफाई लिये ही उसे मुक्त भी कर दिया गया। इसने रोक्सास को 'सिनेट' के अध्यक्ष के रूप में राजनीति और सरकारी शासन-व्यवस्था में पुनः भाग लेने में समर्थ किया। बिना नया निर्वाचन कराये सरकार का पूर्व प्रतिनिधियों की सभा के साथ पुनर्निर्माण करने का यही मतलब था कि "शत्रु के सहयोगियों" के विरुद्ध जिस विधान के अनुसार कार्रवाई की जानी थी, उसे किसी विधान-सभा द्वारा पारित होना चाहिए था और तत्कालीन सभा के अधिकतर सदस्य ऐसे थे, जिनपर जापान द्वारा समर्पित 'स्वाधीन सरकार' में अनेक पदों पर रहने के कारण देशद्रोह का आरोप था और जिनके विरुद्ध कार्रवाई की जानी थी। इन परिस्थितियों में राष्ट्रपति ओसमेना वाशिंगटन के दबाव पर 'शत्रु के सहयोगियों' के विरुद्ध शीघ्रता से निर्णायक कार्रवाई करने में असमर्थ रहे, गोकि फिलीपाइन में गणराज्य की स्थापना के पूर्व वाले और उसके अन्त बाद वाले वर्षों में यह प्रश्न उसकी नीति के प्राथमिक प्रश्न के रूप में उठाया गया था।

शत्रु से सहयोग करने का प्रश्न फिलीपाइन तथा अन्य देशों में भी नीयत के प्रश्न के के रूप में जटिल हो गया था, क्योंकि इसे व्यक्ति विशेष की अपनी आत्मनिष्ठ प्रेरणा भी समझा जा सकता था और किसी विशेष लक्ष्य से प्रेरित भी समझा जा सकता था। इनमें एक ओर तो ऐसे लोग थे, जो प्रशासकीय कार्य अपने जीविकोपार्जन के लिए करते थे, जिनके लिए सभी स्थानीय जातियाँ समान थीं। इनका सहयोग जापानियों के लिए सक्रिय रूप से सहायक न होकर एक प्रकार से उनके लिए बाधक ही था। दूसरी ओर ऐसे लोग थे, जिन्होंने जापानियों की कठपुतली सरकार बनाने में और टोकियो की निर्दिष्ट प्रेरणा पर नीति निर्धारित करने में सहायता की थी। इनमें कुछ व्यक्ति ऐसे थे, जिन्होंने जापानी आक्रमण और उसके दखल के समय प्राप्त अवसर का व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपयोग किया था। अन्य लोगों को वस्तुतः बलात् जापानियों को सहयोग देने के लिए बाध्य होना पड़ा। फिर भी, कुछ ऐसे राष्ट्रीय और देशप्रेमी भी थे, जिन्होंने देश को शीघ्र स्वाधीन कराने के उद्देश्य से जापानियों की तदनुकूल प्रतिज्ञा पर विश्वास कर उनकी सहायता की थी या उन्होंने अपने जापान-विरोधी नेतृत्व को छिपाने के लिए जापानियों के साथ ऐसे गठबन्धन में सम्मिलित होना स्वीकार किया था।

रोक्सास को स्वयं अमेरिकियों ने इन्हीं वर्गों में एक में रखा, किन्तु वास्तविक रूप से न यह तय किया जा सका और न इसकी घोषणा की जा सकी कि वह इनमें से किस वर्ग में था। सिनेट का अध्यक्ष होने के नाते उसके जापानियों से सम्बद्ध होने का तथ्य अस्पष्ट ही रहा, जिसने उसे अमेरिकी समर्थन से, सरकार द्वारा जापानी सहयोगियों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से सीधी कार्रवाई करने के लिए कोई संगठन बनाने के प्रयत्न के विरुद्ध अपना नेतृत्व बनाये रखने की स्थिति में रखा, फिर भी अन्त में वन्दी जनों के विषय में जाँच करने के लिए एक 'जनता का न्यायालय' स्थापित करने का विधेयक स्वीकृत किया गया, जिसने—"कुछ प्रमुख जापानी-सहयोगियों" की जाँच की। १९४७ के आते-आते जनता के न्यायालय को आवश्यक गवाही प्राप्त करने में अधिकाधिक कठिनाई होने लगी और जो गवाही देने के लिए न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होते थे, उनमें से अधिकतर लोग इसके लिए अब अधिक इच्छुक नहीं दिखाई पड़े। लारेल (प्रमुख व्यक्ति) अपने कठपुतले साथियों के साथ अभी भी स्वतंत्र छोड़ दिये गये थे और वे स्वतंत्रतापूर्वक जन-समारोहों में भाग लेते थे, भाषण देते थे और आश्चर्यजनक रूप से जन-समर्थन प्राप्त कर रहे थे। उनकी जाँच बार-बार स्थगित की जाती थी और इस प्रकार उन्हें अपने परिस्थिति-प्रदत्त छुटकारे पर विश्वास होने लगा था।

इन परिस्थितियों में, जापानी सहयोगियों के विरुद्ध कार्रवाई अमेरिकियों द्वारा ही निर्णायक विधि से, देश की मुक्ति के तत्क्षण बाद की जा सकती थी, जब उनका पूरा प्रभाव था। इस पर उसी समय इसे संयुक्त-राज्य के विरुद्ध की गयी कार्रवाई मानकर, इसके विरुद्ध तदनुरूप कार्रवाई की जा सकती थी। इस समस्या को पुनः फिलीपाइन सरकार को सौंपते हुए, उस पर इस मामले में कार्रवाई करने के लिए जोर दिया गया, गोकि यह जोर बहुत मजबूत नहीं था और इसने केवल पुनःस्थापित सरकार को परेशान करने का कार्य किया और उसके लिए उस विरोध का सामना कठिन कर दिया, जो वहाँ बहुत शीघ्र ही जागृत हो गया था।

(६) 'हुक बालिहप' (जापानियों के विरुद्ध संगठित जन-सेना)

उपद्रव का एक क्षेत्र केन्द्रीय लूजान में था, जहाँ 'हुकबालिहप'—(जापानियों के विरुद्ध संगठित जन-सेना)—आन्दोलन ने अपना प्रधान केन्द्र स्थापित किया था। यह आन्दोलन जापान विरोधी होने के साथ सामाजिक और आर्थिक सुधार करने के लिए दृढ़ता से आवाज उठा रहा था। युद्ध-काल में इसने, सैनिक छापामार आन्दोलन के समान ही जापानियों और जमींदारों के उस वर्ग के विरुद्ध, जिसने सैनिक छापामारों के समक्ष स्वयं अपनी और जापान की स्थिति मजबूत रखने के लिए जापान के सहयोग से 'शांति

परिरक्षण सैन्य-दल" संगठित किया था, आन्दोलन आरम्भ किया। इन जापान विरोधी सैनिकों (हुक्स) ने इस भय के कारण द्वीप-समूहों के मुक्त होने पर शस्त्र-समर्पण करने से इनकार किया कि इससे उनके सुधार-कार्य समाप्त हो जायेंगे और उनका प्रभाव नष्ट होने के साथ-साथ सम्भवतः उनका जीवन भी खतरे में पड़ जायगा। परिणाम-स्वरूप उनकी सेनाओं को फिलीपाइन की सेना में सम्मिलित नहीं किया गया। अतः उन्होंने इसके तत्क्षण बाद अपनी जापान विरोधी छापामार सैनिक होने की स्थिति समाप्त कर दी और अमेरिकियों की दृष्टि में इस रूप में उनका सम्मान भी गिर गया। तिसपर भी, उनके नेता उन लोगों में से थे, जिन्होंने जापानी गठवन्धन में सम्मिलित होने वालों के विरुद्ध मुकदमा चलाने और उन्हें दण्ड देने के लिए अधिकाधिक जोर दिया था। इसके कारण ओसमेना-सरकार को वाम-मार्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले जापान विरोधी सैनिकों (हुक बाल्हिप्स) और दक्षिण मार्ग का नेतृत्व करने वाले सिनेटर रोक्सास के दोहरे दबाव का सामना करना पड़ा।

दिसम्बर, १९४५ में संयुक्त-राज्य-कांग्रेस द्वारा और जनवरी १९४६ में फ़िलीपाइन-कांग्रेस द्वारा १९४१ के बाद प्रथम निर्वाचन कराने की व्यवस्था की गयी थी, ताकि ४ जुलाई १९४६ को इसके गणतंत्र की स्थापना होने पर इसके पास अपनी एक सरकार हो, जो युद्ध-पूर्व से ही नियंत्रण प्राप्त सरकार न होकर एक नयी सरकार के रूप में संगठित की गयी हो। जापानी गठवन्धन की समस्या और साथ ही व्यक्तिगत शत्रुता के कारण पुरानी 'नैशिओनलिस्ता पार्टी' दो भागों में विभक्त हो गयी, जिसमें एक राष्ट्रपति का स्थान ग्रहण करने वाले ओसमेना के नेतृत्व में स्थित थी—जिसने पार्टी का पुराना नाम बनाये रखा। दूसरी पार्टी सिनेटर रोक्सास के नेतृत्व में स्थित थी और वह अपने को 'लिबरल पार्टी' (उदारवादी दल) के नाम से पुकारती थी। चूँकि ओसमेना और रोक्सास में एकता लाने के प्रयत्न विफल हो चुके थे, इसलिए अपरिहार्य रूप से यह निश्चित था कि १९४६ के राष्ट्रपति के निर्वाचन में वे एक दूसरे का मुकाबला करेंगे। इसके साथ ही यह भी समान रूप से अपरिहार्य था कि पुरानी पार्टी के अधिकांश नेता, जो युद्ध के समय फिलीपाइन में थे और परिणामस्वरूप जिन्हें जापान से सहयोग करने के सम्भावित अपराध से बचने के लिए रोक्सास द्वारा रक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता थी, नये उदारवादी दल का समर्थन करें।

परिणामतः ओसमेना को जापान विरोधी सैनिकों (हुक्स) और उसके समान दलों से मैत्री स्थापित करते हुए, 'नैशिओनलिस्ता पार्टी' के अनुयायियों में से अपने समर्थकों को लेकर—निर्वाचन में सम्मानजनक ढंग से मुकाबला करने के लिए एक पार्टी का संगठन करना था, उसकी इस नयी पार्टी को लोकतांत्रिक मैत्री-संघ (डेमाक्रेटिक एलायंस) के

नाम से पुकारा गया। वह साधन और सुविधाओं की कमी के कारण उग्र विरोध करने म असफल रहा। रोक्सास का समर्थन द्वीप-समूहों के धनिक वर्ग और अमेरिकियों ने भी गुप्त रूप से किया। ओसमेना से साधन में अधिक सम्पन्न होने और साथ ही अधिक उग्रता के साथ अपना अभियान चलाने में समर्थ होने के कारण रोक्सास इस बात पर जोर देने की स्थिति में था कि ओसमेना की सरकार तेजी के साथ पुनर्निर्माण कार्य करने में असफल थी, गोकि इन अपवादों का उत्तर दिया जा सकता था और साथ ही उसकी कुछ गलतियों को क्षमा भी किया जा सकता था, फिर भी रोक्सास ने उनका उपयोग करते हुए यह प्रभाव उत्पन्न किया कि उसके नेतृत्व में स्थापित सरकार को ओसमेना के नेतृत्व में संगठित सरकार की अपेक्षा और अधिक तत्परता के साथ अमेरिकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। अतः कुल लोकमत में से ५४ प्रतिशत मत प्राप्त करते हुए उसने निर्वाचन में विजय प्राप्त की और उसकी पार्टी ने सीनेट की कुल २४ जगहों में से १३ जगहें पायीं, तथा प्रतिनिधियों की सभा में जब विरोधियों को ४० स्थान प्राप्त हुए, तो उसके दल ने इसके विपरीत ५८ स्थान प्राप्त किये।

राष्ट्र-मंडल के शासन-काल की समाप्ति पर अपनी थोड़ी-सी शासन-अवधि के बीच ओसमेना-सरकार ने आवश्यकतानुसार विरोधी तत्त्वों से समझौता करने और उनसे मैत्री स्थापित करने की नीति अपनायी। अतः इसने जापान-विरोधी सैन्य (हुक्स) की माँग के अनुसार उपज का जमीदारों और काश्तकारों के बीच और उदार विभाजन करना स्वीकार किया, गोकि उसने इस सम्बन्ध में न तो उनकी पूरी माँग स्वीकार की और न उसके अनुरूप भूमि का पुनर्वितरण करना स्वीकार किया। उसने छापामार सैन्यदल के प्रमुख नेताओं को एक तो उनका राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए, दूसरे नियुक्तियों के सम्बन्ध में विधान-आयोग पर सिनेटर रोक्सास का नियंत्रण होने के नाते ऊँचे सरकारी पदों पर लाने का प्रयत्न किया। संयुक्त-राज्य की सहायता प्राप्त करने के लिए हुई परस्पर होड़ के कारण स्वतंत्रता और अन्य सहायता शर्तों के सम्बन्ध में समझौता करने की आवश्यकता पड़ी।

राष्ट्रपति रोक्सास ने, जहाँ एक ओर संयुक्त-राज्य के प्रति सम्पूर्ण समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया था, वहीं उसने तत्क्षण, क्वीजान की भाँति दृढ़ता के साथ शासन करने की भी इच्छा व्यक्त की थी। उसका पहला प्रयत्न विधान-सभा में कुछ ऐसे विरोधी सदस्यों को बैठने देने से रोकना था, जिन्हें निर्वाचनीय आयोग ने पहले से चुना गया उम्मीदवार प्रमाणित किया था। चार को छोड़ कर बाकी सभी ११ सदस्य, जिनके निर्वाचन पर विवाद खड़ा किया गया था, अन्ततः एक वर्ष के विलम्ब के बाद अपना स्थान ग्रहण कर सके, इस कार्रवाई के साथ अमेरिकियों को फिलीपाइनों की भाँति प्रमुखता प्रदान करने के

निमित्त संविधान में संशोधन करने का प्रश्न सुलझाने और प्रतिनिधियों की सभा में एक स्पेन में पैदा हुए नागरिक को स्थान दिलाने के लिए रोक्सास-प्रशासन ने संविधान में अमने उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से सुधार करने की इच्छा व्यक्त की।

जापान-विरोधी-सैन्य-दल (हुक्वालिस पार्टी) के प्रति अपनायी गयी नीति भी बलात् दवाव डालने की थी, फिर भी उनमें अन्ततः समझौते का प्रयास दोनों दलों के दोहरे (कपटपूर्ण) व्यवहार का द्योतक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राथमिक आवश्यकता जन-व्यवस्था के पुनःस्थापन और उसके अनुरक्षण की थी। किन्तु इसके लिए अपनाये गये कुछ उपकरण, जैसे जमीदारों द्वारा संगठित नागरिक-रक्षक आदि निश्चित रूप से विवादास्पद थे। उनके आतंकवादी कार्य-कलाप सामंतशाही प्रतिहिंसा के प्रतिरूप थे, जिनसे जन-व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्नों में सहायता मिलनी दूर रही। हाँ, उन्होंने राज्य पर इस प्रकार अभियोग आरोपित करने में अवश्य सहायता की कि राज्य एक व्यक्ति का समर्थन प्राप्त करने के लिए दूसरे के विरुद्ध अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रहा है। सम्भवतः इस आतंकवाद ने ही प्रतिशोध उभाड़ा, यह दूसरी बात है कि उसे किस ओर से पहले शुरू किया गया। आरम्भ में प्रशासन ने सामाजिक और अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी नीति की वास्तविक समस्या का अनुभव किया, जब विरोधियों का कथन उपयुक्त मानते हुए कृषक-नेताओं के सम्मेलन में राष्ट्रपति रोक्सास ने सैनिक पुलिस दल की नृशंसताओं की जाँच करना स्वीकार किया और वे उपज का ७० और ३० प्रतिशत के अनुपात से बटवारा करना स्वीकार करने को प्रस्तुत हुए, जिसके सम्बन्ध में बाद में नियम तो पारित किये गये, किन्तु इसके अनेक पहलुओं की पूर्ति नहीं की गयी।[१०] इस समझौते के बावजूद भी अंशतः इसके अप्रभावपूर्ण कार्यान्वयन के कारण प्रतिरोधी संघर्ष चलता रहा और समस्त उपलब्ध साधनों से बलपूर्वक इस प्रकार के संघर्ष को दबाने पर तब तक जोर दिया जाता रहा, जब तक राष्ट्रपति रोक्सास के बध के बाद उनके उत्तराधिकारी एलपि-डियो क्विरिनो ने इस नीति में समंजन करना आरम्भ नहीं कर दिया, गोकि इसमें वे पूर्णतया सफल सिद्ध नहीं हुए।

आरम्भ से ही जापान-विरोधी-सैन्य संगठन (हुक्स) नेताओं ने अपने विरोधियों पर यह आरोप लगाया था कि वे जापानियों के भूतपूर्व सहयोगी हैं, जिनके इस आरोप का यह कहकर खंडन किया गया कि उनके आन्दोलन पर कम्युनिस्ट 'लेबल' लगा हुआ है। इस तथ्य (कि उन पर कम्युनिस्ट लेवल लगा है) को लेविस तारुक, कैस्ट्रो अलेग्जैंड्रिनो और जेसस लावा का कम्युनिस्टों के साथ सम्बन्ध होने के नाते सत्य भी समझा गया। "सम्भवतः कृषकों को स्वयं मार्क्सवाद के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं था। वे सामान्यतया शोषण और अन्याय से पीड़ित थे और उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि उनके नेताओं

को बाहरी लोग किस नाम से पुकारते हैं[११]।" ये दोनों तरह के अभियोग भूमि की लगान और उसके उपयोग की स्थिति में सुधार लाने की वास्तविक और प्रधान समस्या से ध्यान हटाने में समर्थ हुए। कुछ जापान-विरोधी सैन्य-सदस्यों (हुक्स) के कम्युनिस्ट और अन्य के समाजवादी होने के कारण, उनपर लगाया गया कम्युनिस्ट 'लेबल' सामान्यतया और फिलीपाइन के बाहर विशेषतया सत्य माना गया, इसलिए दबाव डालने की प्रक्रिया को आन्दोलन के कारणों को दूर किये बिना ही, युद्ध के पश्चात् उपयुक्त सिद्ध किया गया और इसे स्वस्थ सार्वजनिक नीति समझा गया। तथापि, राष्ट्रपति क्यूरियो ने समझौते के लिए वार्ता करने और साथ ही बलात् दबाव डालने का भी प्रयत्न किया। एक राज्य-क्षमा-समझौता किया गया, जिसके परिणामस्वरूप लुइस तारुक को प्रतिनिधियों की सभा में, जिसके लिए वह निर्वाचित हुआ था, स्थान दिया गया। तथापि, कुछ समय पश्चात् वह अपने उन अनुयायियों के बीच पुनः आ गया, जिन्हें क्षमा-दान के समय, सुरक्षा-पूर्वक अपना हथियार डालने के लिए राजी नहीं किया जा सका था। समझौते की इस अवधि के अन्त में पुनः संघर्ष की पुनरावृत्ति हुई।

(७) युद्धोत्तर निर्वाचन

युद्धोत्तर राजनीति के एक पक्ष का १९४८ के निर्वाचन-अभियान में पता लगा, जब जोजे पी० लारेल ने अपने को विरोधी दल के एक प्रमुख नेता के रूप में सिद्ध किया। उसने १९४६ में ओसमेना के मैत्रीपूर्ण गठबन्धन के वामपक्षी तत्त्वों का खंडन करते हुए, पूर्णतया राष्ट्रवादी आधार पर अपनी निर्वाचन-अपील की थी। उसने अपने ऊपर लगे हुए सबसे बड़े अभियोग की कि—'वह जापानी कठपुतली सरकार का प्रमुख था'—स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि—'इस प्रश्न का निर्णय स्वयं जनता ने स्वर्गीय राष्ट्रपति मैनुएल रोक्सास के निर्वाचन के समय कर दिया था, जिसके क्षमा-दान की घोषणा ने जनता की लोकप्रिय अभिलाषा की पुष्टि कर दी थी।" उसकी प्रत्यक्ष स्थिति—उसकी समष्टिवाद के विरुद्ध घोषित शत्रुता के अतिरिक्त—"जब तक उसकी संस्था स्थापित रही"—उसके संयुक्त-राज्य के साथ फिलिपाइन के सहयोग और संयुक्त-राज्य के साथ उसके सम्बन्ध बढ़ाने की नीति में पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गयी थी। डा० लारेन ने कहा कि उसका, इससे यह तात्पर्य है कि उस नीति के संदर्भ में ही १९४६ के फिलीपाइन व्यापार-अधिनियम में सुधार किया गया और फिलीपाइन के विरुद्ध इसमें सन्निहित विषमताओं में समंजन किया गया।

उसने आगे स्पष्ट किया कि—"इस देश में स्थानीय सम्पत्ति इतनी है कि उससे बिना संयुक्त-राज्य की तत्क्षण सहायता के भी देश का विकास किया जा सकता है। किन्तु

लोगों का वर्तमान सरकार में विश्वास नहीं है और उन्हें अपना धन लगाने में संकोच होता है[१२]।" इस विश्वास की कमी का कारण, लारेल ने सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार, उसकी अक्षमता और उसके अतिशय व्यय में असंतुलन बताया।

क्विरिनो अपनी ओर से विदेशी मामलों में अपने प्रयत्न द्वारा एक पैसिफिक संधि के माध्यम से—समष्टिवाद के विरुद्ध पैसिफिक और सूदुर पूर्व के देशों का एक सम्मिलित मोर्चा बनाने की दिशा में उन्मुख हुआ। इससे उसकी सरकार का संयुक्त-राज्य की नीतियों से मैत्रीपूर्ण सहयोग स्थापित हुआ और एक ऐसे कार्य का समारम्भ हुआ, जिस पर उसकी संयुक्त-राज्य की यात्रा के समय जोर दिया गया था।

८ नवम्बर को किये गये अभियान और निर्वाचन में पर्याप्त अव्यवस्था और उपद्रव हुआ। निर्वाचन में क्विरिनो अध्यक्ष-पद के लिए चुना गया और उदारवादी दल का विधानांग पर नियंत्रण स्थापित हुआ। लारेल ने निर्वाचन में पर्याप्त मत प्राप्त किया, जो उसके फिलीपाइन की राजनीति में पुनः लौटने की व्यक्तिगत सामर्थ्य और निर्वाचन अभियान में उठाये गये उसके प्रश्नों को मनवाने में मतदाताओं की इच्छा दोनों का द्योतक था। वह निर्वाचित भी हो गया होता, यदि क्विरिनो और उसके समर्थकों ने राष्ट्रपति पद के अधिकारों का निर्वाचन में उपयोग न किया होता।

जिस समय क्विरिनो ने राष्ट्रपति का पद प्राप्त किया, उस समय न तो देश की राजनीतिक हालत अच्छी थी, न आर्थिक। सरकार के विरुद्ध हुक (जापान-विरोधी-सैन्य संगठन के सदस्य) बराबर विद्रोह कर रहे थे। वे १९५० में उस देश में हर जगह उपस्थित समझे गये, उनकी सेना में लगभग ४०,००० सशस्त्र सदस्यों का अनुमान किया गया था जिसके अलावा लगभग २५,००,००० सुरक्षित सैनिकों के होने का अनुमान किया जाता था। उन्होंने मनीला के बाहरी क्षेत्रों में आक्रमण किया और स्वयं राजधानी पर भी इनसे खतरे की सम्भावना दिखाई पड़ी।

ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ने एक युवक कांग्रेसी-सोमन मैगसेसे को सुरक्षा-सचिव नियुक्त किया और उन्हें हुकों के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने का दायित्व सौंपा। मेगसेसे ने सेना का पुनःसंगठन किया और उसकी शक्ति सम्वर्धित की जिसे उसके बाद उन्होंने हुकों के विरुद्ध पुलिस-सिपाहियों के स्थान पर प्रयुक्त किया। हुकों के नियंत्रण-क्षेत्र से उन्हें निकालने के लिए सैनिक छापामार-कौशल का विकास किया गया। प्रधान हुक-नेताओं का पता देने या उनको पकड़ने के लिए पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गयी। अतः इस प्रकार शत्रु के विरुद्ध युद्ध किया गया। इसके अतिरिक्त इसके दूसरे पर्याय के रूप में नेताओं के अतिरिक्त अन्य समर्थन करने वालों को राज-क्षमा, पुनर्वास और साथ ही सुरक्षा प्रदान करने का वचन दिया गया। इससे भी अधिक मैगसेसे ने इस बात

पर जोर दिया कि इस सम्बन्ध में दिये गये वचन और विश्वासपूर्वक स्वीकृत शर्तें पूरी की जानी चाहिए। इस चातुर्यपूर्ण उपाय का—जिसे जारी रखा गया—अच्छा प्रतिफल हुआ। १९५८ तक केवल हुक-नेता जेसस लावा ही गिरफ्त में नहीं आया था, पर उसके अधिकतर अनुयायियों ने भी आत्म-समर्पण कर दिया था।

हुकों के विरुद्ध मैगसेसे की सफलता का एक कारण—उसके द्वारा सेना और सुरक्षा-विभाग के प्रशासन में ईमानदारी की स्थापना करने की उसकी ख्याति थी। इसे एक नये विकास के रूप में समझा गया, जिसमें १९४९ के निर्वाचन के समय की अधिकांशतः स्वीकृत स्थित दशा के विपरीत एक आन्दोलन शुरू किये जाने की आशा दृढ़ की। उस समय की राजनीतिक अवस्था ऐसी थी, जिसमें व्याप्त भ्रष्टाचार, दमन, हिंसा और अव्यवस्था के कारण जनता को इस देश में स्वस्थ लोकतंत्र का विकास होने का विश्वास दिलाना दुष्कर था। तथापि, १९४९ की तत्कालीन परिस्थितियों को १९५१ के निर्वाचन तक बदला जा सका। मैगसेसे के अधीन संगठित नयी सेना को निर्वाचनों के सुरक्षात्मक नियंत्रण का उत्तरदायित्व दिया गया था। मतदाताओं में निर्वाचनों के प्रति रुचि बढ़ाने के लिए ईमानदार निर्वाचनों में रुचि रखने वाले नागरिकों के संगठनों की स्थापना हुई। परिणामतः १९४९ के निर्वाचनों में हुई गड़बड़ियों का आरोप १९५१ के निर्वाचनों के संबंध में नहीं लगाया जा सका। विरोधी (नेशियोनलिस्ता) पार्टी में सिनेट की कुल भरी जाने वाली सभी नौ जगहें प्राप्त कीं और २६ निर्वाचित प्रान्तीय राज्यपालों (गवर्नरों) में क्विरिनो की उदारवादी पार्टी को २० स्थान मिले।

जब राष्ट्रपति के निर्वाचन का समय आया, क्विरिनो के स्थान पर, जो पुनर्निर्वाचन कराना चाहता था और जिसके समर्थक उदारवादियों का नियंत्रण उसे पुनः नामांकित करने में समर्थ था, राष्ट्रपति पद के लिए मैगसेसे को वांछित उम्मीदवार समझे जाने की बात की जाने लगी। ऐसे में, राष्ट्रवादी निर्वाचन में, जिसके चुने जाने की विशेष संभावना हो, उसे ही इस पद के लिए नामांकित कराने के उद्देश्य से मैगसेसे के पास पहुँचे। अतः अपने को राष्ट्रवादी पार्टी का उम्मीदवार बनाने के लिए उसने ऐसी परिस्थितियों में सुरक्षा सचिव के पद से त्यागपत्र दे दिया। जनरल रोमोलो, जो राष्ट्रसंघ में अपने देश का प्रतिनिधि और विदेश-मंत्री रहा था, उसके विरोध के होते हुए भी उदारवादियों ने क्विरिनो को पुनः राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार नामांकित किया। इस पर रोमोलो ने अपने समर्थकों के साथ उदारवादी पार्टी छोड़ कर एक नयी पार्टी—'लोकतंत्र पार्टी' की स्थापना की, जिसने रोमोलो को राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए उम्मीदवार बनाया। क्विरिनो के मतों में विभाजन न होने देने के लिए रोमोलो ने अपना नाम वापस ले लिया और लोकतांत्रिकों ने राष्ट्रवादियों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया और उनके

राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार मैंगसेसे और उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार गैरसिया का समर्थन किया।

चूँकि मैंगसेसे और रोमोलो दोनों ने क्विरिनो के समर्थन से अपने को अलग करने का कारण उसने प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार और कार्य-कुशलता की कमी बताया था, इसलिए सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार ही निर्वाचन-अभियान का लक्ष्य हो गया।

निर्वाचन १० नवम्बर, १९५३ को हुए। इसमें मैंगसेसे की विजय हुई और राष्ट्रवादी पार्टी को सफलता प्राप्त हुई। मैंगसेसे ने अपने मतदान में बहुत बड़ा बहुमत प्राप्त किया था। इसमें मैत्री-संगठन को अभूतपूर्व विजय मिली थी, जिसने सीनेट की आठ भरी जाने वाली जगहें प्राप्त की थीं और प्रतिनिधियों की सभा पर अधिकार प्राप्त किया था। नये 'सीनेट' में १२ राष्ट्रवादी, ६ लोकतांत्रिक, १ नागरिकों की पार्टी का सदस्य और केवल ४ उदारवादी थे। सभा में उदारवादियों का पहले का बहुमत घटकर अब सभा की कुल सदस्यता का केवल एक तिहाई रह गया था।

पार्टियों में परिवर्तन होने के अतिरिक्त इस निर्वाचन की एक और विशेषता यह थी कि मैंगसेसे और उसके समर्थकों ने प्रादेशिक और स्थानीय नेताओं के माध्यम से जनता के साथ अपरोक्ष सम्पर्क न स्थापित कर, ग्रामीण जनता से स्वयं सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। मैंगसेसे ने राष्ट्रपति के रूप में जनता को अपनी जैसी भी आर्थिक और सामाजिक स्थिति के बावजूद (बड़े-छोटे का अन्तर किये बिना) अपनी शिकायतें सीधे राष्ट्रपति तक पहुँचाने की सुविधा देकर, इस सीधे सम्पर्क को बनाये रखा।

नये राष्ट्रपति ने ३० दिसम्बर, १९५३ को अपना पद सम्हाला और उस समय तक उस पर बने रहे, जब तक कि १९५२ ई० में एक वायु-दुर्घटना में उनकी दुखद मृत्यु नहीं हो गयी, जिसका समाचार पाकर राष्ट्र शोकाकुल हो गया। उनके बाद उनके पद का भार उपराष्ट्रपति कैरलस गैंसिया ने ग्रहण किया, जिन्होंने मैंगसेसे की नीतियों का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा की।

राष्ट्रपति गैंसिया राष्ट्रवादी दल के उम्मीदवार की हैसियत से १२ नवम्बर, १९५७ को हुए निर्वाचन में अपने बल पर राष्ट्रपति के रूप में विजयी हुआ। अपने राष्ट्रपति पद के नये कार्य-काल में प्रवेश करते समय उसकी स्थिति काफी मजबूत थी, क्योंकि कांग्रेस की दोनों सभाओं में उसे सशक्त समर्थन प्राप्त था और सिनेटर क्लैरो रेक्टन, जो पार्टी के नेतृत्व के लिए उसके संघर्ष करने पर असफल हुआ था, राष्ट्रपति के लिए स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में खड़े होने के लिए पार्टी से अलग हो गया था। राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने के साथ गैंसिया को देश की पुरानी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा,

जो उसे एक प्रकार से अपने पद-ग्रहण के साथ उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थीं। ये कठिनाइयाँ राष्ट्रपति मैगसेसे को भी अपने पूर्व राष्ट्रपतियों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थीं।

(८) आर्थिक समस्या

क्विरिनो के प्रशासन में वित्तीय और आर्थिक स्थिति गंभीर रूप में गिर गयी थी। युद्धोत्तर के आरम्भिक वर्षों में नये गणतंत्र ने 'पुनर्निर्माण-वित्त-निगम" के माध्यम से ७ करोड़ डालर का सीमित अमेरिकी ऋण प्राप्त कर देश में पर्याप्त अच्छी आर्थिक स्थिति कायम कर ली थी। पुनर्निर्माण किये जाने पर देश का आन्तरिक और विदेशी दोनों व्यापार पुनर्जीवित हो उठा, जिस व्यापार से देश को कुछ हद तक समृद्ध होने का भी अवसर मिला। अतः व्यापार-विधेयक के अल्पकालीन उद्देश्य, युद्ध-क्षति की पूर्त्ति के साथ पूरे होते दिखाई पड़े। फिर भी, यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि यह पुनर्जागरण और पुर्ननिर्माण—फिलीपाइन के अपने साधनों के प्रयोग और विकास पर आधारित अच्छे नियोजन और प्रायोजनाओं के कार्यान्वियन से न होकर, प्रधान रूप से अमेरिकी सरकार की सहायता और साथ ही कुछ अमेरिकियों द्वारा उस देश के व्यावसायिक विकास के लिए लगायी गयी निजी पूँजी के कारण सम्भव हुआ था। इसमें गिरावट आने पर इस तथ्य को, कम-से-कम संयुक्त-राज्य में माना गया था। परिणामस्वरूप जब राष्ट्रपति क्विरिनो ने संयुक्त-राज्य से आर्थिक सहायता की अपील की, तो राष्ट्रपति ट्रूमन ने १९५० में डैनियल डब्ल्यू बेल के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि दल, वहाँ की स्थिति का अध्ययन करने के के लिए, मनीला भेजा। इस प्रतिनिधि दल ने अन्य चीजों के साथ, यह पाया कि—

"यद्यपि उत्पादन सामान्य युद्ध-पूर्व के स्तर पर पहुँच गया है, फिर भी उत्पादन-क्षमता की वृद्धि और अर्थ-व्यवस्था के विविध विकासों को कोई मौलिक महत्त्व नहीं दिया गया है। बढ़ी हुई आबादी के लिए नयी भूमि को प्रयोग में लाने, कृषि-कार्यों की विधि में विकास करने या मजदूरों और काश्तकारों की स्थिति में सुधार करने के लिए सम्भवतः कुछ भी नहीं किया गया है। जब कि बहुसंख्यक जनता का रहन-सहन युद्ध-पूर्व के स्तर तक नहीं पहुँचा है, व्यापारियों का लाभ और बड़े भू-स्वामियों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है।"[१३]

प्रतिनिधि-मंडल की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए १४ नवम्बर, १९५३ को एक समझौते पर हस्ताक्षर किया गया। प्रस्तावित सुधारों, जैसे—कर-व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिए विधान बनाने की जरूरत पड़ी। विरोध होते हुए भी राष्ट्रपति व्यक्तिगत आय-कर और नियम तथा आबकारी-करों में समंजन करने में समर्थ हुए। सरकार ने विदेशी-विनिमय पर भी १७ प्रतिशत कर लगाने का प्रस्ताव किया और

कृषकों के लिए न्यूनतम मजदूरी कानून लागू कराया। प्रतिनिधि-मंडल की सिफारिशों पर संयुक्त-राज्य ने इस शर्त पर फिलीपाइन को २५ करोड़ स्टलिंग की आर्थिक सहायता देने का वचन दिया, कि उसका व्यय मुख्य रूप से प्रायोजना के आधार पर किया जायगा और इस निधि के उपयुक्त उपयोग को सुनिश्चित करने की दृष्टि से उसपर संयुक्त राज्य का पर्यवेक्षण होगा।

इस समय किये गये सुधार और लागू की गयी प्रायोजनाएँ आर्थिक समस्याएँ नहीं सुलझा सकीं। परिणामतः मैगसेसे ने राष्ट्रपति-पद ग्रहण करते ही ५०० करोड़ स्टर्लिंग की लागत की एक पंचवर्षीय विकास-योजना की घोषणा करते हुए इस दिशा में और उन्नति करने का प्रयत्न किया। इस कार्यक्रम और अन्य बढ़े हुए सरकारी व्ययों की व्यवस्था करने के लिए कर-वसूली की और समुन्नत विधि बनायी गयी और बचत करने का प्रयत्न किया गया, जैसे बड़ी लागत वाली—फिलिपाइन हवाई मार्ग की अन्तर्राष्ट्रीय परियोजना को रद्द कर अर्थ-संग्रहीत किया गया। किन्तु अपनी प्रायोजनाओं को चालू रखने के लिए सरकार ने और अधिक विदेशी सहायता की अपेक्षा की। यह बाद में 'निर्यात-आयात-बैंक-ऋण' और 'अन्तर्राष्ट्रीय सहकार प्रशासन-सहायता-ऋण' के रूप में में प्राप्त हुई और इसके साथ ही प्रायोजना के आधार पर सीधी आर्थिक सहायता भी उसे मिलती रही। और नियोजित विकास व्यय में खास मदद के लिए जापान से भी क्षति-पूर्ति के रूप में उसे काफी बड़ी रकम मिलने की आशा थी।

तथापि, १९५६ के पहले जापान के साथ कोई समझौता नहीं हो पाया था। इस समझौते में क्षतिपूर्ति के लिए उस ५५ करोड़ स्टर्लिंग का, जिनमें से अधिकतर वस्तुगत पूँजी के रूप में, किन्तु ३ करोड़ स्टर्लिंग विविध सेवाओं और २ करोड़ स्टर्लिंग उपभोग्य पदार्थों के रूप में—अनेक किश्तों में भुगतान करने का निर्णय किया गया था। पहले वर्ष में क्षति-पूर्ति का भुगतान, केवल ग्रामीण-विकास के लिए आवश्यक सामानों के रूप में किये जाने की व्यवस्था की गयी थी।

मैगसेसे के विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत भूमि-सुधार को भी सम्मिलित किया गया था। यह एशिया के अन्य देशों की भाँति प्रचलित पट्टेदारी-व्यवस्था में सुधार करने की दिशा में उन्मुख था। कानून में भूमिगत जायदाद की बेदखली की भी व्यवस्था की गयी थी। इस कानून को विधि-सम्मत बनाये जाने पर सरकार ने ५०,००० वर्षों के लिए भूमि पर स्वामित्व देने का विधान बनाया। चूँकि बेदखल जमीन के हरजाने का भुगतान करना था, इसलिए भूमि-सुधार-कार्यक्रम के कार्यान्वियन में अर्थ की समस्या उपस्थित हुई, जो समस्या राष्ट्रपति गॅर्सिया को अपने पूर्व राष्ट्रपतियों से उत्तराधिकार के रूप प्राप्त हुई थी। किन्तु मौलिक रूप से उसने उस आर्थिक समस्या को, जिसे सुलझाने में उसके पूर्व

राष्ट्रपति असफल रहे, सामना किया, जो समस्या सुख-सामग्रियों के आयात के बड़े व्यय के कारण उपस्थित हुई थी, जब वहाँ देशी बाजार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकी थी, जिससे विदेशी आयात पर काफी भुगतान करना पड़ता था।

(९) विदेशी सम्बन्ध

अपनी स्वाधीनता की स्थापना के बाद फिलीपाइन गणतंत्र ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और सूदुर पूर्व की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया। इसके दृष्टान्त स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व ही दृष्टिगत हुए थे। राष्ट्रपति क्वीजान जून, १९४२ में संयुक्त-राष्ट्र-संघ के घोषणा-पत्र के हस्ताक्षरकर्ताओं में से एक थे। उन्होंने और उनकी मृत्यु के पश्चात् ओसमेना, युद्ध के समय 'पैसिफिक युद्ध-समिति' के सदस्य रह चुके थे। राष्ट्र-मंडल-सरकार ने दोनों—'राष्ट्र-संघ सहायता और पुनर्वास प्रबन्ध' और 'ब्रेटन वुड्स'—संधियों पर हस्ताक्षर किया था और फिलीपाइन ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ के निर्धारक सदस्य के रूप में सैनफ्रान्सिस्को में संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर का आलेख तैयार करने में हिस्सा लिया था। फ्रांसिस्को में इसके प्रधान प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त जनरल रोमोलो ने छोटे राज्यों द्वारा सशक्त निषेधाधिकार का प्रयोग रोकने के लिए किये गये प्रयत्नों में अपना सक्रिय योगदान दिया था। उसने गैर-स्वायत्त-शासन-क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी यथासम्भव विस्तृत अधिनियम बनवाने का प्रयत्न किया था। फ्रान्सिस्को में रोमोलो के रुख ने फिलीपाइन की विदेश-नीति का स्वरूप स्थिर किया। जहाँ कुछ मामलों में यह गणतंत्र घनिष्ठता-पूर्वक अमेरिकी नीति का अनुसरण करता रहा, वहीं कुछ मामलों में वह पूरी तरह स्वतंत्र भी रहा।

फिलिपाइन के अपनी स्थापना के उपरान्त राष्ट्र-संघ में सक्रिय कार्यों का प्रमाण—१९४९ में जनरल रोमोलो के इसकी साधारणसभा के अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित होने, १९४८–४९ में न्यासधारी समिति में फिलिपाइन के निर्वाचित होने और यूगोस्लाविया से मतभेद के समय सुरक्षा-परिषद् में एक कार्यावधि के लिए इसके निर्वाचित होने में भी मिलता है।

राष्ट्र-संघ के साथ-साथ इसके बाहर भी, जैसा बांदुग-सम्मेलन में फिलीपाइन सरकार ने एशियाई-अफ्रीकी देशों और पश्चिमी देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने की दृष्टि से सेतु की भाँति कार्य किया। उसके अनेक मामलों में संयुक्त-राज्य के साथ घनिष्ठता के साथ जुड़े रहने और फिलिपाइन की पृष्ठिभूमि में एशियाई सम्बन्ध की अपेक्षा पश्चिमी संबंध की प्रधानता होने के कारण यह कार्य करने में उसे कठिनाई भी उठानी पड़ी।

तटस्थ एशियाई राज्यों ने फिलिपाइन की विदेश-नीति को इसके गणतंत्र के संयुक्त-राज्य पर निर्भर होने का द्योतक समझा। इसकी परीक्षा अनेक परिस्थितियों में हुई, जैसे चीन के प्रति अपनायी गयी उसकी नीति, इसका एक प्रमाण है। इस मामले में संयुक्त-राज्य और फिलीपाइन ने परस्पर एक दूसरे की ओर देखा, किन्तु उन्हें ऐसा, केवल पारस्परिक निर्भरता के कारण ही करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

फिलिपाइन में स्थित थोड़े-से, किन्तु महत्त्वपूर्ण चीनी अल्प-संख्यकों के तत्सम्बन्धी कार्य-कलाप फिलीपाइनों और उनकी सरकार के लिए चिन्ताकारक थे, क्योंकि उस देश के फुटकर व्यापार के बड़े हिस्से पर चीनियों का नियंत्रण था। यह चिन्ता चीनी कम्युनिस्टों का चीन की मुख्य भूमि पर अधिकार होने के समय और बढ़ गयी, क्योंकि ठीक उसी समय कम्युनिस्ट नेतृत्व के साथ हुक (जापान-विरोधी सैन्य-संगठन) आन्दोलन सरकार का सैनिक कार्रवाइयों से काफी विरोध कर रहा था। चीनी कम्युनिस्टों द्वारा हुकों को तथा उस द्वीप-समूह के उन चीनियों को समर्थन मिलने से सरकार की कठिनाइयाँ बढ़ सकती थीं, क्योंकि उनके विरुद्ध आर्थिक कारणों से सरकार कार्रवाई करने के लिए बाध्य थी। दो दोषों में से एक का चुनाव करने की दृष्टि से फिलीपाइन सरकार ने कम्युनिस्ट चीन के विपक्ष में राष्ट्रवादी चीन का पक्ष ग्रहण करना कम दोष-पूर्ण समझा, इसलिए उसके साथ हो गया। ऐसा करने में, सम्भवतः, उसने १९५० के बाद अपने को उसी स्थिति में पाया, जिसमें संयुक्त-राज्य था।

संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य होने के साथ संयुक्त-राज्य के साथ स्थापित अपने सम्बन्धों के कारण उसने कोरियाई युद्ध में सम्मिलित होने के लिए अपनी एक सैनिक टुकड़ी भेजी और उस संघर्ष से उद्भूत प्रश्नों पर उसने संयुक्त-राज्य का साथ दिया।

मनीला ने स्वतंत्र रूप से और अमेरिकी नीति से आगे बढ़कर एक 'प्रादेशिक-एशियाई-सामूहिक-सुरक्षा-प्रणाली' की स्थापना करने का प्रयत्न किया, जब उसने इसके लिए मई, १९५० में एक सम्मेलन बुलाया, किन्तु वह निष्फल हो गया। अतः फिलीपाइन सरकार बिना संयुक्त-राज्य के अधिक जोर-दबाव के ही 'सीटो' (दक्षिणी-पूर्वी एशियाई संधि संगठन) में सम्मिलित हो गयी।

फिलीपाइन जब तक क्षति-पूर्ति के प्रश्न पर संतोषप्रद समझौता वार्ता करने में समर्थ नहीं हो गया, तब तक उसने जापान-शान्ति-संधि को रोक रखने के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य किया।

तिस पर भी, देश का संयुक्त-राज्य से सम्बन्ध जुड़ा होने के कारण इस बात की आवश्यकता पड़ी कि सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में सामान्यतया संयुक्त-राज्य द्वारा अपनायी दिशा की ओर ही उन्मुख होना चाहिए। फिलीपाइन की सरकार और

जनता संयुक्त-राज्य द्वारा निर्धारित कतिपय शर्तों की पूर्ति के सम्बन्ध में पूर्णतया संतुष्ट नहीं थी और उसने इनमें सुधार करने में भी आंशिक सफलता ही प्राप्त की थी। इन मामलों में—फिलिपाइन और संयुक्त-राज्य के सीधे सम्बन्धों में रुक-रुककर विरोध भी उत्पन्न होता रहा, जब फ़िलीपाइन-सरकार अपने कुछ विचार उस बिन्दु तक आरोपित करने का प्रयास करती थी कि वास्तविक रूप में उसे असह्य समझा जाता था और कभी-कभी इस संदर्भ में फिलीपाइन का संयुक्त-राज्य के साथ सम्बन्ध, उसके एक उपग्रह (या पिछलग्गू राज्य) के साथ स्थापित सम्बन्ध के समान माना जाता था। मौलिक रूप में फिलीपाइन के कुछ पड़ोसी देशों ने, विशेष रूप से इंडोनेशिया ने इसके साथ पर्याप्त मैत्री-पूर्ण रुख नहीं अपनाया, जिसका कारण संयुक्त-राज्य और फिलीपाइन के बीच स्थापित मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध न होकर वहाँ की स्थानीय समस्याएँ थीं। अधिकतर फिलीपाइन पर संयुक्त-राज्य की अधीनता का आरोप, विचारों में संघर्ष का कारण न होकर उसका एक बहाना था।

(१०) इंडोनेशियाई गणतंत्र

मलाया से न्यूगिनी तक फैला हुआ द्वीप-समूह (पहले का नीदरलैण्ड-पूर्वी द्वीप-समूह) इंडोनेशिया कहा जाता है। भूमध्य रेखा के दोनों ओर ५५ अंश देशान्तरों के बीच द्वीप-समूह की शृंखला पश्चिम से लेकर पूर्व की ओर ३२०० मील से अधिक की दूरी में फैली हुई है। संसार के ऊष्णकटिबंधीय भागों की उपज, जैसे—चीनी, रबड़, चाय, काफी, कुनैन, ताड़ का तेल, नारियल के पदार्थ, सीसम, सेमल और खनिज पदार्थों—मिट्टी के तेल, टिन और 'बौक्साइट' आदि के उत्पादन के पर्याप्त अंश की पूर्ति इन द्वीप समूहों से ही होती है।[१४] अतः इंडोनेशिया की गणना संसार के अति सम्पन्न देशों में की जाती है।

यहाँ की अनुमानित (१९४० की) जन-संख्या ७०,०००,००० निवासियों की थी, जिनमें इंडोनेशियाइयों की संख्या बहुत अधिक थी, जो अनेक जातीय दलों में विभक्त थे। विगत जन-गणना १९५० में यहाँ की कुल ६०,८०९,००० जन-संख्या में से ५९,१३८,००० इंडोनेशियाई थे।

"इसके मूल देशी निवासियों के अतिरिक्त यहाँ जो लोग हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या चीनियों की है, जो १९३० में १,२३३,००० थी। द्वीप-समूहों में सामान्यतया जिन्हें यूरेशियाई या 'इंडो-यूरोपीय' कहा जाता है, उन्हें मिलाकर यूरोपियों की संख्या उस समय २२३,००० थी। इन विदेशी निवासियों में इसके बाद सबसे बड़ी संख्या अरबियों की है, जो उस समय ७०,००० थी। यूरोपियों, चीनियों और अरबियों ने इस द्वीप-समूह के सामाजिक जीवन में अपनी कम संख्या के बावजूद भी अपनी संख्या की तुलना में उससे

कहीं अधिक हिस्सा लिया है। १९३० में द्वीप-समूह में लगभग ३०,००० ब्रिटिश-इंडियन भी थे।"[१५]

इंडोनेशिया के जावा और मदुरा द्वीप-समूहों की आबादी सबसे घनी थी, जहाँ ५१,००० वर्ग मील में ४१,७१९,५२४ लोग, अर्थात् देश की कुल आबादी के दो-तिहाई से भी अधिक लोग बसे हुए थे। औसतन यह आबादी ९०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील से भी अधिक है,[१६] जब कि इसके विपरीत डच-न्यूगिनी में प्रति दो वर्ग मील पर भी इतनी आबादी नहीं है। धार्मिक दृष्टि से इंडोनेशिया में बहुसंख्यक मुसलमान धर्मावलम्बी हैं, इसके अतिरिक्त उस समय बीस लाख से अधिक ईसाई थे, और १५ लाख बलीनी हिन्दू थे।

अपने इस उपनिवेश पर शासन करते हुए डचों ने स्थानीय संस्थाओं और विशेष रूप से स्थानीय विधियों और रीति-रिवाजों का अनुरक्षण करते हुए अप्रत्यक्ष शासन-पद्धति अपनायी। १७९८ में नीदरलैण्ड सरकार द्वारा 'डच-ईस्ट इंडीज-कम्पनी' के विस्थापन के बाद भी, केन्द्रीय और दफ्तरशाही कार्यकर्मियों के रूप में डच-अधिकारियों की प्रधानता स्पष्टतया बनी रही। प्रान्तों के गवर्नर इस द्वीप-समूह के लिए नियुक्त गवर्नर-जनरल के अधीन थे, जब कि स्वयं गवर्नर जनरल हालैण्ड सरकार के अधीन था।[१७] इस अत्यधिक केन्द्रीकरण में १९२० के आस-पास के वर्षों में संशोधन करना शुरू किया गया, जिसके अनुसार बटाविया में स्थित गवर्नर जनरल पूरे साम्राज्य की सरकार का पूरा शासन सम्हालता था और वह हालैण्ड सरकार के बड़े पर्यवेक्षण में अपना कार्य करता था। औपनिवेशिक सरकार को और अधिक स्वायत्तता प्रदान की गयी और १९१८ में बोल्कसराद (जनता की परिषद्) की स्थापना की गयी, जिसने क्रमशः अधिकाधिक अधिकार प्राप्त किया। १९२७ तक इसने (बोल्कसराद ने) केवल सलाह देने का अधिकार पाया था, किन्तु उसी साल बाद में इसे सह-संवैधानि अधिकार दिये गये, जिसका क्रियात्मक रूप में यह अर्थ हुआ कि वैधानिक कार्यों पर सामान्यतया दोनों 'बोल्कसराद' और गवर्नर-जनरल का अनुमोदन लेने की आवश्यकता पड़ने लगी।"[१८] 'बोल्कसराद' के ६० सदस्यों में से--३० इंडोनेशियाई थे, जिनमें २० निर्वाचित किये गये थे, २५ यूरोपीय थे और बाकी जगहें गैर-एशियाइयों द्वारा या उन्हीं में से चुने गये सदस्यों से भरी गयी थीं। अतः यह संस्था किसी भी प्रकार अनिवार्यतः जनता के बहुमत के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाली नहीं थी।

(११) इण्डोनेशियाई राष्ट्रीयता का विकास

सरकारी तंत्र-पद्धति के केन्द्रीकरण में ऐसी कमी होने के साथ और इसकी पूर्व सहधर्मी नीति के अनुरूप, जिसके अन्तर्गत जनता के सामाजिक और आर्थिक हितों की

ओर अधिक ध्यान देने का दृष्टिकोण अपनाया गया था, इंडोनेशिया में युद्ध-पूर्व की इंडोनेशियाई राष्ट्रीयता का उदय हुआ। प्रथम राष्ट्रवादी समिति-'बोयेडी ओएटोमो' (अभूतपूर्व प्रयास) ने १९०८ में अपनी पहली कांग्रेस बुलायी। इसका उद्देश्य जनता की आर्थिक और शिक्षागत स्थिति को समुन्नत करना था।[११] प्रथम बार चीनियों से मुक्ति पाने की इच्छा से बनी संस्था–'सरीकत इस्लाम' ने इसका अनुसरण और अनुपालन किया। इस दल ने अपनी पहली कांग्रेस १९१३ में की। १९१२–१९१५ के बीच इसका पर्याप्त रूप से विकास हुआ। इसके कार्यों में उन मजदूर-संगठनों के सहयोग को सहयोजित करना आरम्भ किया गया, जो प्रथम विश्व-युद्ध के समय या उसके बाद स्थापित हुए थे। १९२३ में इसके अति उग्रवादी नेताओं को पार्टी से अलग कर दिया गया, जो इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी में जा मिले। १९२७ में कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित राजद्रोह को कड़ाई के साथ दबा दिया गया। इसके बाद सरकार सभी राष्ट्रवादियों के विरुद्ध जिनमें से अधिकों पर कम्युनिस्ट 'लेबल' लगा हुआ था, और इस प्रकार जिन्हें दबाना या निष्कासित करना उपयुक्त समझा गया था, अपनी दबाव-नीति का कठोरता के साथ उपयोग किया। १९२७ में सुकर्नो के नेतृत्व में एक—'इंडोनेशियाई राष्ट्रीय पार्टी' का संगठन किया गया, किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व बुद्धिवादियों के अतिरिक्त इसे भारत की कांग्रेस पार्टी या चीन की कुमितांग पार्टी की भाँति राष्ट्रीय भावना वालों के एक अनुशासनपूर्ण संगठन के रूप में स्थापित नहीं किया जा सका था। और साथ ही इस एकता के अभाव के साथ, इसकी सहायता की दृष्टि से—यह भी मानना पड़ेगा कि इंडोनेशियाई राष्ट्रीयता सामूहिक आन्दोलन के रूप में उदित नहीं हुई थी। राजनीतिक चेतना कुछ लोगों में, वस्तुतः बुद्धिवादियों के विकसनशील वर्ग में सीमित थी, जो अपनी भावना और अनुभव की दृष्टि से जनसाधारण से दूर थे। फिर भी डचों को अशान्त करने के लिए और उन लोगों के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए उसे अग्रसर करने के निमित्त राष्ट्रीयता का यह विकास पर्याप्त समझा गया था, जिन्होंने राजनीतिक प्रवृत्ति व्यक्त की थी या जिन लोगों ने हालैण्ड द्वारा निर्धारित स्वायत्त शासन को क्रमशः लागू करने की डच-नीति को मानकर उनके साथ औपचारिक रूप से सहयोग करना नहीं स्वीकार किया था। अनेक योग्य प्रशिक्षित इंडोनेशियाइयों ने नौकरशाही के निम्न स्तरों में सम्मिलित होकर इसके साथ सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की थी।

इंडोनेशिया में योग्य और अनुभवी राजनीतिक नेतृत्व का विकास न होने का, अन्य कारणों में से एक प्रधान कारण यह था कि डच-नीति के अनुसार इंडोनेशिया में शिक्षा का प्रसार नहीं किया गया था। लगभग ९३ प्रतिशत इंडोनेशियाई निरक्षर थे और केवल लगभग ४००,००० डच पढ़ सकते थे। जिन्होंने द्वीप-समूह में शिक्षा पायी थी,

उन्हें बाहर, यहाँ तक कि हालैण्ड में भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने जाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया गया था। किन्तु युद्ध-पूर्व का राष्ट्रीयतावादी आन्दोलन इस छोटे-से विद्यार्थी-वर्ग की भावनाओं और प्रेरणाओं के फलस्वरूप ही प्रादुर्भूत हुआ था। इसकी प्रेरणा विशेष रूप से विदेशी साधनों से प्राप्त हुई थी, जो इसके सैद्धान्तिक मतभेद का कारण भी बनी।

(१२) इंडोनेशिया पर युद्ध के प्रभाव

नीदरलैण्ड पर जर्मनी के आक्रमण से—लगता है, इंडोनेशिया की स्थिति पर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ा था।

"जहाँ तक ७ करोड़ गोरों के अधिकाधिक हित और चिन्ता का प्रश्न था, इसे एक जबरदस्त पुलिस सेना द्वारा सशक्त रखा गया था, राजनीतिक गिरफ्तारियाँ बढ़ायी गयी थीं और सामान्य कार्य-कलापों पर और अधिक प्रतिबन्ध लगाये गये थे। और अन्तिम रूप से यह अनुभव किया गया था कि शिक्षित इंडोनेशियाइयों की राजनीतिक भावना के प्रति ध्यान दिये जाने का झूठा स्वांग दिखाकर उन्हें सुधारा जा सकता है। विसमन-आयोग ने इंडोनेशियाई समुदाय के विशिष्ट लोगों के राजनीतिक विचारों की साक्षी लेनी शुरू की, किन्तु जहाँ तक इंडोनेशिया का प्रश्न है, यह हालैण्ड के उस पर स्थापित दखल (अधिकार) को उदार बनाने की एक प्रतिक्रिया मात्र थी। उन राष्ट्रवादियों के साथ प्रयोग करना (सुरक्षा-व्यवस्था की दृष्टि से), जो बाद में उपद्रव का कारण बन सकते थे, अनावश्यक समझा गया था। सरकार (इंडोनेशिया) ने जापानी आक्रमण के समय तक अपनी यह उद्धत प्रवृत्ति कायम रखी।"[२०]

यह, सम्भवतः, एक राष्ट्रवादी नेता का निष्कर्ष था। डच 'विसमन-आयोग' की स्थापना से पर्याप्त प्रभावित थे और उन्होंने नीति में एक बड़ा परिवर्तन होते देखा। डचों द्वारा राष्ट्रवादियों का दमन बहुत कुछ उनसे भय उत्पन्न होने या अदूरदर्शिता के कारण नहीं, बल्कि राष्ट्रवादी नेताओं के उद्देश्य में शंका होने के कारण किया गया था, जिन्होंने वास्तव में अपने को फासिस्ट-विरोधी घोषित किया था और इसलिए इंडोनेशिया की रक्षा में सहयोग करने के इच्छुक थे। तथापि, जो कुछ भी हो, दिसम्बर, १९४१ के बाद डच रुख तेजी के साथ बदला। किन्तु उस समय तक जन-समुदाय में और कुछ देशी नेताओं में डच-विरोधी भावना 'दृढ़ से दृढ़तर' हो गयी थी। यह भावना राष्ट्रीय आन्दोलन में और उसके नेताओं में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई थी, जिनमें कुछ ने इसके आधारभूत कारणों के प्रति खुलकर अपनी सहानुभूति प्रकट की थी। वस्तुतः जापान की लोकप्रियता की वृद्धि का एक कारण—उनकी अपनी स्वतंत्रता—

प्राप्ति की दमित इच्छा को उभारना था। यह भावना बढ़ने लगी कि जापानियों द्वारा डच-निष्कासन के साथ इंडोनिशियों को मुक्ति मिलेगी।[३१]

तथापि जापानियों के मुक्तिदाता होने की कल्पना, इंडोनेशिया में बहुत शीघ्र अनर्गल सिद्ध हो गयी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में अन्य देशों में भी जापानी विजेताओं ने जैसा किया था, इंडोनेशिया में भी वैसा ही किया और वे उतने उत्पादन का भी विनिमय किये बिना, जितना पहले होता रहा है, जापानी स्वार्थ की ओर उन्मुख होते हुए और निर्यात के क्षेत्र में उसे जापानी-विनिमय के आधार पर पुनर्जीवित करते हुए, उत्पादन की पुनःस्थापना करने में असफल रहे। अतः जापान के शासन के वर्ष, इंडोनेशिया की आर्थिक गिरावट और निर्धनता को बढ़ाने वाले वर्ष सिद्ध हुए। और इस प्रकार जब तक जापान की निश्चित पराजय के लक्षण प्रगट नहीं हुए, जापानी सैनिक शासन स्वायत्त-शासन के और अधिक अधिकार देने की दिशा में कोई प्रगति नहीं कर सका था, या उतना भी नहीं कर पाया था, जितना डचों ने पहले ही कर दिया था और न उसने पूर्व घोषित जापानी नीति के अनुसार इसे स्वाधीनता प्रदान करने का लक्ष्य ही पूरा किया। अन्य जगहों की भाँति इंडोनेशिया में भी जापान के साथ सांस्कृतिक समन्वय से जापान-विरोधी-भावना कम नहीं की जा सकी और पहले जापानियों को मुक्तिदाता समझकर उनका स्वागत करने की भावना का स्थान अब उनका प्रतिरोध करने की भावना ने ले लिया।

(१३) युद्धोत्तर डच-नीति

जापानी शासन के प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया ने डचों को अपनी युद्धोत्तर योजनाएँ इस संभावना के साथ बनाने के लिए प्रेरित किया कि वे इसके अनुरूप भावी राजनीतिक घटनाओं की शर्तें और समय स्वच्छन्दतापूर्वक निर्धारित करने में समर्थ होंगे। ऐसा सोचने में उन्होंने वैसी ही गलती की, जैसी अंग्रेजों ने बर्मा के सम्बन्ध में की थी। इसमें से किसी देश ने भी जापान-विरोधी भावना या कार्रवाई के बदले, स्वायत्त शासन की दिशा में अन्तिम एवं पूर्ण स्वायत्तता या स्वाधीनता की स्थापना के लिए औपनिवेशवाद की भावना को, इसके संशोधित रूप में भी स्वीकार करने के पक्ष में अपना अभिमत व्यक्त करने का संकेत नहीं किया। इंडोनेशिया में भी बर्मा की भाँति जापानी दखल और उसे कायम रखने के प्रभाव के कारण राष्ट्रवादी नेतृत्व की परिपक्वता प्रशंसनीय नहीं समझी गयी।

युद्धोत्तर डच-नीति ६ दिसम्बर, १९४२ को महारानी वेल्हेमिना द्वारा घोषित की गयी थी। इसमें युद्ध के बाद 'नीदरलैण्ड सम्बन्धी सम्मेलन' करने की बात व्यक्त की

गयी थी, जिसमें "बदली हुई परिस्थितियों के संदर्भ में साम्राज्य और इसके भागों के स्वरूप पर संयुक्त विचार विमर्श' करने की घोषणा की गयी थी। अन्ततः महारानी ने यह व्यवस्था दी कि—'एक इंडोनेशियाई राष्ट्र-मण्डल की स्थापना की जाय, जिसमें नीदरलैण्ड, इंडोनेशिया, सुरिनम और कुराको—पूर्ण आत्मविश्वास और स्वतंत्रता के साथ इसके प्रत्येक भाग के निजी आन्तरिक मामलों के सम्बन्ध में कार्रवाई करें, किन्तु वे एक-दूसरे को पारस्परिक सहायता प्रदान करने के लिए भी प्रस्तुत रहें।'[२२] पश्चिम-विरोधी क्षेत्रों में इस घोषणा को द्वीप-समूहों की अपेक्षा, जहाँ इसे तत्कालीन परिस्थितियों में विस्तारपूर्वक प्रचारित नहीं किया गया, विशेष महत्त्व दिया गया था। इसने यह तथ्य प्रस्तुत किया कि इसके अन्तर्गत युद्ध-पूर्व इंडोनेशियाई राष्ट्रीयता की इच्छा और माँग को पूरा किया जा सकेगा। और वास्तव में यह सचमुच ही पर्याप्त रूप से प्रभावशाली सिद्ध हुआ होता, यदि डच-दृष्टिकोण के अनुसार नीति के कार्यान्वयन की सामान्य विधि को लागू किया गया होता और युद्ध के उपरान्त इस पर और अधिक ध्यान दिया गया होता।

तथापि, किसी रूप में युद्धोपरान्त इन घटनाओं के विकास ने डचों के सम्मुख एक नयी परिस्थिति पैदा कर दी, जिसने उन्हें युद्ध के बाद की घटनाओं के नियंत्रण को, गंभीरता से संशोधित करने को बाध्य किया। १९४३ में और उसके बाद जापानियों ने इंडोनेशियाई नेताओं को—उनके देश की सरकार में, उन्हें परामर्शदाताओं की हैसियत से सम्मिलित करना आरम्भ कर दिया था। और जापानी आत्म-समर्पण के समय, आन्तरिक सुरक्षा अभियान[२३] में जापानियों के साथ गठबन्धन करने वालों ने देश की स्वाधीनता की घोषणा कर दी और उन्होंने ऐसे संविधान तथा संगठित सरकार के साथ इंडोनेशियाई गणतंत्र की सरकार स्थापित कर ली। इस सरकार के समर्थन में जापानी आत्म-समर्पण के समय प्राप्त हथियारों से लैस एक सैन्य-संगठन भी बनाया गया। सितम्बर के अन्त में, दक्षिण-पूर्व एशियाई कमान की ब्रिटिश सेनाएँ, जिन्होंने इंडोनेशिया को युद्ध-भय पैदा करने वाले क्षेत्र का एक भाग समझा और जहाँ जापान ने जावा, मदुरा और सुमात्रा में अपना अधिकार स्थापित और सुदृढ़ कर लिया था, जापान द्वारा आत्म-समर्पण कराने पहुँची। अतः इसमें ब्रिटिश और इसके साथ-साथ डच दोनों ही सम्मिलित थे।[२४]

इस सम्बन्ध में वार्ता करने में, दूसरी कठिनाई—इंडोनेशिया गणराज्य द्वारा महारानी विल्हेमिना के दिसम्बर, १९४२ के वक्तव्य में व्यक्त क्रिया-विधि को अपनाने के लिए, जिस पर डच हठपूर्वक जोर दे रहे थे, पुनः उसका पीछे लौटना अस्वीकार कर देने से उपस्थित हुई।[२५] १० फरवरी, १९४६ को नीदरलैण्ड सरकार द्वारा नीति-विषयक

एक नये वक्तव्य में पुनः वार्ता आरम्भ करने की दृष्टि से यथास्थिति में पर्याप्त संशोधन व्यक्त किया गया। दोनों पक्षों में समझौतावादी भावना के उदय के कारण नवम्बर, १९४६ में एक समझौता करना सम्भव हो सका।[२६] इसके अनुसार डचों ने सुकर्नो का नेतृत्व स्वीकार किया, जिससे वार्ता में उपस्थित प्रथम व्यवधान दूर हुआ। सरकार ने घोषणा की कि वार्ता में जहीर को शामिल करने और सुकर्नो को न शामिल करने में मतभेद बनाये रखना इस वार्ता के लिए सहायक नहीं समझती। चूँकि गणतंत्र तत्कालीन क्षण का एक वास्तविक यथार्थ है, इसलिए सरकार इसे—वह जिस रूप में है, स्वीकार करती है समझौते को क्रियात्मक करने के लिए कुछ व्यक्तियों के साथ रियायत करने का भूतलक्षी प्रभाव स्वीकार करना चाहिए। अतः समझौते का मार्ग अवरोधहीन हो गया और (२५ मार्च, १९४७) को लिंगाडजती समझौते का समर्थन किया गया, जिसे दोनों सरकारों को अपने तत्कालीन मतभेदों को पूर्णतया महत्त्वपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयास करने का दिशा-संकेत देना था।[२७] गणतंत्र का जावा, मदुरा और सुमात्रा पर यथाविधि अधिकार स्थापित करने के लिए उनका पुनःसंगठन किया गया और यह स्वीकार किया गया कि डच और मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ द्वीप-समूह के उन भागों से हटा ली जायँगी, जिन पर उन्होंने कब्जा कर रखा है, ताकि गणतंत्र इनको १ जनवरी, १९४९ तक पूर्णरूपेण अपने अन्तर्गत कर सके। तीन गणतंत्रों (इंडोनेशिया, बोर्निओ और ग्रेट ईस्ट) को मिलाकर एक इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य बनाना तय किया गया। इसके बाद नीदरलैण्ड के साम्राज्य और इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य का एक संघ बनाने का और उसे संयुक्त-राष्ट्र-संघ में डच प्रस्ताव पर सदस्यता दिलाने का निश्चय किया गया और महत्त्वपूर्ण आर्थिक पक्ष में यह तय किया गया कि—'इंडोनेशियाई गणतंत्र सरकार द्वारा सभी गैर-इंडोनेशियाइयों की सामग्रियों पर, जो उस क्षेत्र में स्थित थीं या प्रयुक्त हो रही थीं और जिन पर उसका यथाविधि नियंत्रण था, उन पर उनका अधिकार और उन्हें लौटाने के दावे को मान्यता दी जायगी।"[२८]

लिंगाडजती समझौते को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक कार्य नहीं किये गये थे। परिणामस्वरूप जब तत्कालीन परिस्थितियों को सुलझाने के लिए उसमें निहित प्रस्तावों को, जिन्हें इण्डोनेशियाई संयुक्त राज्य ने जुलाई, १९४७ में समझौते के उपयुक्त आधार के रूप में निर्धारित किया था, प्रस्तुत किया गया, तो इसके प्रतिरोध में अनेक अस्वीकार्य प्रस्ताव उपस्थित किये गये, जिसके संदर्भ में डचों ने यह कहते हुए पुनः वार्ता आरम्भ की कि—'यह एक प्रकार से पुलिस द्वारा की जाने वाली सीमित सुरक्षात्मक कार्रवाई' है। ये सैनिक कार्रवाइयाँ काफी विस्तृत थीं, जो गणतंत्र के नियंत्रण में

स्थित एक छोटे जिले से लेकर गणतंत्र की राजधानी जाकार्ता के पड़ोस में स्थित जावा के दक्षिणी समुद्री किनारे तक फैली हुई थीं।

इस स्थिति में इंडोनेशियाई प्रश्न भारत और आस्ट्रेलिया द्वारा सुरक्षा-परिषद् (संयुक्त-राष्ट्र-संघ) के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और इस निवेदन की तत्क्षण आवश्यकता समझते हुए सुरक्षा-परिषद् ने ३१ जुलाई को इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करना शुरू किया और उसके ४८ घंटों के भीतर उसने इस सम्बन्ध में पहला युद्ध-विराम प्रस्ताव पारित किया।[२९] गोकि यह प्रथम युद्ध-विराम प्रस्ताव दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किया गया, किन्तु यह युद्ध कम करने में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध हुआ। तत्पश्चात् प्रस्ताव के कार्यान्वयन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक व्यावसायिक आयोग (२५ अगस्त को) स्थापित किया गया। जिसके द्वारा इसे सुलझाने के लिए अन्य देशों के सहायक सिद्ध होने वाले प्रभाव की माँग की गयी। इसे स्वीकार किया गया और तदनुरूप ऐसे सहायक देशों की एक समिति बनायी गयी, जिसमें वेल्जियम (नीदरलैण्ड द्वारा चुना गया) आस्ट्रेलिया (गणतंत्र द्वारा चुना गया) और अमेरिकी संयुक्त-राज्य (अन्य दो पक्षों द्वारा चुना गया) को सम्मिलित किया गया।

इन सहायक देशों की समिति ने दोनों दलों में आन्तरिक समझौता करना स्वीकार कराने के लिए प्रस्ताव रखा, जिसमें संधि के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम और भावी राजनीतिक संघर्ष को हल करने के लिए तदनुरूप सिद्धान्त सन्निहित किये गये थे। सुरक्षा-परिषद् ने इस समझौते के कार्यान्वयन का निरीक्षण करने और पश्चिमी जावा और सुमात्रा के दोनों क्षेत्रों में, जहाँ गणतंत्र ने डचों के विभाजन-प्रयासों के विरुद्ध आवाज उठायी थी, राजनीतिक घटनाओं पर विशेष रूप से ध्यान रखने के लिए उक्त समिति को बनाये रखा।[३०]

उक्त संधि-वार्ता उस वर्ष (१९४८) के समाप्त होते-होते असफल हो गयी। संधि में निहित सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक समझौता कराने के लिए सहायक देशों की समिति द्वारा किये गये प्रयास भी असफल हो गये। इन सिद्धान्तों के अनुसार भविष्य में इंडोनेशिया के संयुक्त-राज्यों का एक संघ बनाने का प्रस्ताव किया गया था, जिसमें नीदरलैण्ड के साम्राज्य के साथ एक 'सम्पूर्ण नीदरलैण्ड इण्डोनेशियाई संघ'[३१] स्थापित करने की योजना बनायी गयी थी। यह योजना वास्तव में लिंगाडजती के पुनर्ग्रहण के समान ही थी। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया था कि तब तक नीदरलैण्ड-साम्राज्य बना रहना चाहिए, जब तक कालान्तर में नीदरलैण्ड अपनी स्वायत्तता 'इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य' को हस्तान्तरित न कर दे या वह भावी 'इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य' के क्षेत्रों की 'अस्थायी संघीय सरकार' को वांछित अधिकार,

कर्तव्य और जिम्मेदारियाँ न दे दे, जिसके अन्तर्गत 'भावी इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य' की स्थापना के समर्थन के पूर्व बनायी गयी अस्थापित संघीय सरकार में इसके सभी तत्सम्बन्धी राज्यों को ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व प्रदान करने की व्यवस्था की गयी थी।"

डचों ने इसका यह अर्थ लगाया कि इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य की स्थापना के पूर्व, अस्थायी सरकार के विधान और अधिकारों का अन्तिम निर्णय उन्हीं के अधिकार में है। दोनों पक्षों ने माना कि इस अस्थायी सरकार का स्वरूप ही वास्तव में निर्णायक बिन्दु है।[३२] गणतंत्र सरकार इस व्याख्या को स्वीकार करने को इच्छुक नहीं थी, क्योंकि उसने सोचा कि डच सरकार का लक्ष्य पुनः औपनिवेशिक पद्धति स्थापित करने का है। लोकतांत्रिकों के लिए स्वायत्तता का यथाविधि और यथारूप विभाजन करने का अर्थ यह था कि वे नीदरलैण्ड के पूर्ण अधिकार में स्थित अस्थायी सरकार के लिए नहीं, वरन् इंडोनेशिया के संयुक्त-राज्य के लिए ही अपनी स्वाधीनता का समर्पण करेंगे।[३३]

सहायक देशों की समिति के तत्त्वावधान में आयोजित भावी वार्ता में पार्टियों ने एक दूसरे के प्रति संदेह और अविश्वास रखते हुए भाग लिया। उन्होंने १९४८ वें वर्ष में काफी समय तक बिना समझौते का कोई निष्कर्ष पाये, बातचीत बढ़ायी। जब उनकी वार्ता चल रही थी, तभी डचों ने स्वयं एक अस्थायी सरकार की स्थापना करने की दृष्टि से अपने नियंत्रण में स्थित क्षेत्रों का संगठन करना शुरू किया। इससे समझौते का निर्णय करना आसान नहीं रह गया। गणतंत्र के अधीनस्थ क्षेत्रों में आर्थिक दशा गिरने लगी, जब कि डच-नियंत्रण में स्थित भाग में आर्थिक प्रगति हो रही थी, जिस पर गणतांत्रिकों द्वारा यह आरोप लगाया गया कि यह स्थिति डचों द्वारा अवरोध पैदा करने और उसे बनाये रखने के कारण हुई है। समझौते में आगे संधि की शर्तों का खंडन करने के लिए परस्पर दोषारोपण किये जाने के कारण और कठिनाई उपस्थित हुई।

इस अवधि में, अगस्त महीने में—कम्युनिस्ट प्रयास से अधिकार हस्तगत करने के लिए किये गये प्रयास के कारण गणतंत्र में आन्तरिक कठिनाइयाँ अन्तिम सीमा तक पहुँच गयीं। इससे शीघ्रता के साथ विद्रोह को दबाने की दृष्टि से कुछ समय के लिए आपस में एकता हो गयी। अधिकतर कम्युनिस्ट नेता गिरफ्तार कर लिये गये और विद्रोहात्मक कार्रवाई अब दिखावटी और केवल पहाड़ी जिलों में सीमित हो गयी। यह वार्ता की प्रगति के प्रति सामान्य असंतोष व्यक्त करने के रूप में एक सांकेतिक विद्रोह था।[३४]

समिति के संयुक्त-राज्य के सदस्य द्वारा प्रस्तुत की गयी एक नयी योजना पर भी समझौता न होने के बाद डचों ने यह आन्तिमेथम् दे दिया कि जब तक इन दलों के बीच प्रस्तुत प्रधान प्रश्नों पर और साथ ही संधि को लागू करने पर नीदरलैण्ड का दृष्टि-

कोण गणतंत्रीय सरकार तत्क्षण स्वीकार नहीं कर लेती, इस प्रकार की समझौता वार्ता को बराबर जारी रखना व्यर्थ होगा।[35] संधि १८ दिसम्बर, १९४८ को भंग हो गयी और डचों ने स्थिति पर काबू पाने के लिए पुनः पुलिस कार्रवाई की। गणतंत्रीय क्षेत्र पर तेजी के साथ कार्रवाई हुई और गणतंत्र सरकार के प्रमुख सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया।

सुरक्षा-परिषद् से तत्क्षण कार्रवाई करने का निवेदन किया गया और डचों को, गोकि उन्होंने यह कहा था कि यह घरेलू मामला है, जिस पर कार्रवाई करने का उन्हें अधिकार है, अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपने इस कार्रवाई का उत्तर देने के लिए विवश किया गया। पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद अन्तर्राष्ट्रीय दबाव में डचों को यथास्थिति के अनुरूप समझौता न करते हुए अपना निर्णय लादने के बजाय समझौता करने की आवश्यकता को और गणतंत्र सरकार के बन्दी सदस्यों को मुक्त करना स्वीकारना पड़ा। ३ अगस्त, १९४२ को दोनों ने १० अगस्त से इस सम्बन्ध में कार्रवाई करने के लिए संधि की, किन्तु दोनों पक्षों ने यह स्पष्ट किया कि फिलहाल उनके बीच केवल एक शस्त्र-समझौता ही हुआ है।[36] इस समझौते में उनके बीच परस्पर सम्बन्ध की निर्णायक शर्तें तय करने के लिए हालैण्ड में एक गोलमेज-सम्मेलन करने की व्यवस्था की गयी।

(१४) हेग में आयोजित गोलमेज-सम्मेलन

गोलमेज-सम्मेलन हेग में अगस्त से आयोजित किया गया था और पूरे एक सत्र तक, जब तक अन्तिम समझौता नहीं हो गया और २ नवम्बर को इस पर हस्ताक्षर नहीं हो गया, तब तक चलता रहा। इसमें निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श हुआ—(१) वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में, (२) नीदरलैण्ड और इंडोनेशिया के बीच स्थापित होने वाले संघ के स्थायी अंग के स्वरूप के सम्बन्ध में, (३) संघ के प्रधान के रूप में सम्राट के पद के सम्बन्ध में, और (४) इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य में सम्मिलित किये जाने वाले क्षेत्र के सम्बन्ध में (यथा—इसमें न्यूगाइना को सम्मिलित किया जाय या नहीं)[37]। डचों ने वित्त के सम्बन्ध में जब तक नया गणतंत्र हालैण्ड का ऋण अदा न कर दे, तब तक आरम्भिक रूप से इसके वित्तीय और कुछ व्यापारिक नीतियों पर अपना निषेधाधिकार रखने की माँग की। ३ अक्टूबर को उनका यह निवेदन वापस ले लिया गया। इसके अतिरिक्त विदेशी और आन्तरिक ऋण का प्रश्न उठाया गया, जिसे नये राज्य को अदा करना था और डचों ने जिसका अंक ६१० करोड़ गिल्डर्स निर्धारित किया था, जिसे इण्डोनेशियाइयों ने ३० लाख घटा कर रखने की बात की थी और यह कहा था कि यह द्रव्य सैनिक और सहसैनिक कार्यों पर व्यय

किया गया था, इसलिए इसे अदा करने की जिम्मेदारी उन पर नहीं है। अन्त में इस पर एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार इण्डोनेशिया को ऋण के भुगतान के रूप में ४३८ करोड़ गिल्डर्स देना था, जिसमें पुरानी नीदरलैण्ड ईस्ट इण्डीज सरकार का ३०० करोड़ गिल्डर्स का आन्तरिक ऋण और इसका पूरा १३० करोड़ गिल्डर्स का विदेशी ऋण सम्मिलित था।[३८]

अन्य प्रश्नों पर जिन पर विचार विमर्श किया गया, वे २ नवम्बर, १९४९ के हेग-सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित संघ की संविधि का निर्णय करने के संबंध में थे। इसमें समान अधिकारों के साथ स्वेच्छया और बरावर के पद के आधार पर दो पार्टियों के सहकारी संघ की स्थापना का निर्णय सन्निहित था। इसमें बाद में निर्णय के अनुसार संघ में दो हिस्सेदारों का स्वतंत्र और स्वायत्त राज्य के रूप में पद निर्धारित करना अनुपयुक्त नहीं माना गया। संघ का सुनिश्चित उद्देश्य विदेशी मामलों और वित्त एवं आर्थिक और सांस्कृतिक प्रवृत्ति के विषयों के सम्बन्ध में परस्पर सहयोग को बढ़ावा देना था। विदेशी मामलों, वित्तीय और आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों में संघ की संविधि में अलग समझौते का उल्लेख किया गया था। इसके एक तीसरे सामान्य अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी थी कि इसके हिस्सेदारों को लोकतंत्र के आधार पर अपनी सरकार का संगठन करना चाहिए कि उन्हें अपनी स्वतन्त्र न्याय-विधि बनानी चाहिए और उन्हें संविधान के परिशिष्ट में सन्निहित मूल मानवीय अधिकारों और स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

संघ की संविधि में ओरेंजनासू की महामहिम महारानी जुलियाना और उनके उत्तराधिकारियों को संघ के प्रधान के रूप में मानने के संबंध में भी व्यवस्था दी गयी थी। महारानी के अन्तर्गत दोनों हिस्सेदार राज्यों के यथावत् नियुक्त मंत्रियों को साल में दो बार आयोजित सम्मेलन में भाग लेना था और दोनों हिस्सेदार राज्यों की तत्सम्बन्धी लोक-सभाओं के बीच बरावर सम्पर्क बनाये रखना था, उनके प्रतिनिधियों को इंडोनेशियाई संयुक्त राज्य के गणतंत्र की अस्थायी लोक-सभा की स्थापना के आठ महीने के भीतर ही आपस में मिलने का निर्णय किया गया था। इन सम्मेलन-संस्थाओं की सहायता के लिए एक सचिवालय की स्थापना करनी थी, जिसमें प्रत्येक पार्टी को एक-एक प्रधान सचिव नियुक्त करना था, जिसमें प्रत्येक द्वारा बारी-बारी से सचिवालय का कार्य-भार सँभालने की व्यवस्था की गयी थी।

संविधि में विवाचकों का एक न्यायालय स्थापित करने की भी व्यवस्था की गयी थी जिसमें प्रत्येक पार्टी से तीन-तीन सदस्यों को शामिल करना था और जिसे संघ की संविधि के सम्बन्ध में विवाद उठाने पर, या हिस्सेदार राज्यों के बीच कोई

समझौता होने पर या संयुक्त नियम बनाने पर और न्यायालय के सम्मुख ऐसे विवादों को एक हिस्सेदार द्वारा दूसरे के विपक्ष में या दोनों के द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर विधि-सम्बन्धी निर्णय देने का कार्य दिया जाना था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अध्यक्ष की सहमति के साथ बहुमत के आधार पर, या पारस्परिक स्वीकृति के अनुसार किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण द्वारा जिसे किसी अन्य राष्ट्रीयता के व्यक्ति को संघ-न्यायालय का असाधारण सदस्य नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो, ऐसे मामलों में निर्णय करने की व्यवस्था की गयी थी। संघ-संविधि की अन्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत—एक हिस्सेदार राज्य के नागरिक की दूसरे राज्य में नागरिकता और अधिकारों, में उच्चायुक्तों —उनके राजदूतीय पदों के साथ सिब्बन्दी, पूरे व्यय में दोनों राज्यों के हिस्से आदि का निर्णय और अन्य विस्तृत मामलों के सम्बन्ध में कारवाई करने की दिशा निर्धारित की गयी थी। गोलमेज-सम्मेलन की समाप्ति के पूर्व न्यूगाइना के प्रश्न पर कोई निर्णय करना एक साल के लिए स्थगित कर दिया गया था।

गोलमेज-सम्मेलन के निर्णयों के समर्थन ने—डचों की अपेक्षा वस्तुतः गणतंत्र द्वारा अपनायी कार्य-विधि के द्वारा इंडोनेशियाई समस्या को क्रमशः सुलझाने के लिए विशेष रूप से एक क्रियात्मक आधार प्रस्तुत किया। इसी आधार पर प्रभुसत्ता नीदरलैण्ड द्वारा इंडोनेशियाई संयुक्त राज्य को २७ दिसम्बर, १९४९ को हस्तान्तरित की गयी।

इंडोनेशियाई राज्यों का संघीय संगठन बिना प्रयोग में लाये ही मुख्यतया संगठित सामुदायिक प्रदर्शन के रूप में किये शत्रुतापूर्ण हमलों से बहुत जल्दी ही टूट गया। संघीय प्रणाली को उपयुक्त कानून या संविधान के अनुसार भंग नहीं किया, वस्तुतः उस समय इसे यों ही परित्यक्त कर दिया गया था। इंडोनेशियाई संयुक्त-राज्य के स्थान पर १५ अगस्त, १९५० को 'इंडोनेशियाई एकीकृत गणतन्त्र' स्थापित किया गया, जिस तिथि से जावा के गणतंत्र में अन्य राज्यों को मिलाया गया और संघीय सरकार और अन्य अनेक राज्य-सरकारों के बीच समझौता किया गया।

इंडोनेशियाई राज्यों के संघ की अपेक्षा इंडोनेशिया और नीदरलैण्ड के बीच स्थापित संघ कुछ अधिक दिनों तक, यहाँ तक कि १९५५ में, जब इसे समाप्त किया गया, जीवित रहा। १९५४ में संघ को समाप्त करने का समझौता किया गया था। इसे इंडोनेशियाई लोक-सभा द्वारा समर्थित नहीं कराया गया था, क्योंकि इसमें १९४९ के गोलमेज-सम्मेलन में हस्ताक्षरित आर्थिक और वित्तीय समझौते का संशोधन सम्मिलित नहीं किया गया था। १९५५ में पुनः वार्ता आरम्भ हुई, किन्तु चूँकि कोई संतोषप्रद समझौता इसके लिए नहीं किया जा सका, इसलिए इंडोनेशियाई सरकार ने संघ

की स्थापना का समझौता और १९४९ का वित्तीय और आर्थिक समझौता अमान्य कर दिया। इसके अतिरिक्त इंडोनेशिया ने नीदरलैण्ड का ऋण, जिसका हेग में १७ करोड़ स्टर्लिंग का अनुमान किया गया था, चुकाना अस्वीकार कर दिया।

इंडोनेशिया के गणतंत्र में पूरा क्षेत्र, जो पहले नीदरलैण्ड ईस्टइण्डीज के नाम से जाना जाता था, केवल पश्चिमी न्यूगाइना को छोड़कर (जिसे इंडोनेशिया द्वारा पश्चिमी ईरियन कहा जाता था,) सम्मिलित किया गया। इनमें दूसरा इसके समझौते पर कोई निर्णय न होने तक, डच-प्रशासन के अन्तर्गत रहा, क्योंकि इसके सम्बन्ध में जो निर्णय किया गया था, वह वास्तव में हेग में हुए गोलमेज-सम्मेलन के समझौते पर हस्ताक्षर होने पर एक वर्ष के भीतर तक अन्तिम नहीं माना गया। इसके बाद पश्चिमी ईरियन का प्रश्न नीदरलैण्ड और इंडोनेशिया के बीच स्थापित सम्बन्ध पर दुष्प्रभाव डालने को एक प्रधान प्रश्न के रूप में बना ही रहा। डच, चूँकि दूसरे पक्ष के निर्णयों को एकपक्षीय मानकर उनका सामना करते थे, इसलिए वे पश्चिमी ईरियन के सम्बन्ध में कम-से-कम रियायत देना चाहते थे। इंडोनेशियाई सरकार ने अपनी ओर से, जैसा राष्ट्रपति सुकर्णो ने कहा—'पश्चिमी ईरियन को इंडोनेशिया में शामिल करने के लिए अपने दावे का, इसे उपनिवेशवादी प्रश्न कहते हुए और संयुक्त-राष्ट्र का और समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हुए, इसके लिए दृढ़ प्रयास किया।'

(१५) विदेशी नीति

सामान्यतया अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के मामलों में नये राज्य ने भारत के समान तटस्थ नीति अपनायी। जैसा भारत के सम्बन्ध में हुआ; स्थिति के अनुरूप इस राज्य द्वारा भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने में पश्चिमी देशों के साथ भूतकालीन उपनिवेशवादी समस्या का समष्टिवाद की अपेक्षा अधिक लगाव था, जो इस सम्बन्ध की स्थापना में निर्धारक सिद्ध हुआ। अन्य नये स्वतंत्र राज्यों की भाँति इंडोनेशिया भी अपने सम्बन्धों में बहुत भावप्रवण था और थोड़े-से भी बाहरी हस्तक्षेप का संवरण करना उसके लिए कठिन था।

विदेशी मामलों में इंडोनेशिया ने जो प्रधान सक्रियता दिखायी, वह इसके १९५५ के बांडुंग-सम्मेलन के आतिथेय राज्य होने में दृष्टिगत हुई, जिसके बाद उसने कई एशियाई-अफ्रीकी सम्मेलनों में भाग लिया और संयुक्त-राष्ट्र-संघ में यह उन देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध में सहयोजित रहा। तटस्थवादी नीति अपनाने के कारण इंडोनेशिया ने 'सीटो' की सदस्यता अस्वीकृत कर दी। इसने जापान-शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर किया, किन्तु उसका सत्यांकन (अनुसमर्थन) करना अस्वीकार कर दिया। इसने ऐसी

अमेरिकी आर्थिक या सैनिक सहायता लेना भी अस्वीकार कर दिया, जिससे उसे 'शान्ति-युद्ध' में पश्चिम का समर्थन करने या उसे शक्ति-संवर्धित करने का वचन देना पड़ता। और इसने क्रमशः कम्युनिस्ट चीन के साथ निकट मंत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया, जिसके सन्दर्भ में ही उसने बांदुंग-सम्मेलन के प्रासंगिक निर्णय के अनुसार चीनी नागरिकों और इंडोनेशिया-निवासी चीनियों की सम्पत्ति के अनुरक्षण तथा उनकी क्षति के सम्बन्ध में, उसके लिए चीन के साथ संधि-वार्ता करना सम्भव हो सका।

(१६) आन्तरिक राजनीति

इंडोनेशियाई गणतंत्र का संवैधानिक तंत्र तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त सरल था। सरकार का केन्द्रीय उपकरण एकाकी मंडलीय लोकसभा थी, जिसके सदस्य—जब तक निर्वाचन न हो जाय, राजनीतिक पार्टियों द्वारा 'राष्ट्रपति की समिति के अन्तर्गत निर्धारित समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली' के अनुसार नियुक्त किये गये थे। लोकसभा ने सुकर्नो को राष्ट्रपति और राज्य के कार्यकारी प्रधान के रूप में चुना, जो पद उन्होंने गणतंत्र के जीवन के दस वर्षों की अवधि तक सम्हाला। प्रथम उप-राष्ट्रपति (हता) प्रतिनिधियों की सभा की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा उपराष्ट्रपति पद पर नियुक्त किये गये। हता १९५६ तक उपराष्ट्रपति रहे, उसके बाद उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया, अतः उनका सुकर्नो के 'निदेशित' लोकतंत्र के कार्यक्रम से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। संविधान के अनुसार शासन का अधिकार 'मंत्रिमंडल' के अधीन था, जिसका संगठन राष्ट्रपति के निदेश पर किया गया था, किन्तु जो लोकसभा के प्रति उत्तरदायी था। सरकार का संगठन करते हुए राष्ट्रपति ने अपने प्रभाव का निश्चयात्मक ढंग से प्रयोग किया। वे एक या उससे अधिक पार्टियों के नेताओं को 'मंत्रिमंडल' का संगठन करने के लिए आमंत्रित कर उन्हीं के माध्यम से लोक-सभा के अनुमोदन पर मंत्रिमंडल का निर्णय कर सकते थे।

परिणामतः युद्धोत्तर सरकार पार्टियों के आन्तरिक समझौते के आधार पर बनायी गयी थी और सभा में एक पार्टी का पूरा बहुमत प्राप्त होने के कारण यह कई पार्टियों के सहयोजन से बनी थी, गोकि इसके कतिपय मंत्री ऐसे थे, जिनका किसी पार्टी से कोई सम्बन्ध नहीं था। उदाहरणस्वरूप, नतसिर-मंत्रिमंडल (६ सितम्बर, १९५० से २० मार्च, १९५१ तक) के उप प्रधान मंत्री का किसी पार्टी से सम्बन्ध नहीं था, इसी भाँति आन्तरिक मामले, सुरक्षा, संचार एवं यातायात और शिक्षा एवं सांस्कृतिक मंत्री भी गैर-पार्टी-सदस्य थे, किन्तु इस संगठन को लोकसभा में पार्टियों के सहयोजन के आधार पर समर्थन प्राप्त था। ३१ जुलाई, १९५३ को जिस, मंत्रिमंडल की घोषणा की

गयी थी, उसके संगठन में पार्टी-प्रतिनिधित्व की स्थिति इस प्रकार थी—जिसमें प्रधान-मंत्री के साथ ३ सदस्य राष्ट्रवादी पार्टी के थे, ३ महत्तर (ग्रेटर) इंडोनेशियाई पार्टी के थे, १३ विभंजित दलों के थे, जो वाम-मार्गी से लेकर उदार-दक्षिण-मार्गी सिद्धान्तों के समर्थक थे। वास्तव में सरकार सीमित रूप से व्यावसायिक राजनीतिज्ञों के दल के प्रतिनिधियों द्वारा संगठित की गयी थी, जिन्होंने एक नये शासन-वर्ग की स्थापना कर ली थी। जैसा एक लेखक ने इंडोनेशियाई राजनीति की व्याख्या की है —

'इसका आरम्भ पश्चिमी संगठन प्रणाली के आधार पर होने और इसके पार्टी-सिद्धान्तों (इंडोनेशियाई राजनीति) के मौखिक वक्तव्यों में व्यक्त होने के बावजूद भी, इसको ऐसी परिस्थितियों में प्रयुक्त किया जा रहा था, जो एक बृहत् झगड़ालू और रुग्णतान्त्रिक राजनीतिक परिवार से प्रादुर्भूत लगती थीं। पार्टी-सदस्यता के प्रश्न को दरकिनार रखते हुए, इंडोनेशियाई राजनीतिक जीवन एक ऐसे चालक खिलवाड़ की तरह था, जिनमें कुछ हजार लोग एक दूसरे को पूरी तरह और अच्छी तरह जानते हुए भाग ले रहे थे।'

सरकारों का संगठन, विघटन और पुनःसंगठन वैयक्तिक आधार पर किया जाता था, जो पार्टी सम्बन्धों पर भी प्रभाव डालता था।

निर्वाचन होने के पूर्व वर्षों में सरकारें दो प्रमुखतया पार्टियों—'राष्ट्रवादी पार्टी' और 'मसजुमी' में से किसी एक द्वारा या दोनों द्वारा संगठित होती रहीं। पहली ने अपना महत्त्व सुकर्नो और हता के नेतृत्व (ऐसा नेतृत्व, जिससे समय-समय पर अलग होने में सुकर्नो को कोई द्विविधा नहीं थी, से और डचों के विरुद्ध अपने किये गये कार्यों से प्राप्त किया था। 'मसजुमी' मुसलमान-प्रधान पार्टी थी, जिसके अनुयायी पूरे राष्ट्र में थे। इन दोनों में कौन-सी पार्टी अधिक लोकप्रिय थी, इसका निर्णय यदि निर्वाचन होते, तो उसी समय किया जा सकता था, किन्तु ये निर्वाचन वास्तव में १९५५ में ही हो सके।

जैसी सूचना मिली, निर्वाचन में कुल ३७,७८५,२९९ मत पड़े थे। छः पार्टियों में से प्रत्येक ने दस लाख से अधिक मत प्राप्त किये, बाकी मत अट्ठाईस और राजनीतिक दलों या विशेष व्यक्तियों को मिले थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आधार पर निर्वाचन में भाग लिया था और बाकी अन्य चौवालीस व्यक्तियों ने स्थानीय क्षेत्रों के आधार पर इसमें भाग लिया था। अट्ठाईस पार्टियों और व्यक्तियों ने निर्वाचन में स्थान प्राप्त किया, जिनमें बारह पार्टियों ने केवल एक स्थान पाया। राष्ट्रवादी पार्टी ने कुल मतदान का २३.३ प्रतिशत मत और ५७ जगहें प्राप्त की थीं, मसजुमी ने भी उतनी ही जगहें प्राप्त की थीं, किन्तु उन्हें केवल २०.९ प्रतिशत मत मिले थे, इसके अतिरिक्त 'मुसलमानी

शिक्षक दल'—(एक अन्य रूढ़िवादी मुसलमान पार्टी) ने १८.४ प्रतिशत मत प्राप्त किये थे और उसके ४५ सदस्य निर्वाचित हुए थे, अतः इसे पार्टियों में तीसरा स्थान प्राप्त हुआ था, कम्युनिस्ट पार्टी को ३९ जगहें और कुल मतदान के १६.४ प्रतिशत मत मिले थे, मुसलिम संगठन (एशोशियेशन को २.९ प्रतिशत मत और ८ जगहें मिली थीं। जितनी जगहें और २.६ प्रतिशत मत ईसाई दल (क्रिश्चियन पार्टि) को भी प्राप्त हुआ था, बाद में उसी वर्ष, देश के लिए स्थायी संविधान बनाने के निमित्त संगठित संविधान सभा के निर्वाचन में भी पार्टियों की स्थिति इसी प्रकार बनी रही। अतः २५७ सदस्यों की लोक सभा में कोई भी अकेली पार्टी बहुमत पाने के सन्निकट तक भी नहीं आ सकी और सरकार का निर्माण 'अन्तरपार्टी सहयोग' पर ही आधारित रहा।

इन निर्वाचनों में दो आश्चर्यजनक बातें हुईं। एक तो मुसलमान जाति के मतदान में 'मसजिदी' के मुकाबले 'मुसलमानी शिक्षक-दल' की स्थिति का इस प्रकार व्यक्त होना था। दूसरा कम्युनिस्टों द्वारा इस सीमा तक मत प्राप्त करना था, जिसकी आशा नहीं की जाती थी। निर्वाचन ने आशा के विपरीत 'मुसलमानी शिक्षक-दल'' को वास्तविक शक्ति की स्थिति में ला दिया, जिसका प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना इसके लिए कठिन था, क्योंकि इसके पास न अनुभवी और न तो सशक्त नेतृत्व ही था।

जहाँ तक कम्युनिस्टों की सफलता का प्रश्न है, यह उन्हें अपने गणतंत्र-विरोधी कार्य-कलापों से विरत होने के बाद, उनके नेताओं द्वारा बरती गयी सावधानी के कारण मिली थी, जिन्होंने अपने को अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट अभियान का मास्को या पीकिंग द्वारा निर्देशित हिस्सा न समझकर, राष्ट्रीय हितों के समर्थक के रूप में प्रगट किया था। इसने व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति सुकर्नो द्वारा संगठित और उनके मित्र अलीसस्त्रो मिडजोजो की अध्यक्षता में—जो निर्वाचन के पूर्व चार वर्षों तक इस पर रहे—बनी सरकार को अपना समर्थन प्रदान किया था। यह मंत्रिमंडल स्पष्टतया वाममार्गी था। नये मंत्रियों में से एक ईवा कुसुमा सुमंत्री थे, जिन्होंने अपना कुछ समय मास्को में बिताया था और जिन्हें १९४६ में—उसी साल हुए नियोजित कम्युनिस्ट विद्रोह में भाग लेने के लिए बन्दी बनाया गया था। उन्हें महत्त्वपूर्ण पद देते हुए सुरक्षा-मंत्री बनाया गया। उनका राष्ट्रवादियों से इस प्रकार का सहयोग देश में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति समर्थन जागृत करने में एक बहुत अच्छे लाभप्रद आवरण की तरह था। यह सहयोग वास्तविक रूप से असंगत भी नहीं था क्योंकि डच-विरोधी कार्यक्रमों के समय, जिसका राष्ट्रवादियों ने अनुसरण किया था, कम्युनिस्ट पार्टी ने कम-से-कम अन्तर्देशी झंझटों से ध्यान हटाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समष्टिवाद की युद्ध-नीति और समर-यंत्र का सहारा लिया।

राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों के इस सहयोग ने निर्वाचन के बाद सरकार बनाने की समस्या को जटिल बना दिया, क्योंकि मुसलमान-पार्टियों ने कम्युनिस्टों के साथ बनने वाली किसी सरकार में भाग लेना अस्वीकार कर दिया था; तथापि, राष्ट्रवादी अपने सबसे मजबूत समर्थकों के साथ अपनी मैत्री को छोड़ने या उसे गंभीर रूप से खतरे में डालने को तैयार नहीं थे।

सहयोजित मंत्रिमंडल में कम्युनिस्टों को भी शामिल करने के सुकर्नो के दृष्टिकोण के विरुद्ध व्यवहार करते हुए, अली सस्त्रोमिडजोजो ने १९५६ में अपनी दूसरी सरकार 'राष्ट्रवादी पार्टी', 'मसजुमी' 'मुलमानी शिक्षक पार्टी, और पाँच अन्य छोटे दलों के संसदीय समर्थन के आधार पर संगठित की। लोकसभा के कुल २५७ सदस्यों में सहयोजित सरकार के पक्ष में १८९ सदस्य थे। विरोधियों द्वारा गृह-युद्ध की धमकी के कारण सस्त्रोमिडजोजो की सरकार ने १९५७ में त्याग-पत्र दिया। चूँकि आवश्यक संसदीय समर्थन प्राप्त करते हुए कोई सरकार संगठित नहीं की जा सकी, इसलिए सुकर्नो ने डुँडा के प्रधान मंत्रित्व में एक अतिरिक्त संसदीय सरकार संगठित की।

प्रथम शस्त्रोमिडजोजो मंत्रिमंडल की स्थापना के समय से ही सुकर्नो ने सरकार पर बिना कोई वास्तविक उत्तरदायित्व ग्रहण किये बराबर अपने बढ़ते हुए प्रभाव का प्रयोग किया था। संभवतः संयुक्त राज्य और सोवियत संघ की यात्रा में हुए अपने स्वागत के कारण सुकर्नो ने राज्य के प्रधान के रूप में समझते हुए अपने को सीमा से अधिक महत्त्व दिया था और अपने अधिकार को सरकार के अधिकारों से बड़ा मानने लगे थे। अतः मास्को, प्रैग्यू, बेलग्रेड और पीकिंग की पुनः यात्रा के समय उनके प्रावकथन पर कि "सैनिक संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों को बढ़ावा नहीं देतीं"——इंडोनेशियाई मंत्रिमंडल को यह वक्तव्य जारी करने की आवश्यकता पड़ी, कि——इंडोनेशिया अपनी स्वतंत्र विदेशी नीति से विरत नहीं हुआ है। १९५६ में देश वापस आने पर सुकर्नो ने आगे यह घोषणा की कि १९४५ के बाद पार्टियों का निर्माण एक बहुत बड़ी गलती का द्योतक है, और उन्होंने विधान-सभा को 'एकाकी गणतंत्र की स्थापना करने और पूँजीवाद का विकास रोकने' के लिए कहा। इस संदर्भ में उन्होंने कहा कि——'हम पश्चिमी उदारवादी लोकतंत्र का अनुकरण नहीं कर सकते और न तो हम दूसरे तरह के विचारों का अनुसरण करते हुए एकाधिपत्यवाद ही स्थापित कर सकते हैं। फिलहाल हमारा लोकतंत्र निर्देशित लोकतंत्र होना चाहिए।' इसमें स्पष्टतया यह विचार व्यक्त किया गया था कि ऐसा निर्देश स्वयं सुकर्नो को ही इंडोनेशियाई समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली राष्ट्रीय परिषद् के माध्यम से देना चाहिए, जिसे वही नियुक्त करें और जिसकी वही अध्यक्षता करें। उनका कहना था

कि यह परिषद् मंत्रिमंडल को परामर्श देगी, जिसमें कम्युनिस्टों के साथ अन्य पार्टियों के भी प्रतिनिधि सम्मिलित किये जायँ।

इस प्रस्ताव के कारण ही जनता में सुकर्नो के बाद माने जाने वाले दूसरे नेता मुहम्मद हता का राष्ट्रपति से मतभेद हुआ, किन्तु उन्होंने एक राजकीय पदाधिकारी के रूप में पुनः सक्रिय राजनीति में आना स्वीकार नहीं किया। राष्ट्रवादी और कम्युनिस्ट पार्टी तथा कुछ छोटे दलों को छोड़कर बाकी सभी पार्टियों ने इस समस्या के समाधान के रूप में अपना विरोध व्यक्त करने के लिए १९५७ में खुला विद्रोह कर दिया, जो १९५८ तक दबाया नहीं जा सका।

यह विद्रोह केवल सुकर्नो द्वारा संसदीय लोकतंत्र के स्थान पर निर्देशित लोकतंत्र की स्थापना के प्रस्ताव के कारण ही नहीं हुआ था। यदि यह प्रस्ताव निर्वाचन के पूर्व या अन्य परिस्थितियों में किया गया होगा तो यह विगत अनुभवों के आधार पर स्वीकार भी किया जा सकता था। स्वयं लोकतंत्र की भावना इस देश की परम्परागत प्रणाली की देन नहीं थी, वह भी कम-से-कम ग्रामीण स्तर पर बाहर से ही आयी थी। परम्परानुगत प्रणाली सत्तावादी थी। यह देशी सत्तावादी विश्वास औपनिवेशिक शासन से घटने की बजाय तब तक बढ़ा ही, जब तक डचों ने और अधिक सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करनी नहीं शुरू कर दी, जिससे जनता के प्रति सरकार के कार्यों और उत्तरदायित्वों की नयी धारणा देश में फैलने लगी। ये धारणाएँ, फिर भी १९४५ तक इतने पर्याप्त रूप में विकसित नहीं हो गयी थीं कि इससे जनता सत्तावादी शासन को बदल कर जन-नेताओं से सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में उन्मुख हो सके। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि इंडोनेशियाई पार्टियाँ जापानी दखल के समय तक हमेशा मुख्य रूप से केवल इस कारण डचों द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों का बिना उनका उद्देश्य देखे, विरोध करती रहीं क्योंकि ये प्रस्ताव डचों द्वारा प्रस्तुत किये गये थे। उन्होंने युद्ध की समाप्ति तक जिम्मेदारी के साथ सरकारी अधिकारियों का कोई निश्चित कार्रवाई करने का विकल्प रखते हुए, विरोध करने का कभी अवसर ही नहीं पाया था। परिणामतः इन परम्परागत मार्गों का अनुसरण करने और पूर्व अनुभव के कारण विरोधी पार्टियाँ नकारात्मक समीक्षा की ओर ही उन्मुख रहीं और वे सरकार के नियंत्रक नेताओं को भी प्रमुख रूप से अपने ही शक्ति-संवर्धन के अनुरक्षण और विकास की ओर प्रेरित करती रहीं।

गणतंत्र सरकार पर देश में शान्ति स्थापित करने और देश के उत्पादन की पुनःस्थापना करने का उत्तरदायित्व था। यह अपना अधिकार समस्त द्वीप-समूह में पूरी तरह बढ़ाने में उतनी सफल नहीं हुई, जितनी क्रमशः मौलिक संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत

हो सकी होती, किन्तु संघीय व्यवस्था राज्यों के संगठन पर-विशेष रूप से बाहरी द्वीप समूहों पर डच प्रभाव होने के कारण समाप्त कर दी गयी थी। तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में यहाँ यह देखा गया कि इंडोनेशिया के बहुत-से क्षेत्रों में अशान्ति, डकैती, उपद्रव और सरकार के विरुद्ध बृहत् रूप से असंतोष व्याप्त है। यह एक ऐसी समस्या थी, जिस पर १९५० के बाद हर सरकार ने कड़ी कार्रवाई करने की प्रतिज्ञा की, किन्तु यदि स्थिति सुधरी भी तो बहुत मन्द गति से। चोरी, कतल और गाँव जलाने की घटनाएँ होती रहीं। यह असाधारण स्थिति जापानियों के आक्रमण और दखल, डचों के विरुद्ध छापामार युद्ध, अतिशय निर्धनता, राजनीतिक असंतोष और धार्मिक अन्ध-विश्वास की देन थी।"

इन परिस्थितियों ने सेना और उसके नेताओं को विशेष महत्त्व प्रदान किया और इसे शक्ति के लिए हो रहे संघर्ष का एक अलग पहलू बना दिया। इस सम्बन्ध में तथा अन्य मामलों में इंडोनेशिया को वैसे ही अनुभव होने थे, जो स्वाधीनता-संग्राम के माध्यम से औपनिवेशवाद से मुक्त होनेवाले अन्य देशों को हुए थे। समय-समय पर सरकार भी सैनिक असंतोष या सरकारी निर्णयों से बुरी तरह प्रभावित अफसरों के मतभेद के कारण टूट गयी। अतः १९५७-५८ का विद्रोह एक कर्नल और साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी-विरोधी नेताओं द्वारा प्रोत्साहित किया गया था।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि नागरिक और साथ ही सैनिक प्रशासन में अच्छी तरह प्रशिक्षित लोगों की कमी थी। शान्ति और उत्पादन-क्षमता की पुनःस्थापना के लिए स्वस्थ नियोजन की आवश्यकता थी। सरकार में नेतृत्व के स्थानों पर योग्य व्यक्ति थे, किन्तु पूरी सावधानी से बनायी गयी योजना भी तभी सफल हो सकती थी, जब वह अच्छी तरह कार्यान्वित की जाती। इस सम्बन्ध में नीति की अपेक्षा नीति के प्रशासकीय कार्यान्वयन की बुरी दशा ने, जिसके लिए कोई प्रस्तावित विकल्प भी न था, विरोधी पार्टियों को, इसका सरकार के विरोध में प्रयोग करने का अवसर प्रदान किया। इसने परस्पर पार्टियों और पार्टियों के नेताओं के बीच संघर्ष बढ़ाने में सहायता की। सरकार की अल्पकालीन और दीर्घकालीन योजनाओं के सफल कार्यान्वयन के लिए प्रशिक्षित और अनुभवी प्रशासकों की जरूरत थी। डचों की औपनिवेशिक नीति युद्ध के कुछ दिनों पहले तक इंडोनेशियाइयों को नागरिक-सेवा करने में केवल निम्नस्तरीय स्तरों को छोड़ कर, विकास करने की दिशा में उन्मुख नहीं किया गया था। फिर भी, वहाँ डचों द्वारा प्रशिक्षित प्रशासकों का एक दल था। इनमें से अधिकों ने, विशेषतया डचों और इंडो-यूरोपियों ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाले आरम्भिक लोकतंत्र के विरुद्ध अपना गठबन्धन कर लिया था। तत्कालीन राष्ट्रीयता-प्रधान दृष्टिकोण से

इन्हें नये राज्य की सेवा के लिए अयोग्य समझा गया, गोकि 'हेग-समझौते' में यह तय किया गया था कि उन्हें दो वर्ष की अवधि के लिए रोक लिया जाय। इनमें से अनेक ने इस अवधि को एक प्रकार से सेवा-निवृत्ति के पूर्व का अवकाश माना और इसे भविष्य में सेवा में बने रहने के लिए नये तंत्र के प्रति अपनी श्रद्धा और इसके लिए अपनी क्षमता प्रगट करने के सुअवसर के रूप में नहीं समझा। इसके कारण गणतंत्र की नीतियों को लागू करने के निमित्त डच-काल के अनुभवी उपलब्ध अधिकारियों की संख्या घट गयी। फिर भी, वहाँ कुछ ऐसे लोग थे, जिन्होंने जापानी-दखल की अवधि में किसी-न-किसी प्रकार का कार्य करने का अनुभव प्राप्त किया था। किन्तु ऐसे कुल लोगों को मिलाकर भी प्रशिक्षित और अनुभवी प्रशासकीय अधिकारियों की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकी। इसके कारण जन-सेवाओं में तुलनात्मक दृष्टि से अप्रक्षिशित और अनुभवहीन लोगों को लगाने के लिए विवश होना पड़ा, जिससे प्रशासन की कार्य-कुशलता में कमी आ गयी। न्यूनतम योग्यता वाले भी अपरिहार्य थे, जिनकी रिक्तता पूरी करनी भी कठिन थी। चूंकि सरकारी नौकरों ने अपने को अपरिहार्य समझ लिया था, इसलिए उन्होंने अपनी सेवाओं का भी अपना ही स्तर बना लिया था। परिणामस्वरूप स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए प्रादुर्भूत उत्साह के कारण इसे जो प्रोत्साहन मिला था, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद घटने लगा और सरकारी कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार, सुस्ती और अनुत्तरदायित्व ने बाद की सरकारों के सामने गंभीर समस्या उपस्थित कर दी।

सरकार और सरकारी प्रशासन में अनुभव की कमी का जो परिणाम हुआ, वैसा ही देश की आर्थिक जीवन-व्यवस्था में भी हुआ। डचों के नियंत्रण में द्वीप-समूहों की सरकार विस्तृत रूप से आर्थिक कार्यों में संलग्न थी। अब ये द्वीप-समूह नयी सरकार के नियंत्रण में आ गये। इनकी व्यवस्था के लिए भी प्रशिक्षित कार्यकर्मियों की आवश्यकता भी और डचों की भी——उनके प्रति अपनायी राष्ट्रवादी नीति के कारण, इस क्षेत्र में कमी हो गयी। तिस पर राष्ट्रीय क्षति-पूर्ति उनके पुनर्ग्रहण से ही संभव थी। आर्थिक दिवालियापन भरने के लिए भी——पश्चिमी लोगों द्वारा संचालित प्रमुख उद्योगों, जैसे रबर और पेट्रोलियम उद्योग पर ही आश्रित होना था, जो पूरे निर्यात का आधे से अधिक मूल्य प्राप्त करने का साधन था।

तत्कालीन स्थिति इस प्रकार बतायी जाती है——'श्रम-सम्बन्धी कठिनाइयों (श्रमिक-आन्दोलन), विदेशी पूँजी के विरुद्ध शत्रुता, बड़े पैमाने पर चोरी-डकैती, रियायती भूमियों का कृषक दखलकारों द्वारा गैरकानूनी दखल, भारी कर और विनिमय-प्रतिबन्धों ने पश्चिमी उद्योगपतियों के लिए लाभ के साथ अपना व्यवसाय चालू रखना कठिन कर दिया है। कुछ बड़ी डच-कम्पनियाँ दूसरे देशों——विशेषत: इथियोपिया के लिए यहाँ से

अपना कारबार स्थानान्तरित कर रही हैं। यह इंडोनेशिया के लिए एक गंभीर विषय है, क्योंकि पश्चिमी उद्योग ही विदेशी मुद्रा कमाने वाले और सरकारी आय के एक सम्पन्न साधन हैं। जब तक इंडोनेशियाई पूँजी और उद्योग इस कार्य की पूर्ति न कर सकें, आर्थिक दृष्टिकोण अन्धकारपूर्ण रहेगा और सरकार की वित्तीय स्थिति गड़बड़ रहेगी।"

यह स्थिति सुधरने की जगह और अन्धकारपूर्ण हो गयी, क्योंकि राष्ट्रवादी सरकार ने अपने सहयोगी कम्युनिस्ट पार्टी के उत्साहप्रद समर्थन से अपनी आन्तरिक कमजोरी से ध्यान हटाकर आगे और डच-विरोधी भावना को प्रोत्साहन दिया और इस सम्बन्ध में अपनी कार्रवाइयों को डच-उद्योगों और उनकी प्राप्तियों के विरुद्ध प्रेरित किया।

आर्थिक समस्या जनांकिकीय स्थिति के कारण और जटिल हो गयी, क्योंकि इसकी कुल आबादी (अनुमानतः ८.५ करोड़) के दो-तिहाई लोग जावा में बसे हुए थे, और जो देश के क्षेत्रफल का केवल ग्यारहवाँ हिस्सा है। डचों ने १९०५ से ही इस समस्या के समाधान के लिए जावाइयों को द्वीप-समूहों के अन्य क्षेत्रों में जाकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया था। पुनर्विस्थापन बड़ा मँहगा पड़ता था, इसलिए इसमें बड़ी धीमी प्रगति हुई। इस नीति को इंडोनेशियाई सरकार ने १९५० में पुनः कार्यान्वित किया, जब २७ परिवार (४५ व्यक्ति) वहाँ से हटाये गये। किन्तु इस संख्या में बाद के वर्षों में वृद्धि हुई और १९५४ में ७८४६ परिवार पुनर्विस्थापित हुए जिनमें २७,६४३ व्यक्ति थे। सरकारी योजना ६ वर्षों की अवधि में २० लाख लोगों को ४०० करोड़ रुपियों से अधिक की लागत से पुनर्विस्थापित करने की थी। जावा में आबादी की वृद्धि की तत्कालीन दर के कारण पुनर्विस्थापन से कोई अधिक लाभ नहीं हो सका और उस समय के स्तर के अनुसार जावा में जन संख्यातिरेक बना रहा। किसी भी रूप में पुनर्विस्थापन मूल समस्या को नहीं सुलझा सका, जो वस्तुतः जन-वृद्धि सम्बन्धी थी।

स्वतंत्रता के बाद आर्थिक गिरावट के साथ सरकार और प्रशासन के व्यवहार और कार्य-संपादन के स्तर में कमी आने के कारण अशान्ति को प्रोत्साहन मिला, जिसके परिणामस्वरूप १९५७ में बड़े पैमाने पर विद्रोह हुआ। इन परिस्थितियों का कम्युनिस्टों ने देश में अपने अनुयायी बढ़ाने के लिए दुरुपयोग किया। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए उन्होंने सुकर्नो और राष्ट्रवादियों को भी अपने पक्ष में करते हुए अपनी ऐसी कार्रवाइयाँ बढ़ाने में निरन्तर उनका अधिकाधिक समर्थन प्राप्त किया। राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों के इस सहयोग ने ही विद्रोह को कम्युनिस्ट विरोधी रुख अपनाने का अवसर दिया। परिणामस्वरूप, जैसे-जैसे विद्रोही शक्तियाँ क्रमशः सैनिक कार्रवाई द्वारा समाप्त होती गयीं, सरकार ने इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी से अपने अति निकट सम्पर्क से दूर हटते हुए विरोधी शक्तियों से मिलाप करने की इच्छा का संकेत दिया।

तीसवाँ अध्याय

आत्म-समर्पण के बाद जापान

पैसिफिक-युद्ध में जापान की पराजय ने, उसे उसकी मूल स्थिति में ला दिया। कुरिलीज और दक्षिणी सरवालिन को रूस ने हस्तगत कर लिया। कोरिया को समय आने पर स्वाधीन किये जाने की बात की गयी, पर उस पर कब्जा करने के उद्देश्य से उसे सोवियत संघ और संयुक्त-राज्य के बीच विभाजित कर दिया गया। फारमोसा पर चीन ने अपने पुनरधिकार की घोषणा की। पैसिफिक द्वीप, जो प्रथम विश्व-युद्ध के बीच जापान के प्रदेशाधीन हो गया था, संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत युद्ध-नीति के न्यास के रूप में संयुक्त-राज्य को हस्तान्तरित कर दिया गया। युद्ध की पराजय ने इस प्रकार जापान को केवल चार पहले के मूल द्वीपों (होन्सू, शिकोकू, कियूशू, होकाइडो) तक सीमित कर दिया और पुनःस्थापना के समय जापान-राज्य में इसके साथ कुछ छोटे निकटवर्ती द्वीप शामिल किये गये। किन्तु उसके निजी द्वीप में १९५८ में ९ करोड़ जापानी निवास कर रहे थे, जब कि १८६७ में उसकी आबादी कुल केवल ३ करोड़ थी। यह वृद्धि एक शताब्दी में बढ़ी प्राकृतिक आबादी और उसके साम्राज्य के हारे हुए क्षेत्रों से और विशाल पूर्वी-एशिया की सह-समृद्धि के क्षेत्रों से अपने देश में जापानियों के लौट आने से हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि जापानी जनता के सामने जीवन-निर्वाह की जटिल समस्या थी। यह समस्या केवल विदेशी व्यापार की पुनःस्थापना से कच्चे माल का आयात कर उससे बिक्री योग्य पक्का सामान बनाकर बाहरी देशों के विश्व-बाजार में भेजने से ही सुलझायी जा सकती थी। किन्तु जापान की विस्तारवादी नीति ने, जिसकी युद्ध के विनाश के साथ समाप्ति हुई थी, ऐसी स्थिति और प्रवृत्ति पैदा कर दी थी, जो उसके इस स्वाभाविक अभियान द्वारा समस्या का समाधान प्राप्त करने में बाधक थी। विजयी देश इसको तत्क्षण कोई प्रोत्साहन देने के विरुद्ध थे। और बिना शर्त आत्म-समर्पण के बाद अपने अधिकार की स्थापना के माध्यम से वे जापान के भाग्य-नियंत्रक हो गये थे।

(१) दखल-नीति और संगठन

आत्म-समर्पण की शर्तें २६ जुलाई, १९४५ ई० की पोर्ट्सडैम-घोषणा में दी गयी थीं, जिसे जापान ने इस धारणा के साथ स्वीकार कर लिया था कि मित्र-राष्ट्रों की नीति के

अन्तर्गत साम्राज्यिक परिवार को शासन के उपकरण के रूप में अस्वीकृत नहीं किया गया है। दखल-नीति की व्याख्या सर्वप्रथम संयुक्त-राज्य द्वारा जापान के लिए संयुक्त-राज्य की आत्म-समर्पणोत्तर मूल नीति में की गयी थी, जिसे राष्ट्रपति ने ६ सितम्बर, १९४५ को अनुमोदित किया था। इसने जापान पर दखल के अधिकारों के निमित्त तब तक के लिए एक नीति निर्धारित की, जब तक सुदूर पूर्व आयोग ने १९ जून, १९४७ को नीति-निर्धारण के समय जापान के लिए आत्म-समर्पणोत्तर बुनियादी नीति के रूप में इसकी पुनः पुष्टि नहीं कर दी। अतः दखल के उद्देश्यों की जो व्याख्या की गयी, वे थे—(१) जापानी सेनाओं—समुद्री और हवाई दोनों सेनाओं का पूर्ण विघटन करना और इस प्रकार उसका पूर्ण निरस्त्रीकरण करना, साथ ही देश का असैनिकीकरण करना और युद्ध के अपराधियों को दण्ड देना, (२) इसके लोकतंत्रीकरण को प्रोत्साहित करना, और (३) जापान की सैनिक शक्ति के वर्तमान आर्थिक आधार को नष्ट करना और इसे पुनर्जीवित होने की अनुमति न देना, किन्तु जापान के आर्थिक जीवन को पुनः जागृत करना, ताकि जनता और राष्ट्र की शान्तिपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।[1]

आत्म-समर्पण के प्रपत्रों पर मित्र राष्ट्रों के प्रधान सेनाध्यक्ष के रूप में जनरल मैक आर्थर ने और २ सितम्बर, १९४५ को युद्धपोत मिसूरो पर पैसिफिक के युद्ध में भाग लेने वाले संयुक्त-राज्य के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किया। ६ सितम्बर को जनरल मैक आर्थर को जापान पर दखल करने के लिए मित्र-राष्ट्रों के प्रधान सेनाध्यक्ष का पद दिया गया। अतः यह उनकी जिम्मेदारी हो गयी कि वे इस प्रकार कार्य करें, जिससे अमेरिकी नीति के अनुरूप निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। जापान पर मूलतः कब्जा करने वाली सेना अमेरिकी थी और साथ ही मित्र-राष्ट्रों का प्रधान सेनाध्यक्ष अमेरिकी था और मित्र-राष्ट्रों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अमली सिद्धान्त संयुक्त-राज्य सरकार ने स्थिर किये थे, अतः जापान पर दखल करने का मूल अधिकार अमेरिका को ही प्राप्त था। फिर भी, आत्म-समर्पण के पूर्व अमेरिका ने यह सुझाव दिया था कि जापान में भावी नीति-निर्धारण में सहायता देने और जापानियों द्वारा उनकी प्रतिज्ञा-पूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए एक अनिवार्य संगठन बनाने में मदद देने के निमित्त एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जाय।[2] संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचारों के अनुसार केवल सलाहकार-समिति के निर्माण के प्रति सोवियत संघ और ब्रिटेन के विरोध के कारण मास्को में (२७ दिसम्बर, १९४५ को) हुए विदेश-मंत्रियों के सम्मेलन के समझौते के आधार पर सुदूर पूर्व आयोग का संगठन किया गया, जिसकी वाशिंगटन में ११ राष्ट्रों, बाद में १३ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को सदस्यता प्रदान की गयी और जापान के लिए मित्र-राष्ट्रों की एक "कौंसिल" का भी टोकियो में निर्माण किया गया, जिसकी सहायता पैसिफिक शक्तियों में शामिल चार

प्रमुख राष्ट्रों (सोवियत संघ, चीन, ब्रिटेन और उसके राष्ट्र-मंडल तथा संयुक्त-राज्य) को दी गयी। इस संगठन ने अमेरिकी दखल-नीति में सुधार किया, किन्तु उसके अधिकार में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। वास्तविक अधिकार मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के हाथों में ही बना रहा।

मित्र-राष्ट्रों का यह अधिकार जापानी सरकार के ऊपर स्थापित किया गया, किन्तु उसके स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया। यह एक ऐसा उपकरण अवश्य था, जिसके द्वारा मित्र-राष्ट्रों को प्रधान कमान के नेतृत्व और निदेशन में, जापान पर दखल करने का उद्देश्य पूरा किया जाना था। स्थिति का अनुमान लगाते हुए आत्म-समर्पण के पूर्व की सरकार ने एक केन्द्रीय सम्पर्क कार्यालय की स्थापना की, जिसके माध्यम से जापानी सरकार और दखल करने वाली शक्तियों के बीच सम्पर्क स्थापित किया जा सके। इस, संचार (सम्पर्क)--साधन की मान्यता का यह अर्थ हुआ कि कब्जा करने के उद्देश्यों निदशों और आदेशों को एक अधिकरण (एजेन्सी) के माध्यम से जापानी सरकार की शुद्धि के निमित्त प्रयुक्त किया जा सके और वह अधिकरण जापान की रूढ़िगत परम्पराओं के स्थान पर, वहाँ एक नये तन्त्र की स्थापना कर मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा 'प्रोत्साहित' उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। इसी प्रकार का परिवर्तन मंत्रिमंडल द्वारा कार्यान्वित किया गया था, जिसमें युद्धोपरान्त जापानी सरकार के कार्यकर्त्ता अधिकतर युद्ध के पूर्व के अधिकार-तंत्र या पार्टी के नेताओं के बीच से लिये गये थे। जापान में आन्तरिक क्रान्ति के अभाव में इसकी संभावना समझी गयी और इसे स्वीकार करना पड़ा।

फिर भी, उक्त वक्तव्य में एक महत्त्वपूर्ण अपवाद भी था। अमेरिकी और मित्र राष्ट्रों की नीति के एक अंश को कार्यान्वित करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था, जिसके संदर्भ में यह समस्या थी कि सरकार के कार्यों के लिए युद्ध-पूर्व के सेना-नायकों को सरकार में कैसे शामिल किया जाय। यह जापानी समाज के उन तत्त्वों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार सत्य था, जो जापान द्वारा एक दशी सन् १९३१ से १९४१ के बीच अपनायी गयी विस्तारवादी और युद्ध-नीतियों के विकास में सैनिक क्रियाओं के लिए उदरदायी ठहराये गये थे। टोकियो में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को पोर्ट्सडैम की घोषणा में सन्निहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित किया गया, जिसे उक्त घोषणा के अनुसार युद्ध के अपराधियों के साथ और उनके साथ—जिन्होंने मित्र-राष्ट्रों के युद्ध-बन्दियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया था और जिन्होंने आक्रामक युद्ध-नीतियों का निर्माण किया था, कठोर न्याय करना था। जापान के सम्राट् को युद्ध-अपराध के मुकदमे से बरी कर दिया गया था, क्योंकि उनका मित्र-राष्ट्रों के नीति कार्य-सम्पादन में उपयोग करने का निर्णय किया गया था। किन्तु जिन पर मुकदमे चलाये गये और जिन्हें दण्डित

किया गया, वे थे—पैसिफिक युद्ध शुरू होने के समय के प्रधान-मंत्री जनरल हिडेकी तोजो, मार्क्विस कोइची किडो, राज-मुद्रक लार्ड कीपर, भूतपूर्व विदेश-मंत्री योसुके मात्सुओका और प्रिवीकौंसिल के भूतपूर्व अध्यक्ष—किचिरो हिसैनुमा। ये मुकदमें १९४६ से १९४८ तक चले और निर्णीत दण्ड दिसम्बर, १९४८ में दिया गया। युद्ध के अपराधियों पर मुकदमें चलाने के साथ उन्हें अनुचित तत्त्व समझ कर महत्त्वपूर्ण स्थानों से उन्हें निष्कासित करने का कार्य भी किया गया। जो सरकार में निर्देश देने के स्थानों पर नियुक्त थे, उन्हें पहले वहाँ से निकाल बाहर किया गया, इसके बाद जो उद्योगों में लगे हुए थे, उन्हें हटाया गया और ऐसे लोगों को भी, जिनका युद्ध-नीति-निर्धारण से कोई महत्त्वपूर्ण सम्पर्क था, अपनी जगहों से दूर कर दिया गया। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के निर्देशों का पालन करने के लिए जापान सरकार ने ४ जनवरी, १९४६ को प्रशासनिक शुद्धि (अपराधियों को पदच्युत करने) के अध्यादेश की प्रथम किश्त जारी की। एक वर्ष बाद ४ और १४ जनवरी, १९४७ के अध्यादेशों द्वारा इस शुद्धिकरण की सीमा और बढ़ायी गयी। अतः गोकि शुद्धिकरण के अध्यादेश यथासंभव जापान की आन्तरिक राज-नीति के निमित्त कार्यान्वित करने थे और गोकि इस अध्यादेश में आने वालों की जाँच करने के लिए स्थापित संगठन ने अपना कार्य उदारता के साथ किया, फिर भी इससे युद्ध के पूर्व के अनेक अनुभवी राजनीतिज्ञ और उद्योगपति युद्धोत्तर आत्म-समर्पण के बाद तुरन्त सीधे नेतृत्व के लिए अनुपयुक्त करार दे दिये गये।[3]

(२) असैनिकीकरण और निरस्त्रीकरण

सैनिक पक्ष में मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने जापानी सेना के विभाजन एवं असैनिकीकरण के साथ निरस्त्रीकरण की नीति तेजी से लागू करनी आरम्भ की। असैनिकीकरण के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस कार्य में, जनरल स्टाफ-संगठन का निरसन, सह-सैनिक-संगठन का निषेध (जिनसे सैनिकों के हटने के बाद तत्क्षण अपने कार्य-च्युत होने पर पुनः संगठित होने का भय था) और सरकार के युद्ध तथा समुद्री विभागों को समाप्त करना आदि सम्मिलित था। उक्त दूसरी श्रेणी वालों को इस कार्य की पूर्ति होने तक अस्थायी रूप से नागरिक सैन्य-विनियोजन बोर्ड में रखा गया। ये परिवर्तन स्वयं उक्त निरसन द्वारा समस्याएँ सुलझा सकते थे, जिनके अनुसार गृह और विदेशी नीति के सैनिक कार्य-कौशल की युद्ध-पूर्व की भयप्रद राजनीतिक समस्या, उन अधिकारों को—जो पहले सेनापतियों तथा युद्ध एवं समुद्री-मंत्रियों के पास थे, सम्राट् को देकर हल की जा सकती थी। नये संविधान में, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को तय करने के साधन के रूप में युद्ध और सेना दोनों के त्याग द्वारा पुनः सैनिक-भावना (सैनिकत्व) को

पुनर्जीवित न होने देने के विरुद्ध व्यवस्था की गयी थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह निर्णय किया गया था कि भू, समुद्र और वायु-सेनाओं तथा साथ ही अन्य सैन्य-शक्तियों को फिर कभी भी बने रहने न दिया जाय।[४] इसके साथ, संविधान से–सम्राट् के अलग सैनिक विशेषाधिकार का निरसन कर, नीति पर सैनिक नियंत्रण की समस्या को सुलझाने का कार्य किया गया।

(३) लोकतंत्रीकरण

इसके बाद सुधार की दृष्टि से अनेक कार्य किये गये, जिनका उद्देश्य समग्ररूप से जापान का लोकतंत्रीकरण करना था। इन उपायों में एक था––१८८९ के मेजी-संविधान की जगह नये संविधान को लागू करना। पर उद्धृत परिवर्तन के अतिरिक्त, जो संविधान ३ मई, १९४७ से लागू किया गया, उसके अनुसार 'राज्य शक्ति के सर्वोच्च अंग' और 'राज्य के प्रधान विधि-निर्माता' के रूप में आधारित साम्राज्यिक विशिष्टता के स्थान मर 'डायट' की विशिष्टता को आरोपित किया गया। इसके अन्तर्गत सम्राट् 'राज्य का और उसकी जनता की एकता का––जन-भावना के आधार पर, जिसमें सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति निहित थी––प्रतीक था। संविधान के चौथे, पाँचवें और छठें अध्याय में सरकार की संसदीय प्रणाली की व्याख्या की गयी, जिसके अनुसार पूर्णरूपेण एक नागरिक मंत्रि-मंडल बनाया गया, जो प्रतिनिधियों की सभा के प्रति उत्तरदायी था और जिसके पास 'डायट' के वे वित्त नियंत्रण–अधिकार भी थे, जो मेजी–संविधान के अन्तर्गत उसे पहले सीमित सीमा में ही प्राप्त थे। साम्राज्य-सम्बन्धी गृह-कार्य भी तदनुरूप विधि-व्यवस्था द्वारा' 'डायट' के नियंत्रण में लाये गये। पहले की प्रिवी-कौंसिल समाप्त कर दी गयी और उसके स्थान पर मेजी-संविधान की कुलीनों की संसद के बदले विधायकों के निर्वाचित संसद की स्थापना की गयी। विधायकों के संसद को विधान में विलम्बनीय विशेषाधिकार प्रदान किये गये और इस मामले में तथा अन्य रूपों में यह प्रतिनिधियों के संसद के अधीन था। संवैधानिक रूप से एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण की स्थापना की गयी और निर्वाचन-मंडल को जजों की नियुक्ति का तो नहीं, किन्तु उनको आवश्यकता पर बुलाने या प्रस्तुत होने के लिए आज्ञा देने का अधिकार प्रदान किया गया था। अमेरिकी प्रणाली के अनुसरण पर सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) को, न्याधिकरण के अन्तिम उपकरण के रूप में, किसी भी विधि, आदेश, नियम या सरकारी कार्य की विधिवत्ता को परीक्षित और निश्चित करने का अधिकार दिया गया। और नये संविधान के तीसरे अध्याय की इकतीसवीं धारा में मूलतः अमेरिकी विकास-प्रक्रिया के आधार पर राज्य-शक्ति के अनुचित प्रयोग के विरुद्ध व्यक्तिगत सुरक्षा के संबंध में विस्तृत नियम बनाये गये। अधि-

कार के इस विधेयक में, यह ध्यान देने के बात है कि एशियाई देशों, जैसे जापान में समूह या संख्या के परम्परागत अधिकारों की विशिष्टता के स्थान पर व्यक्ति-विशेष के अधिकारों पर अधिक बल दिया गया।

संवैधानिक सुधार के निकट सम्बन्ध की दृष्टि से सांसारिक कार्यों के साथ राज्य, चैत्य (साइन) और जापानी धर्म के स्थापित संबन्धों में परिवर्तन किया गया। इस दिशा में पहला कदम १ जनवरी, १९४६ को सम्भवतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा निर्देश दिये जाने की आशा में एक राजाज्ञा जारी करके उठाया गया, जिसमें सम्राट् के प्रति पहले की ईश्वरीय या आध्यात्मिक भावना को मिटाकर—उसे राष्ट्र का नेतृत्व करते हुए, इसपर शासन करने वाले सत्ताधारी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने राज्याश्रित जापानी धर्म 'शिन्टो'—को समाप्त करते हुए धर्म-चैत्यों का अनुरक्षण जनता की स्वेच्छा पर छोड़ दिया। इसके साथ ही 'शिन्टो'—सम्प्रदाय की राज्य की ओर से आर्थिक सहायता देना अस्वीकृत कर दिया गया। इन कार्रवाइयों ने साम्राज्यिक संस्था को पूरी तरह सांसारिक नींव पर आधारित कर दिया, जिससे इसका संवैधानिक और लोकतंत्रीय तरीके से कार्य करना अधिक संभव हो सका। फिर भी, उन्होंने सम्राट् को राज्य के प्रधान के रूप में मानते हुए, उसे उसकी प्रतीकात्मक विशिष्टता से वंचित नहीं किया और न उसे उसकी इस व्यक्तिगत स्थिति से अप्रतिष्ठित किया, जिससे उसकी जनता व्यक्तिगत विश्वासों के पुश्तैनी सम्बन्धों से आबद्ध थी। उसकी इस प्रतीकात्मक स्थिति का, जैसा पहले बताया गया है, संविधान में भी उल्लेख किया गया था।

ये तथा अन्य विचाराधीन परिवर्तन रूढ़िवादी जापानी संस्था द्वारा मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के निदेशन या नेतृत्व में या इनकी आशा में किये गये। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान जापान पर दखल करने के बाद पहले १८ महीनों तक लोकतंत्र की अड़चनों को, जिनमें युद्ध-पूर्व की विचार-नियंत्रण-विधि जैसी चीजें शामिल थीं, दूर करने की कार्रवाई नहीं कर सकी और वह केवल लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त भी और कुछ न कर सकी। सरकारी अधिकार-पत्र (चार्टर) में जिसके अनुसार मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान को कार्य करना था, और जिसका अधिकार इसके पास सुरक्षित था, उसमें यह आश्वासन दिया गया था कि स्वयं जापानी भी कोई वास्तविक आमूल परिवर्तन नहीं करेंगे। अतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने अमेरिकी और सुदूर पूर्व आयोग के निर्देशों में स्वयं लोकतंत्र के उद्देश्यों की पूर्ति के पूर्वनिर्णय के आधार पर सुधार कार्य-क्रम को बन्द कर रखा था और जो सुधार उसने करना शुरू किया

था, वे भी उसने जापानियों के माध्यम से किया था, जिनमें कतिपय झुकाव और हित ऐसे सुधारों के विपरीत थे।

चूँकि मेजी-संविधान में प्रतिनिधियों के निर्वाचित संसद की व्यवस्था की गयी थी, इसलिए निर्वाचन को युद्ध के उपरान्त जापान में कोई नवीन प्रक्रिया नहीं समझा गया। परिणामस्वरूप दखल-नीति का आरम्भिक असर जीवन को युद्ध पूर्व की सामान्य स्थिति के अनुरूप चलाना था। अतः नयी संविधान-पद्धति के निर्माण के पूर्व १९४६ के बसन्त में निर्वाचन कराये गये। युद्ध के बाद का दूसरा निर्वाचन जो नये संविधान के अन्तर्गत पहला निर्वाचन था, १९४७ के बसन्त में किया गया। निर्वाचन पुनः १९४८ में भी हुए। चूँकि नये संविधान ने औरतों को भी बालिग मताधिकार प्रदान किया था, इसलिए इस निर्वाचन में तथा उसके बाद के निर्वाचनों में निर्वाचन-विधि सम्पूर्ण मताधिकार के सिद्धान्त पर आधारित थी। जापान पर दखल करने की अवधि के सभी निर्वाचनों और साथ ही १९५२ की शान्ति-संधि के बाद के निर्वाचनों की प्रवृत्ति में वास्तविक रूढ़िवादिता का दर्शन हुआ, जब कि १९४९ के निर्वाचनों में रूढ़िवादी उदार-लोकतंत्रीय दल (कान्जरवेटिव लिबरल-डिमाक्रेटिक पार्टी) के प्रतिनिधियों ने संसद में अपना पूरा बहुमत प्राप्त किया था।

दखल के बाद लोकतंत्रीकरण पर जोर देने के कारण जापान के आत्म-समर्पण के तत्क्षण बाद ही उसकी राजनीतिक पार्टियों के कार्य पुनः जीवित हो उठे। पुरानी पार्टियों का १९४० में और उसके बाद साम्राज्यिक अधिनियम-सहकार संघ (इम्पीरियल असिस्टैन्स एशोसियेशन) और साम्राज्यिक अधिनियम सहकार राजनीतिक समिति (इम्पीरियल रूल असिस्टैन्स पोलिटिकल सोसाइटी) के संगठन द्वारा न तो पूरी तरह विनाश किया जा सका और न उनके युद्ध-पूर्व के राजनीतिक संगठनों और सम्बन्धों को समाप्त करने का समय मिल सका। अतः पहले की पार्टियाँ—"स्युकाई' और 'मिन्सेइतो'—उदारवादी और प्रगतिशील पार्टियों के भ्रमपूर्ण नामों के अन्तर्गत युद्ध-पूर्व के दिनों के पार्टी-राजनीतिज्ञों और नौकरशाही राजनीतिज्ञों के नेतृत्व में पुनर्जीवित हो गयी।' एक तीसरी पार्टी सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी (सोसल डिमाक्रेटिक पार्टी) ने युद्ध-पूर्व के एक श्रम-सम्बन्धी मामलों के वकील और राजनीतिज्ञ कतैयमा के नेतृत्व में उदारवादियों (जिन्होंने १९४९ तक उदारवादी-लोकतांत्रिक पार्टी सगठित कर ली थी) और प्रगतिशीलों (जिन्होंने बाद में तुरन्त अपने संगठन को लोकतांत्रिक पार्टी का नाम दे दिया था) का मुकाबला किया। सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी वाले दो भागों में विभक्त हो गये, जिनमें दक्षिण मार्गियों का उद्देश्य उदारवादियों और लोकतंत्रवादियों के उद्देश्यों के अनुरूप था और वाममार्गियों का झुकाव कम्युनिष्टों के सिद्धान्तों की ओर था।

आत्म-समर्पण के बाद पहला निर्वाचन एक अपूर्ण पुनर्निमित सरकार के तत्त्वावधान में और नयी लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों को संगठित और शक्ति संवर्धित करने के पहले ही किया गया, जिसमें रूढ़िवादी उदारपंथियों और प्रगतिशील पार्टियों को 'डायट' में बहुमत प्राप्त हुआ और जिसमें निर्वाचन के तत्क्षण बाद—इसके प्रथम राष्ट्रपति 'हेतोयमा' के मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के आदेश से निष्कासित किये जाने पर, उदारवादी पार्टी का नेतृत्व ग्रहण करने वाले 'योशिडा शिगेरु' के अन्तर्गत मंत्रि-मंडल का निर्माण हुआ। यह सरकार १९४७ के निर्वाचन तक बनी रही। इस निर्वाचन में प्रतिनिधियों की संसद में पार्टियों की सदस्य-संख्या इस प्रकार थी—सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी—१४३ उदारवादी पार्टी—१३३ और लोकतांत्रिक पार्टी—१२६ तथा इसके अलावा ४६६ सदस्यों में कुछ स्वतंत्र थे या अन्य छोटी पार्टियों के थे। इस आधार पर संसद ने 'कतैयमा' (सामाजिक लोकतांत्रिक नेता) को प्रधान-मंत्री का पद प्रदान किया। उसका मंत्रि-मंडल सामाजिक लोकतांत्रिक, लोकतांत्रिक और जनता की सहकारी पार्टियों के प्रतिनिधियों का संयुक्त मंत्रि-मंडल था। कतैयमा की सरकार को आर्थिक-समंजन के कार्यक्रम को तेजी से विकसित करने और चलाने में मिली असफलता के कारण, इसके प्रति बड़ा असंतोष व्याप्त हो गया, इसलिए इन्होंने (फरवरी, १९४८) में त्याग-पत्र दे दिया और उनके मंत्रि-मंडल के स्थान पर 'लोकतांत्रिक पार्टी के नेता—'अशिडा हितोशी' के नेतृत्व में दूसरे मंत्रि-मंडल का संगठन, किया गया। उनकी सरकार के विपक्ष में उठाये गये परिवाद 'अशिडा' के भी प्रतिकूल गये, जिससे उन्हें भी (अक्तूबर, १९४८) में पदच्युत कर दिया गया और उनके स्थान पर 'योशिडा' को प्रधान-मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया गया, गोकि 'योशिडा' की प्रथम सरकार बनने के समय पार्टी के लिए निधि का दुरुपयोग करने और गलत हिसाब रखने के लिए उनकी जाँच की जा रही थी। इन परिस्थितियों में भी जनवरी, १९४९ के निर्वाचन में उदारवादियों, (नया नाम-उदारवादी लोकतांत्रिक पार्टी) को 'डायट' में पूरा बहुमत प्राप्त हुआ।

दक्षिणमार्गी पार्टियों के सम्बन्ध में उठाये गये परिवाद, पार्टियों द्वारा अपने कार्य-कलाप के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था करने में अपनाये गये तरीकों के कारण थे। जापान की युद्ध-पूर्व राजनीति में औद्योगिक और वित्तीय पूँजीपतियों तथा राजनीतिक पार्टियों के बीच निकट का कार्यकारी सम्बन्ध रखा जाता था। इनसे वित्तीय सहायता प्राप्त करने के बदले, एक ओर ये पार्टियाँ नौकरशाही और सरकार के बीच मध्यस्थ का कार्य करती थीं और दूसरी ओर ये जापानी अर्थ-व्यवस्था (भूस्वामियों और जैवस्तू) के व्यवस्थापकों का कार्य करती थीं। चूँकि ये पुराने सम्बन्ध मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा किये गये आर्थिक सुधारों के कारण पार्टियों का निर्वाचन-सम्बन्धी तथा अन्य

वित्तीय आवश्यकताओं का दूर किये बिना छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे, गोकि पूरी तरह हटाये नहीं जा सके थे, इसलिए पार्टियों ने अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ऐसे ठीकेदारों तथा औरों से अपने कार्यकारी सम्बन्ध स्थापित कर लिये, जो जापान के पुन-र्निर्माण का कार्य करना और उससे लाभ उठाना चाहते थे। इस तरह के सम्बन्ध का खुला रहस्योद्‌घाटन होने के कारण ही ऐसे परिवाद उठाये गये थे।

लोकतंत्रीकरण का दूसरा तरीका लोकतंत्रीकरण के लिए अपनाये गये कार्य-क्रम में प्रगट हुआ। यह कार्य-क्रम गृह-मंत्रालय की नौकरशाही द्वारा प्रयुक्त न्यायाधिकरण और स्थानीय सरकार का नियंत्रण कम करने के उद्देश्य से बनाया गया था। गृहमंत्रा-लय—पुलिस पर नियंत्रण रखने, नियुक्ति के विस्तृत अधिकार रखने और न्यायाधि-कारियों एवं स्थानीय कार्य-कर्मियों का निदेशन करने के कारण सत्ताधारी और नौकर-शाही-शासन के एक महत्त्वपूर्ण अभिकरण (एजेन्सी) के रूप में स्थित था। पुलिस-प्रशासन-प्रणाली को, विकेन्द्रीकरण के आधार पर, १९४७ के अन्त में—गृह-मंत्रालय की समाप्ति के पूर्व, जब कि इसके अन्य कार्य या तो हटा दिये गये थे या दूसरे मंत्रालयों को दे दिये गये थे, पुनःसंगठित करने के लिए कदम उठाये गये। इसके कारण उस नये संविधान में स्वायत्त सरकारों का उदय संभावित हो गया, जिसने स्थानीय जन-सत्ता को संगठित और क्रियान्वित करने के निमित्त विधि-सम्मत विनिमय बनाने के लिए स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त की स्थापना की। संविधान की ९३ वीं धारा में स्थानीय निर्वाचनीय सभाओं और विधि समुदायों में से सीधे प्रमुख समताधिकार द्वारा कार्यालय-कर्मियों को चुनने की व्यवस्था की गयी। रूढ़िवादी दलों के स्थानीय संगठनों के अन्तर्गत नौकरशाही और उसके समर्थकों के परम्परागत अधिकार में केन्द्रित शक्ति का पता इस तथ्य से लगा, जब न्यायाधिकारी 'गवर्नर' या 'मेयर' के चुनाव में, जो पहले टोकियो द्वारा नियुक्त किये जाते थे, स्थानीय निर्वाचकों ने उन्हें पुनः अधिकार-पदों पर प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति अभि-व्यक्त की। अतः स्थानीय तथा साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर साढ़े तीन वर्षों में किये गये लोकतंत्रीकरण के प्रयासों से जापान के संस्थागत राजनीतिक जीवन का पुनःसंगठन हुआ, जिससे नये विचारों और नयी शक्तियों की अभिव्यक्ति सम्पन्न हो सके, किन्तु युद्ध-पूर्व के नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों का स्थान ग्रहण करने वाले किसी वास्तविक और महत्त्वपूर्ण नेतृत्व का उदय नहीं हुआ। यदि निर्वाचन-फल को निर्णय का आदर्श माना जाय, तो जनता पुराने नेतृत्व का, जिसका मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के निदेशों पर निष्कासन नहीं हुआ था, अनुसरण करने में ही संतुष्ट थी। राज-नीति से निष्कासित नेता अभी भी परोक्ष साधनों से पर्याप्त प्रभाव डाल रहे थे।

(४) अर्थ और शिक्षा-सम्बन्धी सुधार

सम्भवतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा सरकारी और राजनीतिक परिवर्तनों से अधिक दीर्घकालिक महत्त्व, उसके निदेशन में अर्थ-व्यवस्था और शिक्षा-सम्बन्धी, सुधारों को दिया गया। शिक्षा-संबंधी सुधार विद्यालयों में शिक्षा की सामग्री और उसके सिद्धांत में परिवर्तन लाकर किये गये। उन्होंने शिक्षा में नये विषयों को सम्मिलित किया और शिक्षा के लिए नयी पाठ्य-सामग्री स्वीकृत की। इस सैद्धान्तिक परिवर्तन को दृष्टि में रखकर शिक्षा-पद्धति का विकेन्द्रीकरण किया गया, ताकि शिक्षा का उपयोग राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति से अधिक व्यक्ति के विकास में सहायक हो सके। चूँकि शिक्षा-संगठन और विधि, जापान की परम्परागत शिक्षा के पुनर्गठन से कहीं अधिक अमेरिकी प्रणाली पर आधारित थी, इसलिए शिक्षकों के प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) की व्यवस्था करनी थी। और शिक्षा को औपचारिक शैक्षणिक कार्यों की अपेक्षा उसके विस्तृत उद्देश्य के साथ ग्रहण करने के लिए युद्ध-पूर्व और युद्ध के समय के 'विचार-नियंत्रण' से उसे मुक्त कर प्रकाशन (प्रेस) और प्रसारण (रेडियो) की स्वतंत्रता देते हुए उसके (शिक्षा के) कार्यक्रम को जापान के लोकतंत्रीकरण के अन्तिम उद्देश्य के साथ सम्बद्ध करना इसका एक प्रधान अंग समझा गया था।

इस प्रकार, अर्थ-व्यवस्था के कार्य-क्रम को भी, जिसमें एक दुरूह अवधारणा समाहित थी, लोकतंत्रीकरण के अनुरूप परिवर्तित करना था। युद्ध के व्यस्ततम काल में ५ लाख सदस्यों के मजदूर-संगठन को उनकी ६० लाख की सदस्यता के साथ पुनर्जीवित और विस्तृत करना इसका एक प्रमुख संकेत था। स्थानीय मजदूर-संगठनों को, जो पुराने कानून के निरसन के बाद तेजी के साथ संगठित हुए, उन्हें अमेरिकी अनुसरण पर दो प्रधान मजदूर संगठनों—एक 'जापानी मजदूर-संघ' और दूसरा 'औद्योगिक मजदूर कांग्रेस' के अन्तर्गत राष्ट्रीय आधार पर संगठित करना था। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की नीति ने इस संगठन को प्रोत्साहित किया, क्योंकि मजदूर-संगठनों का क्रिया-कलाप अमेरिकी मजदूर-आन्दोलन पर आधारित था, जिसका उद्देश्य मजदूरों की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना था। फिर भी, इस नीति में उस समय परिवर्तन होने लगा, जब कि मजदूरों की साधारण हड़ताल में, जिसकी १९४६ के अन्त और १९४७ के आरम्भ में धमकी दी गयी थी, राजनीतिक भावना प्रतिष्ठित हो गयी। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने जापान पर दखल करने के पहले साल इस हड़ताल को पर्याप्त सीमा तक बरदास्त करने के बाद, केवल पूर्णतया आर्थिक कारण से नहीं, वरन् राजनीतिक कारणों से इसे रोकने के लिए अपना हस्तक्षेप किया। १९४८ में जापान की अर्थ-व्यवस्था के सुधार की जगह

उसको पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से नीति में हुए सामान्य परिवर्तन के कारण, मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के लिए, पूर्णतया आर्थिक उद्देश्यों के संदर्भ में हड़ताल को सहन करना कठिन हो गया, क्योंकि इनका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता था। इस तथ्य के कारण कि १९४८ की हड़ताल की धमकी में, जो विशेषत: सरकारी मजदूर-संगठनों की ओर से अग्रसारित की गयी थीं, राजनीतिक उद्देश्य की झलक मिली, फिर भी किसी हालत में मुद्रा-स्फीति के कारण मजदूरी की बढ़ोत्तरी के लिए हड़ताल का औचित्य हो सकता था, जिसको बिना विशेष जोर-दबाव के स्वीकार करते हुए, सरकार द्वारा जीवन-निर्वाह-व्यय के अनुरूप मजदूरी की दर में समंजन करना स्वीकार किया गया। इस तथ्य ने, कि रेलवे और अन्य जन-उपयोगी तथा कई एक और उद्योग, अंशत: दखल-नीति के कारण सरकार द्वारा नियंत्रित उद्योग हैं या हो गये हैं, संगठित मजदूरों और मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान, दोनों के सामने—यह द्विविधा उपस्थित की कि जापान में अमेरिकी सिद्धान्तों के आधार पर मजदूर-संगठन के जो प्रयास आरंभ किये गये थे, उनकी परिकल्पना राजनीतिक थी या आर्थिक। कुछ मजदूर-संगठनों में कम्युनिस्ट नेतृत्व ने आगे यह अनुमान सिद्ध कर दिया कि जिन हड़तालों से वे सम्बद्ध थे, उनका राजनीतिक उद्देश्य था।

मजदूर-संगठन से राजनीतिक कार्यों और उद्देश्यों को परित्यक्त कराने की इन धारणाओं ने आर्थिक स्थिति और युद्धोत्तर आत्म-समर्पण करने वाले जापान के साथ स्थापित अपने सम्बन्धों के कारण केवल यह द्विविधा ही पैदा नहीं की, बल्कि उसने मजदूर-संगठनों द्वारा किसी नये नेतृत्व को पनपना कठिन कर दिया, जो राजनीति में कोई महत्त्वपूर्ण भाग लेकर जन-नीति का विकास कर पाता। श्रम को संगठित होने का अधिकार दिया गया था और बाद में उसे इसके लाभ से वंचित कर दिया गया, किन्तु, फिर भी, उसे संगठित होने का अधिकार प्रदान करने के इस तथ्य ने तत्कालीन स्थिति में नहीं तो भविष्य में एक नयी गण्यमान्य राजनीतिक शक्ति जागृत की।

असैनिकीकरण और लोकतंत्रीकरण की समग्र समस्या के सम्बन्ध में किये गये श्रम-सुधार को ऐसा रूप दिया गया था, जिससे वह जापानी अर्थ-व्यवस्था के नियंत्रण पर संतुलन रख सके, जो युद्ध के पूर्व काफी ढीला हो गया था। अब यह नियंत्रण बड़े उद्योगपतियों-वित्तकारों को समन्वित रूप में दिया गया, जिनका सरकार से निकट का सम्बन्ध था। बिना अन्य परिवर्तन किये एक जनतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत दृढ़ मजदूर-संगठन द्वारा उनकी शक्ति का परिष्कार किया जा सकता था। किन्तु, इस समन्वय के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान की नीति—आर्थिक-राजनीतिक-शक्ति के उनके एकाधिकार की तटस्थता से ऊपर थी। इन समन्वित उद्योगपतियों और वित्तकारों में बहुतों (जैवत्सु) का सैनिकीकरण और तथाकथित सैन्यवादियों से सीधा सम्बन्ध था।

परिणामतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के निदेशनों में जापान-सरकार को अस्त्र-शस्त्र और विमानों का निर्माण रोकने के आदेश से विशेष रूप से 'जैवत्सु' और सामान्य रूप से युद्ध-उद्योग को काफी धक्का लगा।[५] इसके अलावा, ६ नवम्बर, १९४५ को सभी बड़े उद्योगपतियों, वित्तकारों के समन्वित सम्बन्ध को विभाजित करने का निदेश जारी किया गया। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की संभावित कार्रवाई के संदर्भ में 'जैवत्सु' द्वारा पहले से अस्थायी रूप से इस तरीके को लागू करने का सुझाव दिया गया था। औद्योगिक अधिकार के विस्तृत वितरण के उद्देश्य से तत्कालीन जैवत्सु-कम्पनियों की परिसम्पत्तियों को, उनको मूल रूप से कम्पनी में लाने वालों के बीच पुनः बेचने के पहले, उनका प्रशासन सम्हालने के लिए स्थित कम्पनी-समाप्ति-आयोग का निर्माण किया गया था। यह अभियान वास्तव में एकाधिकार समाप्त करने के लिए किया गया था, जिसको बाद में उद्योग के तत्कालीन कम्पनी-किस्म के वित्तीय नियंत्रण तक ही सीमित न रखकर, पूरी अर्थ-व्यवस्था को उनके अवयवों में, मूलतः छोटे अवयवों, किन्तु उत्पादन की विशिष्ट और (प्रत्येक को) स्वतंत्र इकाइयों के आधार पर विभाजित करने के लिए विस्तृत किया गया। अतः 'जैवत्सु' (जो मूलरूप से पारिवारिक आधार पर तत्कालीन कम्पनियों की वृत्तीय प्रणाली के रूप में था) के विरुद्ध शुरू किये गये इस अभियान को, औद्योगिक और साथ ही अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रित नियंत्रण के लिए एक आन्दोलन के रूप में विकसित किया गया। इस सुधार-कार्यक्रम को षड़यंत्रकारी कौशल से बचाने के लिए तथा साथ ही उन लोगों को—निदेश देने की महत्त्वपूर्ण जगहों से हटाने के लिए, जो जापान के युद्ध कार्य-क्रम से सम्बद्ध थे, निष्कासन-कार्य की अवधि १९४७ तक बढ़ायी गयी, जिसमें जापान की अर्थ-व्यवस्था पर पहले से नियंत्रण रखने वाले लोगों को, जो सरकारी पदों पर नहीं थे, निष्कासन-योजना के अन्तर्गत निष्कासन के निमित्त सम्मिलित किया गया।

इन आर्थिक सुधारों की तत्क्षण प्रतिक्रिया के कारण उत्पादन गिर गया और जापान की आर्थिक स्थिति को समुन्नत करने में अड़चन हुई और इसका स्तर १९३०-३४ से भी नीचे गिर गया, जो सुदूर-पूर्व-आयोग द्वारा औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया गया था। उदाहरणस्वरूप, सितम्बर, १९४८ में सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन १९३०-३४ के उत्पादन के केवल ५८ प्रतिशत तक रह गया था। परिणामतः १९४७ के ग्रीष्म के मध्य तक दखल-नीति में आर्थिक पुनःप्राप्ति पर विशेष बल देना शुरू किया गया और आर्थिक सुधार की उक्त धारा को यदि बदला नहीं जा सके, तो उसे मन्द करने की आवश्यकता पड़ी। जो सुधार शुरू किये गये थे, किन्तु जो जापानी दृष्टि से कागजी कार्रवाई तक ही सीमित थे, मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान के सरकार पर दबाव कम होने के कारण और इसके 'निर्देशन' में परिवर्तन आने के कारण स्थगित कर दिये गये।

(५) भूमि-सुधार का कार्यक्रम

आर्थिक सुधार के दूसरे क्षेत्र ने कृषि को प्रभावित किया। युद्ध-पूर्व के उद्योगीकरण के समय जापान की ५० प्रतिशत जन-संख्या कृषि के पेशे में लगी थी। १९४९ तक कृषि-कार्य करने वालों की संख्या ४६ प्रतिशत रह गयी। प्राप्त भूमि से यह जन-संख्या देश की पूरी जन-संख्या के लिए खाद्यान्न नहीं पैदा कर पायी। परिणामतः जापान खाद्यान्नों का आयात करने वाला देश हो गया था और इस आयात के व्यय का भुगतान निर्यात की प्राप्ति से करना पड़ता था। किन्तु कृषि-कार्य करने वाली जन-संख्या कृषि से स्वयं अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी पर्याप्त उत्पादन करने में असमर्थ थी। अतः कृषि-परिवार अपने जीवन-निर्वाह के लिए अन्य सहायक उद्योगों पर, जैसे––कच्चे सिल्क के उत्पादन, किसी परिवार-उद्योग और मछली-उद्योग पर निर्भर रहने लगे। इससे जापानी कृषि और उद्योग के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हुआ। किन्तु, इसके बावजूद भी कृषि-परिवारों के जीवन-निर्वाह का यह साधन भी अपर्याप्त था। उनके कर्ज बढ़ते गये, जिसके परिणामस्वरूप अनेक कृषि-परिवारों ने अपनी भूमि भी खो दी और इस पर वे लगान देने वाले असामी किसानों की हैसियत से ही बने रह सके। बट्टेदारी (उत्पादन के बँटवारे) की कृषि-प्रणाली, जो प्राचीन सामन्तशाही-सम्बन्धों का आधुनिक पर्याय थी, इस प्रकार जटिल हो गयी थी कि उसके रहते कृषकों को अच्छे दिनों में सफल कृषि द्वारा या उससे कुछ बचत करके पुनः अपनी भूमि का स्वामित्व प्राप्त करने का वस्तुतः कोई अवसर नहीं रह गया।

युद्धोत्तर जापान में, कृषकों को जापानी समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा असामान्य समृद्धि प्राप्त हुई। सरकारी नियंत्रण के बावजूद कृषक खाद्यान्नों की कमी की स्थिति में, जब जपान में युद्ध पूर्व की सहायक सहपूर्ति के बाहरी साधन कट गये थे और जब सभी तरह की सामग्रियों की कमी हो गयी थी, अच्छी कमाई करने में समर्थ था। शहर वालों को जीने की इन अनिवार्य सामग्रियों के लिए ग्रामीणों पर, उनकी शर्तों के अनुरूप आश्रित होना पड़ा था। फलतः कृषकों ने विनिमय की नियमित शर्तों के परिवर्तन के कारण या तो (१) अपने उत्पादन का बड़ा भाग अपने उपभोग के लिए रोककर, या (२) इसका अन्य वस्तुओं में काफी लाभ के साथ (विशेषतः काले बाजार में) विनिमय कर, या (३) भूमि के पुर्नवितरण कार्यक्रम से फायदा पाने के लिए, जो दखल-अभियान द्वारा जापान के कृषि-जीवन में सुधार लाने की दृष्टि से किया जा रहा था, मुद्रास्फीति के होते हुए मुद्रा-बचत का संग्रह कर विशेष लाभ उठाने का प्रयास किया।

१९४६ का भूमि-सुधार-अधिनियम विशेषतः तत्कालीन अनुपस्थाता भू-स्वामित्व

(जमीदारी) के विरुद्ध था। अनुमानतः २० लाख 'चाँड' (एक चाड़ या चोबु २.४५ एकड़ के बराबर होता है) भूमि इस अधिनियम से प्रभावित हुई थी, जिसमें १९४८ के प्रथम त्रैमास के अन्त तक सरकार ने १५ लाख भूमि पुर्नवितरण के लिए दखल कर ली थी। इस कार्यक्रम को दो वर्षों के भीतर पूरा करना था। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने सूचित किया कि जुलाई, १९४८ के अन्त तक इस कार्य-क्रम में कुल १,३२०,११३ चाड भूमि बेची गयी थी। १९४७ में पुर्नवितरण के कार्य-क्रम को विस्तृत कर इसमें कृषि योग्य चरागाहों के साथ कृषि योग्य भूमि भी सम्मिलित कर ली गयी थी। जून, १९५२ तक सरकार ने लगभग २० लाख चोबु कृषि योग्य भूमि और ४५०,००० चोबु चरागाह हस्तगत कर लिये थे और इनमें से अधिकतर काश्तकारों को बेच दिया था।

सुधार-अधिनियम के कार्यान्वियन ने अनुपस्थाता भूस्वामियों का भूमि से अधिकार-हरण कर लिया। किराये पर दी गयी भूमि के और मालिकों को होन्शु, शिकोकु, और कियुशु में केवल १ चोबु और होकाइडो में ४ चोबु कृषि योग्य भूमि रखने की स्वीकृति प्रदान की गयी थी, जब कि तीन प्रमुख द्वीपों में ऐसे भूस्वामियों को औसतन ३ चोबु और होकाइडो में १२ चोबु भूमि अपने अधिकार में रखने की अनुमति दी गयी थी।

जापान को दखल करने के बाद सम्भवतः स्थायी और वास्तविक रूप से राजनीतिक और सामाजिक सुधार के साथ-साथ यह एक आर्थिक और महत्त्वपूर्ण सुधार था। स्वयं जापानियों के सहयोग और उनके विस्तृत प्रशासन के कारण यह इतने थोड़े समय में पूरा किया जा सका। जैसा प्रोफेसर एलेन ने कहा है—"यह सुधार गोकि एक विजयी के शासन में शुरू किया गया, फिर भी, इसने प्रभावपूर्ण जमीदार वर्ग के स्थान पर नये कृषक वर्ग को प्रतिष्ठापित कर एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति जागृत की।"

भूमि-सुधार-अधिनियम के कार्य-काल में किये गये परिवर्तन महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु ये स्वयं न तो उत्पादन बढ़ाने में और न तो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के कृषि-क्षेत्र में आर्थिक-पुनःप्राप्ति की समस्या हल करने में समर्थ थे। इस उद्देश्य के लिए अतिरिक्त साधनों का सहारा लेना था। अतः युद्ध-पूर्व और उसके बाद के जापानी कृषि-जीवन के अन्तर की विशिष्ठता सारांश रूप में नीचे दी गयी है—

(१) कृषि कर्मी जन-संख्या में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(२) लगानदारों को भूस्वामित्व की, बिना इस परिवर्तन के लिए विशेष वित्तीय व्यय के प्राप्ति हुई।

(३) कृषि-कर्मी जन-संख्या में वृद्धि होने के बावजूद सक्रिय किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, जो अंशतः भूमि-सुधार के कारण, अंशतः कृषि-उत्पादन की मूल्य-वृद्धि और अंशतः भूमि के अतिरिक्त अन्य अकृषि कार्यों से उन्हें प्राप्त होती थी, जैसे

सिल्क-उद्योग से, पहले जिसमें मंदी आने से उनकी आय भी कम हो चली थी, पर उसकी तेज़ी से पुनः बढ़ गयी।

(४) पशुओं की किस्म में, फलों एवं उत्पादन में सुधार के कारण कृषि-कार्य में प्रत्यावर्तन हुआ।

(५) रासायनिक खाद और कीड़ों-मकोड़ों तथा बीमारियों को रोकने के लिए अन्य सामग्रियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा।

(६) मशीन का और अधिक प्रयोग होने लगा गोकि जापानी कृषि में अनेक तरह की कृषि-सम्बन्धी मशीनों के प्रयोग की गुँजाइश नहीं थी। और--

(७) जमींदार वर्ग का विनाश हुआ, जिनमें बहुतों ने अपनी पूर्व-स्थिति से नीचे उतर कर सक्रिय किसान की हैसियत प्राप्त की।

गोकि युद्ध-पूर्व की स्थिति से बाद की स्थिति में इस तरह के परिवर्तन द्रष्टव्य हुए, फिर भी, उदाहरणस्वरूप यह अभी माना गया था कि जापान में भूमि पर कब्जा बहुत छोटी-इकाइयों में था, कि कृषि-फार्म और शहर की आय में काफी अन्तर बना हुआ था, कि कृषक आबादी वालों को अभी भी अपर्याप्त रोजगार मिलते थे, कि अभी भी कृषकों की आबादी अत्यधिक थी, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र के लोग शहरों की ओर जाते रहे।

(६) आर्थिक समस्या का बाह्य पक्ष

जापानी दखल के आर्थिक सुधार के कार्य-क्रम इस प्रकार से बनाये गये थे, जिनसे जापान के उस समुदाय की स्थिति कमजोर हो जाय, जो युद्ध और आक्रामक नीति अपनाने और उसका विस्तार करने के लिए उत्तरदायी समझा गया था। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान आर्थिक पुनरुत्थान को अपनी खास जिम्मेदारी नहीं मानती थी। परिणामतः वे सुधार, जिनसे कम-से-कम औद्योगिक पूर्ति थोड़े समय के लिए निलंबित हो गयी और जापान का आर्थिक स्तर १९३०–३१ से भी नीचे गिर गया, जिसके कारण जापान पर दखल होने की डेढ़ वर्ष की अवधि तक जापानी सरकार पर गम्भीर आर्थिक कमजोरी की स्थिति में उसको सम्हालने का बोझ आ गया था। एक पराजित शत्रु देश होने के कारण इसके बाद भी जापान और अन्य देशों के बीच सामान्य विनिमय पुनः आरम्भ करने के लिए भी आवश्यक कदम नहीं उठाये गये। इसका तात्पर्य यह है कि आरम्भिक अवधि में बाहर से पर्याप्त कच्चा माल मंगाने की स्थिति नहीं थी, जिससे पक्का माल बना कर, उसे देश के भीतर या बाहर बेचा जा सके। इसके साथ ही, 'जैबत्सु' और सरकारी तत्वों ने जापान के भीतर शक्ति के वितरण को दृष्टि में रखते हुए सुधार-कार्य-क्रम के अभिप्राय

को स्वीकारने में अनिच्छा व्यक्त की, जिसके कारण उन्होंने दखल-नीति की दिशा में परिवर्तन लाने के विचार से उत्पादन का स्तर नीचे गिरा रहने दिया था। पहले से प्राप्त भंडार जापान के समर्पण और बाद में उसके दखल के बीच की अवधि में सरकार द्वारा पुराने उद्योग-व्यवस्थापकों के हवाले कर दिया गया था, जिसे उदाहरणस्वरूप उन्होंने औद्योगिक पुनरुद्धार में नहीं लगाया और वह सब काले बाजार में चला गया। वर्तमान संयंत्र-क्षमता के अकुशल प्रयोग के कारण मूलतः क्षतिपूर्ति के लिए निर्धारित उसकी यह क्षमता भी कम हो गयी। 'राशनिंग' द्वारा वितरण के लिए किया जाने वाला चावल का संग्रह कम हो गया। इस कमी का आंशिक कारण यह था कि किसानों को आवश्यकतानुसार पूरी सामग्रियाँ नहीं मिल पाती थीं, जिसके लिए उन्हें काले बाजार में अपने माल का विनिमय करना पड़ता थाऔर इसका दूसरा आंशिक कारण यह था कि सरकार संग्रह के निमित्त कोई प्रभावपूर्ण तरीका अपनाने में असफल थी।

इन सबके साथ, मुद्रा-स्फीति के कारण जापान की अर्थ-व्यवस्था तेजी से गिरती गयी और उसकी बढ़ती आवादी का जीवन-निर्वाह कठिन हो गया, जिसके लिए केवल इस उपाय को छोड़कर कोई विकल्प नहीं था कि मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान या तो संयुक्त-राज्य से खाद्यान्नों और अन्य सामग्रियों का निर्यात करती रहे या जापान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पुनर्जीवित करने में सहायता देने के लिए आवश्यक कदम उठाये। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने जापान को अस्थायी रूप से थोड़े समय के लिए क्षीण करने के बाद उसके आर्थिक पुनर्जागरण के लिए अपनी सुधार-नीति में उपर्युक्त कारण से परिवर्तन किया। संयुक्त-राज्य और सोवियत संघ के सम्बन्धों में तेजी के साथ मतभेद होना और साथ ही चीन में कुमितांग की राष्ट्रीय सरकार की स्थिति का गिरना, सुधार-नीति में परिवर्तन करने का दूसरा कारण था। चीन पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण की धमकी ने, जिसके कारण राष्ट्रीय सरकार के तत्त्वावधान में चीन पर अधिकार रखने के लिए युद्ध की संभावना द्रष्टव्य हो चली थी, अमेरिका को, सोवियत संघ के मुकाबले चीन के प्रति, जो भूतपूर्व शत्रु देश जापान के युद्ध में मित्रवत् था, अपनी सुदूर पूर्व नीति में परिवर्तन करने को विवश होना पड़ा। सुदूर पूर्व की और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियाँ ऐसी थीं या दूसरे शब्दों में १९४५ से लेकर १९५० के बीच वे जिस रूप में बदलीं, उनके कारण अमेरिकी हितों के दृष्टि-कोण में मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की नीति के साथ यह परिवर्तन हुआ कि उसने जापान को कमजोर करने के बजाय, उसे शक्ति-सम्पन्न करना आरम्भ किया।

अमेरिका के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन के कारण, जिसके संदर्भ में उसने जापान की अर्थ-व्यवस्था में सुधार के स्थान पर उसकी पुनःस्थापना पर जोर देना शुरू किया जिसे

सुदूर पूर्व के देशों ने, जो जापान की अर्थ-व्यवस्था और उसके सैनिक साम्राज्यवाद से अपने को आक्रान्त समझते थे, कुछ हद तक खतरनाक माना। दखल-नीति की प्रवृत्तियों के प्रति रूस की असहमति सुदूर पूर्व आयोग के भीतर और बाहर भी अभिव्यक्त हुई थी। किन्तु जापान के साथ शान्ति-संधि की शर्तों तक ही दूसरे देशों का नाता था, उसको दखल करने की नीति पर पूरा नियंत्रण संयुक्त-राज्य का ही था।

संयुक्त-राज्य ने शान्ति-समझौते के लिए स्वयं कदम उठाया था, जिसके आधार पर दखल समाप्त किया जा सकता था। १९४७ के ग्रीष्म में, जनरल मैक आर्थर ने प्रेस-सम्मेलन में बताया कि मित्रराष्ट्रों का जापान पर दखल करने का उद्देश्य, उसकी आर्थिक पूर्ति के अलावा, और मामलों में पूर्ण हो गया है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि आर्थिक पूर्ति दखल की स्थितियों में उपलब्ध नहीं की जा सकती। स्थायी शान्ति-समझौते की शर्तें तय करने के लिए मित्र-राष्ट्रों का एक सम्मेलन करने का अमेरिकी प्रस्ताव सोवियत संघ को उसका चीन की राष्ट्रीय सरकार से विरोध होने के कारण, अमान्य था। उसने आपसी समझौते के आधार पर इस समस्या को तय करना चाहा, पर उसमें असफल रहा। परिणामतः नियंत्रण मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान और सुदूर पूर्व आयोग के हाथ में ही था, किन्तु समस्या के समाधान के लिए दिये गये सुझावों से उनका दृष्टिकोण भिन्न रहा।

जापान को क्षीण करने की उसकी नीति में परिवर्तन इस तथ्य से स्पष्ट है कि क्षति-पूर्ति के भुगतान के लिए जो उत्पादन उपकरण (सुविधाएँ) जापान से स्थानान्तरित कर चीन, फिलीपाइन्स तथा जापान पर अपनी क्षति पूर्ति का दावा करने वाले अन्य देशों को भेजे जानेवाले थे, उनके संचरण में भी परिवर्तन दृष्टिगत हुआ।[६] पाले-आयोग के निर्णय के आधार पर जो औजार और मशीनें पहले जापान से हटायी जाने वाली थीं, उनका न केवल वहाँ से हटाया जाना ही रोका गया, वरन् क्रमशः इन्हें जापान में ही इस तथ्य के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाने लगा कि मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा निर्धारित उत्पादन की लक्ष्य-पूर्ति के लिए जापान में विशिष्ट मशीनों की आवश्यकता है। उसके बाद जापान की स्वयं की आवश्यकताओं की जाँच करने वालों की रिपोर्ट के आधार पर पाले-रिपोर्ट के निष्कर्षों की जाँच में सुधार किया गया। परिणामतः अगस्त, १९४८ तक मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की रिपोर्ट में स्पष्टतया देखा गया कि जापान से पूर्व दावों के रूप में केवल १८,००० मशीनी औजारों को जलयानों द्वारा भेजा गया, जिनका वजन ६०,००० मीट्रिक टन से कम था।

१९४८ के आरम्भ में, सुदूर पूर्व आयोग में, संयुक्त-राज्य के प्रतिनिधि ने, घटना-चक्र में हुई प्रगति के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट कर दिया कि संयुक्त-राज्य इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान को जापान की औद्योगिक पूर्ति के लिए और

अधिक सीधे और उत्साहप्रद उपाय करने चाहिए, क्योंकि स्वयं जापानी अपने प्रयत्नों से इस पूर्ति में अभी सफल नहीं हुए हैं। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर १९४७ के दूसरे अर्धांश में विदेशी व्यापार को, निजी उद्योगपतियों को इसमें बढ़ावा देकर, समुन्नत करने के उपाय किये गये। पहले आयात और निर्यात पूरी तरह सरकारी आधार पर मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा किया जाता था। १९४६ में खाद्यान्नों की कमी पूरी करने के लिए उनके आयात पर संयुक्त-राज्य द्वारा १८.७ करोड़ स्टर्लिंग खर्च किया गया था। इस प्रकार की वित्तीय सहायता अनिवार्य रूप से चलती रही, जिसके अलावा 'माल-ऋण-निगम' (कमोडिटी क्रेडिट कारपोरेशन) के साथ आवश्यक व्यवस्था कर कच्ची रूई का आयात आरम्भ किया गया। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के नियंत्रण में १९४६ से १९४७ के बीच २० करोड़ स्टर्लिंग की अधिक लागत के अन्य आवश्यक कच्चे माल का आयात किया गया। इसी तरह निर्यात में भी समान रूप से, किन्तु कम परिमाण में वृद्धि हुई। फिर भी, औद्योगिक कच्चे माल के—वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले आयात को बढ़ाकर ही औद्योगिक पुनर्जागरण तेजी के साथ किया जा सकता था। अन्ततः इस आयात-वृद्धि के लिए अर्थ-व्यवस्था उसके निर्यात से ही करनी थी। अतः पुनः अर्थ-प्राप्ति की लक्ष्य-पूर्ति के लिए जापान को उत्पादनों के निमित्त पुनः खुले बाजार की आवश्यकता पड़ी। जापान द्वारा निजी विदेशी व्यापार पुनः आरम्भ करना उत्पादन और अर्थ-प्राप्ति दोनों दृष्टियों से सहायक हुआ। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के तत्त्वावधान में इस प्रकार के व्यापार की व्यवस्था के अन्तर्गत एक बात यह थी कि उसका व्यापार वास्तव में विनिमय-विधि पर आधारित था, जैसा कि १९४८ में तय किया गया था, यह विनिमय जापान पाकिस्तान और जापान-आस्ट्रेलिया के बीच शुरू हुआ था। इसके बाद इस दृष्टि से ऐसी अन्य अनेक कार्रवाइयाँ भी की गयीं, जैसे जापान के आवश्यक आयात के व्यय के लिए व्यावसायिक ऋण की जरूरतों को दृष्टि में रखकर आवर्तक निधि की व्यवस्था करने का प्रयत्न हुआ, जिसकी समस्या ऐसी थी, जिसने परिवर्तित नीति को सार्थक रूप से जापान में शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था स्थापित कर, इसके उत्पादन को १९३०–१९३४ (बाद में परिवर्तित होकर १९३२–१९३६) के स्तर तक पहुँचाने का लक्ष्य स्थिर किया। उस स्तर की उत्पादन-प्राप्ति से यह आशा की जाती थी कि उससे कम-से-कम जापानी जनता आत्म-निर्भर हो जायगी। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि १९३२–१९३६ में जापान आर्थिक दृष्टि से सुदूर-पूर्व के राज्यों में सदैव अधिक शक्तिशाली था और अपने आर्थिक साधनों से, उसका अपने राज्य-क्षेत्रों के बाहर पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा पैसिफिक प्रदेशों में काफी प्रभाव था।

जैसा पहले बताया गया है, अमेरिका की इस नयी आर्थिक नीति के कारण सुदूरपूर्व के कतिपय राज्यों में असंतोष पैदा हो गया था। फिर भी, यह स्पष्ट था कि यदि जनता के जीवन-निर्वाह के लिए लगातार दी जानेवाली अमेरिकी सहायता वन्द करनी है, तो जापान को क्षेत्रीय तथा विश्व की अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप स्थित करने के लिए कोई रास्ता निकालना पड़ेगा। १९३०–१९३४ में जापान ने—अपने आयात का २४ प्रतिशत संयुक्त-राज्य से और ५३ प्रतिशत एशियाई देशों (आस्ट्रेलिया को छोड़कर) से प्राप्त किया था और जलयानों द्वारा अपने निर्यात का २३ प्रतिशत उसने अमेरिका को और ६० प्रतिशत एशियाई देशों को भेजा था। १९४७ में जापान ने अपने आयात का ९२ प्रतिशत संयुक्त-राज्य से और केवल ६ प्रतिशत एशियाई देशों से प्राप्त किया, जब कि उसने जलयानों द्वारा अपने निर्यात का केवल १२ प्रतिशत संयुक्त-राज्य को और ६६ प्रतिशत एशियाई देशों को भेजा। स्पष्टतया युद्धोत्तर की ऐसी असमानताओं को कम करने के लिए जापान के एशियाई देशों के साथ युद्ध-पूर्व के आयात-निर्यात के संतुलन को दृष्टि में रखकर तदनुरूप प्रयत्न करना आवश्यक था।

इस स्थिति में संयुक्त राज्य के सामने यह उत्तरदायित्व ग्रहण करने की समस्या थी कि वह जापान से सुदूरपूर्व के अन्य राज्यों की सुरक्षा और फिर निःशस्त्रीकृत, किन्तु आर्थिक दृष्टि से पुनःसमृद्ध स्वयं जापान की सुरक्षा कैसे करे। इस उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए उसे एक शान्ति-समझौता करने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार की सधि सन् १९५० में संभावित थी, जिसमें यह तात्पर्य निहित था कि यदि इस पर सोवियत संघ और कम्युनिष्ट चीन हस्ताक्षर नहीं करते, तो उसके बिना भी इसको अन्तिम रूप दिया जायगा।

अमेरिकी नीति के परिवर्तन का नकारात्मक पक्ष यह था कि श्रम-संगठन के ऐसे कार्य-कलापों पर नियंत्रण लगाया जाय, जिनसे उत्पादन में कमी होने की संभावना हो, और इस प्रकार औद्योगिक प्रक्रिया पर सरकारी नियंत्रण के लिए और समर्थ एवं विस्तृत उपाय करने का समर्थन किया गया। इसके अनुसार औद्योगिक संगठनों में विकेन्द्रीकरण-कार्यक्रम के अनुसार कार्य-संचालन करने के निमित्त जापानियों पर लगे पूर्व दबाव ढीले कर दिये गये और यह तय किया गया कि औद्योगिक व्यवस्थापकों को निष्कासित करने की प्रणाली का उस सीमा तक प्रयोग न किया जाना चाहिए, जिससे औद्योगिक कुशलता कम होने की संभावना हो। दूसरे शब्दों में, आर्थिक पुनर्प्राप्ति का उद्देश्य केवल आत्म-निर्भरता तक सीमित न रखते हुए, इस बात पर ध्यान दिया गया कि सुधार कार्यक्रम को उस बिन्दु तक लागू न किया जाय, जिससे औद्योगिक पुनर्जागरण पर कोई विरोधी प्रतिक्रिया हो। फिर भी, यह ध्यान रहे कि कम-से-कम इसका एक

यह प्रश्न विवादास्पद था कि इसमें नीति-सम्बन्धी कोई विशिष्ट परिवर्तन सन्निहित नहीं था। नीति में जैसा परिवर्तन दिखाई देने लगा, उसके संदर्भ में मित्रराष्ट्रों की प्रधान कमान ने यह रिपोर्ट दी कि सुधार कार्य-क्रम को मित्रराष्ट्रों के निहित उद्देश्यों की पूर्ति की सीमा तक सम्पादित किया जा चुका है। क्योंकि जापान में सैन्य-वियोजन और निःशस्त्रीकरण का कार्य पूरा किया जा चुका है। और लोकतंत्रीय पद्धति का निर्माण हो चुका है। दूसरे इस कारण जापानियों को इस सुनिश्चय के साथ अपने जीवन-निर्वाह के साधनों की पुनःस्थापना करने की स्वीकृति दी गयी है कि वे इसका उपयोग सैनिकीकरण या युद्ध के पुनर्जागरण के लिए न कर, शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए करेंगे। शान्ति-संधि होने के उपरान्त स्वाधीनता प्राप्त करने पर इसका पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं जापानियों पर होगा। संधि के अभाव में आर्थिक कार्य-कलाप के पुनर्जागरण का उत्तरदायित्व मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान को सम्हालना था।

(७) जापान और कोरियाई युद्ध

सन् १९५० में कोरिया में युद्ध आरम्भ होने के समय जापान एक अधिकृत देश था, जिसकी सुरक्षा पूर्णतः इस पर दखल करनेवाली शक्तियों पर निर्भर थी। इसका सैनिक और सह-सैनिक संगठन छिन्न-भिन्न कर दिया गया था और नये संविधान के दूसरे अध्याय के अनुसार इसके सैनिक संगठन को स्पष्टतया हमेशा के लिए निषिद्ध कर दिया गया था। फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का परिवर्तन आरम्भ होने पर और विशेषतः चीन की मुख्य भूमि पर कुमितांग के स्थान पर कम्युनिस्टों का नियंत्रण होने पर, मित्र-राष्ट्रों की संयुक्त कमान ने इस नये जापानी संविधान की इस व्यवस्था की व्याख्या, उसके वास्तविक रूप में सम्बन्धित सन्दर्भों में करना शुरू किया। अतः जनरल मैक आर्थर ने जनवरी, १९५० में जापानियों के नाम अपने वार्षिक संदेश में अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा कि जापान ने अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सैनिक-संगठन के अधिकार का परित्याग नहीं किया है। मित्र-राष्ट्रों की संयुक्त कमान के सरकारी अनुभाग द्वारा सुरक्षात्मक उद्देश्यों के लिए इस दृष्टिकोण को और विस्तृत स्वरूप प्रदान किया गया। योशिडा-सरकार ने इसके तत्क्षण बाद संविधान की इस व्याख्या से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया। चूँकि समाजवादी विरोधी पार्टियों ने इससे अपनी असहमति व्यक्त की, इसलिए शान्ति-समझौते के बाद जापानी राजनीति में पुनःशस्त्रीकरण के प्रश्न, इसके स्वरूप और इसकी सीमा के विस्तार की समस्या उपस्थित हुई, जो आगे भी चलती रही। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुसार सुरक्षात्मक उद्देश्यों के लिए पुनःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर रूसी सोवियत संघ और चीन

सहमत थे। सुदूर पूर्व और पैसिफिक क्षेत्र के अन्य राज्यों ने इस दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक अपने को उदासीन प्रकट किया।

कोरियाई युद्ध शुरू होने के परिणामस्वरूप संयुक्त-राज्य ने जापान[८] पर तेजी से अपनी सैनिक शक्ति पुनःस्थापित करने का दबाव डाला। यह इसलिए जरूरी हो गया, क्योंकि संयुक्त राज्य को तत्क्षण अपनी अधिकांश भू-सेना जापान से हटाकर कोरिया में भेजनी पड़ी, अतः आन्तरिक व्यवस्था और जापान की सुरक्षा का दायित्व उसे जापानी सरकार पर छोड़ना पड़ा, जब कि इसके साथ-साथ, उसे कोरिया में संयुक्त राष्ट्र की सैनिक कार्रवाइयों के निमित्त जापान को ही अपना अड्डा बनाना पड़ा। परिणामतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान से प्राप्त अधिकारों के अनुरूप पुनःशस्त्रीकरण की दिशा में, जापान को ७५,००० व्यक्तियों के संगठन से एक 'राष्ट्रीय पुलिस फोर्स' बनाने की स्वीकृति देकर अभियान शुरू किया गया, जो जापान के दखल के बाद नियुक्त सैनिकों के कोरिया में भेजे जाने पर उनका स्थान ग्रहण कर सके। फिर भी कोरिया में प्रयोग के निमित्त स्वयं जापानी सैनिकों की भरती नहीं की गयी थी, गोकि कोरियाई सरकार को जापान-निवासी कोरियाइयों को अपनी सेना में भरती करने की अनुमति प्रदान की गयी थी।

इसके अतिरिक्त, जापान ने संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं को असैनिक सहायता प्रदान की। इसके कारण संयुक्त राष्ट्र की सेना ने जापान से आवश्यक सामग्रियों की प्राप्ति के विशेष आदेश दिये, जिनका १९५० में कुल मूल्य १४.९ करोड़ स्टर्लिंग था। यह जापान को ३६.१ करोड़ स्टर्लिंग विदेशी सहायता देने के साथ-साथ दिया गया था। उसके बाद १९५१ में अमेरिकी आर्थिक सहायता केवल १६.४ करोड़ स्टर्लिंग तक रह गयी, जो तदनन्तर आगे चलकर बिलकुल समाप्त कर दी गयी, जब कि सामग्रियों की प्राप्ति के लिए १९५१ में ५९.२ करोड़ स्टर्लिंग १९५२ में ८२.४ करोड़ स्टर्लिंग और १९५३ में ८०.९ करोड़ स्टर्लिंग के आदेश जापान को दिये गये। ये आदेश १९५४ में कोरियाई युद्ध-विराम-संधि के बाद केवल ५९.६ करोड़ स्टर्लिंग तक ही रह गये।

सामग्रियों की प्राप्ति के ये आदेश कोरियाई युद्ध की संकटकालीन आवश्यकताओं के कारण दिये गये थे, जो जापान की औद्योगिक पुनःप्राप्ति में बहुत सहायक हुए और जिन्होंने जापान को अपनी वित्तीय समता के अनुरूप अपनी मशीनों को तेजी से चालू रखने के लिए कच्चे माल का अधिकाधिक आयात करने और अपनी मशीनों का नवीनीकरण और विस्तार करने का अवसर प्रदान किया। कोरियाई युद्ध-विराम-संधि के बाद जापान को सुरक्षा के उद्देश्य से जापान में स्थित अमेरिकी सेना की आवश्यकताओं के लिए 'विशेष प्राप्ति आदेशों' के बदले पर्याप्त डालर भुगतान स्वरूप प्राप्त

होते रहे। अंतः १९५७ तक जापान ने अपनी आर्थिक पुनःप्राप्ति की स्थिति प्राप्त कर ली।

उसका पूरा राष्ट्रीय उत्पादन (वास्तविक रूप से) सन् १९३४ के मध्य-काल से ४४ प्रतिशत अधिक और प्रति व्यक्ति आय १० प्रतिशत अधिक हो गयी थी। कई वर्षों तक उसकी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-स्थिति का संतुलन काफी अच्छा रहा और उसने विदेशी मुद्रा का पर्याप्त संग्रह कर लिया। उसने अपने प्रमुख उद्योगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के साथ अपना उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर से काफी अधिक बढ़ा लिया और इस दिशा में वह अभी भी तेजी से बढ़ता जा रहा था।[1]

(८) आर्थिक पुनःप्राप्ति की समस्या

तिसपर भी जापानी सरकार को अभी अपनी आर्थिक समस्याओं पर पूर्ववत् ध्यान देना था। अमेरिकी सहायता और जापानी माल के लिए अमेरिकी आदेश ने औद्योगिक पुनःप्राप्ति को प्रोत्साहित और सुगम बना दिया था। लेकिन जापानी उद्योग-उत्पादन को, जिसके लिए समुद्र पार के देशों में आवश्यक बाजार की पुनः व्यवस्था हुई थी, उसे आगे बनाये रखना था। जापानी सामान पुनः अमेरिका के निजी बाजार में बिकने लगा था और साथ ही जापान में संयुक्त-राज्य की सेनाओं के प्रयोग के लिए भी इनका क्रय किया जाता था, इसके कारण अमेरिकी उत्पादकों की ओर से जापानी वस्त्र तथा वहाँ की अन्य स्पर्धाजन्य सामग्रियों का अमेरिका में आयात करने पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग होने लगी। जब १९५५ में जापान को 'व्यापार और शुल्क दर के सामान्य समझौते" में शामिल किया गया तो अनेक सदस्य देशों ने समझौते में एक शर्त जोड़ने की माँग की, जिससे जापानी आयात के परिमाण पर रोक लगायी जा सके। मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के अनुमोदन पर विनिमय के सीधे समझौते के आधार पर जापान को कुछ लैटिन अमेरिकी देशों, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान तथा कुछ मध्य-पूर्वी देशों के साथ सामान के विनिमय की योजना बनाने में सफलता प्राप्त हुई। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों, इंडोनेशिया और फिलीपाइन्स, जिनकी राष्ट्रीयता और युद्ध-काल में जापान द्वारा जिसके दखल के लिए की गयी सैनिक कार्रवाइयों के कारण जापान के साथ व्यापार पर जो प्रतिबन्ध लग गये थे, उन प्रतिबन्धों को हटाने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये, विशेष रूप से किशि-सरकार ने इस दिशा में विशेष प्रयास किया।

युद्ध के पूर्व जापान के लिए कच्चे माल की सहपूर्ति का प्रधान बाजार और साधन चीन था, जिसमें मंचूरिया भी सम्मिलित था। जापान के सुदूर-पूर्व उपनिवेश (फार-

मोसा और कोरिया) के साथ चीन ने जापान को कच्चे माल की पूरी आवश्यकता का ३६ प्रतिशत माल दिया और उसके कुल निर्यात का २५ प्रतिशत लिया, जबकि संयुक्त-राज्य ने उसको २५ प्रतिशत कच्चा माल दिया और उसके निर्यात का १७ प्रतिशत लिया था। परिणामतः स्वाधीन जापान की नीति की स्वाभाविक प्रकृति चीन के साथ अपना व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने की थी, जिससे वह युद्ध के बाद की परिस्थितियों में अपनी विकसित अर्थव्यवस्था को संयुक्त-राज्य की असामान्य निर्भरता से मुक्त कर सकता। किन्तु बीच में कम्युनिस्ट तंत्र की स्थापना, उसके सोवियत संघ से और जापानी कम्युनिस्ट पार्टी से भी स्थापित सम्बन्ध की प्रकृति और कोरियाई युद्ध में कम्युनिस्ट चीन के हस्तक्षेप आदि ने मिलकर जापान और चीन के बीच पारस्परिक लाभ के व्यावसायिक सम्बन्धों की पुनःस्थापना का वि ोध किया और कम-से-कम जब तक संयुक्त राज्य और रूसी सोवियत-संघ और चीन के बीच सहिष्णुता न हो जाय, तब तक इसे जटिल स्थिति में रखा। अतः जापान की समस्या का यह आर्थिक पहलू सुदूर पूर्व में युद्धकालीन शक्ति-समन्वय की सम्पूर्ण समस्या का एक पक्ष बना रहा।[१०]

(९) शान्ति-स्थापना—१९४७-१९४८

१९४७ में मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान और वाशिंगटन दोनों इस संदर्भ में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जापान को दखल करने का उद्देश्य मूलतः पूरा हो चुका है और जापान तथा मित्र-राष्ट्रों के बीच शान्तिकालीन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक शान्ति-समझौता किया जाना चाहिए। जैसा ऊपर बताया गया है, संयुक्त राज्य और रूसी सोवियत संघ के बीच इस प्रश्न पर, यहाँ तक कि इसकी विधि पर समझौता करना असम्भव हो गया था। परिणामतः इस दिशा में बढ़ना तब तक सम्भव नहीं था, जब तक जापान पर दखल के विरुद्ध बढ़ते असंतोष और स्वयं अमेरिका में दखल के उत्तरदायित्व के बोझ से मुक्त होने के लिए संयुक्त-राज्य इस मामले में सोवियत संघ की हार या जीत की परवाह किये बिना युद्धजन्य स्थिति को समाप्त करने का निर्णय न कर ले। इस दृष्टि से संयुक्त राज्य के राजकीय मामलों के विभाग द्वारा एक संधि-पत्र तैयार किया गया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ट्रूमन-प्रशासन द्वारा नियुक्त श्री जॉन फोस्टर डलेस द्वारा दोतरफा समझौता वार्ता शुरू की गयी। यह प्रयत्न इस बात से बचने के लिए किया गया कि जापान के लिए नीति-निर्धारित का प्रश्न संयुक्त-राज्य में राजनीतिक विवाद का प्रश्न न बन जाय। आरम्भ से ही समझौता-वार्ता में भाग लेने के लिए सोवियत संघ को आमंत्रित किया गया था। फिर भी उसके साथ कोई सम-

झौता न हो सका। श्री डलेस द्वारा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन, बर्मा, फ्रांस और अन्यान्य राज्यों से वार्ता होने पर अमेरिकी मसौदे में कुछ सुधार किया गया। अतः समझौते पर एक अन्तिम ऐंग्लो-अमेरिकी मसौदा सैन्फ्रांसिस्को में ५ सितम्बर, १९५१ में आयोजित सम्मेलन के समक्ष विचार-विमर्श और हस्ताक्षर के निमित्त प्रस्तुत किया गया। इस पर ४९ राज्यों ने—इसकी सभी शर्तों पर सभी राज्य पूरी तरह सहमत न होते हुए भी—हस्ताक्षर किया। उदाहरणस्वरूप, फिलीपाइन्स के प्रतिनिधि-मंडल ने क्षतिपूर्ति की शर्तों पर, जिनके अनुसार इस विषय पर जापान के साथ भविष्य में सीधी वार्ता करने की व्यवस्था की गयी थी, अपना असंतोष व्यक्त किया। बर्मा, हिन्दुस्तान और यूगोस्लाविया ने सम्मेलन में सम्मिलित होने का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया, अतः उन्होंने संधि-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया। रूसी सोवियत-संघ, चेकोस्लावेकिया और पोलैंड ने सम्मेलन में भाग लिया, पर संधि-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया। तिसपर भी जापान के हस्ताक्षर से पैसिफिक क्षेत्र में केवल चीन, बर्मा और सोवियत संघ को छोड़कर बाकी सभी युद्धरत देशों के साथ युद्ध-संघर्ष सामान्यतया समाप्त हो गया। हिन्दुस्तान १९४५ तक स्वतंत्र राज्य के रूपमें स्थित नहीं हो सका था, अतः वह युद्धरत अलग देश न माना जाकर केवल ब्रिटिश राज्य का एक भाग समझा गया था, इसलिए युद्धरत देशों से वार्ता के समय उससे परामर्श नहीं किया गया था। चीन को सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ था, क्योंकि संयुक्त राज्य चीन के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ की राष्ट्रीय सरकार को ही मान्यता देता था, जब कि अन्य राज्यों, जैसे—ब्रिटेन, हिन्दुस्तान, और सोवियत संघ ने चीन की सरकार के रूप में कम्युनिस्ट तंत्र को मान्यता दे दी थी। सम्मेलन में कम्युनिस्ट चीन को प्रतिनिधित्व न दिये जाने के कारण ही हिन्दुस्तान ने उसमें भाग लेना स्वीकार नहीं किया था।

हस्ताक्षरकर्ता देशों में केवल जापान ही ऐसा था, जिसने संधि-पत्र का १९५१ के अंत में सत्यांकन किया। परिणामतः संयुक्त-राज्य और अन्य हस्ताक्षरकर्ता देशों के सत्यांकन के बाद १९५२ में यह संधि लागू हुई।

संयुक्त-राज्य ने संधि का सत्यांकन तब तक नहीं किया, जब तक जापान ने एक अलग सुरक्षा-संधि की शर्तों को स्वीकार नहीं कर लिया, जिसके अनुसार संयुक्त राज्य को दखल की समाप्ति पर जापान में अपने सैनिक अड्डे और सैनिक सिपाही रखने का अधिकार मिल सके। इसके कारण २८ फरवरी, १९५२ को एक प्रशासकीय समझौता करने की आवश्यकता पड़ी, जिसके अन्तर्गत जापान में संयुक्त-राज्य की अधिकार-सीमा और अमेरिकी नागरिकों की नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में की जानेवाली व्यवस्था की व्याख्या की गयी। इसके अनुसार एक संयुक्त समिति भी बनायी गयी, जिसको संयुक्त-

राज्य के लिए आवश्यक सुविधाएँ तथा क्षेत्र देने और सुरक्षात्मक व्यय के लिए जापान द्वारा १५.५ करोड़ की वार्षिक सहायता देने के सम्बन्ध में समझौता किया गया। अतः शान्ति-संधि के पश्चात् भी संयुक्त-राज्य ने जापान से अपनी सैनिक शक्ति को पूर्णतया वापस नहीं किया। परिणामस्वरूप जापान में समझौते की शर्तों के अनुसार सुरक्षा की दृष्टि से अमेरिकी सैनिकों की उपस्थिति के कारण उनके व्यक्तिगत व्यवहार से उत्पन्न मतभेद की स्थिति में यदा-कदा कूटनीति का प्रयोग करना पड़ा। इसके अतिरिक्त इन सुरक्षात्मक कार्यवाइयों का वैसा ही प्रभाव पड़ा, जैसा आर्थिक स्थिति में अमेरिकी नीति का पड़ा था, जिसके अनुसार जापानी सरकार को अपना निर्णय, विशेषतः विदेशी नीति के सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र निर्णय प्रयुक्त करने पर प्रतिबन्ध था। इस कारण जापान को कम्युनिस्ट चीन और सोवियत रूस के विरुद्ध संयुक्त-राज्य और उसके मित्र देशों के साथ समझौता करना आवश्यक हो गया। इस सन्दर्भ में जापानी सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय नीति में जहाँ तक सामान्य समझौता का सम्बन्ध था, अपनी नीति को उस सीमा के अन्तर्गत रखना पड़ा, जिसमें सम्भवतः अपने को सीमित रखना, रूढ़िवादी जापानी सरकार उपयुक्त समझती।

इस समझौते में जापान को पीकिंग और फारमोसा शासनों में से किसी एक के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का चुनाव करना था। परिणामस्वरूप जापान और चीन की राष्ट्रीय सरकार के बीच एक अलग सन्धि करनी पड़ी। तत्कालीन परिस्थितियों में इसके कारण सन्धि की शर्तों के अनुसार क्षेत्रीय सीमा के निर्णय में विशेष कठिनाई उपस्थित हुई। राष्ट्रीय सरकार ने इस सन्धि द्वारा पूरे चीन पर अपनी सरकार के अधिकार को जापान द्वारा समर्थित समझा। जापानियों ने सन्धि को केवल फारमोसा के मामले तक सीमित रखा। २८ अप्रैल, १९५२ को इस विषय पर जो समझौता हुआ, उसके अन्तर्गत इस सन्धि को फारमोसा, पेसकैडर्स द्वीपों और उन क्षेत्रों तक ही सीमित रखा, जो बाद में राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में आये। उसके बाद जापानी सरकार ने अपनी नीति की व्याख्या के अनुसार चीन की कम्युनिस्ट सरकार को अमान्य घोषित किया, विदेशी कार्यालय के एशियाई ब्यूरो के प्रधान ने इस विषय में कहा, कि "उसकी राष्ट्रीय सरकार के साथ हुई सन्धि पूरे चीन पर लागू होती है। इस समय युद्ध का कोई मामला नहीं है, जिसके कारण चीन के साथ कोई संधि करने की आवश्यकता हो।"[११]

इस प्रकार सैनफ्रांसिस्को-संधि के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले सम्भावित विभेद को जापान ने समाप्त-सा कर दिया। इस सन्धि ने जापान द्वारा चीन को औपचारिक रूप से अधिकार का हस्तान्तरण किये बिना फारमोसा पर जापान के स्वतन्त्र स्वत्व को

समाप्त कर दिया और साथ ही १९४५ के पूर्व जापानी साम्राज्य के कतिपय अन्य भागों पर से भी उसका अधिकार छिन गया। राष्ट्रीय सरकार के साथ, जो फारमोसा पर उसे चीन का सूबा समझ कर शासन कर रही थी, जापान द्वारा अलग सन्धि करने का तात्पर्य यह हुआ कि जापान ने अपने पहले के इस उपनिवेश को चीन के अधिकार में दे देना स्वीकार कर लिया था। भारत ने भी जापान के साथ (६ जून १९५२ को) "शाश्वत शान्ति और मित्रता" की एक अलग सन्धि की, जैसी सन्धि बर्मा ने भी जापान के साथ उसी समय की थी। १९५६ में क्षतिपूर्ति का निपटारा हो जाने के बाद सैन-फ्रांसिस्को-सन्धि का फिलीपाइन द्वारा सत्यांकन होने पर जापान ने लिखित रूप में केवल सोवियत संघ के क्षेत्र में आने वाले राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिया।[१२]

उसी समय जब जापान अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों की पुनःस्थापना में लगा हुआ था, संगठित अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में सम्मिलित होने के लिए भी वह प्रयत्नशील था। शान्ति-सन्धि के निर्णय के पूर्व मित्र राष्ट्रों की प्रधान कमान के प्रोत्साहन पर इस दिशा में प्रयत्न किये गये थे। अतः १९५० के पूर्व ही जापान संयुक्त-राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन के कार्य-कलाप में रुचि लेने लगा था, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में सम्मिलित कर लिया गया था, वाणिज्य और शुल्क दर पर सामान्य समझौते के लिए आयोजित बैठक में उसने अपने पर्यवेक्षक भेजे थे और अन्त में उसे इसकी सदस्यता प्रदान की गयी और उसने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी सम्मेलनों में अधिकाधिक भाग लिया। इस दिशा में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्रदान करने के लिए अन्तिम कदम उसका सोवियत संघ से विभेद बना रहने के कारण दिसम्बर, १९५७ के पूर्व नहीं उठाया जा सका।

दखल की अवधि में जापान और सोवियत संघ के बीच मतभेद होने का एक कारण रूसियों द्वारा जापान के युद्ध-बन्दियों को पुनः जापान लौटाने से इनकार करना था। युद्ध-बन्दियों के लौटाने के प्रश्न पर मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान और जापान ने भी जोर दिया था और तथाकथित नियंत्रण समिति के विचारणीय विषयों की सूची में यह एक वर्षानुवर्षी विषय बन गया था, अर्थात हर वर्ष इसे विचार के लिए कार्य-सूची में सन्निहित किया जाता था। सोवियत संघ ने इस सम्बन्ध में जापान और मित्र-राष्ट्रों की संयुक्त कमान की समीक्षा पर १९४९ तक बन्दी सैनिकों के हस्तान्तरण पर कोई कार्रवाई नहीं की, जब सोवियत अधिकारियों ने उस वर्ष २० मई को यह घोषणा कर दी कि रूसी सोवियत संघ में से ऐसे सभी बचे युद्ध बन्दियों को नवम्बर तक जापान को लौटा दिया जायगा। इनके २००० युद्ध-बन्दियों के पहले दल ने २७ जून को

जापान पहुँचने पर कम्युनिस्ट समर्थक प्रदर्शन किया, जिसका अभिप्राय यह था कि सोवियत बन्दी शिविरों में उन्हें अच्छी तरह समष्टिवादी सिद्धान्तबोधन करा दिया गया था। आगे यह बताया गया कि १५ दिसम्बर तक कुल ९,५०० बन्दियों को लौटा दिया गया है। रूसियों ने यह दावा किया कि इस निस्तारण के बाद यह मामला तय हो गया, क्योंकि अब उनके अधिकार में केवल १००० बन्दी और बचे हैं, जिन्हें युद्ध का दोषी होने के नाते अभी न्यायाधिकरण के अन्तर्गत रखा गया है। जापानियों ने रूस के ऐसे दावे का खंडन करते हुए कहा कि १,५०,००० सैनिकों की युद्ध में संभावित मृत्यु का हिसाब लगाने पर अभी भी ६०,००० बन्दियों का कोई हिसाब (पता) नहीं मिलता। इस मतभेद के होते हुए भी सोवियत अधिकारियों द्वारा की गयी इस कार्रवाई से बन्दियों की वापसी का मतभेद बहुत कुछ कम हो गया।

सोवियत संघ से सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या का दूसरा पक्ष जापानी कम्युनिस्ट पार्टी और उसका कार्य-कलाप था। युद्ध और उसके पूर्व बुरी तरह दबाये जाने के बाद, मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'खतरनाक विचारों' और विधियों का निरसन करने की आवश्यकता समझी, जिसके अनुरूप कार्य करते हुए उसने इनको बन्दी गृह से मुक्त किया और इस प्रकार जापान की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को पुनः जापान में वापस लौटने की स्वीकृति दी। १९४९ तक इस पार्टी को, गोकि इसकी सदस्यता बहुत अधिक नहीं थी (१००,००० के आस पास थी) लगभग ३० लाख मत प्राप्त करते हुए 'डायट' में अपने प्रतिनिधित्व को ४ के स्थान पर ३५ तक बढ़ाने में समर्थ किया। इसने नव निर्मित श्रम-संगठन में भी इसे अपना नेतृत्व स्थापित करने में सफलता प्रदान की। परिणामतः कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति का यह अभ्युदय सरकार के लिए चिन्ता का विषय हो गया, जिसके कारण १९४९ के निर्वाचन के बाद बने तीसरे योशिदा-मंत्रिमंडल ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध संघर्ष करने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में जो कार्रवाई की जा सकती थी, उसको मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान ने सीमित करते हुए वास्तविक रूप में यह स्पष्ट किया कि कम्युनिस्ट-विरोधी-कार्यक्रम के प्रति असहिष्णु होते हुए भी इस नये संवैधानिक तन्त्र को नागरिक स्वाधीनता पर ध्यान रखना चाहिए। इसलिए जापानी सरकार ने अपना वचन पूरा करने के लिए एक 'डायट'—"गैर-जापानी कार्य-कलाप समिति"—की स्थापना की। इस समिति ने इसके बाद (२६ अक्तूबर, १९४६ को) कम्युनिस्ट पार्टी पर यह दोष लगाया कि श्रमिकों को हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए प्रोत्साहित कर आतंकवादी कार्यों से उसने आन्दोलन करने की योजना बनायी है। पार्टी-नेताओं

ने इसको अस्वीकृत किया था, किन्तु पार्टी के मुख्यालयों पर पुलिस के धावे से इस दोष को सिद्ध करने का प्रमाण मिला।

अन्य कार्यों में भी कम्युनिस्ट पार्टी की असंगत कार्रवाइयों ने, सरकार की इसके विरुद्ध आचरण करने की स्थिति और मजबूत कर दी। उदाहरणस्वरूप, १९५० के वसन्त में, जब कि बन्दियों के लौटाने का मामला अभी चल ही रहा था, एक प्रमुख कम्युनिस्ट नेता श्री टोकुडा ने ऐसे युद्ध-बन्दियों को तब तक जापान वापस लौटने के प्रश्न पर अपनी इच्छा व्यक्त करने में कमी दिखायी, जब तक कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के अनुसार उनका पूरी तरह सिद्धान्त बोधन न करा दिया जाय, ताकि लौटने के बाद वे कम्युनिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें। ऐसी सूचना मिली कि उन्होंने समष्टिवाद की जाँच करनेवाली एक 'डायट'- समिति से यह भी कहा था कि युद्ध-बन्दियों को सोवियत संघ द्वारा बतायी गयी, न कि जापानियों द्वारा दी गयी—संख्या, उनकी देश-वापसी के लिए स्वीकार कर लेनी चाहिए। इससे कम्युनिस्ट पार्टी के कार्य-कलापों में बाह्य निदेशन प्राप्त करने का सत्य सिद्ध होता है, जैसा जनवरी, १९५० में कोमिनफार्म की आलोचना से भी स्पष्ट है, जिसमें यह कहा गया था कि तत्कालीन जापानी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री सैन्जो नोसाका, जापान में अमेरिकी दखल के विरुद्ध पार्टी के सक्रिय कार्यों का नेतृत्व करने में विफल रहे।

इन सारी घटनाओं ने मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की नीति को जापान-सरकार द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध की जाने वाली कार्रवाइयों का और अधिक अनुमोदन करने के लिए प्रेरित किया। फिर भी, सरकार ने स्वयं इनके विरुद्ध कोई उग्र कार्रवाई करने की अपेक्षा, मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के अन्तर्गत उसके अनुमोदन से ऐसे कार्य करना अधिक उपयुक्त समझा। परिणामतः मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान के आदेशों पर ही जापानी सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के चौबीस सदस्यों को जन-पद ग्रहण करने के अधिकार से वंचित कर दिया, कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधान समाचार पत्र (अकेहटा) का प्रकाशन, उसे एक विदेशी विध्वंसक उपकरण कहते हुए, बन्द कर दिया, जिसके बाद सभी कम्युनिस्ट प्रकाशनों को रोकने का आदेश दिया गया और नौ प्रधान कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार करने का 'वारन्ट' जारी किया गया। इन कार्रवाइयों ने जापानी कम्युनिस्ट पार्टी को भूगर्भित कर दिया और कम-से-कम अस्थायी रूप से इसे जापानी राजनीति के तत्त्व के रूप में निषिद्ध कर दिया, जो १९५२ में हुए 'डायट' के निर्वाचन से स्पष्ट है, जिसमें इसे कोई स्थान नहीं मिला। १९५१ और उसके बाद जापान के साथ शान्ति-संधि करने में रूसी असफलता के कारण, इसे राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने में कोई प्रगति नहीं हो सकी।

(१०) स्वाधीनता के बाद की राजनीति

जापान द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने पर एक अति आवश्यक प्रश्न उपस्थित हुआ कि दखल अधिकारियों के निदेशन और नेतृत्व में किये गये परिवर्तनों को स्थायी कैसे किया जाय ? १९४७ के बाद और दखल की वास्तविक समाप्ति के पूर्व जापानी सरकार को उसके कार्यसंचालन में अधिक-से-अधिक आन्तरिक स्वाधीनता दी जाने लगी थी। फिर भी मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की सम्मति से ही १९५२ में अधिकार-परिवर्तन हो सका। किन्तु उस सीमा में भी जापानियों द्वारा अपने मामलों को स्वाधीनतापूर्वक नियंत्रित करने का अधिकार पाने के सम्बन्ध में किये जाने वाले परिवर्तनों के स्वरूप का संकेत किया गया था।[१३]

मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान की सुधार-नीति का एक पक्ष जापानी कार्यालय-कर्मियों द्वारा बड़ी अनिच्छा के साथ स्वीकृत और कार्यान्वित किया गया था। इस नीति के अन्तर्गत जापानी विस्तारवाद के विकास से सम्बन्ध रखने वालों को सरकारी कार्यालयों और उद्योग के शीर्ष व्यवस्थापकीय पदों के लिए अयोग्य करार दिया गया था। यह नीति विशेष रूप से उन लोगों के सम्बन्ध में थी, जो निष्कासन आदेश से प्रभावित हुए थे, जोकि उन युद्ध-दोषियों और युद्ध-अपराधी के रूप में बन्दियों में से कुछ (गोकि सभी नहीं) के सम्बन्ध में पर्याप्त उदार भावना अपनायी गयी थी। परिणाम-स्वरूप परिस्थितियों के अनुसार शीघ्रातिशीघ्र जापानियों ने उन लोगों को, जो वास्तविक रूप से निष्कासित किये गये थे, पुनः स्वीकार करना और युद्ध-अपराधियों को मुक्त कराना आरम्भ किया।

निष्कासितों के मामलों में इचिरो हतोयमा का मामला विशेष रूप से उदाहरणीय था, जो उस समय उदारवादी दल के नेता और संभावित प्रधान-मंत्री समझे जाते थे, जब मित्र राष्ट्रों की प्रधान कमान ने उन्हें सरकारी कार्यालय के लिए अयोग्य घोषित किया था। इसके बाद हतोयमा ने अनिच्छापूर्वक एक पार्टी के कार्यों का अनुभव न रखने वाले और व्यक्तिगत उन्नति में संलग्न राजनीतिज्ञों योशिदा शिगेरु के अन्तर्गत जुयुतु (उदारवादी पार्टी) का नेतृत्व स्वीकार किया। अतः योशिदा मई, १९४६ में अपनी प्रथम सरकार बनाने में सफल हुए। हतोयमा ने अपने को पार्टी के प्रधान के रूप में समझा और इस रूप में कुछ वर्षों तक उन्होंने योशिदा को अपने 'डिप्टी' (उप प्रधान) के रूप में समझते हुए, उनके माध्यम से अपने अधिकारों का प्रयोग किया। फिर भी, १९५० तक योशिदा एक अनुभवी राजनीतिज्ञ हो गये और अपने बाद के प्रधान मंत्रित्व के समय उन्होंने अपने को हतोयमा के एहसानों से स्वतंत्र अनुभव किया। १९५२ में हतोयमा सरकारी पदों के निष्कासन प्रतिबन्ध से जब मुक्त हुए,

तो इन्हें यह मुक्ति इसलिए नहीं मिली कि योशिदा उनके साथ कोई विशेष रियायत कर उन्हें पुनः अधिकार प्राप्त करने के योग्य बनाना चाहते थे, वरन् जापान की सामान्य नीति के लागू होने के कारण ही ऐसा हुआ। परिणामस्वरूप हतोयमा के पुनः राजनीतिक जीवन में वापस आने पर उदारवादी तीन दलों में विभक्त हो गये। अक्तूबर, १९५२ में हुए निर्वाचन में प्रतिनिधियों की सभा में उदारवादी पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ था, जिसके अनुसार उन्हें २४० जगहें मिलीं थीं, जो नेतृत्व की दृष्टि से योशिदा के समर्थकों को १०५ और हतोयमा के समर्थकों को ६९ की संख्या में मिली थीं और जब इनमें ६६ सदस्य तटस्थ थे।

एक दूसरे युद्ध-पूर्व के नेता श्री मेमोरु शिगेमित्सु, युद्ध-अपराधी के रूप में अपने बन्दी आवास की समाप्ति पर उसी समय राजनीतिक जीवन में लौटे, जब हतोयमा लौटे थे। उन्होंने कुछ ऐसे राजनीतिक उपकरण को पुनःसंगठित किया, जिसका नाम प्रगतिशील पार्टी पड़ा। १९५२ के निर्वाचन में, 'डायट' में ८५ प्रगतिशील सदस्यों को स्थान मिला।

१९५२ के निर्वाचन के बाद चौथी—विभाजित बहुमत पर आधृत योशिदा सरकार का 'डायट' पर नियंत्रण अनिश्चित हो गया और शीघ्र ही इसके विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर मतदान हुआ, जिसके कारण १९५३ में नया निर्वाचन कराने की आवश्यकता पड़ी। इस निर्वाचन में उदारवादी दल से अलग होकर हतोयमा-समर्थकों ने चुनाव लड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसका प्रतिनिधित्व ७६ से घटकर ३५ तक रह गया। योशिदा-समर्थक उदारवादियों को १९९ जगहें मिलीं, जब कि प्रगतिशील को ७६, दक्षिण-पंथी समाजवादियों को ६६, वामपंथी समाजवादियों को ७२ और कम्युनिस्टों को १ जगह मिली। ये अंक इस बात का संकेत करते हैं कि हतोयमा के समर्थकों के प्रतिनिधित्व में कमी, दोनों समाजवादियों अर्थात् दक्षिण मार्गियों और वाममार्गियों द्वारा भरी गयी। इस परिणाम का प्रतिफल यह हुआ कि योशिदा को हतोयमा से अपने विरोध को बनाये रखने से और प्रगतिशीलों से और अच्छे कार्य-कारी सम्बन्ध रखने से उसकी स्थिति और दृढ़ हो गयी। फिर भी, उद्देश्यों और हितों की समानता के कारण प्रगतिशील योशिदा की अपेक्षा हतोयमा के अधिक निकट आ गये। तिस पर भी, निर्वाचन-फल ने योशिदा को पाँचवीं सरकार बनाने में सफल बनाया, जो १९५४ के अन्त तक चली। इस समय (२४ नवम्बर) तक, प्रधान मंत्री योशिदा के उदारवादी विरोधियों ने एक नयी पार्टी—"जापानी लोकतंत्रीय पार्टी' का संगठन कर लिया गया था। इसका निर्माण प्रगतिशीलों, जापानी उदारवादियों (जो १९५३ में उदारवादी पार्टी से अलग हुए थे), उदारवादी दल के

योशिदा-विरोधियों और कुछ स्वतंत्रों को मिलाकर किया गया। सभा में लोकतांत्रिक पार्टी के प्रतिनिधियों की १२१ जगहें थीं, जब कि उदारवादियों के पास १८५ जगहें थीं। इससे दक्षिणमार्गी समाजवादियों के समर्थन से वह सरकार के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर मतदान कराने की स्थिति में आ गयी थी।

अपने मंत्रिमंडल की औपचारिक पदच्युति को बचाने के लिए, जिसके बाद नया निर्वाचन कराना पड़ता, योशिदा ने त्याग-पत्र दे दिया और उनके स्थान पर हतोयमा को प्रधान मंत्रिपद मिला, जिनके साथ सिगमित्सु को विदेश मंत्री नियुक्त किया गया। फिर भी नयी सरकार के पक्ष में बहुमत पाने के लिए दक्षिणमार्गी समाजवादी मतों के समर्थन की आवश्यकता थी। यह समर्थन हतोयमा को १९५२ के आरम्भ में निर्वाचन कराने का वचन देने पर मिल गया था। परिणामतः हतोयमा मंत्रिमंडल का कार्य वास्तविक रूप से अभीक्षक (बीच में रखवाली करने वाले) कार्यों तक ही सीमित रहा।

समाजवादियों को दिये वचन की पूर्ति के लिए हतोयमा ने २४ जनवरी, १९५५ को 'डायट' को विघटित कर दिया और फरवरी के अन्त तक फिर निर्वाचन हुए। निर्वाचन के अनुसार सभा की सदस्यता इस प्रकार थी—इसमें क्रमशः १८५ प्रजातांत्रिक, ११२ उदारवादी, ८९ वाममार्गी समाजवादी, ६७ दक्षिण मार्गी समाजवादी, ५ कृषक-श्रम-सदस्य और २ कम्युनिस्ट थे। मतदान में वाम-पक्ष की ओर थोड़ा झुकाव दृष्टिगत हुआ, जिसका पता जापान की ४६ न्यायिक सभाओं की २६११ जगहों के लिए अप्रैल में हुए निर्वाचन से भी लगता है। 'डायट' के निर्वाचन के फल ने भी यह तथ्य उपस्थित किया कि अपने दोनों पक्षों के एकीकरण को समाजवादी लोकतंत्रीय दलवालों के बराबर प्राप्त मत के साथ, 'डायट' के दूसरे सबसे मजबूत दल के रूप में अपने को प्रतिष्ठित कर सकते हैं। निर्वाचन फल ने हतोयमा को भी 'डायट' में अपने बहुमत के लिए या तो लोकतांत्रिकों या दक्षिणमार्ग्री समाजवादियों के समर्थन पर निर्भर करने के लिए बाध्य किया। देश दृढ़तापूर्लक रूढ़िवादियों का समर्थक रहा, क्योंकि दोनों रूढ़िवादी पार्टियों ने देश के पूरे प्रभुत्व का ६४ प्रतिशत मत प्राप्त किया। किन्तु यदि दोनों रूढ़िवादी पार्टियों का विभाजन बना रहा, तो उनके सरकार पर नियंत्रण प्राप्त करने की संभावना नहीं थी। गुट-विभाजन ने समाजवादियों को भी 'डायट' में अपने उस पूरे प्रभाव से वंचित रखा, जो उन्हें संगठित रहने पर मिलता। अतः दक्षिणमार्गियों और वाममार्गियों—दोनों में एकता के आधार पर संगठित होने की भावना का विकास हुआ।

एकता की दिशा में समाजवादी पार्टी के दो गुटों द्वारा सबसे पहले प्रयत्न आरम्भ

किया गया। समाजवादी गुटों को मिलाने के लिए १४ अक्टूबर, १९५५ को अन्तिम समझौता किया गया। इसके बाद लोकतांत्रिकों और उदारवादियों ने इस एकीकरण का अनुसरण करते हुए अपने को नयी उदारवादी लोकतांत्रिक पार्टी के रूप में संगठित किया। इन दो मिलापों ने जापान को निर्वाचन के लिए दो प्रमुख पार्टियों के आधार पर 'डायट' में सरकार बनाने के लिए बहुमत प्राप्त करने की ओर अग्रसर किया। अतः १ नवम्बर १९५५ में हुए निर्वाचनों में, जिसकी संसदीय अस्थिरता के कारण आवश्यकता पड़ी, उदारवादी लोकतान्त्रिक पार्टी ने २९९ और समाजवादियों ने १५४ जगहें प्राप्त कीं। अतः हतोयमा ने प्रधान मंत्री के रूप में सुरक्षित स्थिति प्राप्त कर ली, जिस स्थिति में वे दिसम्बर १९५६ तक—अपने पद से त्यागपत्र देने के समय तक बने रहे। उनके बाद इशिबशि तेन्जन ने उनका स्थान ग्रहण किया, जो इस पद पर कुछ समय तक बने रहने के बाद अपने बुरे स्वास्थ्य के कारण उदारवादी लोकतांत्रिक पार्टी के अपने प्रधान स्पर्धी नेता श्री किशिनोवेसु के पक्षमें अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और श्री किशिनोवेसु के १९५८ के अन्त तक प्रधान मंत्री के पद पर बने रहे, जब कि मई, १९५८ के निर्वाचनों में उदारवादी लोकतांत्रिकों ने अपना निर्णायक बहुमत कायम रखा।

स्वाधीनता के बाद की राजनीति के उपर्युक्त सिंहावलोकन से यह ज्ञात होता है कि जापान के राजनीतिक पार्टी-जीवन में व्यक्तिगत निष्ठा पर अधिक बल दिया गया था। फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सरकार के उत्थान-पतन की दृष्टि से पार्टियों के आपसी और आन्तरिक विभाजन का यही एकमात्र निर्णायक तत्त्व था। दोनों तरह की सरकारी और निजी विधियों की अनुपयुक्त प्राप्ति और उपयोग के सम्बन्ध में, राजनीतिक आशय और परिणाम को दृष्टि में रखते हुए अनेक तरह के आरोप और प्रत्यारोप लगाये जाते रहे। निश्चित रूप से इसमें कोई संदेह नहीं था कि जापानी राजनीति में भ्रष्टाचार व्याप्त था, विशेष रूप से बहुमत रखने वाली या प्रमुख पार्टी पर —सरकारी कार्यालय पर अधिकार रखने के कारण इस प्रकार के विशेष आरोप लगाये जाते रहे और उसकी आलोचना भी की जाती थी।

किन्तु विशेष रूप से जापान पर दखल की वापसी के निकट आने के साथ वास्तविक मतभेद सरकारी नीति के सम्बन्ध में था। उदाहरणस्वरूप हतोयमा-समर्थक योशिदा के संयुक्त-राज्य के साथ स्थापित कार्यकारी सम्बन्ध के आलोचक इस बात का अनुभव करते थे कि सरकारी कार्य-सम्पादन और अधिक स्वाधीनता के साथ होना चाहिए। राष्ट्रीय रुढ़िवादियों की इच्छा थी कि नये संविधान में जिसे वे निश्चित रूप से अमेरिका द्वारा आरोपित समझते थे, परिवर्तन किये जाने चाहिए। संविधान

में परिवर्तन या सुधार के लिए प्रतिनिधियों की सभा और विधायकों की सभा दोनों में दो तिहाई मत और साथ ही विशिष्ट जनमत संग्रह की आवश्यकता थी। समाजवादी पार्टी की शक्ति ने संवैधानिक परिवर्तन में बाधा उपस्थित की। समाजवादियों और साथ ही कुछ उदारवादियों ने इस भय से प्रस्तावित संवैधानिक परिवर्तनों का विरोध किया कि इससे नागरिक स्वाधीनता में कमी आ जायेगी और इससे केन्द्रीकृत पुलिस-प्रशासन के अन्तर्गत 'खतरनाक विचारों' को युद्ध के पहले की भाँति नियंत्रित करने की परिपाटी का पुनः आरम्भ होने की सम्भावना थी। इसी कारण से ही स्वायत-शासन-पद्धति के स्थान पर मित्र-राष्ट्रों की प्रधान कमान द्वारा शिक्षा, पुलिस और नागरिक सेवा के और अधिक केन्द्रित नियंत्रण स्थापित करने के वैधानिक प्रस्ताव का विरोध किया गया। सैनिक सुरक्षा-शक्ति की पुनःस्थापना का विरोध (साथ ही समर्थन भी) किया गया, क्योंकि इससे नीति के प्रधान अंश पर युद्ध-पूर्व के नियंत्रण के पुनर्जीवित होने की आशंका थी। उन लोगों ने, जिन्होंने पुनःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया, इसके लिए बहुत धीरे-धीरे और सावधानी के साथ कार्य करना चाहा और ऐसी कार्रवाई को विशेष रूप से महत्त्वहीन समझा, जो अमेरिकी आवश्यकता के दृष्टिकोण पर आधारित थी, न कि जापानी हितों के लिए जापानी सरकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से अपनायी गयी थी।

हतोयमा और शिगेमित्सु ने जब पुनः राजनीति में प्रवेश किया और अधिकार प्राप्त किया, तो उन्होंने सोवियत रूसी संघ और कम्युनिस्ट चीन के साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जैसा प्रयत्न योशिदा ने १९५३ गौर १९५५ के बीच में नहीं किया था। अतः दिसम्बर, १९५४ में हतोयमा के अभीक्षक मंत्रिमंडल के नव नियुक्त विदेश-मंत्री श्री शिगेमित्सु ने सभी प्राप्त साधनों का उपयोग करना, नयी सरकार की नीति बताते हुए कहा कि "एशिया में अपने मित्रों के साथ निकट और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पुनः स्थापित करने के लिए हम रूस और चीन के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह के, समान रूप से स्वीकृत शर्तों पर स्वाधीन राष्ट्रों के साथ अपनी मौलिक नीति के अनुसार सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के इच्छुक हैं। जहाँ तक सोवियत संघ और चीन के साथ व्यापार का प्रश्न है, वर्तमान स्थिति में इससे हमें बहुत आशा नहीं है, फिर भी, हम इनके साथ सम्बन्धों को, जो इस समय बहुत कम हैं, विस्तृत करना चाहेंगे।"

१९५५ के आरम्भ में हतोयमा नें उस वक्तव्य का अनुसरण करते हुए अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया कि जापान को रूस और चीन के साथ सामरिक स्थिति समाप्त करने के लिए प्रयत्न शुरू करना चाहिए। इसके प्रत्युत्तर में रूस ने अपने को समझौता वार्ता के लिए तैयार बताया, जो उसके बाद जून, १९५५ में लन्दन में शुरू हुई। समझौता वार्ता १९५५ में

बिना किसी परिणाम के चलती रही। सितम्बर में रूसी वार्ताकारों को न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र-संघ की साधारण सभा में सम्मिलित होने के लिए मौका देने के लिए वार्ता स्थगित रखी गयी। उस बैठक में जापान को संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य बनाने के विपक्ष में रूस ने अपने निषेधाधिकार मत का प्रयोग किया। रूस की इस कार्रवाई को शान्ति-वार्ता में जापान पर दबाव डालने के लिए किया गया कार्य बताया जाता है, जिसका जापान में विशेष रूप से अनुभव किया गया। तिस पर भी, जापान ने जनवरी, १९५६ में समझौता-वार्ता पुनः शुरू की। मार्च तक कुछ कम महत्त्वपूर्ण मामलों में समझौता हुआ। किन्तु दोनों में कोई भी पक्ष विवादास्पद क्षेत्रों की स्थिति में सुधार करने के लिए तैयार नहीं था। जापानियों ने दक्षिणी सखालिन, दक्षिणी कुरिलीज और होगोमाय द्वीपों और टोकाइडा से अलग शिकोटन को लौटाने पर जोर दिया। रूसियों ने होगोमाय द्वीप और शिकोटन को लौटाने के प्रश्न पर विचार करने की इच्छा व्यक्त की, जिन पर उन्हें अधिकार रखने का, सिवाय इसके कोई औचित्य नहीं था, कि इन पर उन्होंने युद्ध में दखल दिया था। फिर भी, उन्होंने सखालिन और कुरिलीज को लौटाने के प्रश्न पर विचार करना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि ये रूस को 'याल्टा-सन्धि' में प्राप्त हुए थे। फलतः किसी भी सरकार के अन्य किसी समाधान पर प्रस्तुत न होने के कारण समझौता-वार्ता २० मार्च को टूट गयी।

इसके पश्चात् सोवियत सरकार ने जापान को 'कामचतका' समुद्री किनारे पर मछली मारने से रोकते हुए उस पर अपना दबाव डालना शुरू किया। इस पर शान्ति-समझौते पर आगे बातचीत करने के पहले निर्णय करना आवश्यक हो गया। १८ मई को एक दशवर्षीय मत्स्य-समझौता और तीन वर्षीय हवाई और समुद्री सीमा-सन्धि की गयी और शान्तिसन्धि की शर्तों पर पुनः बात-चीत आरम्भ की गयी, जिसके लिए शिगेमित्सु मास्को गये। उनकी सोवियत विदेश मंत्री के साथ हुई वार्ता में कोई समझौता नहीं हो सका और दोनों विदेश-मंत्रियों को स्वेज-समस्या पर लन्दन में आयोजित सम्मेलन में भाग लेने के लिए वार्ता पुनः स्थगित करनी पड़ी। इस समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि जापान—(१) या तो शान्ति-सन्धि के निर्णय के लिए सखालिन और कुरिलीज छोड़ना स्वीकार करे, (२) या बिना किसी सम्भावित समाधान के वह बात-चीत को बढ़ाता रहे, (३) या समझौता-वार्ता छोड़कर युद्धोत्तर स्थिति में अनिच्छापूर्वक शत्रुता और मित्रता दोनों से परे रहे और (४) या बिना औपचारिक शान्ति-सन्धि किये आपसी सम्बन्ध स्थापित करने का कोई और तरीका ढूँढ़े।

हतोयमा ने अस्वस्थ होते हुए भी तब तक अपना सरकारी पद न छोड़ने का निश्चय किया था, जब तक उसे उस मसले को कम-से-कम किसी सफल निर्णय तक नहीं पहुँचा देते,

जिसे उन्होंने अपने प्रयत्न से शुरू किया था, इसलिए वे बुरे स्वास्थ्य के कारण असमर्थ होते हुए भी पत्र-व्यवहार द्वारा यह जानकर मास्को गये कि 'क्रेमलिन' पांच प्रमुख प्रश्नों को— (१) राजनयिक सम्बन्ध की पुनःस्थापना, (२) राजदूतों के विनिमय, (३) मत्स्य-समस्या, (४) संयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता और (५) अभी भी रूस में बचे युद्ध-बन्दियों की वापसी को तय करने के लिए तैयार है। परिणामस्वरूप हतोयमा मास्को में, जापानी-सोवियत-संघ के सम्बन्धों की सामान्य स्थापना और व्यापारिक सन्धि पर की गयी संयुक्त घोषणा की शर्तों को तय करने में सफल हुए। इन पर १९ अक्तूबर को हस्ताक्षर किये गये और बाद में जापानी सत्यांकन के बाद दिसम्बर, १९५५ में उसे संयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता देना तय किया गया। अतः क्षेत्रीय विवाद को भविष्य में विचार-विमर्श के लिए छोड़ दिया गया, जोकि रूस उस समय होगोमाय द्वीपों और शिकोटन को चीन को हस्तान्तरित करने के लिए तैयार हो गया था, किन्तु यह हस्तान्तरण वह शान्ति-संधि के निर्णय के बाद करना चाहता था।

गोकि जापानी सरकार के लिए सोवियत संघ से, शान्ति-संधि की प्रतीक्षा करते हुए, इस पर समझौता-वार्ता करना संभव था, किन्तु उसके कम्युनिस्ट चीन के सम्बन्ध की गड़बड़ी के कारण इसको तय करने की कोशिश नहीं की जा सकी, क्योंकि जापान अपनी पूर्व घोषणा और परिस्थितियों दोनों के अनुसार उनके सम्बन्ध में केवल उसकी राष्ट्रीय सरकार के माध्यम से वार्ता करने के लिए बचन-बद्ध था। इसके अलावा कम्युनिस्ट चीन के सम्बन्ध में उसकी बात-चीत का सम्बन्ध विशेष रूप से राजनीतिक न होकर व्यावसायिक सीमा तक ही था। परिणामस्वरूप हतोयमा सरकार और उसका अनुगमन करने वालों ने जापानियों को सीमित रूप से कम्युनिस्ट चीन के साथ निजी (प्राइवेट) व्यावसायिक विनिमय समझौता करना स्वीकार किया और इसे प्रोत्साहित भी किया। इसन व्यापार को विकसित किया, जो कि यह विकास कोरियाई युद्ध के बाद के नियंत्रण और संयुक्त-राज्य द्वारा वांछित व्यापार निषेध के कारण सीमित ही रहा था। फिर भी, कुछ हो, जापानी व्यापारियों ने, चूंकि वे राज अभिकरणों (एजेन्सियों) के साथ कार्य-संपादन करते थे, इसलिए अपने को सौदेबाजी की हानिप्रद स्थिति में पाया, विशेष रूप से जब चीन ने व्यापारिक समझौते के माध्यम से जापान की सरकारी नीति के निर्धारण में हस्तक्षेप करना शुरू किया, तो यह स्थिति और दुरूह हो गयी।

इसलिए इन स्थितियों में, जापानी सरकार ने कम्युनिस्ट चीन की अपेक्षा दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने पर विशेष जोर दिया। यह विशेष रूप से उस समय स्पष्ट हो गया, जब श्री किशि प्रधान मंत्री और उदारवादी लोकतांत्रिक पार्टी के नेता हुए। अतः जन, १९५७ में संयक्त राज्य

में जाने के पूर्व प्रधान मंत्री किशि सद्भावना यात्रा पर पहले पाकिस्तान, हिन्दुस्तान, बर्मा, लंका, थाईलैंड और तैवान गये। बाद में उन्होंने उन देशों की भी इस प्रकार यात्रा की, जहाँ वे अपनी पहली यात्रा के दौरान में नहीं जा सके थे और फिर वे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और फ़िलीपाइन्स भी गये। इन एशियाई यात्राओं ने पूरे गैर-कम्युनिस्ट एशियाई देशों के साथ जापान के और अच्छे मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करने के उद्देश्य के लिए आधार तैयार करने का कार्य किया।

इस आधार पर जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में और सक्रिय भाग लेते हुए, और मौलिक विदेश-नीति अपनानी शुरू की। यह नाभिकीय शस्त्रों (न्युक्लियर वीपन्स) का आगे और परीक्षण करने के विवाद में उसके विशेष रूप से भाग लेने से स्पष्ट हुआ। इस विवाद में जापान ने न केवल भाग ही लिया, वरन् इस प्रश्न पर उसने तथाकथित तटस्थ एशियाई देशों का नेतृत्व भी किया। नेतृत्व की दिशा में, दूसरा कदम जापान ने अक्तूबर, १९५७ को संयुक्त-राष्ट्र संघ के सुरक्षा-परिषद् के चुनाव में स्थान प्राप्त करते हुए उठाया।

अतः दखल की समाप्ति के बाद इस थोड़े ही समय में जापान सुदूर पूर्व राजनीति के समीकरण का पुनः प्रमुख अंग बन गया।

———

परिशिष्ट

(पाद-टिप्पणियाँ)

अध्याय २२

१. अ० श्र० सं० "इण्डस्ट्रियल लेबर इन जापान" सीरीज तथा रिपोर्टें सीरीज ए० सं० ३७, पृष्ठ ३६।

२. इस संबंध में देखिए "फारेन पालिसी रिपोर्ट्स" खण्ड १० सं० २७, पृष्ठ ३२०।

३. डब्लू० एस० चेम्बरलिन, जापान्स फार्म आइसिस, एशिया, ग्रन्थ २६, पृष्ठ ३६९-३७४।

४. एफ० पी० आर० खंड १०, संख्या २५, पृष्ठ ३२०।

५. वहीं।

६. फारेन पालिसी एसोसियेशन, इन्फार्मेशन सर्विस, खंड ६, सं० १६, पृष्ठ २८१ से उद्धृत।

७. इस समझौते के अस्तित्व तथा प्रकार के सम्बन्ध में देखिए "एल आफ एन अपील आफ दि चाइनीज़ गवर्नमेन्ट; रिपोर्ट आफ दि कमिशन आफ इन्क्वायरी (७ पोलिटिकल १९३२, ७, १२) पृष्ठ ४४–४५।

८. लिटन कमीशन, रिपोर्ट, पृष्ठ ४७–४८।

९. घोषणा में कहा गया था कि जब तक चांग पेकिंग से शान्तिपूर्वक चला न जाय, उसकी सेनाओं को मंचूरिया में फिर से न जाने दिया जायगा, परन्तु जब उसने जाने से इन्कार कर दिया और उसकी सेनाएँ मंचूरिया की ओर पीछे को हटीं तो उन्हें प्रवेश करने दिया गया, परन्तु राष्ट्रवादियों को उसका पीछा नहीं करने दिया गया।

१०. लिटन कमीशन, रिपोर्ट, पृष्ठ ३०।

११. मंचूरिया में कोरियाइयों की स्थिति पर लिटन रिपोर्ट में विचार किया गया है, पृष्ठ ५५–६३।

१२. लिटन कमीशन, रिपोर्ट, पृष्ठ ६४; तथ्यों का पूरा-पूरा भाग रिपोर्ट में दिया गया है, पृष्ठ ६३–६६।

१३. रिपोर्ट।

१४. उद्धृत रिपोर्ट, पृष्ठ ६६।

१५. पहले संकल्प में नियन्त्रक सिद्धान्त तै किये गये थे क्योंकि यह एकमत से पारित हुआ था।

१६. ये आँकड़े ग्रोवर क्लार्क द्वारा लिखित 'एकानामिक राइवेलरीज़ इन चाइना' में दिये गये हैं, पृष्ठ १०७।
१७ शंघाई की स्थिति पर उसने तुरन्त विचार किया।
१८. कार्यवाही का आधार भी प्रतिज्ञापत्र के अनुच्छेद ११ से हटकर अनुच्छेद १५ हो गया।
१९. एफ० पी० आर० खण्ड संख्या २५, पृष्ठ २३३।
२०. सर्वे आफ इण्टरनेशनल अफेयर्स, १९३४, पृष्ठ ६४१।
२१. न्यूयार्क टाइम्स, ६ मई, १९३६।
२२. फार ईस्टर्न सर्वे, खण्ड ५, संख्या १, पृष्ठ ४।
२३. टी० ए० विस्सन "जापान इन चाइना", पृष्ठ, ३६७।
२४. राजदूत जापानी विदेश मन्त्री के निदेशानुसार काम करता था, किन्तु मंचूरिया के मामिले में उसका संबंध सीधा प्रधान मंत्री से था। प्रधान सेनापति के रूप में उसे सम्राट् के पास सीधे जाने का अधिकार था, १९३४ के बाद मंचूरिया अफेयर्स बोर्ड ही जापान में सामान्य पर्यवेक्षण एजेन्सी थी।
२५. फोर्थ रिपोर्ट आन् प्रोग्रेस इन मंचूरिया टु १९३४, साउथ मंचूरियन रेलवे कम्पनी १९३४ एपेन्डिक्स, ५ में मुद्रित पत्र से।
२६. जैसा कि रेल के नक्शे के अध्ययन से विदित होगा, रूसियों ने भी कुछ नया निर्माण पश्चिम की ओर से वाह्य मंगोलिया तक किया था।
२७. वायलेट कानोली द्वारा लिखित, "सोवियत ट्रेड फ्राम दि फैसिफिक टु दी लेवन्ट", पृष्ठ ३४। १९०७ की उपसंधि का मूल पाठ परिशिष्ट ३, १९२८ की उपसंधि का मूल पाठ, परिशिष्ट ६।
२८. वही, पृष्ठ ३८।
२९. फार ईस्टर्न सर्वे, खण्ड ४, संख्या ११, पृष्ठ ८३।
३०. वही, खण्ड ६, संख्या १३, पृष्ठ १४८।
३१. जी० सी० एलन, जापानीज़ इण्डस्ट्रीज़, इट्स रिसेन्ट डेवलपमेन्ट एण्ड प्रेजेन्ट कन्डीशन, पृष्ठ ९४—९५।
३२. उद्धरण "फार ईस्टर्न सर्वे" खंड ५, सं० ६, पृष्ठ ५३-५९ से लिये गये हैं। इस लेख में "एअर्स आफ मंचूकुओ" का संक्षिप्त विवरण बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है।
३३. देखिए, जापान स्ट्रेटेजिक सैटलमेन्टस इन मंचूकुओ, फार ईस्टर्न सर्वे, खण्ड ८, संख्या ४।

३४. पृष्ठ ७२४–७३७।
३५. टी० ए० बिस्सन, 'जापान इन चाइना', पृष्ठ ३९२–४०५, उद्धरण पृष्ठ ३९३ में से है।
३६. बिस्सन, पृष्ठ ३७४।

अध्याय २३

१. राष्ट्रीय सरकार ने चिहली प्रांत का नाम बदल कर होपेइ कर दिया था।
२. टी० ए० बिसन द्वारा लिखित 'चीन में जापान' (जापान इन चाइना) नामक पुस्तक के पृष्ठ ४४–४५ में उल्लिखित।
३. इन माँगों के विवरण के लिए देखिए बिसन की उपर्युक्त पुस्तक का पृष्ठ ४८।
४. डेविड जे० डलिन द्वारा लिखित 'सोवियत रूस तथा सुदूर पूर्व' (सोवियट रशा ऐंड द फार ईस्ट) पृष्ठ ७७।
५. एफ० पी० रिपोर्ट—खण्ड दो, संख्या उन्नीस, पृष्ठ संख्या २२८।
६. अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संबद्ध अभिलेख (डाकुमेन्ट्स ऑन इण्टरनेशनल अफेयर्स) १९३४ पृष्ठ संख्या ४७२–४७३।
७. वही, पृष्ठ ४७३।
८. अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संबद्ध अभिलेख (डाकुमेन्ट्स ऑन इण्डरनेशनल अफेयर्स) १९३४, पृष्ठ ४७४।
९. गेहूँ के लिए दिये गये अमेरिकी ऋण का भी इस आधार पर विरोध किया गया था कि इसका उपयोग शस्त्रास्त्र के क्रय के लिए किया गया था। इस अनुच्छेद के उद्धरण 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का सर्वेक्षण' (सर्वे आव् इण्टरनेशनल अफेयर्स) १९३४ के पृष्ठ २४७–२४९ से लिये गये हैं।
१०. यह संपूर्ण वक्तव्य अपने मूल रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संबद्ध अभिलेख' (डाकुमेन्ट्स ऑन इण्टरनेशनल अफेयर्स) १९३७, लन्दन १९३९ के पृष्ठ ६३२–६३८ पर देखे जा सकते हैं।
११. देखिए डब्ल्यू० डब्ल्यू० विलोबी की 'जापान के मामले की छानबीन' (जापान्स केस एक्ज़ामिन्ड) नामक पुस्तक का पृष्ठ ५० जिसमें एफ० टी० मेरिल की 'सुदूर-पूर्व में अफीम से उत्पन्न खतरा' (दि ओपियम मीनेस इन द फॉर ईस्ट), 'परराष्ट्र-नीति संघ' (फॉरेन पालिसी असोशियेशन) मार्च १९३७ का उल्लेख है।
१२. देखिए 'सुदूर पूर्व का सर्वेक्षण' (फॉर ईस्टर्न सर्वे) खण्ड ४, संख्या १६ का पृष्ठ १२३।
१३. यह वही सेना थी जिसने साइ तिंग-काइ के संचालन में सन् १९३२ में शंघाई के निकट जापान का प्रतिरोध किया था।

१४. देखिए 'सुदूरपूर्व का सर्वेक्षण' (फॉर ईस्टर्न सर्वे) खण्ड ४, संख्या १६ का पृष्ठ १२४।
१५. 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का सर्वेक्षण' (सर्वे ऑव् इण्टरनेशनल अफेयर्स), १९३४, पृष्ठ ६३९।
१६. 'सुदूरपूर्व का सर्वेक्षण' (फार ईस्टर्न सर्वे), खण्ड ५, संख्या ११, पृष्ठ ११३।
१७. 'न्यूयार्क टाइम्स' का २७ मई, १९३६ का अंक।
१८. 'न्यूयार्क टाइम्स' का २७ मई, १९३६ का अंक।
१९. 'अंतर्राष्ट्रीय मामलों का सर्वेक्षण' (सर्वे ऑव् इण्टरनेशनल अफेयर्स), १९३६, पृष्ठ ८८५ जिसमें एड्गर स्नो से समालाप का उल्लेख है।

अध्याय २४

१. टी० ए० बिसन ने अपनी 'चीन में जापान' (जापान इन चाइना) नामक पुस्तक के प्रथम अध्याय में पृष्ठ संख्या १५ पर इस घटना से संबद्ध परिस्थितियों की विवेकपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की है।
२. इस चीनी-जापानी समिति में दो जापानी सैनिक अधिकारी तथा तीन चीनी थे।
३. इस परिषद् के गठन के विवरण के लिए देखिए, तेईसवाँ अध्याय का सेक्सन ४।
४. देखिए, टी० ए० बिसन की उपर्युक्त पुस्तक का पृष्ठ १६।
५. वही, पृष्ठ संख्या २१ जिसमें मूल शर्तें नार्थ चाइना डेली न्यूज़ नामक समाचार-पत्र से उद्धृत की गयी थीं। २९वीं सेना का उल्लेख हाल में ही केन्द्रीय सरकार की सेनाओं के होपेइ प्रांत में पुनः प्रवेश के संदर्भ में किया गया था।
६. वही, पृष्ठ ३९।
७. पहली राजधानी का नाम लगभग इसी समय पीपिंग से बदल कर पीकिंग कर दिया गया था। युद्ध के पश्चात् यह पुनः पीपिंग हो गया और तब तक यही बना रहा, जब तक कि यह कम्युनिस्टों के 'जन-गणतंत्र' (पीपुल्स रिपब्लिक) की राजधानी नहीं बनाया गया।
८. जापानियों की शर्तें ठीक-ठीक इस प्रकार थीं; "(१) चीन द्वारा समस्त जापान-विरोधी एवं मंचूकुओ-विरोधी कार्यों का परित्याग और साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में जापान के साथ सहयोग; (२) कुछ असैनीकृत क्षेत्रों की स्थापना; (३) चीन-जापान के बीच आर्थिक संबंधों का निपटारा; (४) युद्ध के परिणामस्वरूप हुई हानि की क्षतिपूर्ति।" राजदूत ग्र्यू द्वारा जाँच के पश्चात् जापान के विदेश मंत्री ने कहा "कि असैनीकृत क्षेत्र भीतरी मंगोलिया, उत्तर चीन तथा इस समय जापानी सेनाओं द्वारा अधिकृत यांगत्ज़े नदी के दक्षिण में शंघाई और नानकिंग के बीच के

ज़िले में बनाये जाने चाहिए।" इन क्षेत्रों में चीनी प्रभुसत्ता का दिखावा बनाये रखना था। जापान में अमेरिकी राजदूत (ग्रू) की जापान के विदेश मंत्री से हुई बात-चीत (जनवरी १०, १९३८) से संबद्ध मूल स्मृतिपत्र के लिए देखिए 'संयुक्त राज्य के विदेशी संबंध—जापान' (फ़ारेन रिलेशन्स ऑव् दि युनाइटेड स्टेट्स, जापान), १९३१–१९४१, खण्ड १ के पृष्ठ संख्या ४३४–४३५।

९. अन्यथा जापान सरकार द्वारा ३ नवम्बर में दिये गये एक वक्तव्य में जापान के उद्देश्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया था—"एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना जो पूर्वी एशिया में चिरस्थायित्व बनाये रखे। इस नयी व्यवस्था का आधार जापान, मंचूकुओं तथा चीन का राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य क्षेत्रों में पारस्परिक त्रिसूत्रीय संबंध है। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की प्राप्ति, साम्यवाद के विरुद्ध संयुक्त प्रतिरक्षा की पूर्णता तथा एक नयी संस्कृति का सर्जन और पूरे पूर्वी एशिया में परस्पर निकट आर्थिक संबंध स्थापित करना है।"

१०. जापान की इस कठपुतली चीनी सरकार को १ जुलाई, १९४१ को जर्मनी, इटैली, स्पेन, रूमानिया, "स्लोवाकिया" और "क्रोशिया" ने मान्यता प्रदान कर दी थी। इस समूचे प्रश्न के और अधिक विस्तार से अध्ययन के लिए हैरॉल्ड एस्० क्विग्ले लिखित 'सुदूरपूर्वीय युद्ध' (द फार ईस्टर्न वार), १९३७–१९४१, के सातवें अध्याय को देखिए।

११. देखिए लौ चुआन–हुआ लिखित 'जापान का चीन में आर्थिक आक्रमण' (जापान्स इकनामिक ऑफेन्सिव इन चाइना) का पृष्ठ ५१।

१२. मिरियम फार्ले लिखित 'जापानी उद्योग के विस्तार की समस्या' (प्राब्लेम ऑव् जापानीज़ ट्रेड एक्सपैंन्शन), आई० पी० आर० इन्क्वायरी सीरीज़, १९३९ की पृष्ठ संख्या २२ देखिये।

१३. जे० के० फेयरबैंक द्वारा लिखित 'संयुक्त राज्य और चीन' (दि युनाइटेड स्टेट्स ऐण्ड चाइना), पृष्ठ १८३।

१४. लाइन बार्जर पी० एम० ए० की पुस्तक 'च्यांग काई-शेक का चीन' (द चाइना ऑव् च्यांग काई-शेक) का पृष्ठ १७५ देखें। इस आन्दोलन पर पृष्ठ १७५–१८० में विस्तार से विचार उपलब्ध है।

१५. लौ चुआन-हुआ की पूर्वोक्त पुस्तक का पृष्ठ ९४।

१६. ई० एफ० कार्लसन्—'चीनी सेना' (द चाइनीज़ आर्मी) पृष्ठ ६०।

१७. लाइन बार्जर की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २२४।

१८. वही, पृष्ठ संख्या १४३।

१९. जे० के० फेयरबैंक की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २५५।

२०. १९३८–१९४१ के बीच पी० पी० सी० (पीपुल्स पोलिटिकल कांउन्सिल) के गठन, स्वरूप तथा महत्त्व के संबंध में लाइन बार्जर की पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ ६९–७९ देखें।

२१. कुमिन्तांग-कम्युनिस्ट के परस्पर संबंधों तथा राजनीतिक संघर्ष के अन्य क्षेत्रों के संबंध में एडगर स्नो द्वारा लिखित 'एशिया के लिए युद्ध' (द बैटिल् फॉर एशिया) नामक पुस्तक देखें। अन्ना लूई स्टांग की पुस्तक 'चीन में कुमिन्तांग-कम्युनिस्ट संकट' (द कुमिंतांग-कम्युनिस्ट क्राइसिस् इन चाइना), अमरेशिया, मार्च १९४१ भी अवलोकनीय है।

अध्याय २५

१. आई० एस्० फ्रायडमैन लिखित 'चीन से ब्रिटेन के संबंध' (ब्रिटिश रिलेशन्स विद् चाइना), १९३१–१९३९, पृष्ठसंख्या २०५।

२. वही, पृष्ठ संख्या २०९ जहाँ पार्लिमेन्टरी डिबेट्स एच० ऑव् सी०, खण्ड ३५० के कालम ९९४ का उल्लेख है।

३. चीन के प्रति रूस की नीति (१९३७–१९४१ के बीच) के अध्ययन के लिए देखें डी० डैलिन की पुस्तक 'सोवियट रूस और सुदूरपूर्व' (सोवियत रशा ऐण्ड द फॉर ईस्ट) के पृष्ठ ७१–७६।

४. 'संयुक्त राज्य के वैदेशिक संबंध : जापान' (फॉरेन रिलेशन्स ऑव् दि युनाइटेड स्टेट्स : जापान), १९३१–१९४१ द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २८१।

५. १७ अप्रैल '४० को राज्य विभाग द्वारा प्रचारित मूल प्रेस विज्ञप्ति के लिए देखें वही, पृष्ठ २८१–२८२।

६. 'वैदेशिक संबंध, जापान' (फॉरेन रिलेशन्स, जापान), १९३१–१९४१ द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३२६।

७. हल्ल, 'संस्मरण' (मेम्वायर्स), द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ९८३।

८. 'वैदेशिक संबंध, जापान' (फॉरेन रिलेशन्स, जापान) द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३२८–३२९।

९. वही, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३३२ तथा हल्ल, पूर्वोक्त का द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ९९५।

१०. मूल प्रस्ताव 'वैदेशिक संबंध, जापान' (फॉरेन रिलेशन्स, जापान), १९३१–१९४१, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४२०–४२५।

११. वाल्टर मिलिस की पुस्तक 'यह पर्ल (हार्बर) है।' (दिस् इज़ पर्ल), पृष्ठ ११३।

१२. वही, पृष्ठ १०१।

१३. यद्यपि काफी देर हो चुकी थी, फिर भी २७ नवम्बर को "जेनरल मार्शल तथा ऐड-मिरल स्टार्क ने राष्ट्रपति के पास एक स्मृतिपत्र भेजा... जिसमें उन्होंने और समय की सिफारिश की थी ... हम जापान के साथ शांति चाहते थे किंतु यदि शांति संभव नहीं थी तो हम और समय चाहते थे" हल्ल की पूर्वोक्त पुस्तक, द्वितीय खण्ड का पृष्ठ १०८७।

१४. वहीं, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १०३४।

अध्याय २६

१. इस संबंध में यह स्मरणीय है कि युद्धकालीन इम्पीरियल जेनरल हेडक्वार्टर्स की स्थापना नवम्बर १९२७ में हो गयी थी, यद्यपि चीन में हो रही सामरिक कार्रवाई को "युद्ध" की संज्ञा नहीं दी गयी थी। जहाँ एक ओर इम्पीरियल जेनरल हेड-क्वार्टर्स का कार्य "फौजी एवं नौसेना के कार्यों में परस्पर समन्वय तथा एजेन्सियों और राज्य के अन्य प्रमुख अंगों में संपर्क रखना था" (हरमन ब्युकेमा, क्रान्टेम्युररी फॉरेन गवर्नमेन्ट्स, पृष्ठ २८२), दूसरी ओर उसकी तथा सर्वोच्च युद्ध परिषद् (सुप्रीम वार.कौन्सिल)की पुनः स्थापना से फौजी नियंत्रण की नीति को बल मिला।

२. यद्यपि बाद को सम्मिलित किये गये क्षेत्र की दृष्टि से, इसका संवर्धन बृहतर पूर्वी एशिया (ग्रेटर ईस्ट एशिया) के रूप में हुआ जिसमें दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा इण्डो-नेशिया भी सम्मिलित थे। इस प्रकार जापान-चीन-मंचूकुओ ब्लाक के पीछे जो आर्थिक उद्देश्य था उसको बढ़ाकर "बृहत्तर पूर्वी एशिया सह-सम्पन्नता क्षेत्र" के उद्देश्य के रूप में दिया गया।

३. हरमन ब्यकेमा की पूर्वोक्त पुस्तक का पृष्ठ २८९।

४. जेरोमे बी० कोहेन, 'युद्ध एवं पुनर्निर्माण में जापान की अर्थनीति' (जापान्स इका-नामी इन वार ऐण्ड रीकान्स्ट्रक्शन) पृष्ठ ५।

५. वही।

६. जी० सी० एलेन, 'जापानी उद्योग : इसका हाल का विकास तथा वर्तमान स्थिति' (जापानीज इण्डस्ट्रीज़ : इट्स रीसेन्ट डेवलेपमेन्ट ऐण्ड प्रेज़ेण्ट कंडिशन), आई० पी० आर० इन्क्वायरी सीरीज़, १९३९; पृष्ठ संख्या १०८। युद्ध के लिए एक दशक से हो रही तैयारी के सामान्य आर्थिक एवं वित्तीय परिणामों के अध्ययन के लिए कोहेन की पूर्वोक्त पुस्तक का पहला अध्याय देखें।

७. एलेन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६२ तथा कोहेन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १३।

८. एलेन की पूर्वोक्त पुस्तक का पृष्ठ ६२।

९. इन नियंत्रणों के विश्लेपण के लिए देखिए, कोहेन की पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ १०–३३।

१०. वही, पृष्ठ २८।

११. लेकिन "१९४१ में हम लोगों (संयुक्त राज्य) ने जापान की पूर्ण सामरिक तैयारी को भूल से उसकी निम्नतम युद्ध शक्ति समझा। जापान के कच्चे माल के भाण्डार को वास्तविक से बहुत अधिक आँका गया था।" वही, पृष्ठ ४९।

१२. संयुक्त राज्य द्वारा सामरिक महत्त्व के स्थानों की बमबारी से संबद्ध सर्वेक्षण (पैसिफिक), 'दी कैम्पेन्स आव् द पैसिफिक वार', पृष्ठ ३।

१३. वाल्टर मिलिस की पुस्तक 'यह पर्ल, (हार्बर) है!' (दिस इज़ पर्ल!), पृष्ठ ३७३ देखें।

१४. 'ज़ेनरल मार्शल, जेनरल आरनल्ड, ऐडमिरल किंग की युद्ध संबंधी रिपोर्टें' (वार रिपोर्ट्स ऑव् जेनरल मार्शल, जेनरल आरनल्ड, ऐडमिरल किंग), पृष्ठ ८०।

१५. वही, पृष्ठ ८१।

१६. रॉबर्ट शेरवुड लिखित पुस्तक 'रुज़वेल्ट तथा हॉपकिन्स' (रुज़वेल्ट ऐण्ड हापकिन्स), पृष्ठ ४१५।

१७. वायुसेना के कमांडिंग जेनरल की द्वितीय रिपोर्ट, २७ फ़रवरी, १९४५, 'वार रिपोर्ट्स, पृष्ठ ३९३।

१८. चाँगशा की तथाकथित दूसरी तथा तीसरी लड़ाइयाँ, मुख्यतः अन्न-अधिग्रहण-अभियान थीं।

१९. थियोडोर एच्० ह्वाइट तथा अन्नाली जैकोबी लिखित पुस्तक 'थण्डर आउट ऑव् चाइना', पृष्ठ १५ तथा १९।

२०. आनरेबुल एल्बर्ट डी० टामस, 'एक्स्ट्राटेरीटोरियलिटी इन चाइना, सिनेट डाकेट' संख्या १०२, पृष्ठ ११।

२१. हेनरी एल्० स्टिम्सन तथा मैक्जार्ज बण्डी, 'सक्रिय सैन्य सेवा में' (ऑन ऐक्टिव सर्विस) पृष्ठ ५२८, चीन भेजे जानेवाले 'स्टिलवेल मिशन' के विषय में सचिव स्टिम्सन ने अपने मत का उल्लेख पृष्ठ ५२८–५४१ पर किया है।

२२. 'चीन के साथ संयुक्त राज्य के संबंध' (युनाइटेड स्टेट्स रिलेशन्स विद् चाइना), राज्य विभाग का प्रकाशन संख्या ३५७३, सुदूर पूर्व सीरीज़ ३०, १९४९, परिशिष्ट २७ (अ), पृष्ठ ४६९। इस खण्ड का इसके बाद से 'चीन का श्वेतपत्र' (चाइना ह्वाइट पेपर), १९४९ के नाम से उल्लेख किया गया है।

२३. स्टिम्सन की पूर्वोक्त पुस्तक का पृष्ठ ५३२।

२४. 'चीन का श्वेतपत्र' (चाइना ह्वाइट पेपर), १९४९, पृष्ठ ५६१–६५८। राजदूत गास से सचिव हल्ल को, ३१ अगस्त, १९४४।

२५. चीन स्थित वैदेशिक सेवा अधिकारियों द्वारा १९४३–१९४५ में भेजे गये स्मृतिपत्र देखें। वही, पृष्ठ ५६४–५७६।
२६. वही, १९४९, पृष्ठ ५७४।

अध्याय २७

१. चीन का श्वेतपत्र, १९४९, पृष्ठ ११३, टिप्पणी (i)।
२. डेविड जे० डलिन, 'सोवियट रूस तथा सुदूर पूर्व' (सोवियट रशा ऐण्ड फ़ार ईस्ट), पृष्ठ १८८।
३. वही, पृष्ठ १८८।
४. 'जापान पर अधिकार' (ऑकुपेशन ऑव् जापान) राज्य विभाग का प्रकाशन, संख्या २६७१, सुदूर पूर्व सीरीज़ १७, पृष्ठ २। मूल शर्तों के लिए देखें 'चीन का श्वेतपत्र', १९४९, पृष्ठ ११३–११४।
५. 'चीन का श्वेतपत्र', १९४९, पृष्ठ ४३।
६. डेविड जे० डलिन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १९५।
७. सम्नर वेल्स, 'हम किस दिशा की ओर जा रहे हैं?' (ह्वेयर आर वी हेडिंग?), पृष्ठ २०६।
८. 'चीन का श्वेतपत्र', १९४९, पृष्ठ ७१–७३।
९. वही, पृष्ठ ७७।
१०. वही, पृष्ठ ७९–८०।
११. वही, पृष्ठ ७५।
१२. वही, पृष्ठ ७९।
१३. वही, पृष्ठ ८०।
१४. वही, पृष्ठ ६४–६५।
१५. वही, पृष्ठ ६०८।
१६. वही, पृष्ठ १२७–१३०।
१७. 'मार्शल मिशन पर', चीन का श्वेतपत्र, १९४९, अध्याय ५ और परिशिष्ट पृष्ठ ६१–११५।
१८. पी० एम्० ए० लाइन बार्जर की "सुदूर पूर्व की युद्धोत्तर सरकारें" (पोस्ट-वार गवर्नमेन्ट्स ऑव् द फ़ार ईस्ट) नामक पुस्तक का 'चीन की युद्धोत्तर राजनीति' (पोस्ट-वार पॉलिटिक्स ऑव चाइना) शीर्षक अंश। 'द जर्नल ऑव् पॉलिटिक्स', पृष्ठ ५३५–५३६।
१९. क्लेयर चेनाल्ट, 'द वे ऑव् ए फ़ाइटर', पृष्ठ १३–१४।
२०. 'चीन का श्वेतपत्र', १९४९, पृष्ठ ६८६।

२१. पी० एम्० ए० लाइन बार्जर, पाण्डुलेख, 'जापान और चीन की राजनीति : एक युद्धोत्तर मूल्यांकन' (पॉलिटिक्स ऑव् चाइना ऐण्ड जापान : ए पोस्ट-वार इवैल्युएशन), पृष्ठ ३०७–३०८।

२२. वही, पृष्ठ ३१८।

२३. प्रत्येक युआन, सरकार के प्रमुख कार्यों, अर्थात् विधिनिर्माण, प्रशासन, न्याय, परीक्षण तथा नियंत्रण, में से एक के संगठन का कार्य करता था।

२४. संयुक्त राज्य से अपने पक्ष का समर्थन पाने में असफलता के पश्चात् च्यांग-काई-शेक ने अपने पद का भार २२ जनवरी, १९४९ को उपराष्ट्रपति ली को सौंप कर नानकिंग छोड़ दिया। किंतु फिर भी उन्होंने निश्चित रूप से सरकार से अपना संबंध-विच्छेद नहीं किया।

२५. चीनी साम्यवाद के विषय में इस दृष्टिकोण का आभास उन अमेरिकियों को मिला जो विजय दिवस के थोड़े दिनों बाद ही येनान गये थे और उन्होंने इसको और अधिक फैलाया। इस दृष्टिकोण को मास्को से चुंकिंग के रास्ते में मोलोटोव ने जेनरल हर्ले को बताया और उन्हीं के माध्यम से यह चुंकिंग पहुँचा। "मोलोटोव ने यह बात जोर देकर कही कि रूस चीन के आन्तरिक मामलों या घटनाओं का कोई उत्तरदायित्व नहीं लेगा। मोलोटोव ने तब चीन के कुछ भागों में लोगों की विपन्न अवस्था का जिक्र किया। उनमें से कुछ लोग ऐसे थे जो यद्यपि अपने को साम्यवादी कहते थे फिर भी उनका साम्यवाद से किसी प्रकार का संबंध नहीं था। बल्कि अपनी विपन्न आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त करने का यह ढंग मात्र थी और उसमें सुधार होते ही वे अपने इस राजनीतिक झुकाव को भूल जायेंगे। सोवियट रूस को इन 'साम्य-वादी तत्त्वों' से किसी प्रकार मिलाया नहीं जाना चाहिए और न तो इस स्थिति के लिए उसे दोष ही दिया जाना चाहिए।"—'चीन का श्वेतपत्र', १९४९, पृष्ठ ७२।

२६. डेविड जे० डलिन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १४७।

२७. वही, पृष्ठ २४९।

२८. ए० डोक वार्नेट द्वारा 'करेन्ट वर्ल्ड अफ़ेयर्स' के वाल्टर एस्० रोजर्स को दिनांक ४ सितम्बर, १९४९ को प्रेषित पत्र।

२९. सन् १९४९ के उत्तरार्ध में जब माओत्से-तुंग तथा चाउ येन लाई मास्को गये थे तो इन तथा अन्य संबद्ध मामलों के विषय में समझौता वार्ता आरंभ की गयी थी। फरवरी १९५० जो जिस समझौते की सूचना मिली वह जापान विरोधी प्रतिरक्षा

मैत्री के विषय में था किन्तु उसमें कुछ ऐसे गुप्त परिशिष्ट भी थे जिनसे सोवियट रूस के अधिकारों में वृद्धि हुई थी।

३०. 'न्यूयार्क टाइम्स', १८ सितंबर का ए० पी० डिस्पैच।

अध्याय २८

१. कॉर्डेल हल्ल, 'संस्मरण' (मेम्वायर्स), पृष्ठ ९०३–९०४।
२. इमर्सन, मिल्स तथा टामसन, 'दक्षिण पूर्वी एशिया में शासन तथा राष्ट्रीयता' (गवर्नमेन्ट ऐण्ड नैशनेलिज्म इन साउथ ईस्ट एशिया), पृष्ठ १९८।
३. पीयर गोरो, 'फ्रांसीसी इण्डोचीन संघ के लिए' (फॉर फ्रेंच इण्डोचाइनीज़ फेडरेशन), 'पैसिफिक के मामले' (पैसिफिक अफेयर्स), V, XX, संख्या १, पृष्ठ २४।
४. जोज़ेफ हैण्डलर 'इण्डोचीन में फ्रांसीसी शासन के अस्सी वर्ष' (इण्डोचाइना : एट्टी इयर्स ऑव फ्रेंच रूल), दि एनाल्स ऑव् दि अमेरिकन एकेडमी ऑव् पोलिटिकल ऐण्ड सोशल साइंस, २६वाँ अध्याय पृष्ठ १३५–१३६।
५. इमर्सन आदि की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २०४।
६. हेरॉल्ड आइज़ैक्स, 'एशिया में नया चक्र' (न्यू साइकिल इन एशिया), पृष्ठ १५६।
७. एलेन जे० हैम्मर, 'नये इण्डोचीन का खाका' (ब्लप्रिंटिंग इन न्यू इन्डोचाइना), पैसिफिक के मामले, २१वाँ अध्याय, संख्या ३, पृष्ठ २५२–२५३।
८. हेरॉल्ड आइज़ैक्स की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १५६–१५७।
९. वहीं पर, समझौते की मूल प्रति, पृष्ठ १६९।
१०. एलेन जे० हैम्मर की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २५६–२५७।
११. वर्जीनिया टामसन, 'थाईलैंण्ड : नया स्याम' (थाईलैण्ड : द न्यू स्याम), पृष्ठ ३।
१२. के० पी० लैण्डन, ''थाईलैण्ड'', दि एबल्स ऑव् दि अमेरिकन एकेडमी ऑव् पोलिटिकल ऐण्ड सोशल साइन्स', OCXXVI, पृष्ठ ११२।
१३. टामसन की पूर्वोक्त कृति, पृष्ठ २११।
१४. इमरसन आदि की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ११८।
१५. लैण्डन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ११५। इस अनुच्छेद में उल्लिखित वक्तव्य अधिकांश रूप से इस लेख पर आधारित हैं।
१६. जार्ज डब्ल्यू० कीटन, 'चीन, सुदूरपूर्व तथा भविष्य' (चाइना, द फ़ार ईस्ट ऐण्ड द फ़्यूचर), पृष्ठ ३१५–३१६।
१७. लैण्डन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ११५।
१८. कीटन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१७।
१९. इमर्सन आदि की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २१९–२२०।

२०. सम्नर वेल्स, 'हम किस दिशा की ओर जा रहे हैं ?' (व्हेयर आर वी हेडिंग ?), पृष्ठ ३०९।
२१. कीटन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ३२०।
२२. 'न्यू इण्टरनेशनल इयर बुक, १९४८, पृष्ठ ४४५।
२३. १९४१ के अनुमानित आँकड़े। पैसिफिक युद्ध के आरम्भ होने के समय तक उस वर्ष की जनगणना समाप्त नहीं हो पायी थी।
२४. इमर्सन आदि की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १५९।
२५. जे० एस्० फर्नीवाल 'बर्मा में गोधूलि : पुनर्विजय तथा संकट' (ट्विलाइट इन बर्मा : रीकांक्वेस्ट ऐण्ड क्राइसिस), 'पैसिफिक के मामले, XXII, संख्या १, ३–४।
२६. "यद्यपि कुछ पर्यवेक्षकों ने राष्ट्रीय आंदोलन का आरंभ १९०५ से मानते हैं, फिर भी सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि विश्वयुद्ध प्रारंभ होने के पूर्व तक बर्मा के निवासियों में राजनीति के प्रति कोई दिलचस्पी परिलक्षित नहीं होती थी। हिन्दू-मुस्लिम तथा जाति-पाँति संबंधी समस्याओं का बर्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था और उसी प्रकार कांग्रेस आन्दोलन भी वहाँ नहीं पनपा" इमर्सन आदि की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १६०।
२७. जॉन एल्० क्रिश्चियन, बर्मा, 'दि एनल्स ऑव् दि एकेडमी ऑव् सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस, OCXXVI, पृष्ठ १२२।
२८. फर्नीवाल की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६।
२९. क्रिश्चियन की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १२१–१२२।
३०. 'ब्रिटिश सरकार का मई १९४५ का नीति संबंधी वक्तव्य' (स्टेटमेन्ट ऑव् पालिसी बाई एच्० एम्० गवर्नमेन्ट, मे, 1945 cmd 6635)।
३१. वही।
३२. वलेरेन्स हेण्डरशाट, 'बर्मा समझौता' (बर्मीज़ काम्प्रोमाइज़), सुदूरपूर्व सर्वेक्षण, खण्ड १६वाँ, संख्या १२, पृष्ठ १३४।
३३. फर्नीवाल की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ३–४।
३४. हेण्डरशॉट की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १३३।
३५. वही, पृष्ठ १३४।
३६. उदाहरण के लिए डाक्टर बामा ने, जो बर्मी प्रतिनिधि के रूप में लन्दन गये हुए थे, उस समझौते पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।
३७. जॉन एफ्० कैडी, 'बर्मा, मलाया तथा फिलीपाइन्स में स्वशासन तथा स्वातंत्र्य का

विकास' (द डेवलपमेन्ट ऑव् सेल्फरूल ऐण्ड इण्डिपेण्डेन्स इन बर्मा, मलाया ऐण्ड द फिलीपाइन्स), प्रथम भाग, बर्मा, पृष्ठ १९।

३८. पैट्रीशिया बार्नेट, 'बर्मा, मलाया तथा फिलीपाइन्स में स्वशासन तथा स्वातंत्र्य का विकास' (द डेवलपमेन्ट ऑव् सेल्फरूल ऐण्ड इण्डिपेण्डेन्स इन बर्मा, मलाया ऐण्ड द फिलीपाइन्स), पृष्ठ ५३।

३९. वही।

४०. रिचार्ड विन्स्टेड, "मलाया" (दि एनल्स ऑव् दि अमेरिकन एकेडमी ऑव् पोलिटिकल ऐण्ड सोशल साइन्स), OCXXVI, पृष्ठ ९७।

४१. बार्नेट की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६६।

४२. विन्स्टेड की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १०४।

४३. बार्नेट की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६९।

४४. वही, पृष्ठ ७३।

४५. वही, पृष्ठ ७३।

अध्याय २९

१. राष्ट्रपति क्वेज़ेन की निर्वासित सरकार ने संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किया, पैसिफिक युद्ध परिषद् की बैठक में भाग लिया और हॉट स्प्रिंग्स, ब्रेटन वुड्स तथा सैन फ्रांसिस्को में आयोजित युद्धकालीन संयुक्त राष्ट्र सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजे।
जॉन कैम्पबेल, 'संयुक्त राज्य विश्व के मामलों में' (दि युनाइटेड स्टेट्स इन वर्ल्ड अफेयर्स), १९४५–१९४९, पृष्ठ ३०६।

२. वही, पृष्ठ ३०७।

३. इस विधि को पारित करने की अनिवार्यता पर विचार करने की आवश्यकता राष्ट्रपति ट्रूमन के स्वातंत्र्य की तारीख को और आगे न बढ़ाने के निश्चय के कारण पड़ी।

४. शर्लेजेन्किन्स द्वारा उद्धृत "बर्मा, मलाया तथा फिलीपाइन्स में स्वशासन तथा स्वातंत्र्य का विकास" (द डेवलपमेन्ट ऑव् सेल्फरूल ऐण्ड इण्डिपेण्डेन्स इन बर्मा, मलाया ऐण्ड द फिलीपाइन्स) 'भाग ३, 'द फिलीपाइन्स', पृष्ठ ९७–९८।

५. वही, पृष्ठ ९८।

६. "अंतिम रूप से १४ मार्च, १९४८ में एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गये जिसके अनुसार कई अड्डे ९९ वर्ष के लिए पट्टे पर दे दिये गये थे। मुख्य अड्डा मनीला के निकट फोर्ट स्टाट्सेनबर्ग में बनना था। दस अन्य सैनिक अड्डों तथा चार नौसैनिक

अधिकार क्षेत्रों का भी निश्चित उल्लेख था।" कैम्पबेल् की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ३१० ।

७. जेन्किन्स की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ९६ ।

८. लॉरेल, ऐक्विनो, ओसियस तथा वर्गस (जापानी कठपुतली सरकार के प्रमुख व्यक्ति) को जापान भेज दिया गया जहाँ से लोक-न्यायालयों में उनके ऊपर मुकद्दमा चलाने के लिए अधिकृत जापान के अमेरिकी अधिकारियों ने उन्हें फिलीपाइन्स भेज दिया। लारेल जमानत पर छोड़ दिया गया जिससे वह अपने मुकद्दमे की पैरवी की तैयारी कर सके। किंतु उसने अपनी स्वतंत्रता का उपयोग अपनी राजनीतिक पुनःस्थापना तथा शक्ति के लिए अभियान में किया।

९. जेन्किन्स की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ८९ । यह उल्लेखनीय है कि लॉरेल राष्ट्रपति पद के लिए १९४९ में होने वाले चुनाव में उम्मीदवार था। चुनाव में उसे दूसरा स्थान प्राप्त हुआ लेकिन उसे पर्याप्त अच्छी संख्या में वोट मिले।

१०. वही, पृष्ठ ९३ ।

११. डेविड बर्न्सटीन, 'फिलीपाइन की कहानी' (द फिलीपाइन स्टोरी), पृष्ठ २५४ ।

१२. १४ अक्तूबर, १९४९ का समालाप जिसका विवरण न्यूयार्क टाइम्स में छपा था।

१३. संयुक्त राष्ट्र की जेनरल असेम्बली की १९४९ की बैठक में जेनरल कार्लोस रोमोलो के अध्यक्ष चुने जाने के साथ यह तथ्य औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया।

१४. समुएल वान वाल्केनबर्ग, 'प्रशांत सागरतटीय एशिया : राजनीतिक ऐटलस' (पैसिफिक एशिया : ए पोलिटिकल ऐटलस), वैदेशिक नीति संघ, शीर्षक सीरीज़ (हेडलाइन सीरीज़), संख्या ६६, नवम्बर-दिसम्बर १९४७, पृष्ठ १९ ।

१५. ऐमरी वाण्डेनबॉश, 'द नीदरलैण्ड इण्डीज़', एनल्स ऑव् दि अमेरिकन एकेडमी ऑव् पोलिटिकल ऐण्ड सोशेल साइंस, OCXXVI, पृष्ठ ८६ ।

१६. वही, पृष्ठ ८६ ।

१७. लेनाक्स ए० मिल्स, 'दक्षिणपूर्व एशिया में शासन एवं राष्ट्रीयता' भाग २' (गवर्नमेन्ट ऐण्ड नेशनैलिज्म इन साउथ-ईस्ट एशिया, पार्ट ii) में 'दक्षिणपूर्व एशिया की सरकारें', पृष्ठ ९७ ।

१८. वाण्डेनबाश की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ९१ ।

१९. वर्जीनिया टामसन, 'दक्षिणपूर्व एशिया में शासन एवं राष्ट्रीयता, भाग ३' (गवर्नमेन्ट ऐण्ड नेशनैलिज्म इन साउथ-ईस्ट एशिया, पार्ट iii) में 'राष्ट्रीयता' पृष्ठ १८४–१८५ ।

२०. साटन स्जाहरीर, 'देश निकाला से मुक्त' (आउट ऑव् एक्ज़ाइल), पृष्ठ २१८।

२१. वही, पृष्ठ २१९।

२२. एच्० आर्थर स्टेनर, "सुदूरपूर्व का युद्धोतर शासन तथा राजनीति" (पोस्टवार गवर्नमेन्ट ऐण्ड पॉलिटिक्स ऑव् द फ़ार ईस्ट) खण्ड ९, संख्या , पृष्ठ ६३१ में 'नीदरलैण्ड ईस्ट इण्डीज का युद्धोत्तर शासन'।

२३. स्जाहरीर की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ २५३–२६४।

२४. आक्रमण के समय बने प्लान के अनुसार, द्वीप समूह पर अधिकार के पश्चात् डच नागरिकों का उनका उत्तरदायित्व ले लेने को था। और स्थानों के समान ही यहाँ भी आक्रमण के प्लान में अधिकार कर लेने की दृष्टि से कोई विशेष हेर-फेर नहीं किया गया।

२५. स्टेनर की पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६२७–६२८।

२६. वही, पृष्ठ ६२८।

२७. वही, पृष्ठ ६३५।

२८. वही, पृष्ठ ६३७।

२९. रूपर्ट इमर्सन, 'इण्डोनेशिया का मामला' (दि इण्डोनेशियन केस), 'विश्व की राजनीति' भाग १, संख्या १, पृष्ठ ७०।

३०. वही, पृष्ठ ७१।

३१. ई० ए० आर०, 'इण्डोनेशिया : राजनीतिक एवं आर्थिक वास्तविकताएँ' (इण्डोनेशिया : पोलिटिकल ऐण्ड इकनॉमिक रियलिटीज़), 'आज का विश्व' (द वर्ल्ड टुडे), फरवरी, १९४९, पृष्ठ ५३।

३२. वही, पृष्ठ ५४।

३३. वही, पृष्ठ ५५।

३४. वही, पृष्ठ ६०।

३५. वही, पृष्ठ ६२।

३६. न्यूयार्क टाइम्स, ४ अगस्त, १९४९।

३७. सम्मेलन के विवरण मुख्यत: सिडनी ग्रूसन द्वारा न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित रिपोर्टों से लिये गये हैं।

३८. न्यूयार्क टाइम्स की २४ अक्टूबर की विज्ञप्ति।

अध्याय ३०

१. संयुक्त राज्य की जापान से संबंधित आत्म-समर्पणोत्तर आरंभिक नीति की पूर्ण प्रति तथा उससे संबद्ध कैरो सम्मेलन से १९४६ के मध्य तक के अन्य अभिलेख संयुक्त राज्य के राज्य विभाग में हैं। "जापान पर अधिकार : नीति तथा प्रगति" (आकुपेशन ऑव् जापान : पालिसी ऐण्ड प्रोग्रेस), सुदूर पूर्व सीरीज़, पृष्ठ १७।

२. वही, पृष्ठ [illegible]

३. "इस कार्यक्रम के अनुसार १९४७ के मध्य तक लगभग २,००० व्यक्ति जो युद्ध समय के प्रमुख व्यवसायी थे, निष्कासित किये गये।" जिरोम कोहेन, "जापान की युद्ध एवं पुनर्निर्माणकालीन आर्थिक व्यवस्था' (जापान्स [illegible] इन वार ऐण्ड रिकान्स्ट्रक्शन), पृष्ठ ४३२। यह संख्या काफी राजनीतिक निष्कासितों के अतिरिक्त थी, लेकिन इस अध्यादेश के अंतर्गत आनेवाले लगभग १[illegible] लाख व्यक्तियों के अनुपात में यह संख्या बहुत थोड़ी है।

४. १९४७ का संविधान, अध्याय २।

५. 'जापान पर अधिकार : नीति एवं प्रगति', पृष्ठ ४२।

६. क्षतिपूर्ति की समस्या में संबद्ध अमेरिकी नीति में हुए परिवर्तन का उल्लेख कोहेन ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के पृष्ठ ४१९–४२७ में किया है।

७. आरंभ में अपनायी गयी नीति आर्थिक पुनरुद्धार के प्रति अनुत्तरदायित्व की थी। उसका उत्तरदायित्व मुख्यतः जापान पर डाला गया था।

८. यह प्रत्यक्षतः इस मंशा से किया गया था कि पूर्ण स्वतंत्रता की स्थापना के पूर्व शासन-कार्य में प्रशिक्षण तथा अनुभव के विकास के लिए समय मिल सके।

९. कोरिया, १९४५–४८, राज्य विभाग का प्रकाशन संख्या ३३०५, सुदूरपूर्व सीरीज़, २८, पृष्ठ ३।

१०. जॉर्ज एम्० मैककून, "कोरिया : मुक्ति का प्रथम वर्ष" (कोरिया : द फर्स्ट इयर ऑव् लिबरेशन), पैसिफिक अफेयर्स, मार्च १९४७, पृष्ठ ८।

११. वही, पृष्ठ ७।

१२. किन्तु सोवियट गुट के राज्य उत्तरी सरकार का समर्थन करते रहे।

१३. कोरिया, १९४५–१९४८, राज्य विभाग का प्रकाशन संख्या ३३०५, सुदूरपूर्व सीरीज़ २८, पृष्ठ २५।

———

हमारे प्रकाशन

राजनय	३.००
अरस्तू की राजनीति	८.००
सामाजिक पोषण	३.००
शासन पर दो निबन्ध	४.५०
मूल्य और पूँजी	९.००
भारतीय मनीति	७.५०
भारतीय नीतिशास्त्र	२०.००
रूसो की तीन वार्ताएँ	४.००
स्वतंत्रता और प्रतिनिधि शासन	११.००
भारत में मुद्रा और बैंकिंग का विकास	४.००
भारतीय कर-व्यवस्था	११.००
सांख्यकी के सिद्धान्त और उपयोग	९.००
भारतीय संस्कृति	४.००
स्पिनोजा : नीति	६.५०
उद्योग और रसायन	७.००
खाद और उर्वरक	१०.००
इस्पात का उत्पादन	५.००
काष्ठ-परिरक्षण	१०.००
भूमि-रसायन	१०.००
मृत्तिका-उद्योग	८.००
कोयला	८.००
जीव-जगत	१४.००
दैनिक जीवन में जीव-विज्ञान	३.५०
इब्ने खलदून का मुकद्दमा	१०.००
पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा	१४.००
समाज सेवा का क्षेत्र (भाग १)	९.००
" " " (भाग २)	८.००
भाषा विज्ञान पर भाषण	८.००